बन्द दरवाजे

लेखक
सुमंगल प्रकाश

आत्म-कथन और पूर्वापर

कथा-नायक शंकर को केन्द्रित करके लिखी गयी इस उपन्यास-शृंखला का अब तक प्रकाशित होने वाला यह तीसरा उपन्यास है। इस शृंखला में प्रकाशित पहले उपन्यास 'बारूद और चिनगारी' पर साहित्य-समालोचक चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की लिखी एक टिप्पणी ने मुझे उसके परवर्ती उपन्यास 'जय-पराजय' की भूमिका के तौर पर एक 'स्पष्टीकरण' देने के लिए प्रेरित किया था जिसे पढने के बाद उसकी समीक्षा में उन्होंने फिर लिखा :

"विश्व-भर में कुछ समय से आत्मचरितात्मक या कुछ अन्य व्यक्तियों के चरित पर आश्रित उपन्यास लिखने का ढंग ख़ूब लोकप्रिय हो रहा है। मेरा ख़याल है कि 'जय-पराजय' भी उसी श्रेणी का उपन्यास है। आवश्यकता सिर्फ़ इसी बात की है कि लेखक इस तथ्य को स्वीकार कर ले। एक अंश में लेखक ने इसे स्वीकार भी किया है। 'स्पष्टीकरण' में उन्होंने कहा है—'लेखक की स्वानुभूतियों का स्वभावतः विभिन्न पात्रों और प्रसंगों के माध्यम से अबाध रूप में इस रचना में उपयोग हुआ है।'"

मेरे साहित्य-मर्मज्ञ बन्धु रघुकुल तिलक ने 'जय-पराजय' पर अपनी सम्मति देते हुए, इसी प्रसंग में, लिखा है : "यह बात तो शायद ही किसी से छिपी रह सकेगी कि यह उपन्यास मुख्यत. आत्मकथात्मक है और इसमें बहुत हद तक उन्हीं भावावेगों और अनुभवों का चित्रण है जो लेखक के अपने रहे होंगे। उनके सामने कुछ ऐसी समस्या थी जो कि अपना ही चित्र स्वयं आंकने वाले किसी चित्रकार के सामने आएगी। फिर भी, न तो उन्होंने कहीं भी अपने परिप्रेक्ष्य को अपने सामने से ओझल होने दिया और न वस्तुनिष्ठ और तटस्थ दृष्टिभंगी से ही कहीं भी विच्युत हुए हैं। ऐसा लगता है जैसे कहीं दूर से सम्पूर्ण दृश्य पर ही उनकी दृष्टि हो और जो कुछ सुना या देखा है उसी का एक यथार्थ तथ्यगत विवरण देते चले जा रहे हों।"

सकता है।

"इस उपन्यास-शृंखला के कथा-नायक शंकर का प्रथम आकर्षण स्वाधीनता-संग्राम नहीं, नारी-जागरण था," 14 अगस्त 1976 के 'सोशलिस्ट भारत' में सूर्यकुमार जोशी ने लिखा था। "पुरुष की दासियों के रूप में उसने तत्कालीन भारतीय समाज और अपने परिवार में माँ-मामियों को जिस तरह जकड़ा हुआ देखा था उससे उसका हृदय क्षत-विक्षत था, कि संयोगवश रिश्ते की अपनी एक छोटी बहन को पढ़ाने-लिखाने का उसे अनायास एक अवसर मिल गया। लड़की पूनम भी पढ़ने के लिए बड़ी बेताब—क्योंकि उसके छोटे भाई उसके सामने अंग्रेज़ी के अपने अपक्व ज्ञान का भी भोंड़े ढंग से प्रदर्शन कर उसे क्षुब्ध कर देते थे। शंकर की कितनी ही अप्रिय शर्तों को भी सहर्ष स्वीकार कर पूनम ने उसे थोड़े ही समय में अपनी असाधारण प्रगति से चकित कर दिया। लेकिन धीरे-धीरे जब शंकर अपनी सफलता के नशे में शराबोर हो उठा तब पूनम के दक़ियानूसी पिता ने उस पढ़ाई में बाधा डालनी चाही—जिसके ख़िलाफ़ शंकर ने भी बग़ावत कर दी और पूनम ने भी। तब तक दोनों यों भी एक दूसरे के प्रति अनुराग में आकण्ठ डूब चुके थे।

"यों तो शंकर एक साधारण युवक है, किन्तु वह नया नशा धीरे-धीरे जिस घोर आसक्ति का रूप उसके हृदय में लेता चला गया है वह उसके अन्दर असाधारण साहस और शौर्य का संचार कर देता है—जिसे और भी पुष्टि मिलती है स्वयं पूनम की विद्रोहात्मक प्रकृति के कारण। महात्मा गांधी के राजनीतिक सत्याग्रह का हामी तो शंकर पीछे बनता है, पहले वह पूनम को और अपने को एक पारिवारिक सत्याग्रह के प्रयोग में झोंक देता है।

"यों शंकर और पूनम, तत्कालीन सामाजिक स्थिति के देखते, विफल-मनोरथ होने के लिए ही मजबूर हो जाते, लेकिन महात्मा गांधी के नारी-जागरण आन्दोलन का उन्हें बल मिला, और वे दोनों साबरमती आश्रम में गांधीजी की शरण में जा पहुँचे, जिनकी अवहेलना करने का साहस पूनम के माता-पिता में भी नहीं था।

"और, विजय-गर्व में शंकर इस क़दर भाव-विभोर हो उठा कि साबरमती आश्रम से तभी-तब छिड़ने वाले सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के घोर उत्साह में वह पूनम को भी 'सदा के लिए' पीछे छोड़, आज़ादी के लिए जान तक दे देने के गांधी के आह्वान पर दांडी-यात्रा के उन उनासी सैनिकों में से एक बन गया। जिन्हें विशुद्ध सत्याग्रहियों के रूप में उन्होंने स्वयं तैयार किया था।

"इसी के बाद की कहानी है 'जय-पराजय' में : स्वाधीनता-संग्राम सम्बन्धी भी, और शंकर-पूनम की उस घोर आसक्ति की भी। दोनों ही कहानियां समानान्तर चलती हैं, या कहा जाय, एक साथ गुंथी।...

"शंकर और पूनम बिछुड़ गये हैं। कुछ काल तक शंकर अपनी धुन में उसे भूला भी रहता है। वह मरने के लिए मैदान में आया है। लेकिन 1930 का आन्दोलन खत्म होकर 1931 को गांधी-इर्विन सन्धि भी हो जाती है, और न वह मारा जाता है न पकड़ा ही।...धीरे-धीरे एक अवसाद उसके ऊपर छाता जाता है...और अन्दर ही अन्दर वह कमजोर हो उठता है।...पूनम फिर उसे अपनी ओर तेजी से खींचती है।...

"इसी अन्तर्द्वन्द्व में पद-पद पर ठोकर खाता वह आगे बढ़ता है। गनीमत यही है कि दांडी-यात्री की जो प्रतिज्ञा लेकर वह आगे बढ़ा है उसे भी वह भूल नहीं पाता और उसके डगमगाते कदम रुक-रुक कर फिर बढ़ चलते हैं..."

इसके बाद समीक्षक ने स्वाधीनता-संग्राम सम्बन्धी शंकर के प्रत्यक्ष अनुभवों और संस्मरणों की विस्तृत समीक्षा करने के बाद, कथा-प्रसंग को फिर आगे बढ़ाते हुए, शंकर के अन्तर्द्वन्द्व के सिलसिले में लिखा है : "उपन्यास का यह एक दूसरा आयाम है जो शंकर, उसके अन्तरंग मित्र मनोहरलाल, और पूनम के त्रिकोण के रूप में कथानक को जितना रोचक और मार्मिक बना देता है उतना ही विडम्बनापूर्ण भी। कभी पहले शंकर ने ही मनोहरलाल के साथ पूनम के विवाह का प्रस्ताव किया था, लेकिन बाद में अपने अन्दर छिपी आसक्ति को प्रश्रय देने के लिए उसे गांधीजी के आश्रम के ब्रह्मचर्य वाले निराले प्रयोग का ऐसा सहारा या बहाना मिल जाता है जिससे अन्त में वह उन दोनों को भी ब्रह्मचर्यपूर्वक आश्रम जैसा एक संयुक्त जीवन बिताने के लिए राजी कर एक प्रयोग आरंभ कर देता है। कल्पना-राज्य वाला यह 'यूटोपियन' प्रयोग भी वस्तुत: उस काल की उस पृष्ठभूमि में ही प्रामाणिकता और विश्वसनीयता प्राप्त कर उस युग का एक तरह से प्रतीक ही बन गया है। यदि ऐसा न होता तो वह इस उपन्यास को हास्यास्पद की सीमा तक पहुंचा दे सकता था। किन्तु उस युग में गांधीजी के आश्रम में ही नहीं, अन्यत्र भी, इस तरह के ब्रह्मचर्य-व्रती मौजूद थे, और सभी लोग उन्हें मानसिक रोगी नहीं समझते थे...

"अन्त में, किन्तु, यह प्रयोग विफल सिद्ध होता है, जिसका एकमात्र कारण यह है कि मनोहरलाल और पूनम दोनो में से कोई भी मानसिक रोगी नहीं है। मानसिक रोगी-जैसा एकमात्र शंकर है, किन्तु मनोहर

सकता है।

"इस उपन्यास-शृंखला के कथा-नायक शंकर का प्रथम आकर्षण स्वाधीनता-संग्राम नहीं, नारी-जागरण था," 14 अगस्त 1976 के 'सोशलिस्ट भारत' में सूर्यकुमार जोशी ने लिखा था। "पुरुष की दासियों के रूप में उसने तत्कालीन भारतीय समाज और अपने परिवार में माँ-मामियों को जिस तरह जकड़ा हुआ देखा था उससे उसका हृदय क्षत-विक्षत था, कि संयोगवश रिश्ते की अपनी एक छोटी बहन को पढ़ाने-लिखाने का उसे अनायास एक अवसर मिल गया। लड़की पूनम भी पढ़ने के लिए बड़ी बेताब—क्योंकि उसके छोटे भाई उसके सामने अंग्रेज़ी के अपने अपक्व ज्ञान का भी भोंड़े ढंग से प्रदर्शन कर उसे क्षुब्ध कर देते थे। शंकर की कितनी ही अप्रिय शर्तों को भी सहर्ष स्वीकार कर पूनम ने उसे थोड़े ही समय में अपनी असाधारण प्रगति से चकित कर दिया। लेकिन धीरे-धीरे जब शंकर अपनी सफलता के नशे में शराबोर हो उठा तब पूनम के दक़ियानूसी पिता ने उस पढ़ाई में बाधा डालनी चाही—जिसके ख़िलाफ़ शंकर ने भी बग़ावत कर दी और पूनम ने भी। तब तक दोनों यों भी एक दूसरे के प्रति अनुराग में आकण्ठ डूब चुके थे।

"यों तो शंकर एक साधारण युवक है, किन्तु वह नया नशा धीरे-धीरे जिस घोर आसक्ति का रूप उसके हृदय में लेता चला गया है वह उसके अन्दर असाधारण साहस और शौर्य का संचार कर देता है—जिसे और भी पुष्टि मिलती है स्वयं पूनम की विद्रोहात्मक प्रकृति के कारण। महात्मा गांधी के राजनीतिक सत्याग्रह का हामी तो शंकर पीछे बनता है, पहले वह पूनम को और अपने को एक पारिवारिक सत्याग्रह के प्रयोग में झोंक देता है।

"यों शंकर और पूनम, तत्कालीन सामाजिक स्थिति के देखते, विफल-मनोरथ होने के लिए ही मजबूर हो जाते, लेकिन महात्मा गांधी के नारी-जागरण आन्दोलन का उन्हें बल मिला, और वे दोनों साबरमती आश्रम में गांधीजी की शरण में जा पहुँचे, जिनकी अवहेलना करने का साहस पूनम के माता-पिता में भी नहीं था।

"और, विजय-गर्व में शंकर इस क़दर भाव-विभोर हो उठा कि साबरमती आश्रम से तभी-तब छिड़ने वाले सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के घोर उत्साह में वह पूनम को भी 'सदा के लिए' पीछे छोड़, आज़ादी के लिए जान तक दे देने के गांधी के आह्वान पर दांडी-यात्रा के उन उनासी सैनिकों में से एक बन गया जिन्हें विशुद्ध सत्याग्रहियों के रूप में उन्होंने स्वयं तैयार किया था।

"इसी के बाद की कहानी है 'जय-पराजय' में : स्वाधीनता-संग्राम सम्बन्धी भी, और शंकर-पूनम की उस घोर आसक्ति की भी। दोनों ही कहानियाँ समानान्तर चलती हैं, या कहा जाय, एक साथ गुंथी।...

"शंकर और पूनम बिछुड़ गये हैं। कुछ काल तक शंकर अपनी धुन में उसे भूला भी रहता है। वह मरने के लिए मैदान में आया है। लेकिन 1930 का आन्दोलन ख़त्म होकर 1931 की गांधी-इर्विन सन्धि भी हो जाती है, और न वह मारा जाता है न पकड़ा ही।...धीरे-धीरे एक अवसाद उसके ऊपर छाता जाता है...और अन्दर ही अन्दर वह कमज़ोर हो उठता है।...पूनम फिर उसे अपनी ओर तेज़ी से खींचती है।...

"इसी अन्तर्द्वन्द्व में पद-पद पर ठोकर खाता वह आगे बढ़ता है। गनीमत यही है कि दांडी-यात्री की जो प्रतिज्ञा लेकर वह आगे बढ़ा है उसे भी वह भूल नहीं पाता और उसके डगमगाते कदम रुक-रुक कर फिर बढ़ चलते हैं..."

इनके बाद समीक्षक ने स्वाधीनता-संग्राम सम्बन्धी शंकर के प्रत्यक्ष अनुभवों और संस्मरणों की विस्तृत समीक्षा करने के बाद, कथा-प्रसंग को फिर आगे बढ़ाते हुए, शंकर के अन्तर्द्वन्द्व के सिलसिले में लिखा है : "उपन्यास का यह एक दूसरा आयाम है जो शंकर, उसके अन्तरंग मित्र मनोहरलाल, और पूनम के त्रिकोण के रूप में कथानक को जितना रोचक और मार्मिक बना देता है उतना ही विडम्बनापूर्ण भी। कभी पहले शंकर ने ही मनोहरलाल के साथ पूनम के विवाह का प्रस्ताव किया था, लेकिन बाद में अपने अन्दर छिपी आसक्ति को प्रश्रय देने के लिए उसे गांधीजी के आश्रम के ब्रह्मचर्य वाले निराले प्रयोग का ऐसा सहारा या बहाना मिल जाता है जिससे अन्त में वह उन दोनों को भी ब्रह्मचर्यपूर्वक आश्रम जैसा एक संयुक्त जीवन बिताने के लिए राज़ी कर एक प्रयोग आरंभ कर देता है। कल्पना-राज्य वाला यह 'यूटोपियन' प्रयोग भी वस्तुतः उस काल की उस पृष्ठभूमि में ही प्रामाणिकता और विश्वसनीयता प्राप्त कर उस युग का एक तरह से प्रतीक हो बन गया है। यदि ऐसा न होता तो वह इस उपन्यास को हास्यास्पद की सीमा तक पहुँचा दे सकता था। किन्तु उस युग में गांधीजी के आश्रम में ही नहीं, अन्यत्र भी, इस तरह के ब्रह्मचर्य-व्रती मौजूद थे, और सभी लोग उन्हें मानसिक रोगी नहीं समझते थे...

"अन्त में, किन्तु, यह प्रयोग विफल सिद्ध होता है, जिसका एकमात्र कारण यह है कि मनोहरलाल और पूनम दोनों में से कोई भी मानसिक रोगी नहीं है। मानसिक रोगी-जैसा एकमात्र शंकर है, किन्तु मनोहर

लाल और पूनम दोनों ही उसे दिल से प्यार करते हैं। अनेक दुर्बलताओं के बावजूद, शंकर के व्यक्तित्व में एक ऐसी पारदर्शी सचाई और ईमानदारी है और एक ऐसी सरल भावुकता, कि पूनम या मनोहरलाल कोई भी उसके दिल को भरसक दुखाना नहीं चाहता।

"और, साथ ही, शंकर के अन्दर, दीर्घसूत्री मूढान्धता के बावजूद, एक गहरी आत्मविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति भी है जो हमेशा के लिए उसे आत्म-प्रवंचना का शिकार नहीं बने रहने दे सकती। थोड़े में न वह सन्तुष्ट ही हो पाता है, न तृप्त ही। वह जो चाहता है...एकान्त रूप से, पूरी तरह। इसलिए पूनम और मनोहरलाल पर प्यार के अपने दावे पर दावे पेश करते वह कहीं बीच में रुकता नहीं—जिसका अनिवार्य परिणाम होता है, पूर्ण मोहभंग। और तब वही कमज़ोर शंकर अचानक फ़ौलाद की तरह सख़्त हो उठता है—और मनोहरलाल और पूनम का विवाह रचा ख़ुद अपना ही ख़ात्मा कर डालता है...

"लेकिन उसका ख़ात्मा होता नहीं। बड़ी प्रचण्ड प्राण-शक्ति है इस उपन्यास-शृंखला के इस अनोखे कथा-नायक शंकर में। मनोहरलाल और पूनम से सम्बन्ध तोड़, एक तरह से अपने प्राणों के स्रोत पर ही पत्थर रख देकर, कई साल तक वह मारा-मारा फिरता है अपने उस मारात्मक घाव को लिये..."

किन्तु कथानक के इस प्रसंग पर, मार्च 1976 के 'जीवन-साहित्य' में, शकुन्तला पाठक ने एक दूसरे ही रूप में प्रकाश डाला है—

"गांधी तो हज़ारों वर्ष में एक ही पैदा हुआ था। अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करने का रास्ता तलवार की धार जैसा था। उस धार पर चलने के प्रयत्न में साधारण मानव शंकर अपने से लड़ता-लड़ता कई बार थकता है, हाँफता है, निराश होता है, कभी बापू की शरण में जाता है, कभी माँ के पास, कभी कहीं भागता फिरता है, पर उसे शान्ति कहीं नहीं मिलती। उसकी इस खींचतान-संघर्ष को लेखक ने बड़ी ख़ूबी से चित्रित किया है। कई बार तो हम उसके साथ इतने एकाकार हो जाते हैं, मानो उसकी व्यथा हमारी व्यथा बन जाती है। आदर्श तक पहुँचने की अदम्य चाह, न पहुँच पाने की ग्लानि, अपनी दुर्बलता—सभी का बहुत सही और सहज वर्णन है। कई जगह निष्ठुर आत्म-विश्लेषण भी है, जिससे सत्य की प्रखरता की छाप पड़ती है। सारा वातावरण शालीनता लिये हुए है। मनोहरलाल, शंकर और पूनम के आपसी सम्पर्क भी कितने स्निग्ध और स्नेहिल हैं। उसमें किसी प्रकार के कलुष की कल्पना ही नहीं आने पाती। ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने की असिधार पर चलने का प्रयत्न

करते न जाने कितने शंकरों ने यह तनाव झेला होगा, कितने टूटे होंगे, टूटकर बिखर गये होंगे, कौन जानता है, कौन बता सकता है ? 'जय-पराजय' के झूले में झूलता शंकर ही कहाँ तक पहुँच पाया, यह तो इस शृंखला की अगली कड़ी ही बता सकेगी, लेकिन संभव है स्वामीजी—प्रो० योगेश—की अन्तिम बात कि 'लड़ाई के मैदान से कायर ही भागता है, बहादुर का काम लड़ते-लड़ते मृत्यु को स्वीकार करना है, अगर वह अनिवार्य रूप से आवे...अन्त तक हारना नहीं—' ऐसे कई संघर्ष से टूटते, थके-हारों को सहारा दे सके—सुस्ताने और आगे बढ़ने का, अनवरत संघर्ष के मार्ग पर चलने का।"

कथानक के इस अन्तिम प्रसग पर जनवरी 1977 की 'कल्पना' में राजाराम शास्त्री ने कुछ अधिक प्रकाश डालते हुए यों लिखा है :

"कई लक्ष्यों और दिशाओं में कुछ वर्षों तक भटककर आखीर में वह एक ऐसे आध्यात्मिक महात्मा की शरण में अनायास जा पहुँचता है जिन्होंने पाश्चात्य चित्त-विश्लेषण शास्त्र के पूरक के रूप में भारतीय आध्यात्मिक मार्ग का एक अद्भुत प्रकार का सम्मिश्रण किया है। गांधी-वादी विचारों और आदर्शों में पनपे शंकर को यहाँ एक सर्वथा भिन्न ही विचारधारा का मुकाबला करना पड़ जाता है। यह उसके लिए बिलकुल ही नया युद्ध बन जाता है और तत्कालीन मानसिक स्थिति में, जब कि वह सर्वथा जर्जर हो चुका है, वह उसे विमूढ़ बना देता है। कुछ काल तक तो किसी तरह वह उस वातावरण में टिके रहने की कोशिश करता है लेकिन अन्त में वहाँ से भी भाग खड़ा होता है। यहीं जाकर, उपन्यास के अन्त में, वह स्थल आता है जब शंकर अपने गुरु, स्वामीजी, के सामने यह स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है कि उसके अन्दर न तो अब जीने का कोई उत्साह रह गया है और न जीवन-संघर्ष को जारी रखने की सामर्थ्य ही। उसकी इस अनिवार्य मन स्थिति के लिए उसे धिक्कारे बिना स्वामीजी उसे यही सलाह देते हैं कि वह वही करे जो उसका दिल कहता है, लेकिन कायरतापूर्वक नहीं, बहादुरी के साथ, और तभी, जबकि उसके सम्बन्ध में उसके अन्दर कोई द्विविधा या अन्तर्द्वन्द्व न हो। यहाँ से शंकर की दिशा एकबारगी हो नया मोड़ लेती है और एक क्षणिक दुविधा के बाद वह यह निर्णय कर लेता है कि पलायन वह नहीं करेगा। इस प्रकार वह स्वामीजी को आत्म-समर्पण कर देता है।

"उपन्यास की इस परिणति के बाद पाठक को यह पता तो नहीं चल पाता कि जिस चिकित्सा-पद्धति को कथा-नायक स्वीकार कर रहा है वह उसे कहाँ ले जायेगी—और यह प्रसग ही शायद इस उपन्यास-शृंखला

की अगली कड़ी का विषय बने—किन्तु फिर भी जैसे पाठक की आँखों पर से एक परदा-सा उठ जाता है और वह यह आविष्कार करने लग जाता है कि बाह्य सामाजिक जीवन मात्र से मनुष्य की समस्या हल नहीं हो सकती, और यह कि उसके लिए उसे अपने अन्दर भी घुसना पड़ेगा। जीवन की यात्रा में पाठक को इस पड़ाव तक पहुँचा देना ही किसी औपन्यासिक कृति के लिए कोई कम बड़ी उपलब्धि नहीं है, और गांधीवादी युग के भारतीय पर्यावरण में विकसित मनुष्य की कहानी को इतनी अद्भुत प्रांजलता और यथार्थवादिता के साथ कहने में लेखक ने जो सफलता प्राप्त की है उसके लिए हम उसे साधुवाद दिये बिना नहीं रह सकते।"

शेषोक्त समीक्षा के अन्तिम वाक्य में लेखक की जिस सफलता के लिए उसे साधुवाद दिया गया है वह प्रस्तुत रचना में उसे किस सीमा तक मिल सकी है, यह तो इसके समीक्षक ही बतायेंगे, किन्तु 'बन्द दरवाज़े' में लेखक का कार्य कहीं अधिक जटिल और दुरूह हो गया है। कारण, इस 'चिकित्सा-पद्धति' के रूप और परिणामों के सम्बन्ध में सामान्य पाठक के समक्ष निजी अनुभूति का कोई ठोस आधार नहीं होगा—विशेष रूप से उसके फ्रायडीय चित्त-विश्लेषणात्मक रूप के बारे में—जो ही, प्रधानतः प्रस्तुत रचना के पूर्वार्ध का विषय है।

किन्तु इस रचना के सम्बन्ध में लेखक को यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि मुख्यतः यह एक आत्मवृत्तात्मक उपन्यास है। पूर्ववर्ती उपन्यासों में भी कथा-नायक यद्यपि शंकर ही था, किन्तु उसकी व्यक्तिगत कहानी पूनम और मनोहरलाल जैसे दो अन्य प्रमुख पात्रों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई थी जिनके सम्बन्ध में लेखक ने यथार्थ के साथ-साथ कल्पना को भी अगाध रूप में छूट दी थी—भावात्मक घात-प्रतिघातों और अनुभूति-बोध के क्षेत्र में अवश्य नहीं, किन्तु बाह्य परिवेश, घटनाओं और परिस्थितियों के क्षेत्र में—क्योंकि उनके प्रसंग में यथार्थ को ज्यों का त्यों रखने की स्वतन्त्रता लेना लेखक को अभीष्ट नहीं था।

प्रस्तुत उपन्यास में यह समस्या उसके सामने प्रायः नहीं रह गयी है। इस उपन्यास में शंकर की कहानी मुख्यतः अपने नवीन गुरु स्वामी प्रज्ञानपाद के पथ-प्रदर्शन में उसकी नयी जीवन-यात्रा की कहानी है, और स्वामी प्रज्ञानपाद कल्पित नहीं यथार्थ व्यक्ति हैं। पिछले दोनों उपन्यासों में ऐतिहासिक अथवा अन्य जाने-माने यथार्थ व्यक्तियों से संवद्ध सभी बातें और तथ्य जिस प्रकार वास्तविक थे, उसी प्रकार, बल्कि उससे भी कहीं अधिक मात्रा में, स्वामी प्रज्ञानपाद से सम्बद्ध सभी बातें और तथ्य पूर्णतया वास्तविक और यथार्थ हैं; उनके और उनके 'परिवार' के

लोगों को छोड़ शेष जिन व्यक्तियों का कथा-प्रसंग में आविर्भाव हुआ है वे भी, साधारणतः, वास्तविक और यथार्थ हैं—भले ही उनमें से कुछ के नाम परिस्थितियों वश रद्दोबदल कर दिये गये हों। और ऐसे सभी प्रसंगों में, स्वभावतः, शंकर भी यह लेखक ही है।

पुस्तक के उत्तरार्ध में भी, एक समाचार-पत्र के सम्पादक के रूप में शंकर जिन अनुभवों और अनुभूतियों के बीच से गुज़रता है वे भी मूलतः यथार्थ हैं, हालांकि सारा परिवेश, विभिन्न परिस्थितियां, और अनेक पात्रों के केवल नाम ही परिवर्तित नहीं हैं, बल्कि उनके सम्बन्ध में एक सीमा तक कल्पना की छूट लेना भी विभिन्न कारणों से अनिवार्य हो गया है। उद्देश्य इस संघर्ष में शंकर के भावात्मक घात-प्रतिघातों और उसकी अनुभूतियों को ही चित्रित करना था, किसी अन्य व्यक्ति-विशेष के चरित्र का छिद्रान्वेषण नहीं। यदि किसी व्यक्ति को ऐसे किसी काल्पनिक पात्र के साथ न्यूनाधिक साम्य दिखाई दे जाये जिसके फलस्वरूप अपना छिद्रान्वेषण ही उसे लेखक का उद्देश्य जान पड़े तो यह उसके प्रति अन्याय होगा। लेखक का ऐसा कोई भी अभिप्राय नहीं रहा।

पूर्ववर्ती दोनों उपन्यासों में स्वाधीनता-संग्राम की जो ऐतिहासिक कथा केवल शंकर के ही नहीं, दूसरे भी अनेक पात्रों के माध्यम से, आगे बढ़ती रही थी, वह यहां मुख्यतः शंकर के ही दर्पण में प्रतिफलित होती है: 1942 के 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन की एक झलक; मुसलिम लीगी नेता जिन्ना के 'डाइरेक्ट ऐक्शन डे' के आह्वान पर 16 अगस्त, 1946 से शुरू होने वाला कलकत्ते का लोमहर्षक और अत्यन्त व्यापक नरमेध, जिसमें शंकर की प्रत्यक्षदर्शी की भूमिका थी; देश-विभाजन और आज़ादी, जिसने एक समाचारपत्र-सम्पादक के रूप में शंकर को अपनी गहरी मर्मव्यथा को अभिव्यक्ति देने के अवसर प्रदान किये, गांधी की हत्या और उस पर शंकर की एक सर्वथा अकल्पित प्रतिक्रिया; फिर, उस समाचार-पत्र के साथ उसकी गहरी आसक्ति और एकात्मता, जिसके फलस्वरूप उस पत्र पर आये सकटों से जूझते हुए उसका बाहरी और अन्दरूनी सघर्ष —ये सभी प्रसग मुख्यत केवल शंकर की व्यक्तिगत कथा बनकर सामने आये हैं, यद्यपि इस कथा में देश की तत्कालीन राजनीति भी प्राय सम्पूर्ण रूप में प्रतिफलित होती चली है। और—उसके इन सभी बाहरी और अन्दरूनी संघर्षों में इस बार उसके पथ-प्रदर्शक हैं स्वामीजी, न कि गांधीजी। गांधीजी और स्वामीजी के मार्गों के बीच का घोर अन्तर भी, इस प्रकार, अनायास ही इस उपन्यास का एक विशेष प्रसंग बन गया है।

—सुमंगल प्रकाश

बन्द दरवाजे

एक

"7 दिसम्बर 1943—घण्टों की चहलकदमी के बाद जब अधूरे-पड़े अपने उपन्यास को फिर से लिखने के काम में जुट जाने के लिए उसके अन्तिम स्थल के पन्ने स्मृति को ताज़ा करने की गरज़ से उलटने लग जाता हूँ, कि उतनी देर की सारी मेहनत चौपट हो जाती है दिल से एक गहरी साँस निकलते ही। और सारे हृदय को घेरकर बैठी हुई एक भारी शून्यता में डूब जाती है मेरी चेतना...

"बारह दिन हो चुके हैं बच्चे को मरे, और इस बीच कितनी ही बार कुछ देर के लिए एकदम विमूढ़-सा रह गया हूँ किसी स्मृति के आघात से; समझ ही नहीं पाया हूँ कि मैं हूँ या नहीं, वह था या नहीं, यह सब-कुछ जो देख रहा हूँ क्या सचमुच वही है जो तब था! अभी कुछ देर पहले बरामदे में खड़ा बगीचे के फूल-पौधों को देर तक सिर्फ देखता ही रह गया था, और समझ नहीं पा रहा था कि बारह दिन पहले का वही सब है यह, या वही सब सपना था!

"अभी-अभी ऊपर आसमान मे हवाई जहाज़ की गडगड़ाहट सुनाई दी, और दस-बारह साल की राधिका दौड़ती हुई मेरे पास से निकल गयी उसे देखने! और मैं धक्-सा रह गया। चौदह-पन्द्रह दिन ही तो हुए हैं जब बीमार रंजन को गोद में लेकर, रज़ाई मे उसे लपेटे, बाहर बग़ीचे मे ले जाता था मैं, और वह भी उस गड़गड़ाहट का अनुसरण कर आकाश मे मेरी ही नाईं हवाई जहाज़ को अपनी आँखों से खोजता था, और उसके दीखते ही, अपने सफेद बारीक दाँतों को दिखाता, खुश होकर कह उठता था: 'अबाई जाज', और अपनी नन्ही-सी बाँह उठाकर नन्ही-सी उँगली से उस ओर इशारा करता था।

"आज वह रंजन है ही नहीं, पर हवाई जहाज आज भी आ गया है...और राधिका उसे देखने दौड़ी गयी है। और मैं, बस बैठा-का-बैठा रह जाता हूँ कुरसी पर—गुमसुम।..."

उस दिन शंकर कुछ भी और आगे नहीं लिख पाया अपनी डायरी में।

"वच्चे की वीमारी से 'एक ज़वरदस्त धक्का' क्यों लगा? मन तुम्हारा मानता रहा था कि तुम्हारा सव कुछ तुम्हारे अनुकूल ही चलेगा। लेकिन, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, स्वास्थ्य-रोग, सम्पद्-विपद्, जन्म-मृत्यु, उत्थान-पतन—इन दोनों भावों के आधार पर ही जीवन की स्थिति है, जीवन चालू है। 'एक' कुछ भी सत्य नहीं है, 'दो' ही सत्य हैं। दो के अविरल चलन-परिवर्तन में ही जीवन की धारा है; 'एक' होने से मृत्यु है। तुम्हारे मन ने 'पॉज़िटिव' को ही एकान्त सत्य मान रखा था, 'निगेटिव' के लिए तुम्हारा मन तैयार नहीं था, इसीलिए इतना जवरदस्त धक्का लगा। असत्य में रहने का यही फल है। मन के दोनों दरवाज़ों—'पॉज़िटिव' और 'निगेटिव'—को खुला रखो, जीवन अखण्ड रस से भरा रहेगा, आने-जाने वाली परिस्थितियों से मन विवश नहीं होगा। मन आनन्द से ओतप्रोत रहेगा।..."

ये थे स्वामीजी के उस पत्र के कुछ वाक्य जो उन्होंने शंकर को उसके डेढ़ वर्ष के रंजन की वीमारी के डाक्टरों द्वारा घातक वताए जाने की ख़वर पाकर उसे लिखा था और जो उसके उस समय के विकल चित्त को ऊपर-ऊपर से छूकर ही निकल गये थे।...किन्तु घोर आसक्ति और मोहान्धता की द्योतक अपने मन की यह स्थिति भी उसे चैन कहां लेने दे सकी थी?

अपने जीवन का सवसे वड़ा आघात पाने के वाद, कुछ वर्ष पूर्व, जिस अर्ध-विक्षिप्त अवस्था में स्वामीजी के चरणों में आश्रय पाकर अन्त में शंकर उससे उवर सका था और विलकुल नये सिरे से उसने फिर अपनी जीवन-यात्रा शुरू की थी—विवाह करके, और कामकाज में भी पूरा मन लगाकर—उसके वाद वह यह कल्पना तक नहीं कर सकता था कि फिर कभी वह उसी तरह की आसक्ति के वन्धनों में अपने को इस कदर जकड़ा पाएगा।...पिछला सारा अनुभव क्या विलकुल ही वेकार गया उसका: पिछली सारी यंत्रणा, छटपटाहट, विकलता; और उसके वाद स्वामी जी से प्राप्त वह सारा ज्ञान? क्या अभी भी वह उसी तरह विचलित हो जा सकता है? क्या अव भी अपने चित्त की शान्ति और आनन्द के लिए वह वाहर पर ही निर्भर है?

यही कारण था कि उसके वाद से, वच्चे की छः महीने लम्वी वीमारी में, पल-भर के लिए भी वह चैन नहीं पा सका। एक ओर जहाँ उसकी चिकित्सा में, सेवा-शुश्रूषा में, हर तरह के यत्न में उसने कुछ भी नहीं उठा रखा, वहाँ दूसरी ओर, जव-जव भी चिकित्सा से लाभ होता दिखाई देता, वह घवड़ा उठता: अगर वच्चा वच गया, तो आसक्ति का यह वंधन और भी जकड़ जायगा; उसकी

मृत्यु की कल्पना मात्र से जो 'जबरदस्त धक्का' लगा है, उससे वह कोई फ़ायदा नही उठा सकेगा; हमेशा ही प्रियजनों की मृत्यु के डर से कांपता रहेगा...

और, अन्त में जब बच्चे की मृत्यु हो गयी, तब पहले तो उसने यही मान लेना चाहा कि उसे कोई धक्का नही लगा है, आसक्ति के सारे बन्धनों को उसने जड़-मूल से काट फेंका है। एक बार भी अपनी आँखों में आँसू नही आने दिये, किसी प्रकार का भी मातम नही मनाया, बाहरी दुनिया के सामने किसी तरह भी प्रकट नही होने दिया कि वह एक बार फिर अपनी ज़िन्दगी की बाज़ी हार गया है।

मगर स्वामीजी के ही अगले पत्र के एक वाक्य ने उसके चित्त को बुरी तरह विक्षुब्ध कर दिया :

"सत्य को आमने-सामने देखकर तुम स्थिर होगे, इसमे सन्देह नही है।"

'मृत्यु' को नही 'सत्य' को आमने-सामने पाकर !—शंकर का सारा चित्त विद्रोह कर उठा, 'मृत्यु' के पर्यायवाची के तौर पर 'सत्य' शब्द के इस प्रयोग से ! ...मृत्यु सत्य अवश्य है, परिवर्तनशील जीवनधारा की चरम परिणति के रूप में; किन्तु उस नन्हे-से निरीह शिशु की मृत्यु भी अगर सत्य है तो यह एक महा घोर सत्य है, सहज सत्य नहीं।...पके हुए आम की तरह टपक जाए—जीवन धारा की परिणति के रूप मे—यह शरीर !—यही न होना चाहिए सत्य का सहज रूप ?

क्या अपने बच्चे के साथ उसकी आसक्ति सर्वथा सहज-स्वाभाविक नहीं थी—प्रकृति के नियम के ही सर्वथा अनुरूप ? जवाब में, उलटे स्वामी जी से ही उसकी यह पूछने की इच्छा हुई, कि पैदा होते ही बच्चा एकदम उठकर चलने और दौड़ने क्यो नही लग जाता, अपना पेट खुद क्यों नही भर लेता, क्यो दिन के बाद दिन, महीने पर महीने, साल पर साल बिता देता है अपने माँ-बाप पर आश्रित रहते ?...दिन पर दिन अपने हृदय के रक्त से सींचकर, वस्तुत. बूँद-बूँद करके अपना रक्त ही उसे देकर, जो माँ-बाप अपने बच्चे को बडा करेंगे, वे क्या सहज रूप मे ही यह स्वीकार कर ले सकते हैं, कि अपने को समाप्त करके रचा गया उनका यह प्रतिरूप जब चाहे उन्हें छोडकर चला जा सकता है ?...

अवश्य, कही भूल है, कोई बहुत बडी भूल !

पर, चूँकि स्वामीजी ने लिखा था, इसलिए इतनी आसानी से उडा भी नहीं दी जा सकती थी उनकी बात ! इसके अलावा, बच्चे की मृत्यु के बाद जितना ही उसने अपने मन को यह समझाना चाहा कि वह विचलित नही हुआ है, उतना ही वह भ्रम टूटता चला आया था दिन पर दिन। सारे दिन वह बगीचे मे टहलता रहता, दिमाग मे तूफान उठा रहता, कब-के अधूरे-पड़े अपने उपन्यास को अब, पूरी फ़ुर्सत पा जाने के बाद, जब आगे बढ़ाने की कोशिश करता, तो कागज़-

क़लम लिये बैठा ही रह जाता...

अन्त में, इन सभी समस्याओं से छुटकारा पाने की नीयत से, और स्वामीजी के पत्रों के प्रकाश में सत्यासत्य की कुछ अधिक निकट से परीक्षा करने के लिए भी, उसने डायरी लिखनी शुरू कर दी, जिसमें दिल और दिमाग़ में उठने वाले भावों और विचारों को वह पूरी तरह खुलकर छूट दे डाले, और समय आने पर स्वामीजी के सामने रख दे सके :

"11 दिसम्बर—तीन-चार दिन कुछ भी नहीं लिख सका था।...तरह-तरह के विचारों में ही डूबा रहा बराबर—'सत्य' का, मृत्यु का, सामना करने की अपनी सारी तैयारी की इस घोर विफलता पर तिलमिलाता...

"मृत्यु का—प्रियजन की मृत्यु का—डर मुझे हमेशा से बेहद रहा है। बल्कि, अपने विवाह के विरुद्ध मेरी एक दलील यह भी थी कि क्यों जानबूझ कर माया-ममता के एक और बन्धन में फँसूँ, और हमेशा की घबड़ाहट मोल लूँ : कभी कोई बीमार होगा, कभी कोई; और मैं, अपनी घोर आसक्ति लिए, मृत्यु के भय से हर वक्त थरथर काँपता रहूँगा।

"पर शादी भी हुई और समय पर बच्चा भी हुआ।

"बहुत अच्छी तन्दुरुस्ती नहीं थी मेरी जब मैंने शादी की, और न सुशीला ही बहुत तन्दुरुस्त आयी। स्वामीजी ने सलाह दी—'देखो, बच्चा-बच्चा अभी न करना जब तक दोनों खूब तन्दुरुस्त न हो जाओ।' और सुशीला से तो ख़ास तौर से कहा : 'क्या अच्छा लगेगा तुम्हें—हमेशा बीमार रहने वाला, सूखे-सूखे हाथ-पाँव वाला, हर वक्त रोने वाला बच्चा, या हृष्ट-पुष्ट, तन्दुरुस्त, गुलाब के फूल-सा प्यारा बच्चा ?' और सुशीला भी 'गुलाब के फूल-से' बच्चे की लालसा में बह गयी, और स्वास्थ्य के लिए तरह-तरह के यत्न, और संयम उसने किये।...फिर, सचमुच ही, गुलाब के फूल-सा बच्चा जना उसने।...

"15 दिसम्बर—बीस दिन हो गए रंजन को गए, पर देखता हूँ, जो जगह उसने घेर ली थी हमारे यहाँ, वह वैसी ही घिरी पड़ी है—उसी से, उसकी विविध स्मृतियों से। कहीं से कोई जरा-सी ठेस लग जाती है, और एक बाँध-सा टूट पड़ता है। यही मेरी माँ की हालत है, यही सुशीला की, यही मेरी। जो सूनी जगह वह छोड़ गया है उसे तरह-तरह से, जगह-जगह से, न जाने क्या-क्या लाकर भरने की हम सभी कोशिश करते हैं, पर थोड़ी देर बाद पता चलता है कि सारी कोशिश बेकार गयी, दूसरा कुछ भी वहाँ ठहर नहीं पाता, जम नहीं पाता—तेल जहाँ जम कर बैठ गया हो वहाँ जैसे पानी नहीं ठहरता।

"पड़ोस की कमला मौसी का एक पोता है मोहन—हमारा रंजन जितना था क़रीब-क़रीब उतना ही बड़ा। परसों की बात है, मोहन की माँ सवेरे उसे लेकर हमारे यहाँ आ बैठीं—जहाँ हम लोग नाश्ता कर रहे थे। मोहन को भी हमने

कुछ खाने को दिया। और, धीरे-धीरे, हम सभी उसकी ओर खिच गये। मैंने देखा सुशीला की आँखों मे स्नेह है, ओठों पर मुसकराहट, और वह बार-बार उसे कुछ और खाने को देती चली जाती है।...और, मैं भी मोहन को देखता हूँ, और सोचता हूँ—क्या सिर्फ रंजन ही सब-कुछ था; यह मोहन क्या रंजन नही हो सकता?

"पर वह चला जाता है, और हमारे पास रह जाता है, बस रंजन ही रंजन, मोहन का लवलेश भी नही।

"रात को जब मेरा ध्यान अपनी ओर से हटकर किसी वक्त अचानक सुशीला की ओर गया तो उसे देख चोट-सी लगी: 'क्या बात है? कैसी हो रही हो तुम?'...'कुछ नहीं'—' सुशीला ने कहा, पर उसके चेहरे से साफ था कि बहुत-कुछ जमा हुआ है उसके अन्दर।...मैंने थोडी और हमदर्दी दिखायी, और वह मेरी छाती पर सिर रख फूट-फूटकर रो पड़ी। फिर बोली: 'आज दिन-भर मेरा मन बहुत खराब रहा—', फिर, थोडा रुककर कह उठी: 'वह जो मोहन आया था आज...सवेरे—' वह सिसकियाँ लेने लगी। और मुझे लगा, जैसे मेरा भी दम-सा घुटा जा रहा है।

" 'तुमको नही लगा, कितना रंजन से मिलता-जुलता है मोहन?...पहले कभी इस तरह मैंने नही देखा था उसे—सिर पर टोपी, ढील-ढाला कोट', आँसुओं मे बहती सुशीला बोली; 'बिलकुल रंजन-सा लग रहा था आज।'...और, मैंने देखा, मोहन ने रंजन की जगह नही ली, रंजन मर कर भी किसी को नही बैठने दे रहा अपनी जगह पर ..

"पर मैं क्या-क्या कहने जाकर क्या-क्या कह गया। बात शुरू हुई थी मृत्यु की तैयारी को लेकर। कह रहा था, कि शादी से पहले सबसे बडा डर मुझे यही था कि मोह-ममता के बंधनों मे बँधकर कितनी बडी आफत ख़ुद ही अपने सिर ले लूँगा, और घबडाता रहूँगा जरा-जरा-सी बात पर, छोटी से छोटी बीमारी पर।...लेकिन शादी और शादी के बाद गुलाब के फूल-सा बच्चा पाकर कहाँ रह गया था वह डर, कहाँ रह गयी थी वह घबराहट?...वह मुझे बाँध चला था, और मैं भी बँधता गया था, आत्म-विभोर-सा, बेहोश-सा।

"मेरी माँ और सुशीला सोती थी एक कमरे मे, और मैं दूसरे में।...पर एक ही गहरी नीद सोकर सवेरे जब भी जग पड़ता—चाहे चार बजे हों, चाहे तीन ही—फुरती से गरम-गरम लिहाफ उतार उठ खडा होता और कम्बल ओढ बाहर बरामदे मे जा, दूसरे कमरे के बन्द दरवाज़े मे कान लगाकर सुनता, कि कोई आहट तो नही है, कोई जगा है या नही।...कभी-कभी साहस करके धीरे-धीरे दरवाज़े पर उँगली से खटखट करता।...कभी कभी तो पन्द्रह-बीस मिनट तक भी, आज-जैसे ही जाड़ों मे, काँपता खडा रह जाता...और कभी-कभी, उसके

वाद भी, निराश हो लौट आता—कुछ देर वाद फिर वही क्रिया दुहराने के लिए।…लेकिन जहाँ अन्दर दाख़िल हुआ, कि रेंडी के तेल के दिये की धुँधली रोशनी में चुपचाप सोये वच्चे का अस्तित्व मात्र मुझे पुलकित कर देने के लिए काफ़ी होता।"

"16 दिसम्वर—'अव तुम और सुशीला पति-पत्नी पीछे हो, माता-पिता पहले,' स्वामीजी ने लिखा था। 'यह जितना याद रखोगे, वालक के प्रति अपना उत्तरदायित्व उतना ही निभा सकोगे।'…हम दोनों ने ही कितनी गंभीरता से ग्रहण किया था उस उत्तरदायित्व को, किस प्रकार स्वामीजी के एक-एक निर्देश पर चलने का प्रयत्न किया था, किस तरह अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को, अपनी सुख-सुविधाओं को उसके स्वस्थ शारीरिक और मानसिक विकास की वेदी पर कुर्वान करते चले गये थे, खुशी-खुशी ही।...वहुत-सी वातें चक्कर काट गयीं कल मेरे मस्तिष्क में; धीरे-धीरे रंजन का वढ़ना ; कली की धीरे-धीरे खिलने की मधुर, सुकुमार चेष्टा; हमारी ओर देख धीरे से उसका मुसकरा उठना; नन्हे-नन्हे हाथ-पाँवों को हिला-डुलाकर अपनी जीवनी शक्ति और शरीर में न समाते आनन्द को प्रकट करना ; और, किसी इच्छा के पूर्ण न होने पर उच्च स्वर में रो-रोकर सिर पर आकाश उठा लेना, और हम सवको विचलित कर देना..."

"18 दिसम्वर—इतना लिख डालने के वाद, परसों, आगे लिखने की इच्छा विलकुल ही ग़ायव हो गयी, और मैं टहलने लग गया।…अचानक ही लगा—फुटवाल के सर्व-प्रमुख खिलाड़ी की तरह हूँ मैं, जो एक वार 'वॉल' को क़ब्ज़े में पाकर पूरे वेग से, पूरे उत्साह से, उसे 'गोल' तक पहुँचा देने की पूरी आशा लिये, जीत के नशे में वेहोश, उसे वढ़ाता चला जा रहा है, सारी वाधाओं को पार करता। 'वॉल' से 'गोल' करना ही उसका एकमात्र उद्देश्य है, और उसी के साथ उसकी सारी हार-जीत वँधी है।—कि अचानक, न जाने कहाँ से आकर कौन टकरा जाता है उसके साथ पूरे वेग से, पूरी शक्ति के साथ ; दोनों एक-दूसरे से भिड़ जाते हैं उस 'वॉल' के लिए, गुत्थम-गुत्था। और, सहसा ही देखता हूँ, 'वॉल' नहीं है; वह ले गया है उसे, और मैं गिर पड़ा हूँ धरती पर मुँह के वल। पूरी तरह हारा पड़ा हूँ मैदान में; क्या वताऊँ, कि क्या चला गया मेरा, उस 'वॉल' के साथ, उसके 'गोल' होने के पहले ही?"

"19 दिसम्वर—वस्तुतः यह डायरी लिखने वैठा था अपने वर्तमान को लेकर; अपने दिल की हलचल को थोड़ा-वहुत शान्त करने के लिए। और आ गया घूम-फिरकर अपने अतीत पर ही।...मगर क्या फ़ायदा, अतीत का परदा उठाकर झांकने से? शिवजी की कथा याद आ जाती है। वचपन में पढ़ा था—सती का शव कंधे पर लटकाये शिव सारी दुनिया में पागल की नाईं भटकते फिरे थे;

शव का एक-एक अंग सड़कर जगह-जगह गिरता गया, पर शिव ने उसे छोड़ना नही चाहा।

"रंजन के अतीत से इस तरह चिपटे रहना मैं नही चाहता। अच्छा भी नही लगता, हलचल भी बढ़ जाती है।...कल जिस प्रसंग पर जाकर कलम रुक गयी थी उसने एक के बाद एक इतने चित्रों का सिलसिला शुरू कर दिया कि थोड़ी देर बिलकुल ही विमूढ़बना बैठा रह गया मैं : कहाँ चला गया रजन, कैसे चला गया, क्यो? एक बार फिर हाहाकार मच गया सारे हृदय में, और कब, मेज़ पर सिर रख, फूट-फूटकर रो पड़ा—मुझे पता ही नहीं चला।...और, मैं बह गया—रजन की मृत्यु के बाद पहलेपहल, आँसुओं की बाढ़ मे।..."

इसके बाद शकर का डायरी लिखना जो छूटा, सो छूटा ही रह गया।... उस दिन का वह रो पड़ना उसे क्या दे गया था, यह तब कहाँ जान पाया था वह? लेकिन, उसने देखा था कि उसका दिल उसके बाद अचानक जैसे कुछ हलका हो उठा था...

तब से अक्सर वह रंजन की कोई स्मृति आ जाने पर रो लेता, बल्कि कभी-कभी तो, अकेले मे जाकर, उसे याद करता और रो-रोकर दिल को हलका करता जाता।

बल्कि, एक दिन तो उसने साहस करके एक प्रयोग ही कर डाला : एकान्त में जा, ज़ोर लगाकर, रंजन के मृत्यु काल के उस चित्र को स्मृति-पट पर लाने की कोशिश की जिसकी हलकी से हलकी याद आते ही हर बार वह बुरी तरह घबड़ा उठता था पहले।...अब भी कम घबड़ाहट नहीं हुई, पर वह डटा रहा।... एक बार वह बहुत ही दर्दनाक दृश्य उसकी बंद आँखों के आगे घूमकर ओझल हो गया, और वह बुरी तरह सिहर उठा।...उसने फिर साहस किया...और अचानक ही बुरी तरह से रो पड़ा...

खब रोया, खूब रोया।...जिसके बाद रंजन की मधुर स्मृतियों को ला ला कर भी रोया।...और, किसी किसी दिन, फिर उसके मृत्यु काल के उस चित्र को...

रंजन की मधुर और भीषण दोनो ही प्रकार को स्मृतियाँ धीरे-धीरे अधिकाधिक सहन होने लग गयी; फिर एक दिन, सुशीला के सामने भी अपने इस आविष्कार का रहस्योद्घाटन कर, उसे भी उसने अपने साथ शामिल कर लिया—रात को सोते समय।...दोनो ही उसकी उन स्मृतियों के आंसुओं मे एक साथ डूबने-उतराने लगे।...

तब याद आया, स्वामीजी ने भी शुरू मे ही उन्हें लिखा था : "अपने भावों को दबाना नही—दुःख आवे तो रुलाई को रोकना नही।"

अब जाकर ही उसे पता चला कि गलती उसने रजन के प्रति अपनी उस

आसक्ति को अस्वीकार करके की थी जिसके कारण वह मान वैठा था कि उसकी मृत्यु से वह विचलित नहीं हुआ है। मानो उस आसक्ति को ही वह दुर्वलता माने वैठा था, और अपने को उससे ऊपर।...अव, जव उसने उसे स्वीकार कर लिया था, मिथ्या-अहंकार से छुटकारा पाया था, साधारण मनुष्य की तरह रो लिया था, तो वह वंधन मानो आप-से-आप ढीला पड़ता गया था।

एक नये ही आनन्द का, एक नये ही आत्म-विश्वास का अर्जन किया अव उसने : जव-जव भी उसका ऐसा कुछ छिन् जायेगा जिसमें उसकी आसक्ति है, तव तव वह, इस तरह, उसकी चोट में रोकर, उस वंधन से छुटकारा पा लिया करेगा। इस तरह की साधारण से साधारण चोटों में प्रयोग कर-करके जव उसके इस नये अनुभव की पुष्टि ही होती चली गयी—एक वार तो अपने उपन्यास के एक अंश के रास्ते में कहीं गिर जाने के वाद भी—तव, काफी हलका दिल लेकर ही, वह स्वामीजी के पास पहुँचा।

... ...

"वहुत ठीक!...विलकुल सही है, सव-कुछ सुनने के वाद स्वामी जी ने उसकी सराहना की उस आविष्कार के लिये, और उसकी सचमुच पीठ ठोंकी। फिर, उसी आवेश में शंकर जव और भी वहुत-कुछ कह गया—अपनी सभी भावी समस्याओं को इसी तरह हल करते चले जाने के दृढ़ विश्वास में—तव एक वात वह और वोले, जिसने शंकर को चौंका दिया :

"विलकुल सही है...मगर, वड़ा ही कष्टसाध्य है न?"

"जी—" शंकर ने अविलम्व स्वीकार कर लिया। "कष्ट तो वहुत होता है स्वामीजी...पर और उपाय ही क्या है?"

"हर वार नयी-नयी आसक्तियों में वँधोगे...हर वार चोटें पड़ेंगी...फिर—हर वार, इस तरह, उनसे उवरने के लिए इतनी मेहनत करनी होगी...इतना दुःख भोगना होगा—" स्वामीजी वोले।

"तो क्या—इससे सरल भी कोई उपाय है?" शंकर ने चकित होकर पूछा।

"है—" स्वामीजी ने दृढ़तापूर्वक कहा। "शैशव के जिन कठिन वंधनों में मन जकड़ा पड़ा है—जो अप्रिय स्मृतियाँ अचेतन में दवी पड़ी हैं...उन्हीं के ज़ोर से नयी-नयी आसक्तियों में मन फँसता रहता है...एक तरह से उनके ही प्रतीक के रूप में।...जड़ को ही अगर काट [illegible] जाय एक वार...कष्ट उसमें भी वहुत होगा...लेकिन फिर, हमेशा के [illegible] मिल जायेगा... जीवन-धारा सहज रूप से वहने [illegible]

"तो मैं तैयार हूं —[illegible]
उठा।

अगले दिन ही स्वामीजी ने शंकर का वह काम शुरू कर दिया—सवेरे के नाश्ते के बाद। जब वह उनकी कोठरी में पहुँचा तो उन्होंने उससे अपना तकिया ले आने के लिए कहा, और फिर, बाहर के बरामदे में तह करके रखी उस दरी को उठा लाने के लिए जिसे उनके आसन से कुछ दूर बिछाकर बाहर से आने वाले लोग बैठा करते थे।

"अब यह दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लो, और सभी खिड़कियाँ भी—" स्वामीजी ने कहा, "और उस दरी को यहाँ सामने बिछा, तकिये पर सिर रखकर लेट जाओ।"

धड़कते दिल से शंकर लेट गया।

शुरू-शुरू में वह अँधेरे में कुछ भी नहीं देख पाया; लेकिन मिट्टी की उस कच्ची कुटिया के फूस वाले छप्पर से, देहाती बढ़ई की बनाई उन खिड़कियों और दरवाज़ों के बन्द रहने पर भी, कुछ न कुछ रोशनी अन्दर आ ही रही थी जिसकी वजह से शुरू वाला वह अँधेरा थोड़ी देर बाद काफ़ी हलका पड़ गया।

उसके बायीं ओर स्वामीजी का गद्दे और मसनद वाला आसन था; उसने देखा कि मसनद को पीछे छोड़ वह अपने आसन के किनारे की ओर आ गये हैं—उसके काफ़ी नज़दीक...

"आँखें बन्द कर लो, और अपने को बिलकुल ढीला छोड़ दो...एकदम आराम!...बदन में कहीं कोई तनाव न रहे...जैसा कि सोते वक़्त अपने को छोड़ देते हो..."

शंकर ने वैसा ही करने की कोशिश की, और न चाहने पर भी उसके अन्दर से एक गहरी साँस निकल पड़ी।

"रोको नहीं...अपने को बिलकुल नहीं रोको!...जो होता है होने दो...जो भी भाव आता है, आने दो...जो विचार आते हैं, खुलकर चले आने दो..."

"जी—" शंकर ने जवाब दिया, और आँखें बन्द करके सोचने लगा, क्या विचार आ रहा है...

"कोई विचार नहीं आ रहा, स्वामीजी—" कुछ देर बिलकुल चुप पड़े रहने के बाद वह बोला।

"ठीक है—" स्वामी जी ने सहज स्वर में धीरे से कहा। "...बस, देखते चलो, जब जो बात मन में आती चले उसे कहते चलो...रोको नहीं...अच्छा-बुरा का भाव लाकर उसे भगा मत दो...छिपाओ नहीं—अपने से भी नहीं, स्वामीजी से भी नहीं..."

फिर, एक तरह से ज़ोर लगा कर ही, बीच-बीच में, कुछ कहना शुरू किया उसने...पर स्वामी जी कुछ नहीं बोले। एक बार आँखें खोल उसने उनकी ओर ताक भी लिया; देखा, वह पहले-जैसी ही मुद्रा में, सीधे बैठे हुए थे—उसकी ओर

से सर्वथा उदासीन...

वह घबड़ा सा-उठा।

"कोई ख़ास बात तो आ नहीं रही है स्वामीजी...मन में..." आख़िर वह कह उठा।

"घबड़ाने की ज़रूरत नहीं है," स्वामीजी ने उसी स्थिर स्वर में जवाब दिया। "ख़ास-वास की कोई बात नहीं है।...क्या ख़ास है, और क्या नहीं—यह तुम्हें नहीं विचार करना है।...तुम्हारे मन में जो आता चले, चुपचाप बोलते चले जाओ...बिलकुल ऊल-जलूल लगे...अनाप-शनाप लगे...तो भी—"

धीरे-धीरे अपनी लगाम छोड़ दी शंकर ने, और जो भी मन में आता गया कहता चला गया—बिलकुल ही बेतरतीब ख़याल...सर्वथा असंलग्न चित्र : आश्रम के किनारे बहती नदी...सन्थालों का गाँव...कलकत्ते में उसका और रूपचन्द का ट्राम में सवार होना...पटने में विद्याभूषण के घर में बैठ वह उनके साथ खाना खा रहा है, जबकि 1942 के आन्दोलन में गिरफ़्तार होने के डेढ़ साल बाद वह अपने पिता की बीमारी में 'पैरोल' पर छूटकर आए हुए थे और शंकर बनारस से आते वक़्त वहाँ रुक गया था...स्वामीजी को सुपौल (आश्रम का सन्थाल सेवक) फल दे रहा है एक तश्तरी में...रात उसने एक सपना देखा था जिसमें वह बेहद डर गया था... ठीक याद नहीं पड़ रहा था, क्या था...

और वह अचानक रुक जाता है।

"रुक क्यों गये?...क्या आ रहा है मन में?"

"याद कर रहा था उस सपने को—"

"कुछ याद करने की ज़रूरत नहीं है।...जो आता चले वही कहते जाओ।"

फिर एक ऐसा ख़याल अचानक उसके दिमाग़ में घूम गया जिसे स्वामीजी को बताने में उसे शर्म आयी। वह फिर कुछ देर के लिए रुक गया।

जब उनके पूछने पर उसने अपनी उस शर्म की बात बतायी तो वह बोले :

"शर्म करने से तो चलेगा नहीं—स्वामीजी के सामने!...यह तो पहली शर्त है न, इस चिकित्सा की। स्वामीजी के सामने बिलकुल नंगे हो जाना है—जिस तरह माँ के सामने छोटा बच्चा—या पत्नी के सामने पति..."

आख़िर उसे अपनी उस तरह की झिझक और शर्म को भी ज़ोर लगाकर स्वामी जी के सामने दूर करना ही पड़ गया...

उसके बाद, दूसरे या तीसरे दिन, स्वामीजी के सामने लेटते ही अपने बड़े मामा के घर में टंगी, फ्रेम में मढ़ी, एक ग्रूप-फ़ोटो उसकी स्मृति में अचानक कौंध गई—और उसमें भी, ख़ास तौर पर, अपने ममेरे भाई किरन की आँखें, जो एकटक सामने की ओर ताक रही थीं।...इस सीधी दृष्टि में कुछ ऐसा था कि

शंकर के अन्दर कहीं कुछ सिहर-सा उठा।

मगर वह समझ कुछ भी नहीं पाया...और स्वामीजी को बताने पर उन्होंने भी कुछ कहा नहीं...

इसी तरह चलता रहा—पूरे तीन दिन तक, एक-एक घंटे की सवेरे की बैठक में, हालांकि लेटने की उस प्रक्रिया को 'बैठक' न कह कुछ और कहना चाहता था वह।

चौथे दिन की 'बैठक' में भी उसी तरह की असंलग्न बातों का, चित्रों का, स्मृतियों का सिलसिला चल रहा था—कि अचानक वह कह उठा :

"पीठ...मेरी पीठ..." और एक सिहरन दौड़ गयी उसके सारे बदन में।

स्वामीजी को भी उसने वही शब्द दुहराते सुना :

"पीठ में...हां-हां, पीठ में...तुम्हारी पीठ—" वह उसके और भी नजदीक झुक आये थे शायद।

मगर सब कुछ लुप्त हो गया शंकर के दिमाग़ से...एक अंधकारपूर्ण शून्य ही रह गया वहां।

उसके बाद—उसी दिन को, या अगले दिन की बैठक में—फिर वही सिहरन...और, 'मेरी पीठ...मेरी पीठ में—' कह कर अचानक उसका भयभीत स्वर में चीख़ उठना...और कुछ देर के लिए सब कुछ लुप्त हो जाना, उसी अंधकारपूर्ण शून्य में...

"देखो—देखो—" आग्रहपूर्ण स्वर में, उसके ऊपर झुके स्वामीजी बार-बार दोहराते चले जा रहे थे, "पीठ में...तुम्हारी पीठ में !...क्या हुआ, देखो तो ?"

"लात—" शंकर अचानक चीख़ उठा, "लात मारी है—"

"लात मारी है—हां-हां...लात मारी है—" स्वामीजी तेज़ी के साथ, ज़ोर-ज़ोर से दुहराते जा रहे थे, उसे बढ़ावा देते जा रहे थे...

"नानाजी—" भय-विह्वल किसी शिशु का-सा चीत्कार निकल पड़ा शंकर के अन्दर की न जाने किन गहराइयों को चीरता, और दूसरे ही क्षण इस तरह रुक गया, मानो उसकी पूरी चेतना ही अवसन्न हो गयी हो...

धीरे-धीरे, अगले दो-तीन दिनों की उन 'बैठकों' में, वह पूरा ही चित्र उसके स्मृति-पट पर उभर आया—जब कि दो-ढाई साल के एक शिशु की पीठ पर पीछे से उसके नानाजी की लात पड़ी है—इतनी ज़ोर से और इतने अचानक, कि वह बिलकुल ही विमूढ़ रह गया है : उसके नानाजी...काली-काली उनकी दाढ़ी, जिसके बीच, कहीं-कहीं, सफ़ेद बालों के कुछ तार-से चमक रहे हैं...और, अंगारों सी दहकती लाल आंखें !

शंकर कुछ कर रहा था बैठा-बैठा—अपनी दोनों टांगों को सामने फैलाये...

कि उसी दम पीछे से वह लात पड़ी, और बहुत ही कर्कश, कठोर स्वर में नानाजी की वह डाँट :

"क्या कर रहा है—बदमाश !"

... ...

"फिर करेगा कभी ?...फिर करेगा कभी ?" एक दूसरा चित्र...नानाजी का ही !...दूर से आती खड़ाऊओं की खटखट...खटखट...खटखट...और, उस आवाज़ के सुनते ही, नन्हे से शंकर का सिहर उठना।

... ...

नानाजी ने पलंग पर पटक दिया है शंकर को—जब उसने भी एक बार ज़ोर से उनकी दाढ़ी पकड़कर खींच ली थी।

... ...

किरन..."किरन का क्या कर डाला शंकर ने ?" उसकी माँ दौड़ी आती हैं...बड़े मामा और बड़ी मामी दौड़े आते हैं...और नन्हा-सा, ढाई-तीन साल का शंकर एक कोने में दुबक जाता है। क्या कर दिया था उसने आठ-नौ महीने के किरन का ?...अचानक ही किरन के मुँह से झाग निकलने लग गये थे... उसकी आँखें फट-सी गयी थीं, पथरा-सी गयी थीं, (नानाजी की लात खाने वाले चित्र से पहले के उन असंलग्न चित्रों में एक बार जो चित्र आकर ग़ायब हो गया था उसमें भी ये ही आँखें थीं किरन की !) और शंकर उनकी ओर ताक नहीं पाया था...बुरी तरह डर गया था...भागकर एक कोने में जा छिपा था—जब उसकी चीख़ सुनकर बाहर से लोग दौड़े आए थे।

धीरे-धीरे, सवेरे वाली बैठक का वह पूरा ही घंटा शंकर एक बिलकुल ही नयी दुनिया में बिताने लगा : अँधेरी कोठरी में तकिये पर सिर रखकर लेटते ही पिछले दिन का सूत्र जहाँ छूटता था वहीं से फिर शुरू हो जाता—आप-से-आप, बिना कोई प्रयत्न किये। और, धीरे-धीरे, कुछ ही दिनों के अन्दर एक पूरी घटना—एक बहुत ही दर्दनाक पूरी घटना—सिलसिलेवार ढंग से, सिनेमा की तस्वीर की तरह उसके सामने उद्घाटित होती चली गयी, अपनी कितनी ही शाखा-प्रशाखाओं के साथ। दो-ढाई साल का वह शिशु...और उसके वह प्रचण्ड और भीषण नानाजी...उसके बड़े मामा का लड़का किरन, जो उससे डेढ़-दो साल ही छोटा था...उसकी माँ...बड़े मामा...बड़ी मामी...

कहाँ से निकली चली आ रही है उसकी दो-ढाई साल की उम्र की यह कठोर, क्रूरतापूर्ण, करुणाजनक कहानी ?—शंकर के मन में, उस घण्टे के बाद वाले समय में, बार-बार प्रश्न उठता।...क्या यह सच है ? क्या यह उसी की कोई सुप्त स्मृति है, जो अब अचानक ही इस तरह जाग्रत हो गयी है, स्वामीजी के किसी चमत्कार से...किसी जादू से ?...क्या सचमुच कभी ऐसा

भैया,

तुमने मुझे पहले एक छोटी-सी चिट्ठी लिखी थी, मुझे मालूम ही नहीं था। कल तुम्हारे दोस्त[1] के कुछ काग़जों के बीच जब मुझे मिली, तो मैं धक से रह गयी। जब मैंने पूछा तो कोई ठीक जवाब नहीं दे सके। मगर मैं समझ गयी। वह शायद जानते थे कि तुम्हारी इतनी छोटी, इतनी रूखी चिट्ठी पाकर मुझे कैसा लगेगा।

तुमने यह चिट्ठी मुझे क्यों लिखी भैया? क्या तुम्हारे दोस्त ने तुम पर दबाव डाला था? मगर तुम तो किसी के दबाव में आने वाले थे नहीं! तब क्यों ज़बरदस्ती मुझे चिट्ठी लिखी, अपने ऊपर इतना ज़ोर डालकर?

...इतना हिस्सा लिखकर तीन दिन तक फिर मैं आगे कुछ भी नहीं लिख पायी। आज फिर जी कड़ा करके बैठी हूँ। जब तुमने मुझे लिखा ही है, तो मैं भी क्या आज तुमसे पूछ सकती हूँ भैया, कि तुम कैसे हो, सचमुच कैसे हो? क्या तुम सचमुच अपनी पूनम को देखना नहीं चाहते, उसकी नयी ज़िन्दगी को नज़दीक से देखने की बिलकुल इच्छा नहीं होती? क्या तुम कुछ दिन के लिए भी हमारे पास आकर नहीं रह जा सकते भैया?

बहुत रोना आ रहा है मुझे तुम्हारी यह चिट्ठी पाने के बाद से। क्या तुम्हारी मुश्किल फिर बढ़ जायेगी मेरी इस चिट्ठी से? मगर मैं इस चिट्ठी को अब रोकूँगी नहीं, तुम्हारे पास भेज ही दूँगी—हालांकि मुझे बहुत डर लग रहा है कि तुम अगर मुझे भूल गये हो तो कहीं फिर मैं तुम्हारी तकलीफ़ न बढ़ा दूँ।

अगर जवाब नहीं दोगे तो मैं तुम्हें बिलकुल दोष नहीं दूँगी भैया—

तुम्हारी पूनम

कोई सात-आठ साल पहले पूनम की यह चिट्ठी शंकर को मिली थी, और एक बार में ही वह उसे पूरा नहीं पढ़ पाया था; बीच-बीच में कई बार रुक जाना पड़ा था—आगे बढ़ने से पहले...

अजीब छटपटाहट में बीते थे उसके अगले कुछ दिन।...क्या अब भी, अन्दर ही अन्दर, उसी को वह अपना सर्वस्व माने नहीं बैठी है?...क्या उसका दिल अब भी उसी के लिये नहीं तड़प रहा है—ठीक उसी तरह, जैसा कि शंकर का उसके लिये तड़प रहा था? ..क्या उसके दिल की गहराइयों से कितनी ही बार निकली उसकी वही पुकार सचमुच सही नहीं थी : मैं ब्याह भी कर लूंगी

1 मनोहरलाल, जिनके साथ पूनम का विवाह हुआ था।

भैया...तब भी रहूँगी तुम्हारी ही—?

उसकी आँखों के आगे शरच्चन्द्र के उपन्यास 'देवदास' की पार्वती की तस्वीर नाच उठी थी—उसकी बँगला फिल्म वाली वह तस्वीर जिसमें बरुआ और जमुना ने देवदास और पार्वती के पार्ट किये थे : वह तस्वीर जिसे उसने न जाने कितनी बार देखा था।...हर बार ही उसे देख वह फूट-फूटकर रोया था उस पार्वती के लिए जिसने अपने 'देव-दा' की खातिर अपनी सबसे बड़ी कुर्बानी कर डाली थी, और अपने पति के घर में एक आदर्श गृहिणी के सारे कर्तव्यों को निभाती हुई भी जो अपने देव-दा की ही बनी रही थी—अन्त तक।

और, हर बार ही उसके दिल में, उस फिल्म की वह पार्वती शुरू-शुरू मे उसकी पूनम बन जाती थी, मगर आखीर तक आते-जाते कही ज्यादा ऊँची उठ जाती थी, अपने उस अनन्य प्रेम की कसौटी पर।

...क्या उसकी पूनम भी अपने दिल में वही दर्द दबाए हुए है, जो पार्वती के दिल में आखीर तक बना रहा था?—शकर को अचानक खयाल आया था, और उसका दिल बुरी तरह कचोट उठा था।

तब क्या, उससे पूरी तरह अपने को काटकर उसके प्रति उसने घोर अन्याय नही किया है?...क्या उसकी इतनी-सी इच्छा भी वह पूरी नही कर सकता, कि कभी-कभी उसे देख आये, उससे मिल आये, उसे अपने प्यार का विश्वास दिला आये, अपने 'ठीक' होने का आश्वासन दे आये—कम-से-कम उसके सामने, दिखावे के तौर पर ही सही, स्थिर और सन्तुलित बने रहकर?...क्या अपने परम अन्तरंग मित्र मनोहरलाल के प्रति भी उसका यह फर्ज नही है, जब कि पूनम के साथ उनके विवाह का प्रस्ताव पहले पहल खुद शकर की ओर से आया था?

सारी रात वह नही सो पाया था उस रोज; और रोशनी होने से पहले ही, सबेरे जाने वाले पंजाब मेल से लखनऊ के लिए रवाना हो गया था।

मगर—लखनऊ पहुँचते-पहुँचते उसका वह सारा जोश ठण्डा पड चला था...और, लखनऊ स्टेशन पर गाडी से उतरने के बाद तो वह प्लेटफार्म पर ही चक्कर काटता रह गया था काफी देर तक। और, अन्त मे, अगली गाडी से ही पटने वापस लौट आया था...

अगले तीन-चार दिन बडी ही बेचैनी मे कटे उसके। दो ही रास्ते उसे दिखाई दे रहे थे अपने सामने : या तो पूनम को बिलकुल ही भूल जाये और उसकी याद को अपना सम्बल न बना बापू का ही सहारा ले, पूर्णतया उन्ही को आत्म-समर्पण करके : सयम और तप की कृच्छ्र साधना की मरुभूमि मे अपनी उस रस-धारा को पूरी तरह सुखा डाले जो कि उसके लिये निरी मृग-मरीचिका ही सिद्ध हुई थी—हालाकि गांधीजी के मार्ग पर चल कर शान्ति पाने की उसकी

सारी कोशिशें विफल सिद्ध हो चुकी थीं; और या—अपनी पूनम से ही पूरा बल ले और अपने प्रेम को एक ऐसा उज्वल रूप देने की साधना करे जिसमें वह अपने लिए उससे कुछ न चाहकर सिर्फ़ उसी के सुख को, उसी के आनन्द को, उसी के उस नये जीवन को, अपना सुख, अपना आनन्द, अपना जीवन बना ले सके—जिसमें पूनम से उसकी प्रत्याशा न रह जाये, वल्कि वही सम्पूर्ण रूप से पूनम के लिए समर्पित हो...

उन तीन-चार दिनों के बीच उसे पल-भर के लिये भी शान्ति नहीं मिल पायी।...कभी एक रास्ता एकमात्र विकल्प के रूप में सामने आता, कभी दूसरा रास्ता।...और अन्त में, कुछ भी ठीक न समझ पा, अपने हाथ में सिर लेकर बैठ जाता, और उसी तरह बैठा रह जाता न जाने कब तक।

...साल-डेढ़ साल पहले किसी दिन, जब कि शंकर की निराशा चरम सीमा पर थी, उसके मित्र शोभाराम अचानक कह उठे थे : "तो—शादी कर लेने के सिवा...मुझे तो आपके लिए कोई दूसरा रास्ता नजर नहीं आता अब।" तब तक धीरे-धीरे शंकर के दिल में उन्होंने ही मनोहरलाल वाली ख़ाली जगह लेनी शुरू कर दी थी।

"शादी ?" शंकर एकबारगी ही भड़क उठा था। "शादी तो मुझे हमेशा के लिए उस नरक-कुण्ड में ही धकेल देगी...जिससे फिर कभी निकल ही नहीं पाऊँगा।...शादी के...उसके वास्तविक रूप के लिए...मेरे मन में सिवा तीव्र घृणा के कुछ भी नहीं है—"

कुछ देर दोनों चुप रहे थे, जिसके बाद शंकर ने ही आगे और भी कह डाला था : "फिर—एक को प्यार करके क्या दूसरे किसी को प्यार किया जा सकता है ?...इससे बड़ा पतन मेरा और क्या होगा भाई ?"

"मानता हूँ, कि पूर्णिमा के लिये आपका प्यार जिस प्रकार का था...उसके बाद...किसी दूसरी लड़की को प्यार कर सकना आपके लिए न तो संभव ही है...और न मुझे ही यह दिल से पसन्द आयेगा।" कुछ देर चुप रहने के बाद शोभाराम बोले थे। "आपकी जो तस्वीर मेरे अन्दर है वह बहुत-कुछ बदल जायगी...उस हालत में।...दरअसल, मेरी राय में तो...आपके अन्दर पूर्णिमा से ही विवाह कर लेने का साहस होना चाहिए था।...ख़ून के रिश्ते से न वह आपकी बहन थी...न सगी भानजी ही। आपकी सगी बहन की भी तो बेटी नहीं थी।...समाज ज़रूर आज भी इस तरह के सम्बन्धों को अच्छी निगाह से नहीं देखता...मगर—"

पर इस बात को जारी रखने का आख़ीर तक उन्हें मौक़ा न दे शंकर ने बीच में ही यह कहकर रोक दिया था कि ख़ून के रिश्ते से भी वह दिल के रिश्ते को बड़ा मानता है, और जिसे हमेशा से बहन की तरह देखता आया था, उसके

साथ शादी जैसी गन्दी कल्पना को न तो वह ख़ुद गवारा कर सकता था, और न पूर्णिमा ही उसे सहन कर पाती।

कुछ देर फिर कोई कुछ नहीं बोला था—जिसके बाद, धीरे-धीरे, फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र की चर्चा चल पड़ी थी, जिसका थोड़ा-बहुत अध्ययन शंकर ने जेल में शोभाराम की ही सहायता से किया था।

"मुझे तो लगता है...आपका कोई जबरदस्त 'काम्प्लेक्स' है...कोई 'फ़िक्सेशन'..." उसी सिलसिले में तब शोभाराम कह उठे थे। "शैशव की किसी ग्रन्थि में आप भी शायद बँधे पड़े हैं...हालांकि आपके इस अनन्य प्रेम को कोई वैसी ग्रन्थि मानने को भी मेरा दिल तैयार नहीं है।"

शंकर का ध्यान थोड़ी देर के लिए जरूर उन अजीब-सी दिमागी भूल-भुलैयों की ओर चला गया था—उस शास्त्र की बहुत ही अजीब-सी कुछ ऐसी मान्यताओं की ओर—जिन्हें वह तब भी शायद ही कुछ समझ पाया था, हालांकि उनमें बहुत-कुछ उसे बिलकुल ही नया और शायद इसीलिए आकर्षक भी लगा था।...मगर, अपने इस प्रेम को कोई मानसिक 'ग्रन्थि' मान लेने के लिए वह किसी प्रकार भी तैयार नहीं था—भले ही उसके अन्तर्द्वन्द्व ने उसे पूरी तरह क्षत-विक्षत कर डाला हो...

"लेकिन एक बात तो आप मानेंगे—" किसी वक्त फिर शोभाराम कह उठे थे। "न तो आप मनसा-वाचा-कर्मणा ब्रह्मचर्य के पालन में ही रस ले पा रहे हैं...न पूर्णिमा की स्मृति को ही सम्बल बनाकर अपनी जिन्दगी को सही रास्ते पर ला सके हैं अभी तक। और न ही गाँधीजी के रास्ते पर चलने में आपको शान्ति मिली है।...तब—कहीं तो जरूर कोई बड़ी गड़बड़ी होगी न?... और—न आप अपने को इसी योग्य बना पा सके हैं अभी तक...कि अगर पूर्णिमा के ही प्रेम को अपना सहारा बना सकें...तो उन्हीं लोगों के साथ रह सकें...जब कि मनोहरलाल भी आपका साथ पाकर खुश ही होंगे—बशर्ते कि आपका प्रेम शुद्ध रहे...ईर्ष्या-द्वेष से आप ऊपर उठ सकें..."

शंकर कुछ भी जवाब नहीं दे पाया था उनकी इन बातों का, और एकदम ही विमूढ़ बना बैठा रह गया था।

"मैं तो कहता हूँ..." तभी शोभाराम फिर कह उठे थे, "हर्ज क्या है, अगर योगेश बाबू के पास रह आयें आप कुछ दिन...एक बार उनके मार्ग का भी प्रयोग कर देखें—'साइकोएनालिसिस' कराके।" संकेत इन स्वामीजी की ही ओर था, जो किसी काल में शंकर के अध्यापक रह चुके थे काशी में, और शोभाराम भी जिनके सम्पर्क में आ चुके थे।

यह बात तब उसके गले उतरी ही नहीं थी...

पूनम से बिना मिले ही लखनऊ से लौटने के बाद कुछ दिन तो शंकर कुछ भी

री कोशिशें विफल सिद्ध हो चुकी थीं; और या—अपनी पूनम से ही पूरा वल
और अपने प्रेम को एक ऐसा उज्वल रूप देने की साधना करे जिसमें वह
ने लिए उससे कुछ न चाहकर सिर्फ़ उसी के सुख को, उसी के आनन्द को,
सी के उस नये जीवन को, अपना सुख, अपना आनन्द, अपना जीवन
ना ले सके—जिसमें पूनम से उसकी प्रत्याशा न रह जाये, वल्कि वही सम्पूर्ण
प से पूनम के लिए समर्पित हो...

उन तीन-चार दिनों के वीच उसे पल-भर के लिये भी शान्ति नहीं मिल
ायी।...कभी एक रास्ता एकमात्र विकल्प के रूप में सामने आता, कभी दूसरा
रास्ता।...और अन्त में, कुछ भी ठीक न समझ पा, अपने हाथ में सिर लेकर
बैठ जाता, और उसी तरह वैठा रह जाता न जाने कव तक।

...साल-डेढ़ साल पहले किसी दिन, जव कि शंकर की निराशा चरम सीमा
पर थी, उसके मित्र शोभाराम अचानक कह उठे थे : "तो—शादी कर लेने के
सिवा...मुझे तो आपके लिए कोई दूसरा रास्ता नज़र नहीं आता अव।" तव
तक धीरे-धीरे शंकर के दिल में उन्होंने ही मनोहरलाल वाली ख़ाली जगह लेनी
शुरू कर दी थी।

"शादी?" शंकर एकवारगी ही भड़क उठा था। "शादी तो मुझे हमेशा के
लिए उस नरक-कुण्ड में ही धकेल देगी...जिससे फिर कभी निकल ही नहीं
पाऊँगा।...शादी के...उसके वास्तविक रूप के लिए...मेरे मन में सिवा तीव्र घृणा
के कुछ भी नहीं है—"

कुछ देर दोनों चुप रहे थे, जिसके वाद शंकर ने ही आगे और भी कह
डाला था : "फिर—एक को प्यार करके क्या दूसरे किसी को प्यार किया जा
सकता है?...इससे वड़ा पतन मेरा और क्या होगा भाई?"

"मानता हूँ, कि पूर्णिमा के लिये आपका प्यार जिस प्रकार का था...उसके
वाद...किसी दूसरी लड़की को प्यार कर सकना आपके लिए न तो संभव ही
है...और न मुझे ही यह दिल से पसन्द आयेगा।" कुछ देर चुप रहने के वाद
शोभाराम वोले थे। "आपकी जो तस्वीर मेरे अन्दर है वह वहुत-कुछ वदल
जायगी...उस हालत में।...दरअसल, मेरी राय में तो...आपके अन्दर पूर्णिमा
से ही विवाह कर लेने का साहस होना चाहिए था।...ख़ून के रिश्ते से न वह
आपकी वहन थी...न सगी भानजी ही। आपकी सगी वहन की भी तो वेटी नहीं
थी।...समाज ज़रूर आज भी इस तरह के सम्वन्धों को अच्छी निगाह से नहीं
देखता...मगर—"

पर इस वात को जारी रखने का आख़ीर तक उन्हें मौक़ा न दे शंकर ने
वीच में ही यह कहकर रोक दिया था कि ख़ून के रिश्ते से भी वह दिल के रिश्ते
को वड़ा मानता है, और जिसे हमेशा से वहन की तरह देखता आया था, उसके

साथ शादी जैसी गन्दी कल्पना को न तो वह खुद गवारा कर सकता था, और न पूर्णिमा ही उसे सहन कर पाती।

कुछ देर फिर कोई कुछ नहीं बोला था—जिसके बाद, धीरे-धीरे, फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र की चर्चा चल पड़ी थी, जिसका थोड़ा-बहुत अध्ययन शंकर ने जेल में शोभाराम की ही सहायता से किया था।

"मुझे तो लगता है...आपका कोई ज़बरदस्त 'काम्प्लेक्स' है...कोई 'फ़िक्सेशन'..." उसी सिलसिले में तब शोभाराम कह उठे थे। "शैशव की किसी ग्रन्थि में आप भी शायद बँधे पड़े हैं...हालांकि आपके इस अनन्य प्रेम को कोई वैसी ग्रन्थि मानने को भी मेरा दिल तैयार नहीं है।"

शकर का ध्यान थोड़ी देर के लिए ज़रूर उन अजीब-सी दिमागी भूल-भुलैयों की ओर चला गया था—उस शास्त्र की बहुत ही अजीब-सी कुछ ऐसी मान्यताओं की ओर—जिन्हें वह तब भी शायद ही कुछ समझ पाया था, हालांकि उनमें बहुत-कुछ उसे बिलकुल ही नया और शायद इसीलिए आकर्षक भी लगा था।...मगर, अपने इस प्रेम को कोई मानसिक 'ग्रन्थि' मान लेने के लिए वह किसी प्रकार भी तैयार नहीं था—भले ही उसके अन्तर्द्वन्द्व ने उसे पूरी तरह क्षत-विक्षत कर डाला हो...

"लेकिन एक बात तो आप मानेंगे—" किसी वक्त फिर शोभाराम कह उठे थे। "न तो आप मनसा-वाचा-कर्मणा ब्रह्मचर्य के पालन में ही रस ले पा रहे हैं...न पूर्णिमा की स्मृति को ही सम्बल बनाकर अपनी ज़िन्दगी को सही रास्ते पर ला सके हैं अभी तक। और न ही गांधीजी के रास्ते पर चलने में आपको शान्ति मिली है।...तब—कहीं तो ज़रूर कोई बड़ी गड़बड़ी होगी न?... और—न आप अपने को इसी योग्य बना पा सके हैं अभी तक...कि अगर पूर्णिमा के ही प्रेम को अपना सहारा बना सकें...तो उन्हीं लोगों के साथ रह सकें...जब कि मनोहरलाल भी आपका साथ पाकर खुश ही होंगे—बशर्ते कि आपका प्रेम शुद्ध रहे...ईर्ष्या-द्वेष से आप ऊपर उठ सकें..."

शकर कुछ भी जवाब नहीं दे पाया था उनकी इन बातों का, और एकदम ही विमूढ़ बना बैठा रह गया था।

"मैं तो कहता हूँ..." तभी शोभाराम फिर कह उठे थे, "हर्ज क्या है, अगर योगेश बाबू के पास रह आयें आप कुछ दिन...एक बार उनके मार्ग का भी प्रयोग कर देखें—'साइकोएनालिसिस' कराके।" संकेत इन स्वामीजी की ही ओर था, जो किसी काल में शकर के अध्यापक रह चुके थे काशी में, और शोभाराम भी जिनके सम्पर्क में आ चुके थे।

यह बात तब उसके गले उतरी ही नहीं थी...

पूनम से बिना मिले ही लखनऊ से लौटने के बाद कुछ दिन तो शंकर कुछ भी

ठीक नहीं कर पाया था, लेकिन अंत में शोभाराम का वह सुझाव ही एक प्रसंग-वश अचानक उसके लिए विशेष रूप में आकर्षक हो उठा था; और वरानगर (कलकत्ता) जाकर उसने स्वामीजी (योगेश बाबू) को एक तरह से आत्म-समर्पण ही कर दिया था।

•

"सबका सत्य एक नहीं है।...फिर—एक ही व्यक्ति के लिए हमेशा एक ही सत्य नहीं है..." स्वामीजी कह रहे थे, और शंकर के नीचे से जैसे धरती खिसकती जा रही थी।

एक सज्जन के साथ स्वामीजी की बात चल रही थी—जबकि शंकर भी, अपने रोज़ के ही वक्त पर वहाँ पहुँचकर चुपचाप जा बैठा था, और स्वामीजी ने उदाहरणस्वरूप एक घटना सुनायी थी।

किसी के छोटे भाई ने आवेश में आकर किसी की हत्या कर डाली थी, और बड़े भाई ने अपनी आँखों यह देखा था। मुक़दमे के वक्त बड़े भाई को गवाही देनी थी, और वह स्वामीजी के पास अपनी समस्या लेकर आया था—अपने उस धर्म-संकट के मामले में। सच बात कहता है तो भाई को मृत्यु-दण्ड मिलता है, पर झूठ भी कैसे कहे—न्यायालय में ईश्वर की शपथ लेकर?

"तुम्हारे लिए न्यायालय की वह शपथ ज्यादा बड़ी है, या भाई की रक्षा?" —स्वामीजी ने उससे प्रश्न किया था। भाई को मृत्यु-दण्ड दिलाने के भागी बनकर तुम ज्यादा शान्ति पा सकोगे, या, उसे बचाकर?

वह व्यक्ति भारी दुविधा में पड़ गया।

"शपथ की रक्षा के लिए भाई को मृत्यु-दण्ड दिलाकर तुम स्थिर रह सको, अपने को मन-ही-मन दोषी न मानते रहो जीवन भर, जिसे तुम सत्य मानते हो उस पर चलने में कोई दुविधा न हो, तब तो कोई सवाल ही नहीं उठता—" स्वामीजी ने कहा था—"लेकिन अगर भाई तुम्हारे लिए ज्यादा बड़ा है, उसकी रक्षा किये बिना दिल को चैन नहीं, तो—?"

"तो क्या झूठी गवाही देकर भी भाई को बचाना ही मेरा धर्म है?"—बड़े भाई ने विस्मय-विमूढ़ स्वर में प्रश्न किया।

"जब तक भाई का बंधन दिल में बड़ा है...तब तक वही तुम्हारा सत्य है—" स्वामीजी ने बताया था—"जब तक भाई ज़्यादा अपना है और बाक़ी दुनिया परायी है...तब तक भाई की रक्षा ही तुम्हारा तत्कालीन धर्म है...वही तुम्हारा उस समय का सत्य है...उस पर ही तुम्हें चलना है, क्योंकि तुम 'भाई' के ही सत्य में बँधे हुए हो..."

"जिसे हमने सत्य मान रखा है वह निरपेक्ष नहीं सापेक्ष है—"स्वामीजी बता

रहे थे, और शंकर जैसे अपने कानों पर विश्वास नहीं कर पा रहा था।

...दस-बारह दिन हो चुके थे उसे कलकत्ते आये और 'स्वामीजी' को आत्म-समर्पण किये। "आप जो भी मार्ग मुझे बतायें उस पर पूरी शक्ति और ईमानदारी के साथ चलकर उसकी परीक्षा करने की मेरी तीव्र इच्छा है," अपनी समस्या उनके सामने रखकर पहले दिन ही वह उन्हें वचन दे चुका था।

"ठीक है—" अपने सहज गंभीर स्वर में, और अविचलित, शान्त भाव से स्वामीजी कुछ देर बाद बोले थे, "मगर...इसमें समय तो लम्बा लग सकता है..."

"समय का मेरे लिए क्या मूल्य है? आप...आपका समय अवश्य..."

"तब ठीक है—" उसकी बात समझकर उन्होंने उसी दम उसे जवाब दे डाला था, और वैसे ही गंभीर स्वर में, उसी अविचलित और शान्त भाव से, धीरे-धीरे, मानो एक-एक शब्द को तौलते हुए, कहना शुरू किया था: "मगर एक बात है।...यहाँ जो कुछ पाओगे—उसे समझने, देखने, लेने के लिए, अब तक का सारा समझा हुआ, माना हुआ...तो छोड़ना पड़ेगा। बिलकुल नये सिरे से सब कुछ लेना होगा—"

कुछ भी नहीं समझ पाया था शंकर; और, स्पष्ट ही, उसके उस भाव की झलक उन्होंने भी देखी होगी उसके चेहरे पर...

"मतलब यह—" वह आगे कहते गए थे, "कि जिसे तुम बहुत बुरा समझते आ रहे हो, या जिसे देखना बहुत ही अप्रिय हो रहा है...अगर दिखाया जाय कि वह बुरा नहीं है—तो यह स्वीकार करने के लिए तैयार हो सकोगे न?'

शंकर घबड़ा जरूर गया था किसी हद तक, पर चित्त-विश्लेषण शास्त्र के थोड़े-बहुत अध्ययन से जो जानकारी उसे हासिल हुई थी, और जिसका बहुत-कुछ वह हज़म नहीं कर पाया था, उसी की ओर इसका इंगित मान उसने अपने को सँभाल लिया, और दृढ़तापूर्वक ही उत्तर दिया, कि वह तैयार है।

"...जैसे कि, जीवन को फिर से, नये सिरे से, 'क्लीन-स्लेट' से शुरू करना है," स्वामीजी ने उसकी आँखों में अपनी आँखों की तीक्ष्ण, पर साथ ही अब पहले-पहल कुछ अधिक स्निग्ध दिखाई देने वाली दृष्टि को गड़ाते हुए और भी कह डाला था।

...बिलकुल ही खोया-खोया उस पहले दिन उनके पास से लौटा था वह, अपने उन मित्र के यहाँ, जिनके पास वह कलकत्ते में ठहरा था, लेकिन फिर भी रोज़ही बँधे वक्त पर स्वामीजी के पास जा पहुँचा था और रोज़ ही, उसके तब तक के विचारों पर, उसकी तब तक की मान्यताओं पर छोटी-बड़ी चोटें पड़ती चली गयी थीं।...लेकिन उस दिन, सत्य की इस नयी व्याख्या ने तो उसे बिलकुल ही चौंका दिया।

क़रीव-क़रीव इसी तरह की बात हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को लेकर भी हुई थी।...सत्य और अहिंसा के बापू के सिद्धान्तों से कितने पृथक, वल्कि विपरीत थे वे विचार जो उसे स्वामीजी से सुनने को मिले थे !

फिर भी शंकर डटा रहा था। जव एक वार, ईमानदारी के साथ, यह प्रयोग करने आया है—तो इसे पूरा करके ही यहाँ से हटेगा वह।

फ़िलहाल उन्होंने उसे हर प्रकार के मानसिक निग्रह से वचने की ही सलाह दी थी : दिल में जो भी भाव आयें उनका खुलकर प्रकाश होने देने की—स्वामीजी के सामने भी, और अकेले में भी। पूनम की याद में रोना आए तो वह उसे रोके नहीं, खुलकर रोये...और, उसमें कुछ भी दोप न समझे, किसी प्रकार की झिझक न आने दे।...और भी जिस प्रकार के विचार या भाव मन में आते रहें उनमें से किसी को वुरा मान चित्त को उस ओर से विमुख न कर उनका सामना करे, उन्हें स्वीकार करे, उन्हें अपनाये।...जो मन में आता है वह अपना ही है—स्वामी जी ने वताया था—और जव तक उसे वुरा या पाप माना जायेगा, उसे दिल और दिमाग़ से वाहर फेंक देने की कोशिश रहेगी, तव तक वे और भी प्रवल पड़ते जायेंगे; वे कुछ देर के लिए अन्दर-ही-अन्दर दव भले ही जायें, लेकिन मौक़ा पाते ही और भी ज़ोर-शोर से अपना दावा पेश करेंगे।...किसी विचार या भाव से सचमुच अगर छुटकारा पाना चाहते हो—स्वामीजी का कहना था—तो पहले उसके अस्तित्व को, उसके ज़ोर को, देखने का साहस तो लाना ही होगा अपने अन्दर।...जिसे शत्रु मानते हो, उससे लड़ने के लिए, उसे जीतने के लिये भी तो उसकी पूरी ताकत की जानकारी चाहिए न !...शुतुरमुर्ग़ की तरह...दुश्मन को देखते ही वालू में सिर गड़ा लेने से तो...उससे वचा नहीं जा सकता !

फिर उसकी तत्कालीन समस्याओं और कठिनाइयों की ओर उसका ध्यान खींचते हुए उन्होंने यह भी कहा था कि उस चिकित्सा के लिए भी कुछ प्रारंभिक शर्तों का पूरा होना तो ज़रूरी है ही : नम्वर एक—अपने स्वास्थ्य को सुधारना होगा, और दिन पर दिन वढ़ती जाने वाली शारीरिक और मानसिक दुर्वलता को दूर करने के लिए अनुकूल पौष्टिक भोजन के साथ-साथ कुछ दवाइयाँ भी लेनी होंगी; नम्वर दो—चित्त-विकारों का निग्रह न करते हुए भी, चिकित्सा-काल तक के लिए यथासंभव आत्म-संयम रखना होगा, ताकि मन और शरीर में वह शक्ति संचित हो जिसके विना यह चिकित्सा अधिक और शीघ्र लाभप्रद नहीं हो सकती।...इस चिकित्सा-पद्धति में शरीर और मन दोनों पर ही काफ़ी ज़ोर पड़ता है, जिसके लिए शक्ति संचित करना आवश्यक है।...और, नम्वर तीन—वौद्धिक चर्चा द्वारा, पाप-पुण्य, 'अच्छे-वुरे के विचार को चित्त से दूर करने का प्रयत्न; क्योंकि ये सव ही स्थान-काल-पात्र के अनुसार वदलते रहते हैं, सापेक्ष

है, निरपेक्ष नहीं है।...हर व्यक्ति अलग है, हर व्यक्ति का धर्म अलग है, सत्य अलग है, मार्ग अलग है।...अपने को जानना ही पहला काम है—बिना किसी दूसरे से अपनी तुलना किये।...कहीं भी देखो—सृष्टि में कोई भी दो वस्तुएँ ठीक एक-समान नहीं हैं; एक ही वृक्ष के कोई दो पत्ते तक नहीं—

कितने तरीकों से, कितनी ही तरह की दलीलें देकर, इस तरह की न जाने क्या-क्या बातें कही थीं स्वामीजी ने, जिनमें से कुछ किसी हद तक गले उतर पायीं, बाकी बिलकुल ही समझ में नहीं आयीं।

घबड़ाने की कोई बात नहीं—' उसकी इस परेशानी को भी भाँपकर स्वामी जी ने दिलासा दिया था—जितना समझ पाओ उसे देखो, स्वीकार करो, उस पर चलने की कोशिश करो।...सबसे बड़ी बात है, कि तुम तुम हो, तुम्हारा जीवन तुम्हारा ही जीवन है...किसी दूसरे का जीवन तुम्हारा नहीं बन सकता...

...स्वामीजी को पूनम सम्बंधी अपनी कहानी सुनाते-सुनाते ही दर-असल पहले-पहल उसे अपने दिल के अन्दर छिपी इस आशा का भी पता चल पाया था, कि स्वामीजी उसे जल्द से जल्द इस योग्य बना देंगे कि पूनम और मनोहरलाल के साथ उसका बहुत-कुछ पहले जैसा ही स्नेह-सम्बन्ध कायम हो जा सके, जरूरत पड़ने पर वह उन लोगों के साथ रह भी सके; पूनम और मनोहरलाल के दिल में उसके लिए जो वेदना है उसे वह दूर कर दे सके, स्वयं भी पूनम के प्रेम को अपनी जीवन-यात्रा का सम्बल बना सके..

मगर जो कुछ उसने उनसे सुना और जाना, वह इससे ठीक उलटा निकला। स्वामीजी ने कुछ ही सीधे-सादे शब्दों से कितनी जल्द उसके भ्रम को तोड़-फोड़ डाला था! क्या वह सचमुच पूनम और मनोहरलाल के ही हित में, उन्हीं के लाभ के लिए, यह-सब करना चाहता था? इसके पीछे क्या उसकी अपनी अंध आसक्ति ही प्रच्छन्न रूप से काम नहीं कर रही थी?...

क्या वह यह चाहता था कि मनोहरलाल से विवाह करने के बाद भी पूनम उसी को प्यार करती रहे, उसी के लिये विकल रहे, उसी से बँधी रहे?...

अगर नहीं—तो फिर क्यों वह उसे अपनी ओर खींचना चाहता था, उसके साथ रहने की बात को क्षण भर के लिये भी मन में स्थान देता था—जबकि इसका मतलब ही था, उन दोनों के बीच नये ढंग से व्यवधान पैदा कर देना?

तुम्हारे जीवन में पूनम 'जब' थी 'तब' थी, स्वामीजी ने उसे दिखाया था; 'अब' न है, न हो ही सकती है।...तुमने तो उसे छोड़ दिया न?...उसने भी तो तुम्हें छोड़ ही दिया। अब उसका जीवन मनोहरलाल के साथ है—तुम्हारे साथ नहीं।...साधारण बहन-भाई की तरह तो तुम थे नहीं? वैसा ही सम्बन्ध होता, तो इस विवाह के बाद भी वह बना ही रहता।...तुम तो एकान्त रूप से,

पूरी तरह, अपना ही मानना चाहते हो न उसे ?...मगर यह क्या आज का सत्य है ?...

उस समय तो उसे ठीक पता नहीं चल पाया था, लेकिन कुछ दिन बाद जब स्वामी जी से छुट्टी ले उसे एक काम से पटने जाना पड़ गया था तब धीरे-धीरे किस तरह उसके अन्दर फिर से गहरी निराशा छाती चली गयी थी और साथ ही साथ जीने की भी सारी इच्छा बुझती गयी थी—वह ठीक जान ही नहीं पाया था।

और जब इसका ठीक-ठीक पता चला था तब स्वामीजी के पास लौटने की जगह, अपनी मृत्यु को निश्चित और निकट मान, आख़िरी बार अपनी माँ के पास जाने की तैयारी कर पटने से चल दिया था—उनसे भी आख़िरी विदा ले आने के लिए—कि अचानक उसे ख़बर मिली (तब वह रास्ते में बनारस रुका हुआ था) कि स्वामीजी आये हुए हैं और काशी विद्यापीठ में ठहरे हैं।

उसे लगा जैसे वह कोई बड़ी चोरी करते पकड़ा गया हो।...उनसे भी तो भागकर ही जा रहा था वह ?...उन्हें बिना कुछ बताये ?...एक तरह से धोखा देकर ही !

आख़िर उसे जाना ही पड़ गया था उनके पास...

"अब अपने अन्दर...कुछ भी बल नहीं पा सक रहा हूँ स्वामीजी..." सब-कुछ कह डालने के बाद, धीरे धीरे, बिलकुल ही पस्त आवाज़ में, अत्यन्त निराश स्वर में उसने कहा था, "अब कुछ भी करने लायक़ नहीं रह गया हूँ..." गले में जैसे उसने एक घूंट-सी सटकी थी अन्दर ही अन्दर उमड़ आते आँसुओं की, "...अब मैं...जीकर ही क्या करूँगा...जीना चाहता भी नहीं—" और पूरी शक्ति लगाकर अपने को रोका, कि स्वामीजी के सामने रो न पड़े।

फिर, कुछ सम्हल चुकने पर, धीरे से एक बार उसने अपनी आँखें उनकी ओर उठायीं।

देखा, स्वामीजी जैसे बैठे थे वैसे ही बैठे हुए थे अब भी : उसी तरह शान्त, धीर, स्थिर...

उनकी भी दृष्टि उसके चेहरे पर थी : शान्त, धीर, स्थिर दृष्टि।

कहीं कोई आक्षेप नहीं था, कहीं कोई भर्त्सना नहीं थी। और न किसी प्रकार की भी करुणा का लवलेश !

शंकर उस दृष्टि का जैसे सामना नहीं कर सका था।

फिर, वैसे ही धीर, शान्त, स्थिर स्वर में स्वामीजी के कण्ठ से कुछ शब्द निकले थे :

"तो क्या—घबराहट मालूम होती है?'''मृत्यु से'''?'''जब तुम्हीं उसे चाहते हो—"

एकदम ही सन्न रह गया था शंकर।'''बिलकुल ही स्तब्ध !

"जी नहीं—" आखिर पूरी हिम्मत अपने दिल में बटोर वह कह उठा था, मगर वह जानता था कि वह बुरी तरह लज्जित हो उठा है अपनी कायरता पर।'''नहीं, मृत्यु से वह घबड़ाएगा नहीं—जब स्वयं वही उसका वरण कर रहा है।'''क्या वह स्वामीजी से भी करुणा की भीख नहीं माँग रहा था—अपने उस अन्तिम समय में'''अपनी उस करुण अवस्था को उनके सामने रखकर ?

मगर नहीं—वह किसी की करुणा नहीं चाहेगा अब'''मृत्यु को सचमुच ही खुशी-खुशी स्वीकार करेगा'''साहसपूर्वक !

वह "जी नहीं—" मानो आप-से-आप उसके मुँह से निकल गया था तब—अपने उस नए सकल्प की ही स्वीकारोक्ति के रूप में।

"ठीक—" स्वामीजी ने भी मानो उसकी पीठ ठोकी : "मरना ही है''' तो वीर की तरह—कायर की तरह तो नहीं न ?"

शंकर को लगा था, जैसे उसकी छाती के अन्दर तेज़ी के साथ कुछ फैलने और बढ़ने लग गया था।'''फिर, अचानक ही एक बाढ़-सी उठी थी उसके अन्दर से—एक ऐसी कृतज्ञता की बाढ़, जिसका उसे जीवन में पहले कभी अनुभव नहीं हुआ था।'''और, आप-से-आप उसका सिर स्वामीजी के चरणों में जा लगा था—उन्हें आत्म-समर्पण करने के बाद पहली बार; और उसके अन्तस्तल की गहराइयों से आँसू उमड़ उठे थे। वे बिलकुल ही दूसरे आँसू थे—आत्म-करुणा की जगह, उस व्यक्ति के प्रति असीम कृतज्ञता के आनन्दाश्रु, जो उसके भावों के उन सारे उतार-चढ़ावों के बीच तब भी उसी तरह धीर, स्थिर, शान्त बैठा रहा था...

उसके बाद उस दिन उसका जाना रुक गया था, और अगले दिन भी।

फिर, धीरे-धीरे किस तरह उसके अन्दर की ग्लानि घटती गयी थी, उसका अवसाद कटता गया था, और किस तरह एक बार फिर जीने की, बच जाने की लालसा चुपचाप, अन्दर ही अन्दर, सिर उठाने लग गयी थी, वह जान ही नहीं पाया था। रोज ही स्वामीजी के चरणों के निकट बैठ उनकी बातें सुनता रहा था वह, और जब अन्त में उनकी अनुमति प्राप्त करके ही घर गया था अपनी माँ और बड़े मामा के पास, तो उन सारी शर्तों को पहली बार हृदय से स्वीकार करके, जिनके बिना स्वामीजी ने उसकी चिकित्सा असंभव बतायी थी।

घर जाने से पहले जब एक बार उसने स्वामीजी के सामने अपने नियमों, बंधनों, प्रतिज्ञाओं, और बराबर ही उन्हें तोड़ते रहने की बात रखी थी तो उन्होंने कहा था कि न तो कोई प्रतिज्ञा करने की जरूरत है और न उन नियमों

या बंधनों की ही।···सिर्फ़ यही इशारा किया था कि अपने को मन-ही-मन वह दोषी न ठहराये किसी भी बात के लिए, अपने को कोसे नहीं, अपने ऊपर ज़ोर डाल कर, ज़बरदस्ती कुछ भी न करे···जो भी करना अच्छा लगे वही करे...

"लेकिन..." शंकर ने अपनी शंका रखी थी, "अच्छा तो मुझे रोज़ मिठाई पकवान खाना लगता है···"

"तो—खाओ न!" स्वामीजी ने कितनी आसानी से जवाब दे डाला था।

"मगर···मगर मेरा स्वास्थ्य तो इससे गिरता ही चला जा रहा है।" शंकर ने आपत्ति की थी। "पाचन-शक्ति इतनी कमजोर हो गयी है, कि कुछ भी गरिष्ठ खाने से बीमार पड़ जाता हूँ···"

"यह तो दूसरी बात हुई—" स्वामीजी बोले थे। "जितना हज़म हो सके।...जो हज़म हो सके···उतना, और वही खाओ।" और जब उसने अपने मन पर लगाम न लगा सकने की बात बतायी थी तो कहा था कि उसका कारण है मिठाई-पकवान का खाना बुरा मानना, उसे पाप समझना। "...पाप-वाप की बात इसमें भला कहाँ से ले आते हो," वह बोले थे, "कार्य-कारण पर ही दृष्टि रखनी है: यह खाने से ऐसा फल हुआ...यही देखना है। गरिष्ठ चीज खायी... पाचन शक्ति से प्रतिकूल मात्रा में खायी...इसलिए बीमार पड़े।...इसी कार्य-कारण परम्परा को देखा जाय...पाप-पुण्य का क्या प्रश्न?"

तीन-चार महीने घर पर रहकर शंकर को सबसे बड़ी सफलता इसी क्षेत्र में मिली थी...खाने-पीने की अपनी इच्छा को 'बुरा,' 'पाप' न मानकर कार्य-कारण के सम्बन्ध को बिठाने में; जब जिस चीज़ की इच्छा होती, बिना किसी दुविधा के खाता; पेट ख़राब होने पर, बीमार पड़ने पर, कमजोरी बढ़ जाने पर यही देखने की कोशिश करता, कि यह वह क़ीमत है जो उस इच्छा की पूर्ति के लिए वह चुका रहा है...

और यही बात वासना मात्र के लिए।

वक़्त ज़रूर काफ़ी लगा था, लेकिन धीरे-धीरे आत्म-विश्वास बढ़ता गया था—प्रयोग की सफलता असन्दिग्ध दिखाई देने लगी थी; जीवन की इच्छा फिर लौट चली थी, और स्नेह पाना और देना फिर से कुछ-कुछ अच्छा लगने लगा था।

इस प्रकार, शरीर और मन दोनों से ही अपेक्षाकृत स्वस्थ होकर लौटा था वह स्वामीजी के पास, करीब पाँच-छः महीने बाद—ढाई-तीन महीने घर पर रहकर और ढाई-तीन महीने बनारस में—इस बार शोभाराम के पास नहीं, बल्कि विद्यापीठ में अंजनीकुमार के पास, जहाँ भी उसकी पाँच-छः साल की बेटी नन्दिनी में वह बहुत-कुछ रम गया था एक बार फिर...

स्वामीजी के साथ उस बार भी केवल बौद्धिक चर्चा हुई थी हर रोज़। और, कुछ महीनों के अपने प्रत्यक्ष अनुभवों के फलस्वरूप, स्वामीजी की दी हुई दृष्टि उसके दिल और दिमाग़ में और भी गहरी उतरती गयी थी; पहले की अपेक्षा वह चित्त से और भी स्वस्थ होता गया था, विकलता घटती गयी थी, कामकाज में मन लगने लगा था, और इस प्रकार की 'अति' से बचना आप-से-आप धीरे धीरे संभव होता गया था। इस तरह, कुछ महीने फिर स्वामीजी के पास बिताकर, उन्हीं की प्रेरणा से जब वह फिर अपने पुराने काम पर लौटा था तो पटने में जमकर रहना आसान हो गया था।

मनोहरलाल और पूनम के साथ उस दौरान कोई भी सम्पर्क नहीं रहा था उसका; स्वामीजी के पास जाने से पहले पूनम की जिस चिट्ठी को पाकर वह बुरी तरह विचलित हो गया था उसका उसे जवाब देना तो दूर, वैसे मौक़ों तक से बराबर बचता रहा था जब किसी संयोगवश भी पूनम, या मनोहरलाल ही से, कहीं मुलाकात हो जा सकती...

उस बात को करीब दो साल हो चुके थे, और स्वामी जी की कृपा से जिस सीमा तक वह स्वस्थ हो चुका था, और जिस पद्धति से, उसके बारे में अब मनोहरलाल को कुछ भी न बताना—उन्हें, और उनकी मार्फ़त पूनम को भी, अपने बारे में आश्वस्त न कर देना—उनके प्रति बहुत बड़ा अन्याय लगा उसे। और एक दिन उसने मनोहरलाल को एक लम्बा पत्र लिख डाला।

उसके बाद तो फिर जो होना था वही हुआ। मनोहरलाल ने और भी विस्तार से उसका सारा हाल जानना चाहा और स्वामीजी के उस मार्ग के बारे में भी जिसे विद्यापीठ में रहते वक्त उन्होंने थोड़ा-थोड़ा तो जाना और सुना था, पर जिसकी ओर, शंकर की ही भाँति, उनका भी तब कोई विशेष आकर्षण नहीं हुआ था...

शंकर ने कुछ अधिक विस्तार से अगली बार स्वामीजी के बताये मार्ग की कुछ और बातें लिखीं, और साथ ही—एक तरह से बिना ज्यादा सोचे-विचारे ही—यह भी लिख बैठा कि पत्र द्वारा उन सब बातों को ठीक-ठीक समझा सकना संभव नहीं है।

तब से तो मनोहरलाल की एक के बाद एक कई चिट्ठियाँ आ पहुँचीं उसे लखनऊ बुलाने के लिए, और उनके उस निमंत्रण को स्वीकार करने का पूरा साहस जब शंकर अपने अन्दर नहीं पा सका तो उनकी आखिरी चिट्ठी में यह धमकी आयी कि वह और पूर्णिमा खुद ही उसके पास पटने आ रहे हैं—"दो-चार दिन उसके पास रह जाने के लिए।"

शंकर एकदम ही घवड़ा गया।

पहले तो उसने तार देकर उन्हें पटने आने से रोकते हुए अपने पत्र की प्रतीक्षा करने को कहा और फिर घंटों चहलक़दमी करते हुए सोचता रहा कि क्या वहाना करके उन्हें आने से रोके। आख़िर, कुछ भी न सोच पा, काफ़ी रात वीते, पूरी तरह थककर वह अपने विस्तर पर जा पड़ा, और फिर किसी वक्त आँखें झँप गयीं। लेकिन सुवह होने पर नींद खुलते ही एक अजीव ज्वार-सा उठा उसके अन्दर से, और उसी दम उसका फ़ैसला हो गया।

वह ख़ुद ही जायेगा अव लखनऊ, और अव तक की अपनी सारी झिझक को धो-पोंछ डालेगा—मनोहरलाल के सामने भी, और पूनम के भी सामने। और यही उसका जवाव होगा—पूनम की दो साल पहले की उस चिट्ठी का, जिसकी अव तक उपेक्षा करके उसने अकारण ही उसे इतनी चोट पहुँचायी थी।... तभी अचानक उसका ध्यान इस वात की ओर भी गया कि मनोहरलाल की उस वीच आयी चिट्ठियों में से एक में भी तो पूनम ने अपने हाथ से एक लाइन तक उसके लिए ख़ुद नहीं लिखी थी।...

रास्ते-भर उसे यह देख घोर आश्चर्य था कि न उसके दिल में कोई वड़ी घवड़ाहट है, न पूनम या मनोहरलाल के ख़िलाफ़ किसी तरह की कोई शिक़ायत; उलटे, अगर शिकायत थी तो अव अपने ही ख़िलाफ़ कि स्वामीजी के चरणों में वैठकर मानसिक ग्रन्थियों के वारे में इतना-कुछ जान और समझकर भी, और शारीरिक और मानसिक दृष्टि से काफ़ी हद तक स्वस्थ हो जाने के वाद भी, किस तरह वह इतने लम्वे अरसे तक उन दोनों की मर्मव्यथा की ओर से आँखें मूँद—जिसका कारण वह स्वयं ही था—केवल अपने में ही डूवा रहा, अपनी ही व्यथा को सव-कुछ मान, मानो किसी आतिशी शीशे में इतना वढ़ा-चढ़ाकर देखता आया...

पिछले साल-डेढ़ साल के अन्दर कितनी वार उसके दिमाग़ में स्वामीजी के वे शब्द घूम-घूम गये थे : "साधारण वहन-भाई की तरह तो तुम थे नहीं; वैसा ही सम्वन्ध होता, तो उसके विवाह के वाद भी वह वना ही रहता।...तुम तो एकान्त रूप से, पूरी तरह, अपना ही मानना चाहते थे न उसे?"...और कितनी वार उसके दिल में यह उमंग उठ-उठकर वैठ गयी थी कि "वैसा ही" सम्वन्ध उसके साथ जल्द से जल्द क़ायम करने के लिए वह कुछ उठा नहीं रखेगा।

जैसे-जैसे लखनऊ स्टेशन नजदीक आता चला, अपने उस पुराने पड़ गये निश्चय को उसने वार-वार दोहराया; स्वामीजी की कृपा से अपनी उस मानसिक दुर्वलता से वहुत-कुछ छुटकारा पाकर जव आख़िर वह इस अग्नि-परीक्षा के लिए तैयार हो ही गया है, तो उसे पार करके ही रहेगा— पूनम और मनोहरलाल को अपनी ओर से निश्चिन्त करके ही लौटेगा, उनके सुखपूर्ण

जीवन में उसने जो काँटा वो रखा था उसे जड़-मूल से उखाड़कर ही...

दरवाजा शशि ने खोला था; और जिस तरह शंकर को देख शशि ताज्जुब में पड़ गया था उसी तरह शशि को वहाँ देख शंकर। और तब जाकर ही उसे याद आया था कि पूनम का यह लाड़ला भाई अपने माँ-बाप से झगडकर डेढ़ साल पहले ही अपनी 'वीवी' और 'जीजाजी' के पास चला आया था और वहीं रहकर लखनऊ विश्वविद्यालय में एम० ए० में पढ रहा था...

फिर, 'वीवी'-'वीवी' पुकारता वह अन्दर की ओर दौड़ा गया था: "देखो तो वीवी, कौन आये हैं?"

शंकर कुछ क्षण अकेला ही खड़ा रहा, दरवाज़े के अन्दर दाखिल होकर भी। और, जब तक वह यह ठीक कर पाता कि कुछ देर और वहीं खड़ा रहे या ख़ुद ही आगे वढ़ जाये अन्दर की ओर—दौडकर आती पूनम पर उसकी नज़र पड़ी जो, पहले तो लगा, बीते ज़माने की तरह उसके गले में 'बाँह' डाल देगी... लेकिन उस तक पहुँचते-पहुँचते ही जैसे ठिठककर रुक गई।

मनोहरलाल घर पर नहीं थे; 'ऑफिस' से ही कहीं चले गये थे, और घंटे डेढ़ घंटे वाद, शाम के खाने के वक्त तक लौटे।...उस बीच शंकर पूनम और शशि के साथ ही वात करता रहा—ज़्यादातर शशि के साथ—क्योंकि पूनम वैसे भी रसोईघर वगैरह के काम से बीच-बीच में उठ जाती थी। यों, घर में दिन-रात का एक नौकर भी था, जो ही आम तौर पर खाना वनाता था।

"तो फिर तुम यहीं क्यों नहीं बैठती हो वीवी," बार-बार शशि उससे कहता, जिसके जवाब में पूनम उसे एक मीठी फटकार सुना देती: "आज तो पहले-पहल भैया आए हैं...वह भी क्या नौकर का बना खाना खायेंगे?"...लेकिन कुछ देर बाद, फिर लौटकर उन लोगों के बीच बैठ जाती: "आलू उबालने रख आयी हूँ...भैया के लिए आलू के परांवठे वनाऊँगी।...अब तो तुम ये सब चीज़ें खाने लगे हो न भैया?...तुमने अपने दोस्त की चिट्ठी में लिखा था।" और, एक स्निग्ध दृष्टि से उसकी ओर ताक उठी।

और ऐसे मौकों पर शंकर को लगता, अच्छा हुआ, शशि भी वहाँ था... पूनम के साथ विलकुल अकेले पड़ जाने से वह बच गया!

जाड़े के दिन थे; शाम होते-होते जब शंकर उस घर में दाख़िल हुआ था तब तक वत्तियाँ जल चुकी थी। जब तक मनोहरलाल नहीं आये थे, एक शशि ही था जो पूरी तरह सहज था उन तीनों के बीच; पूनम और शंकर दोनों ही एक-दूसरे की उपस्थिति में न पूरे सहज ही हो पा रहे थे और न अकृत्रिम ही। यों, शंकर के चेहरे पर शायद एक बार भी मुसकराहट नहीं आ पायी थी पूनम से बात करते वक्त; एकाध बार जब उसने उसका प्रयास भी किया था, उसे लगा था कि उसका चेहरा निश्चय ही हास्यास्पद-सा हो उठा होगा। पूनम ज़रूर हर बार

ही रसोईघर से अपने चेहरे पर एक उल्लास लिये कमरे में दाख़िल होती, लेकिन शंकर के सामने आते ही जैसे हर वार सहम-सी उठती, और उसका वह सहज उल्लास, उसकी हँसी और मुसकराहट जैसे एक झेंप और खिसियाहट में वदलने लग जातीं जिन्हें छिपाने के लिए कभी-कभी वह एक वनावटी हँसी भी अपने चेहरे पर ले आने के लिए जैसे वाध्य हो उठती।

"छोटे मामाजी और कोयल वीवी से...फिर कभी नहीं मिली तू ?" एक वार शंकर पूनम से पूछ उठा—उसके पिता और माँ के वारे में—जव कि किसी काम से शशि के उठ जाने के वाद विलकुल ही अकेले पड़ जाने पर दोनों के वीच कुछ देर के लिए सन्नाटे की एक दीवाल-सी आ खड़ी हुई थी।

"एक वार मिली थी...सिर्फ़ अम्मा से—" पूनम ने भी निवृत्ति की-सी एक साँस लेकर तव कहना शुरू कर दिया था। "मगर उस वात को भी तीन साल हो रहे हैं अव ;...वावूजी शिवरात्रि पर उस वार नेपाल चले गये थे और उनसे कह गये थे कि अगर जी चाहे, तो शशि को लेकर एक दिन के लिए मुझें यहाँ देख जायें—"

"तो क्या शशि तभी से यहाँ आ गया...उन लोगों के ख़िलाफ वग़ावत करके ?"

"ठीक तभी तो नहीं, भैया—" लेकिन उसके वाद वह क्या-क्या कहती गयी—कभी कुछ उत्साह के साथ, और कभी किसी सीमा तक विषादपूर्वक—शंकर के पल्ले शायद ही कुछ पड़ पाया। वह न जाने कहाँ अपने अन्दर ही डूव गया था तव तक...

फिर किसी वक़्त मनोहरलाल आ गये थे, और आते ही उन्होंने जैसे शंकर को एक भारी संकट से उवार लिया।

शशि तव तक उन्हें ख़वर दे चुका था, और उस कमरे में धड़धड़ाते हुए आ पहुँचे थे वह और शंकर को अपनी वाँहों में भर लिया था, जिसके वाद से उस रोज उस घर में मानो उन दोनों के सिवाय और कोई रह ही नहीं गया था —न शशि ही, और न पूनम ही—हालाँकि शंकर ने यह भी साफ़ महसूस किया कि मनोहरलाल के आने के वाद से जैसे पूनम की तव तक की सारी झिझक अचानक ख़त्म हो गयी थी, और मनोहरलाल से अधिक वह अपने भैया की ही छोटी से छोटी जरूरत के प्रति कहीं अधिक सजग और तत्पर, और उसकी ओर ताकते समय विलकुल ही सहज रूप में स्निग्ध और आभारी-सी दिखाई दी थी।

रात को शंकर के ही कमरे में मनोहरलाल ने अपना भी विस्तर डलवाया, और शंकर को कोई आपत्ति करते भी शर्म-सी लगी। वड़ी देर रात को दोनों के वीच वातें होती रही थीं, जिनमें वीच-वीच में पूनम भी शामिल होती रही—

लेकिन अधिकतर एक तटस्थ श्रोता के ही रूप में। कमरे में कुरसी रहते हुए भी वह हर बार आकर तब शंकर के ही पास उसी के विस्तर पर बैठती, और शंकर देखता कि इस मामले में मानो पति-पत्नी के बीच पहले ही कोई फ़ैसला हो चुका था...

फिर, आखिर जब पूनम सोने के लिए चली गयी; और कुछ देर बाद, धीरे-धीरे उन दोनों की बातचीत के भी रुक जाने पर किसी वक्त जब मनोहरलाल को भी नींद आ गई, शंकर देर तक जगा ही पड़ा रह गया।'''एक अजीब सी अनुभूति से उसका दिल बोझिल हो उठा।

एक नये ही ढंग की अस्वस्ति-सी महसूस हुई उसे अपने अन्दर—जो ज़रा भी पहचानी हुई नहीं थी। क्या था उसके अन्दर कहीं पर, जो मानो अचानक ही खिसक गया था, उस मकान में क़दम रखते ही—या?—शायद पूनम पर पहली नज़र पड़ते ही?

उसने बहुतेरी कोशिश की समझने की।...क्या था—शायद पूनम में ही, जो उसे कहीं पर बेहद बदला-बदला दिखाई दिया था, उस पहली नज़र में ही नहीं, बल्कि बाद को भी क़रीब-क़रीब बराबर ही?—हालांकि न उसकी शक्ल-सूरत में क़तई कोई फ़र्क़ दिखाई दिया था, काफ़ी ग़ौर से ध्यान देने पर भी, न पहले से दुबली या मोटी ही हुई थी।...ज्यादा से ज्यादा जो फ़र्क़ उसमें दिखाई दिया था वह यही कि अब व्ह एक पत्नी और गृहिणी की गरिमा प्राप्त कर चुकी थी, बल्कि एक माँ की भी।

...'बड़े मामा' कहकर जब दो-ढाई साल के उस 'मुन्ना' का शंकर से परिचय कराया गया था तब कुछ देर तक तो वह अविश्वासपूर्वक ताकता ही खड़ा रह गया था, जिसके बाद एक लजीली-सी मुसकान उसकी ओर फेंक अपनी माँ की गोद में मुंह छिपाने की कोशिश करने लगा था।...लेकिन, धीरे-धीरे, उसने पूरी तरह उसे स्वीकार कर लिया था उसी घण्टे-डेढ़ घण्टे के अन्दर; अपनी तोतली बोली में दो-एक बार 'बले मामा' भी कह ही डाला था, और फिर तो उसकी गोद में एक बार आकर बैठ जाने पर उतरना ही नहीं चाहा था—

फिर, यह सोचते-सोचते, कि इस मुन्ना की बात क्यों उसके दिमाग़ से बिलकुल ही निकल गयी थी—कि यहाँ आते वक्त उसे देने के लिए वह कुछ तो साथ लाता—और फिर यही अटकल भिड़ाते, कि कल वह उसके लिए क्या-क्या ख़रीद कर लायेगा, न जाने कब उसकी आँखें झँप गयी थीं...

शंकर तीन दिन वहाँ रहा, और उस परिवेश को अपना लेने में उसे सबसे बड़ी मदद दरअसल मनोहरलाल की ही वजह से मिली थी जिनके पूर्वकालीन अकृत्रिम सहज स्नेह में उसे ज़रा भी फ़र्क़ नहीं दिखाई दिया था।...पहले के मुक़ाबले वह कुछ ज्यादा हृष्ट-पुष्ट हो गये थे और प्रान्त के प्रमुख हिन्दी दैनिक के

सम्पादक और राजनीति में ख़ासी ज़िम्मेदारी की हैसियत पा जाने के कारण एक नयी ही गरिमा से मण्डित भी दिखाई दे रहा था उनका व्यक्तित्व ! अगले दिन उनके साथ ही वह भी 'स्वराज्य' कार्यालय में गया था और चार वर्ष पूर्व तक के अपने संगी-साथियों से मिला था। और, क़रीव-क़रीव सारे दिन ही उनके साथ-साथ रहकर, शाम को जव घर लौटा था तो उन्हें पूनम का उलाहना सुनने को मिला था कि उसके भैया के सारे वक्त पर उन्होंने ही क़ब्ज़ा कर रखा है...

फिर उस रात दोनों मित्रों के वीच स्वामीजी की वात चल पड़ी थी, जिसमें वीच वीच में पूनम भी आकर श्रोता का स्थान ले लेती थी; और जव मनोहरलाल इस सम्वन्ध में अपनी सारी जिज्ञासा शान्त कर चुके थे और आश्वस्त हो चुके थे कि वह अव सचमुच ही स्थिर और व्यवस्थित-चित्त हो गया है, तो अचानक ही एक वार उससे कह उठे :

"तो फिर अव यहीं आ जाइये न आप भी भाई...अपने पुराने काम पर—"

शंकर ने उसी दम उनकी उस वात का कोई जवाव नहीं दिया। एक ओर तो अपने प्रति उनका वही पुराना निश्छल स्नेह देख उसका दिल उछल-सा उठा था, लेकिन दूसरी ओर अपने हृदय के उस उच्छ्वास को ही नहीं, उसके साथ ही साथ उत्पन्न हुई कुण्ठा को भी उसने उनके सामने प्रकट नहीं होने देना चाहा। पर दो-चार दिन के लिए भी यहाँ आने के लिए उसे कितनी वड़ी क़ीमत चुकानी पड़ी है, और स्थायी रूप से यहाँ फिर से उसका आ जाना क्यों सर्वथा असंभव है—भला यह वात कैसे उनके सामने प्रकट होने दी जा सकती थी।

ग़नीमत थी कि कमरे की वत्ती तव तक वुझायी जा चुकी थी और उसके चेहरे पर आने-जाने वाले भावों को मनोहरलाल नहीं देख सकते थे।

लेकिन देर तक जवाव टाला भी तो नहीं जा सकता था।

आख़िर वह बोला : "विद्याभूषण क्या अव मुझे छोड़ेंगे ?"

जिसके वाद, वह प्रसंग वहीं ख़त्म हो गया था।

यों पूनम के साथ भी, आख़िरी दिन आते-आते वहुत-कुछ सहज हो जा सका था वह—हालांकि वरावर ही वह उसे एक अजीव रहस्यपूर्ण ढंग से वदली-वदली-सी लगती रही थी...

शायद तीसरे दिन की वात है—शंकर की वापसी से पहले की शाम की। खाने के वाद वे तीनों उसके कमरे में वैठे वातें कर रहे थे, और प्रसंग था शंकर का आधुनिक जीवन। वह वता रहा था कि स्वामीजी के पास से नया आलोक प्राप्त करने के वाद जव से वह फिर पटने में आकर रहने लग गया है तव से उसका रहन-सहन किस तरह वदल गया है, गांधीवादी विचारधारा को तिलांजलि दे किस तरह वह अपने शौक़ों को पूरा करने लगा है, किस तरह अपनी

इच्छाओं की पूर्ति में वह लग गया है—इच्छा और उसके भोग के पापपूर्ण होने की बात को मन से बिलकुल ही निकाल फेंककर...

दोनों ही चुपचाप सुनते चले गए थे उसकी वे अत्यन्त रहस्यमय और किसी हद तक अविश्वसनीय-सी लगती बातें, जिनके बीच मनोहरलाल एक बार एक फ़िकरा भी कस ही बैठे थे, कि एक अति से कहीं अब वह किसी दूसरी अति की ओर न चला जाय।

लेकिन शंकर जब उनके उस मज़ाक की उपेक्षा कर उसी रौ में आगे बढ़ता ही चला गया था, तब जैसे वह ख़ुद भी अपनी उस हरकत के लिए शर्मिन्दा हो उठे थे, और बोले थे :

"वह तो मैंने मज़ाक में कहा भाई...जिस रास्ते चलकर आपको शान्ति मिले, जो आपको अपना ठीक मार्ग दिखाई दे, उस पर आप बढ़ते चले जायें—इससे ज्यादा हमें ..मुझे...और क्या चाहिए—?"

एक हलका पर स्वस्तिकर-सा सन्नाटा छाया रहा फिर, उन तीनों के बीच, जिसके बाद ही, अचानक, एक भावावेशपूर्ण उच्छ्वसित-से स्वर मे पूनम कह उठी :

"तब तो...तुम भी अब...ब्याह कर लो न भैया ?"—लेकिन दूसरे ही क्षण सहम-सी भी उठी, कि कहीं कोई गलती तो नहीं कर बैठी।

शंकर ने देखा कि मनोहरलाल की दृष्टि धीरे से उसकी ओर उठ गयी—एक ऐसी दृष्टि जो मानो उसके चेहरे की रेखाओं में होने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन को भी पढ़ ले, ऐसी दृष्टि जो गहरे पैठकर यह थाह ले कि अब तक जो कुछ वह बताता आया है वह सिर्फ सतही है या वास्तविक...कि मानसिक दृष्टि से वह सचमुच ही स्वस्थ हो उठा है स्वामीजी के चमत्कार से, या कोरी डींग ही मार रहा है उन पर रहम करके—उन्हें भुलावा देने के लिए ?

शंकर खुद सचमुच ही पूनम की इस तरह की टिप्पणी के लिए तैयार नहीं था—ख़ास तौर से उसके उस उच्छ्वसित स्वर के लिए।...क्या इसके पीछे अपने भैया के हित से अधिक अपने दिल पर चढ़े उस बोझ को ही हलका करने की आतुरता नहीं छिपी थी, जो—वचन-भंग करके खुद ब्याह कर डालने के कारण—शायद अभी तक उसे पूरा चैन नहीं लेने दे रही थी ?

कुछ देर के लिए तो शंकर बुरी तरह तिलमिला गया था अन्दर ही अन्दर...

फिर उसने बलपूर्वक अपनी उस प्रतिक्रिया को दबा डाला था, और कुछ देर बाद, अपने स्वर को अधिक से अधिक सहज-स्वाभाविक रखने की कोशिश करते हुए, कह डाला था :

"कर ले सकता हूँ...अगर मुझे जरूरत महसूस हुई।"

लेकिन जो हवा एक बार बोझिल हो गयी थी, वह काफी देर तक फिर वैसी ही बनी रह गयी, जिसे हलका करने के लिए आख़िर शंकर ने ही शशि को भी आवाज़ देकर वहाँ बुला लिया, और फिर उनके उस मुन्ना के साथ भी खेलने लग गया था...

"अब तो पूनम के बंधन से तुम्हें पूरा छुटकारा मिल जाना चाहिए—" स्वामीजी ने कहा था, जब अगली बार उनसे मिलने पर शंकर ने अपनी लखनऊ-यात्रा का पूरा अनुभव सुनाया।

"क्या मतलब स्वामीजी ?" शंकर ने विस्मित होकर पूछा।

"तुम्हीं बताओ—क्या भाव आया था तुम्हारे अन्दर, पूनम को इतने समय बाद पहली बार देखने पर ?...अचानक ही क्या खिसक गया जान पड़ा था अपने अन्दर, कि वहाँ रहते समय बराबर वह तुम्हें उतनी बदली-बदली-सी दिखाई देती रही थी ?"

"कुछ टूट-सा गया था जैसे अचानक...मेरे अन्दर..." ठिठकते-से स्वर में धीरे-धीरे शंकर बोला, "जैसे बिलकुल ही बदला-बदला कुछ लग रहा था वहाँ...अजीब-खोया-खोया-सा।...जैसे यह पूनम कोई दूसरी ही पूनम थी... वह पूनम नहीं—"

"ठीक !...वह तो होना ही चाहिए था—" स्वामी जी ने भी धीरे-धीरे उसे तब दिखाना शुरू किया। "जिस पूनम का तुम पर नशा था, जिसे तुमने अपनी कूची से रंग भर-भर कर तैयार किया था...वह भला अब कहाँ देखने को मिलती तुम्हें वहाँ ?"

"जी—" एक गहरी साँस निकली शंकर के अन्दर से और मानो एकबारगी ही रहस्य का वह परदा उठ गया उसकी आँखों के सामने से। "जी—ठीक यही बात पकड़ नहीं पा रहा था इतने दिनों से...कि क्या मुझे इस क़दर बदला-बदला लगा था वहाँ।"

"हाँ—पूनम ही वह पूनम नहीं थी," धीरे-धीरे स्वामीजी ने उसके उस भरते घाव पर भी मलहम का एक हलका लेप लगाते हुए कहा, "तुम्हीं ने उसे स्थिर मान लिया था, अचल बना दिया था !...वह भी बदल गयी, उसका परिवेश भी बदल गया।...बदल तुम भी रहे थे, पर दिल मानता नहीं था। नशे में थे न !...नशा अब उतर ही जाना चाहिए...पूरी तरह !...अच्छा हुआ...बहुत अच्छा हुआ—"

विवाह के विरुद्ध बची-खुची भी झिझक दूर हो जाने के बाद जब शंकर ने अन्त में स्वामीजी की स्वीकृति ले विवाह का निश्चय कर डाला था तब इसकी पहली ख़बर पूनम और मनोहरलाल को देने में उसे सचमुच ही हार्दिक आनन्द हुआ था। और, जवाब में जब पूनम ने उसे लिखा था : "मैं तुम्हें किस तरह बताऊँ भैया, कि मुझे कितनी ख़ुशी हुई है। अपने व्याह के बाद अब जाकर पहली बार मेरे दिल पर से जैसे एक भारी पत्थर का बोझ उतर गया है..." और अन्त में—"क्या अब तुमने अपनी पूनम को भी पूरी तरह माफ़ कर दिया है भैया ?" तब उसके उस उद्गार को उसने सहज-स्वाभाविक रूप में ग्रहण किया था; उसके दिल पर से भी उस बोझ का इस तरह उतर जाना उसे अच्छा ही लगा था।

लेकिन जब शोभाराम और अंजनीकुमार को उसके इस निश्चय की ख़बर मिली तो वे दोनों ही भौचक्के-से रह गये थे।

और, इससे भी ज्यादा तब, जब उन्हें उससे पता चला था कि विवाह की बात अब उसे अपने पिछले प्रेम के प्रति विश्वासघात नहीं लगती...उसकी अनन्यता और एकनिष्ठता से इस तरह डिगना उसके अन्दर कोई ग्लानि नहीं पैदा करता...

विवाह होने के बाद क्या एक बार भी इस सुशीला के आसन पर पिछली पूनम को बिठाना चाहा था उसने अपने दिल में ?...कहाँ ?...उलटे, सुशीला को देखकर जब लौटा था, और विवाह उसी दम नहीं हो पाया था, तब बीच के वे कुछ हफ़्ते कितने भारी हो उठे थे उसके लिए...और एक बार भी तो उस बीच सुशीला की जगह पूनम की छवि नहीं आ बैठी थी उसके चित्त-पट पर।

अंजनी सचमुच ताज्जुब में पड़ गया था इस बात से, और जब शंकर ने अपने नये प्राप्त ज्ञान की रोशनी में उसे समझाया था कि दरअसल पूनम के प्रेम के पीछे भी उसका शैशव का कोई अज्ञात बंधन ही था, शायद उसकी माँ की ही कोई भूली हुई छवि, जिसे ही उसने पूनम में प्रतिष्ठित करके अपने को बाँध लिया था, तब तो वह और भी विस्मय-विमूढ़ रह गया था...

"सुशीला भाभी में अब...'ट्रांसफर' हो गया है न, आपके शैशव वाला वह बंधन भैया—?" बाद को एक बार अंजनी ने शायद मनोविश्लेषण शास्त्र सम्बंधी 'फिक्सेशन' के उस सिद्धान्त पर चुटकी लेते हुए कहा था, और उसका यह प्रच्छन्न संकेत शंकर को कुछ अधिक रुचा नहीं था, कि एक बार जो गलती वह कर बैठा है, दूसरी बार वही करेगा...पूनम की आसक्ति में जिस तरह बँध गया था वैसी ही आसक्ति अब सुशीला के प्रति है···

लेकिन अपने रंजन की मृत्यु के बाद इस बार स्वामीजी के पास आकर तो वह पहले से कहीं ज्यादा साफ़ तौर पर अब यह महसूस करने लगा कि आसक्तियों की पुनः-पुनः आवृत्ति के इस निष्ठुर चक्र में उसे पूरी तरह छुटकारा लेना ही

होगा—जब कि बन्द अँधेरी कोठरी में उनके मूल स्रोत की उस प्रचण्ड शक्ति का इतने अप्रत्याशित ढंग से पता चलना शुरू हुआ है।

तीन

अँधेरी बन्द कोठरी में सवेरे के नाश्ते के बाद स्वामीजी के पास शंकर का काम होता था रोज़, और तीसरे पहर के नाश्ते और शाम के टहलने के बाद उनके साथ उसकी बातचीत होती थी। तीसरे पहर वाले वक़्त में कभी-कभी, चान्ना या पड़ौस के किसी दूसरे गाँव से किसी के आ जाने पर, स्वामीजी की उनसे बातें होती थीं, और अगर वे बातें कुछ अधिक अन्तरंग न हुईं तो शंकर को भी वहाँ बैठने का मौक़ा मिल जाता था।

एक दिन एक ऐसी ही बातचीत में शंकर भी श्रोता के रूप में उपस्थित था, और आगन्तुक सज्जन ने चिन्ताओं से छुटकारा पाने की समस्या स्वामीजी के सामने रखी।

कुछ देर तक स्वामीजी उनके प्रश्नों का जवाब देते रहे, जिसके बाद, अन्त में, अपने अनुभव से एक दृष्टान्त दिया।

इसी साल की बात थी—कुछ ही महीने पहले की—जब कि जापानी आक्रमण के भय की वजह से कलकत्ता शहर बहुत-कुछ ख़ाली हो गया था, और सारी रात 'ब्लैक आउट' के कारण साँझ होने के बाद कोई भी बाहर सड़क पर निकलना नहीं चाहता था। यों भी कलकत्ता-अंचल गोरी फ़ौज के एक अड्डे का रूप ले चुका था जिसके डर से घर की बहू-बेटियों को लेकर तो कोई भी सूरज डूब जाने के बाद कहीं बाहर नहीं रहना चाहता था।

इन्हीं दिनों बरानगर से बाल्य बन्धु विजय बसन्त बसाक के साथ उन्हीं की मोटर में स्वामीजी अपने पैतृक ग्राम (अब कलकत्ते के एक उपनगर की ख्याति पा जाने वाले) चिनसुरा गए हुये थे। शाम तक बरानगर वापस लौट आना था। साथ में चिन्मयी की माँ (स्वामीजी की पूर्व-आश्रम की पत्नी) भी थीं।

लौटने की तैयारी हो चुकी थी, और चिन्मयी की माँ का इन्तज़ार था—जो कुछ दूर स्थित किसी सम्बन्धी के घर किसी मातमपुरसी के सिलसिले में गयी हुई

थीं।...काफी देर हो चुकी थी उन्हें गये, और विजय बाबू अधीर होते जा रहे थे।

"क्या बात है ?...चिन्मयी की माँ लौट क्यों नहीं रही हैं ?" पिछले दस मिनटों के अन्दर शायद बीसवीं बार उन्होंने कहा।

"वही तो—" गाँव के एक वयोवृद्ध सज्जन ने भी उनकी बात के समर्थन में चिन्ता व्यक्त की, "लौटते-लौटते रात नहीं हो जायेगी ?"

कुछ मिनट और बीते, और विजय बाबू अत्यन्त चचल हो उठे। अपनी जगह से वह उठ खड़े हुए। फिर, दो-चार चक्कर इधर से उधर लगाने के बाद अचानक गरज-से उठे : "चिन्मयी की माँ को कुछ भी ख्याल नहीं रह जाता...जहाँ जाती हैं वहीं जैसे चिपक जाती हैं।...हुँ-ह !"

"हाँ दादा,...कितना खराब वक्त है...अँधेरा हो गया तो, ऐसी हालत में, बउ-दी को साथ लेकर आप लोग आज फिर जा नहीं सकेंगे..." किसी ने उनका समर्थन किया।

"मेरा सारा काम चौपट हो जायगा...अगर आज वापस नहीं पहुँचा !" विजय बाबू इस बार चीख से उठे।

बड़े-छोटे कई व्यक्ति जमा थे दालान में। स्वामीजी अपने पैतृक स्थान पर अनेक वर्षों बाद आये थे, और उन्हें अपने बीच पा सभी पुराने लोग धन्य हो उठे थे। जिन्होंने उन्हें तब नहीं जाना था, जो नये थे, वे भी पुरानों से उनकी नाना कथाएं सुनते आये थे : उनके अन्दर भी कम कुतूहल नहीं था अपने गाँव की उस अनोखी विभूति का दर्शन करने का, उनके परम सत्सग से यत्किंचित् लाभ उठाने का।...लेकिन पिछले पन्द्रह-बीस-तीस मिनट से सारी चर्चा एक ही केन्द्रबिन्दु पर आकर थम गयी थी चिन्मयी की माँ लौट क्यों नहीं रही है...

अचानक एक वयोवृद्ध सज्जन का ध्यान उन सब से हटकर स्वामीजी की ओर जा पहुँचा, जो उस सारी हलचल के बीच भी अविचलित बैठे थे...इस सारी उत्तेजना के बीच भी जिनके चेहरे पर एक शिकन नहीं दिखाई दी थी।

"तुम कुछ नहीं कह रहे हो—?" पूर्वकालीन योगेश्वर चट्टोपाध्याय के बुजुर्ग उन सज्जन ने उनसे प्रश्न किया, "तुम्हारा मत क्या है ?"

किन्तु स्वामीजी को जब फिर भी चुप ही देखा, तो उन सज्जन ने कहा : "तुमको क्या कुछ भी चिन्ता नहीं हो रही है ?"

स्वामीजी कुछ मुसकराये, फिर उन्होंने उन्हें दिखाना शुरू किया कि इसमें न चिन्ता की ही कोई बात है, न उद्विग्न होने की। चिन्ता करने या उद्विग्न होने से तो समस्या हल होगी नहीं; अगर जल्दी लौटना है तो वहाँ जाकर कोई उन्हें ले आये।

"मगर—" किसी ने तब शंका रखी : "जहाँ वह गयी हैं...मातम-पुरसी

करने...वहाँ से जल्द लौटने के लिए कोई कुछ कह भी तो नहीं सकता !"

"तब !" स्वामीजी ने पूछा। "जब प्रतीक्षा करने के सिवा कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं...तब चिन्ता करने और अधीर होने से लाभ ?"

"फिर भी...चिन्ता की बात तो है ही न ?...लौटते-लौटते अँधेरा हो जायगा !...ब्लैक-आउट है..."

"तो क्या चिन्ता करने से इस स्थिति में कोई परिवर्तन हो जायगा ?"—स्वामीजी का उद्वेग-रहित उत्तर था।

सभी लोगों के चेहरों पर अचरज की रेखाएँ थीं, और सबसे ज़्यादा उन बुजुर्ग सज्जन के चेहरे पर। मुँह फाड़े वह विस्फारित नेत्रों से स्वामीजी की ओर एकटक निहार रहे थे।

"ऐसा भी हो सकता है !" गद्‌गद-से स्वर में उनके मुँह से उत्तर निकला, "प्रत्यक्ष देखता नहीं, तो कभी विश्वास नहीं कर सकता था !"

स्वामीजी ने उन्हें तब युक्ति देकर समझाया : "चिन्मयी की माँ जहाँ गयी हुई हैं वहाँ से जल्द लौटाकर लाने के लिए किसी का जाना व्यवहार की दृष्टि से असंगत होगा। और—आज यहीं रुक जाने से विजय के काम की भारी क्षति होगी। ...ऐसी हालत में, चुपचाप चिन्मयी की माँ के लौटने की प्रतीक्षा करने, और उसके आने के बाद चल देने के सिवा जब दूसरा कोई विकल्प है ही नहीं—तब निरर्थक चिन्तित, अधीर और उद्विग्न होने से क्या हाथ लगने वाला है ?..."

"मगर फिर भी, यह सब जानते हुए भी, चिन्तित, अधीर और उद्विग्न हुए बिना क्या कोई रह सकता है ?—" इस बार विजय बाबू ने कहा। और स्वामीजी बस मुसकराकर रह गये।

... ...

किसी से उसके अतीत की कहानी पूछ बैठना यों धृष्टता में ही गिना जायगा, और स्वामीजी से इस तरह की बात पूछना तो बहुत ही बड़ी छूट लेना था। किन्तु शंकर के मन में बहुत बड़ा कुतूहल था, स्वामीजी के निजी जीवन की बातें जानने का।

उस रात जब शाम के टहलने के बाद वह स्वामीजी के पास जाकर बैठा, तब साहस बटोरकर इसी की भूमिका के तौर पर उसने कह डाला : "आप अपनी आत्मकथा क्यों नहीं लिखते···स्वामीजी ?"

और साथ ही अपनी इस धृष्टता पर सहम भी गया।

"आत्मकथा ?" 'स्वामी जी ने उसके उस बाल-कुतूहल पर अप्रसन्न हुए बिना ही जवाब दिया। फिर, यह स्वीकार करते हुए भी कि उनके जीवन में जरूर बहुत-कुछ ऐसा हुआ जो लिखा जा सकता है, बोले, कि अतीत के उन अनुभवों को लिखने के लिए, उन्हें अभिव्यक्ति देने के लिए, जिस भाव और रस की आवश्य-

कता है वह तो अब रह नहीं गया है उनके अन्दर।

शंकर कुछ देर चुप रहा, फिर थोड़ा और साहस करके बोला : "अगर मुझे ही आप अपने बचपन की, और बाद की बातें···थोड़ा-थोड़ा करके सुनाया करें स्वामीजी···तो मैं ही उन्हें लिखने की कोशिश करूँ?"

स्वामीजी ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की, जिससे शंकर को अचरज से ज्यादा खुशी हुई—हालांकि दो-चार दिन बाद ही यह देख उसे कम निराशा भी नहीं हुई कि स्वामीजी के मुंह से रोज़ रात को सुनी उन बातों को जब अगले दिन वह लेखनी-बद्ध करने की कोशिश करता तो अपने को पूरी तरह विफल पाता : 'भाव-रस-हीन' स्वामीजी उसके सामने जैसे-जैसे सजीव चित्र खींचते चले गये थे लगातार कई दिन तक, उन्हें उस रूप में चित्रित करने में वह बिलकुल ही असमर्थ रह गया था।

···एक अत्यन्त नैष्ठिक ब्राह्मण परिवार में योगेश्वर का जन्म हुआ था और उनके पिता की, उस बड़े गांव में, जिसका बाद को कलकत्ते के निकट के छोटे-मोटे नगरों में प्रमुख स्थान हुआ, परम आचार-निष्ट एक शास्त्रज्ञ कथा-वाचक, ज्योतिषी एवं गुरु के रूप में भारी प्रतिष्ठा थी। किन्तु प्लेग की एक महामारी में कुछ ही समय के बीच बालक योगेश्वर के माता, पिता और बड़े भाई की मृत्यु हो गयी; मँझले भाई तब कहीं बाहर काम करते थे, और तीसरे भाई कलकत्ते में पढ़ रहे थे। पिता की मृत्यु से सहसा ही घर की आर्थिक स्थिति बड़ी नाजुक हो गयी। मँझले भाई जो दस रुपया महीना तब से भेजने लगे उसी के बल सारे परिवार का काम चलता था : विधवा बड़ी भावज, मँझली भावज, और सबसे छोटी विधवा बहन—इन तीन-तीन प्राणियों की देख-रेख का भार आ पड़ा तब बालक योगेश्वर के कंधों पर जो तब गांव की पाठशाला में पढ़ता था। तीसरे भाई लक्ष्मीनारायण कलकत्ते में तब कॉलेज में पढ़ रहे थे, और बालक योगेश्वर को उस कच्ची उम्र में ही यह बोध हो गया था कि वह भाई भी यदि उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके तो परिवार की नाव को कोई भी किनारे नहीं लगा सकेगा। 'मेजो दादा' (मँझले भाई) के पास से आने वाली दस रुपये मासिक की उसी रकम के बल वह इस तरह परिवार के भरण-पोषण की व्यवस्था करता, कि रविवार की साप्ताहिक छुट्टी के दिन सेज-दा (तीसरे भाई) के कलकत्ते से आने पर किसी न किसी तरह आलू की तरकारी की व्यवस्था कर लेता, ताकि खाने-पीने की अनिवार्य चीजों की भी कमी की बात उनकी नजर में न आने पाये—क्योंकि तब तो वह भी कलकत्ते की पढ़ाई छोड़ कहीं कोई छोटी-मोटी नौकरी ही कर बैठेंगे। अंधकारग्रस्त उस परिवार के भाग्य-आकाश में वही तो एक सुनहरी रेखा थे जिन्हें, पिता की मृत्यु के बाद, परिवार के एक परम शुभचिन्तक बुजुर्ग ने सहारा और एम० ए० तक पढ़ा देने का भरोसा दिया था।

बालक योगेश्वर को अपने घर की हालत अपने सेज-दा से ही छिपाकर नहीं रखनी होती थी; पाठशाला में, या गाँव में अन्यत्र भी स्वाभिमान की रक्षा में वह सदा ही सजग रहता था। एक बार जब उसके पाँवों के जूते पहनने लायक़ नहीं रह गये, नये जूते ख़रीदने की असमर्थता को प्रकट न होने देने के लिए एक पाँव के अंगूठे में कपड़े की पट्टी बाँध ली, ताकि देखने वाले यही समझें कि अँगूठे में चोट लगने की वजह से ही वह जूता पहनकर पाठशाला नहीं जा रहा है।

एक दिन उसकी पोल खुल गयी। पाठशाला के एक अत्यन्त सहृदय शिक्षक का उस पट्टी की ओर ध्यान गया, और दो-चार दिन तक वह उसकी चोट के अच्छे होने की प्रतीक्षा करते रहे। आख़िर एक दिन उन्होंने उसे रास्ते में रोक पट्टी खोलकर अपनी चोट दिखाने के लिए कहा, जिसके बाद, असलियत जान लेने पर उसके लिए एक ऐसी आत्मीयता के साथ जूते ख़रीद दिये कि अत्यन्त स्वाभिमानी बालक योगेश भी उस स्नेहपूर्ण आग्रह को ठुकरा नहीं सका…

एक दिन योगेश्वर जब हाट से घर के लिए खाने-पीने का कुछ सामान ख़रीदकर ला रहा था, उम्र में तीन-चार साल छोटे एक लड़के ने उसके उस बोझ को बँटाना चाहा। एक-दूसरे को देखते वे अक्सर ही थे, पर प्रत्यक्ष परिचय पहले कभी नहीं हुआ था। नाम था परेश, और वह 'पाठशाला' में नहीं गाँव के अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ता था। समृद्ध घर का लड़का था, पितामह जज थे, और पिता का कलकत्ते में अच्छा-ख़ासा कारोबार था।…धीरे-धीरे दोनों लड़के एक-दूसरे के घर आने-जाने लगे, और बालक योगेश्वर के घर की अन्दरूनी हालत की पोल धीरे-धीरे बालक परेश के सामने खुल चली।

एक दिन की बात है। योगेश्वर को खोजते-खोजते परेश ने उसके घर जाकर देखा, वह एक कोने में बैठा रो रहा है। "क्या बात है, रो क्यों रहे हो?" —परेश ने पूछा। योगेश्वर ने जल्दी से आँसू पोंछ डाले, पर तब तक दोनों के बीच इतनी अन्तरंगता स्थापित हो चुकी थी कि असल बात छिपी नहीं रह सकी। "बहुत भूख लगी है—" बालक योगेश्वर को अन्त में बताना ही पड़ा।

"भूख लगी है…तो खाया क्यों नहीं?"

"खाने को कुछ है ही नहीं—"

"खाने को कुछ नहीं है, तो चलो, बाज़ार से ख़रीद लायें।"

"बाज़ार जाने के लिए पैसे नहीं हैं।"

"पैसे नहीं हैं…तो बक्स में से निकाल लो—"

"बक्स में एक भी पैसा नहीं है।" योगेश्वर ने बताया।

भोला-भाला परेश भला इस असंभव बात पर कैसे यक़ीन कर ले सकता था?

आख़िर यक़ीन दिलाने के लिए योगेश्वर को वह बक्स खोलकर उसे दिखाना पड़ गया जिसमें मेज-दा के पास से हर महीने आने वाली रक़म को वह

बड़ी हिफ़ाज़त से रखता था और खर्च करने से पहले कितनी तरह से हिसाब लगाकर देखता था कि किस तरह एक-एक पैसा बचाया जा सकता है।

अबोध परेश की आँखें उस बिलकुल खाली सन्दूक को देख फटी की फटी ही रह गयीं देर तक···

एक बार परेश ने अपने कोट की जेब से मुट्ठी-भर मेवे निकाल योगेश्वर की ओर बढ़ा दिये। योगेश्वर ने उन्हें लेने से इनकार कर दिया। परेश ने कुछ देर ज़िद की, लेकिन योगेश्वर की स्वाभिमान की भावना के सामने जब उसकी एक न चली तो वह रो पड़ा, और उसने कह दिया कि आगे से माँ से मिले अपने मेवे वह छिपाकर फेंक दिया करेगा, खुद भी नहीं खायेगा! आखिर योगेश्वर को हार माननी पड़ी। तब से, जाड़े के दिनों में, अमीर घराने के लाडले बेटे को घर में जो भी मेवे रोज़ खाने को मिलते उनका एक हिस्सा छिपाकर वह अपनी जेब में रख लेता।···एक दिन उसकी माँ की नज़र जब उसकी जेब की ओर गयी और उसमें अपने ही दिये मेवे छिपाकर रखे देखे, तो इसकी कैफ़ियत तलब की—जिसके बाद उस सहृदय माता ने परेश के उस बन्धु के लिए भी अलग से मेवे देने शुरू कर दिये। योगेश्वर ने जब यह बात सुनी तो उसने भी इसकी कैफ़ियत माँगी। पर उसका मुँह बन्द हो गया जब परेश ने उसे जवाब दिया: "माँ ने जब जानना चाहा तो झूठ कैसे बोलता?···तुम्हीं से तो सीखा है···कि झूठ नहीं बोलना चाहिए।"

धीरे-धीरे योगेश्वर को परेश के घर में भी सभी से वही स्नेह मिलने लगा था जो परेश को मिलता था। एक दिन उसे वहीं बैठे-बैठे प्यास लग आयी। यों, प्रचलित प्रथा के अनुसार, ब्राह्मण बालक योगेश्वर अस्पृश्य माने जाने वाले उन लोगों के घर में पानी नहीं पी सकता था, किन्तु परेश के साथ जैसे-जैसे अन्तरंगता बढ़ती गयी थी, सामाजिक अलगाव की इस प्रथा के विरुद्ध उसका चित्त विद्रोह करने लग गया था। वह समझ ही नहीं पाता था कि उन दोनों के घरों के बीच आचार-व्यवहार सम्बन्धी यह दीवाल क्यों खड़ी कर दी गयी है।'' उस दिन वहाँ बैठे-बैठे प्यास लग जाने पर सहसा उसने परेश की छोटी बहन को आवाज़ दी और पीने के लिए पानी की फ़रमाइश कर डाली। "तुम हमारे घर में पानी पियोगे, जोगेश दा?" छोटी-सी बालिका ने भयभीत और आकुल-से स्वर में प्रश्न किया। "हाँ—पियूँगा।" योगेश्वर ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया। परेश की माँ आयीं. "कैसी बात करता है जोगेश!—हमें पाप नहीं लगेगा?"

"क्यों पाप लगेगा?" योगेश्वर ने और भी दृढ़ता के साथ प्रतिप्रश्न किया। "तुम लोग क्या मनुष्य नहीं हो...जैसे कि हम हैं?"

शनिवार की साँझ को कलकत्ते से सेज-दा के लौटने पर उन्हें भी इस बात का पता लगा, और योगेश्वर को बुला उन्होंने भी कैफ़ियत माँगी। किन्तु जिन

सेज-दा के लिए अगाध श्रद्धा-भक्ति के सिवा वालक योगेश्वर के हृदय में और किसी भाव के लिए स्थान नहीं था वह उस दिन उनसे भी सीधे लोहा लेने को तैयार वैठा था; देर तक दोनों भाइयों के वीच वहस हुई, और अस्पृश्यता की उस सामाजिक प्रथा के पक्ष में उलटे सेज-दा को ही कैफ़ियत देने के लिये कोई ऐसी दलील ढूँढ़े नहीं मिली, जिसे अल्प-वयस्क योगेश्वर ने उसी दम काट नहीं डाला···

परेश के साथ तो वालक योगेश्वर की दाँत काटी रोटी थी ही, गाँव के और भी अनेक समवयस्क वालकों के साथ उसका सगे भाइयों जैसा ही संवंध था, जिस नाते उनकी माँ, काकी, वउदि (भाभी) और वहनें उसकी भी माँ, काकी, 'वउदि' और दीदी थीं। ये सारे सम्वन्ध यौवन काल तक वने रहे थे और जव योगेश्वर वाहर कालेज की शिक्षा प्राप्त करने चला गया था तव भी छुट्टियों में जव कभी गाँव वापस लौटता, उन सभी घरों में उसका घर के वेटे या भाई जैसा स्वागत और अभिनन्दन होता, और वह भी घर-घर जाकर अपने हृदय की रस-धारा को उड़ेल देता और दूसरे सवों को आप्यायित करने के साथ-साथ स्वयं भी उस रस सरोवर में गले तक डूव जाता।

···"तुम्हारे अन्दर तो लवालव रस भरा हुआ था भाई," स्वामीजी के संन्यासी हो जाने के वाद एक वार एक वाल्यकालीन वंधु ने उनसे पूछा था, "लेकिन सुनता हूँ कि अव तुम विलकुल शुष्क हो गये हो···रस का लवलेश नहीं रह गया?···क्या यह सच है?"

स्वामीजी तव काशी में थे और उनके वड़े भाई भी 'पूजा' की छुट्टियों में गंगाजी के निकट किराये का एक मकान ले सपरिवार आ टिके थे। स्वामीजी रोज शाम को एक वार वहाँ हो आया करते थे, और एक दिन जव वहाँ पहुँचे तो देखा, उनके वह वाल्यकालीन वंधु देरसे उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। "वउदि के साथ देर से तुम्हारी ही वात हो रही थी भाई," उन्हें आया देख वह खिल उठे, लेकिन स्वामीजी के चेहरे पर नज़र पड़ते ही ठिठककर रुक गये। फिर, कुछ देर वाद एक विषण्ण-से स्वर में वोले: "वउदि से जानकर वड़ी व्यथा हुई··· कि तुम्हारे दिल में उनके लिए भी अव वह प्यार नहीं रहा—जव कि तव इन वउदि के लिए तुम प्राण तक दे दे सकते थे।"

कुछ देर फिर कोई शव्द नहीं निकल पाया उनके मुँह से, जिसके वाद ही वह वात कह उठे: उनके विलकुल ही शुष्क हो जाने की वात—जव कि पहले उनके अन्दर लवालव रस भरा हुआ था।

स्वामीजी सिर्फ़ मुसकराकर रह गये, वोले कुछ नहीं।

"देखो भाई," कुछ देर की अधीर प्रतीक्षा के वाद वाल्यकालीन वह वंधु फिर वोले, "हमारे गाँव में तुमने सवका मन मोह रखा था···अपने हृदय में लवालव भरे रस से। प्यार हम सभी करते थे, लेकिन तुम्हारे साथ हममें से कोई

छोड़ नहीं सगा सकता था।...फिर भी हमारे अन्दर का रस तो अभी तक नहीं सूखने पाया है...अब भी तुम्हारी इन बरदि के पास आकर इनके स्नेह से हृदय भीग गया है। तो फिर तुम्हारा ही वह सारा रस कैसे सूख गया ?"

स्वामी जी कुछ देर फिर भी चुप रहे; सिर्फ एक हलकी-सी मुसकराहट का आभास उनके चेहरे पर मिला होगा उन बाल्यकालीन बंधु को।

किन्तु वह बाल्यबंधु भी आसानी से हार मानने वाले नहीं थे। "तुम मुझे बताओगे नहीं—इसका रहस्य क्या है ?" वह बोले, "जानने का तीव्र कुतूहल है मेरे अन्दर...यह एक प्रश्न बहुत देर से चित्त को मथ रहा है—"

आखिर स्वामीजी का मौन भंग हुआ। किन्तु उन्होंने अब उन्हीं से प्रश्न किया : मिट्टी के दो घड़ों को पानी से पूरा भर कर एक स्थान पर रख दो। इनमें से एक घड़े की पेंदी में एक बारीक सूराख़ है। दूसरे में कोई सूराख नहीं है। जिस घड़े में सूराख है उसमें पानी कब तक भरा रहेगा ?

यह इस बात पर निर्भर करता है कि सूराख़ कितना बड़ा है—उन बंधु ने जवाब दिया।

ठीक—स्वामी जी बोले। जितना छोटा सूराख होगा, उतनी ही ज्यादा देर लगेगी—घड़े का पानी चू-चूकर ख़त्म हो जाने में।

निस्सन्देह !—उत्तर मिला।

मगर, बिना छेद वाले घड़े को अगर उलटकर उसका सारा पानी उंडेल दिया जाय—स्वामीजी ने प्रश्न किया—तो उसे खाली होने में कितनी देर लगेगी ?

बिलकुल नहीं— इस बार फिर जवाब मिला।

तो—स्वामीजी बोले—तुम लोगों कि घड़ों में सूराख थे, थोड़ा-थोड़ा चुआते रहते थे...इसलिए अब तक भी घड़ा खाली नहीं हो पाया है।...मगर 'इस' घड़े ने तो कोई कंजूसी नहीं की थी न। पूरा का पूरा उंडेल दिया था।...सारा का सारा पानी बहा दिया...पूरा खाली हो गया।

यह वृत्तान्त स्वामीजी ने शंकर को इस प्रसंग में सुनाया था कि इच्छा की पूर्ति से, भोग से, इच्छा बढ़ती नहीं है, बल्कि, बिना किसी अन्तर्विरोध के यदि इच्छा की पूर्ति की जाती है, वासना को भोग कर तृप्त किया जाता है, तो आप-से-आप उसका क्षय होता है, उसका बंधन कट जाता है।

अपने काशी-स्थित परम बंधु शोभाराम के ही आग्रह पर शंकर स्वामीजी के पास अपनी समस्या लेकर आया था जो, उनके काशी में रहते समय, दर्शन शास्त्र और अध्यात्म सम्बंधी अपनी गहरी रुचि के कारण ही उनके सम्पर्क में आये थे। उनका विश्वास था कि स्वामीजी को 'ब्रह्म-साक्षात्कार' हो चुका था और एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण परिवार में लालित-पालित शंकर का बाल्यकाल भारतीय

विचारधारा से इस सीमा तक प्रभावित था कि नास्तिक हो जाने के वाद भी वह स्वामीजी की इस चरम उपलब्धि पर अविश्वास नहीं कर सका था। फिर भी, पिछले सात साल में, एक वार भी उसने उनके साथ कोई आध्यात्मिक समझी जाने वाली चर्चा नहीं की थी, किन्तु वह ब्रह्मज्ञ और जीवन्मुक्त परम पुरुष हैं—इसका एक प्रच्छन्न भाव-वोध सदा उसे उनकी उपस्थिति में अभिभूत-सा किये रहता था।

इस वार आश्रम आने पर वह देखता था कि अखवार और कितावें पढ़ने या चिट्ठियों का जवाव देने के वाद भी स्वामीजी के पास जो वक्त खाली वच जाता था उसे वह चुपचाप ही वैठे विता देते थे : एक ही आसन से, एक ही मुद्रा में, शून्य की ओर निश्चल दृष्टि से ताकते हुए। सवेरे और शाम को, जव भी शंकर उनके ऐसे खाली वक्त में उनके चरणों के निकट जा वैठता, देखता कि कुछ मिनटों तक स्वामीजी फिर भी उसी तरह निश्चल वैठे रह जाते—मानों उसके आने का उन्हें पता ही न हो। और शंकर अन्दर ही अन्दर सहम-सा जाता। फिर किसी वक्त स्वामीजी मानो अपने अन्दर ही कहीं दूर से अपने को खींचकर वर्तमान में ले आते और अपनी सहज-स्निग्ध दृष्टि धीरे-धीरे उसकी ओर उठाते, और एक ऐसे मुलायम स्वर में पूछते : "कहो—कुछ कहना है?" कि उस क्षण से पहले तक का शंकर का सारा भय-डर, उसका सारा संकोच कट जाता...

क्या स्वामीजी निरंतर समाधि में रहते है, जव विलकुल अकेले होते हैं?—उसके मन में प्रश्न उटता। हालांकि समाधि अवस्था ठीक क्या होती है इसका वहुत ही अधूरा और पढ़-सुनकर जाना हुआ वोध ही उसे था।

एक वार की वात है। वह और सुशीला कलकत्ते से पटने लौटते समय विना पूर्व सूचना के ही आश्रम जा पहुँचे थे। स्वामीजी का दोपहर का भोजन हो चुका था, और उनका सेवक रेणु उस अवकाश में कहीं वाहर निकल गया था। आगन्तुकों के लिए वनी झोंपड़ी में अपना सामान रख-रखाकर शंकर-सुशीला नीचे नदी में हाथ-मुँह धोकर आये और सोचने लगे कि स्वामीजी को प्रणाम करने अभी जायें या तीन वजे—उनके 'विश्राम' के वाद ? यों शंकर जानता था कि दोपहर के खाने के वाद से तीन वजे तक के 'विश्राम' के समय में स्वामीजी के पास कोई नहीं जाता। एक वही समय था जो पूर्ण रूप से स्वामीजी का एकान्त काल था; सवेरे से रात तक अन्य किसी भी समय स्वामीजी के पास जा पहुँचने पर कोई रोक नहीं थी, लेकिन यह समय पूरी तरह उनका अपना समय था।

पता नहीं कैसे—उस दिन शंकर का आत्म-विश्वास 'अति' की ओर झुका हुआ था। जल्द से जल्द स्वामीजी के पास जा पहुँचने का आकर्षण, पिछले दो-

तीन साल के अन्दर स्वामीजी के 'अत्यन्त निकट' आ पहुँचने का कुछ अहं-कार—इन सबने मिलकर उसके पाँवों को स्वामीजी वाली कुटी की ओर बढ़ा दिया।

स्वामीजी वाली कुटिया में छोटी-छोटी दो कोठरियाँ थी—जिन्हें अलग करने वाली दीवाल के बीच, बिना किवाड़ों वाला बिलकुल खुला द्वार था। और कोठरियों के चारों ओर कोई तीन फुट चौड़ा एक बरामदा घूम गया था जिसमें बाहर से घुसते वक्त सिर को काफी झुकाना पड़ता था।

कुटिया के पूरब वाले बरामदे में पहुँचकर शंकर उस ओर की कोठरी के खुले दरवाजे पर पड़ी चिक को उठा जिस वक्त उसमें दाखिल हुआ तब तक उसके अति-विश्वास में किसी हद तक भाटा पड चुका था। वह कोठरी, जिसमें ही स्वामीजी रात को सात फुट लम्बे, ढाई फुट चौड़े और कोई एक फुट ऊँचे लकड़ी के तख्त पर सोते थे, खाली पड़ी थी, और उसके बाद वाली कोठरी का जो भाग यहाँ से दिखाई देता था उसमें भी स्वामीजी कहीं नहीं दिखाई दिये। एक अजीब ढंग की दहशत अचानक उठ खड़ी हुई शंकर के दिल में, और कुछ क्षण वह स्थिर नहीं कर सका कि और भी आगे बढ़कर अगली कोठरी के उस हिस्से की तरफ जाये या नहीं जो वहाँ से ओझल था।

अन्त में, साहस करके वह दो क़दम और आगे बढ़ा...और तभी ठिठककर रुक गया। अगली कोठरी के इधर वाले दाहिने कोने में जो मेज रखी हुई थी उसके सामने वाली कुरसी पर बिलकुल सीधे बैठे थे स्वामीजी, दोनों पाँव नीचे रखे...सामने की ओर ताकते।

हड़बड़ा कर शंकर दो कदम और आगे बढ गया, लेकिन स्वामीजी की उस सीधी अपलक दृष्टि को अपनी ही ओर स्थिर देख उसका सारा साहस एक-ब-एक हवा हो गया। स्वामीजी उसी ओर ताक रहे थे, लेकिन फिर भी मानो उसे नहीं देख रहे थे। न तो उनके चेहरे पर उसे देखते, ही सदा की नाईं, हलकी-सी मुसकराहट खिल उठी, न कोई ऐसा ही चिह्न था वहाँ जिससे लगे कि वह उसे पहचानते हों। आगे बढ़कर उनका चरण-स्पर्श करने की जगह उसी दम उसने उलटे-पाँवों लौट जाना चाहा; पर इसकी भी हिम्मत कहाँ रह गयी थी तब उसके अन्दर? पत्थर-सा अचल जैसा का तैसा वह खड़ा रहा। क्या स्वामीजी उसे देखते हुए भी पहचान नहीं पा रहे हैं?...मगर उनकी उस अपलक, स्थिर दृष्टि से यह आभास भी तो नहीं मिलता, कि किसी भी दूसरी उपस्थिति का उन्हें भान है!...क्या यही वह समाधिस्थ स्थिति है जिसका केवल वर्णन ही उसने यत्र-तत्र पढ़ा था? . तब क्या सर्वथा अनधिकृत प्रवेश करके उसने बहुत बड़ा अपराध नहीं कर डाला है—असमय में उनके एकान्तवास में बाधा डालने की अक्षम्य धृष्टता करके?...उसका दिल बुरी तरह से धड़कने लग गया, लेकिन साथ ही

उसकी जगह इस बार फ़ोटो वाली वही सहज मुसकान मौजूद थी जिस पर फ़िदा होकर ही वह उसे पसंद कर बैठा था ।

...विवाह के लिए जब वह कलकत्ते पहुँचा था तब संयोग से स्वामीजी वरानगर में ही थे।

"तुम्हारे साथ और कितने लोग आये हैं ?" स्वामीजी का पहला प्रश्न था।

"अकेला ही आया हूं स्वामीजी !" शंकर ने बिना ज़रा भी हिचके जवाब दे दिया ।

अपने घर—बड़े मामाजी और माँ को—शंकर ने अपने विवाह की ख़बर ही नहीं दी थी तब तक; विवाह के बाद ही उन्हें लिखना चाहता था—कुछ तो इसलिए कि चौंतीस-पैंतीस साल तक विवाह न करने के बाद इस मामले में निराश हो उठी अपनी माँ को वह सब-कुछ हो जाने के बाद ही समाचार देकर चकित कर देना चाहता था, और कुछ इसलिए भी कि वह जानता था कि इस विवाह से वह काफ़ी हद तक असन्तुष्ट भी होंगी। सुशीला एक कायस्थ घर की ही नहीं, आमिष-भोजी घर की लड़की थी, और जब उसके घर वालों से बातचीत होते वक्त उसने परम उदारतापूर्वक इस बात की स्वीकृति दे दी थी कि विवाह के बाद भी वह आमिषभोजी बनी रह सकती है, तभी वह समझ गया था कि उसके बड़े मामाजी और माँ के लिए सुशीला को अपनी बहू के रूप में ग्रहण करना अत्यन्त दुष्कर होगा। पश्चिमी यू० पी० के न केवल परम्परागत निरामिषभोजी ब्राह्मण थे उसके मामाजी, वृन्दावन में अपने वैष्णव गुरु गौरांग बाबा से कण्ठी-माला भी ले चुके थे।

घर वालों को ख़बर नहीं दी तो नहीं दी...अन्तर्जातीय विवाह के मामले में इसका औचित्य कन्या पक्षवालों की समझ में आ भी जायेगा—स्वामी ने अब उससे कहा—लेकिन मित्रों को तो साथ लेकर आना ही चाहिए था।...कन्या पक्ष जिस तरह अपने बंधु-बांधवों को उस अवसर पर निमंत्रित करेगा, उसी तरह यह भी आशा करेगा कि तुम्हारे साथ तुम्हारे भी बंधु-बांधव आयेंगे।... तुम अकेले जा पहुँचोगे—तो कैसा लगेगा उन लोगों को ?...

फिर उन्होंने पूछा था, कि तार देकर क्या वह फौरन लखनऊ-बनारस-पटना से दस-बारह मित्रों को नहीं बुला ले सकता ?...तब भी दो दिन का समय तो था ही।

"मगर स्वामीजी," शंकर ने आपत्ति की, "यह सब आडम्बर...बेकार का यह ख़र्चा।...क्या यह ज़रूरी है ?"

बिलकुल ज़रूरी है—स्वामीजी ने नरम-सी एक फटकार ही सुना डाली थी तब उसे—कोई भी सामाजिक काम अकेले नहीं हुआ करता।...विवाह न

करके ही किसी लड़की को घर में बिठा लेते, तब दूसरी बात होती...लेकिन विवाह तो सामाजिक कृत्य है...दोनों ही पक्ष एक तरह से अपने गवाह साथ लाते हैं—इस बात के साक्षी होते हैं कि जिन दो घरों के बीच यह सम्बन्ध हो रहा है, वे इसे निभायेंगे, जो नयी ज़िम्मेदारी ले रहे हैं उसका पालन करेंगे...

आठ-दस 'बराती' इकट्ठे करने के लिए शंकर को तब लखनऊ-बनारस-पटना तार देने की ज़रूरत नहीं पड़ी थी; कलकत्ते में ही उसने उतनी संख्या में लोगों को आसानी से इकट्ठा कर लिया।

और तब जाकर वह देख पाया कि कितना बेवकूफ़ वह बनता, अगर अकेला ही विवाह करने के लिए जा पहुँचा होता उस रोज़।...किस तरह पद-पद पर, मानो उँगली पकड़कर, उसे चलाते आ रहे थे स्वामीजी – विवाह के पहले भी, और उसके बाद भी।

फिर, विवाह के बाद की पहली रात को ही तो शंकर अपना भविष्य पूरी तरह अंधकारपूर्ण बना ले चुका था जब कि एक ग़लती से अपने पुरुषत्व की बाज़ी वह पूरी तरह हार गया था। बाकी सारी रात उसने जागते ही, और बेहद शर्म और आत्मग्लानि में, काटी थी। न वह तब ही सुशीला की नजर का सामना कर सका था और न अगले दिन की रोशनी में ही, और अन्त में पूरी की पूरी घटना ही उसे स्वामीजी को लिख देनी पड़ी थी, ताकि वही उसे उस दलदल से भी किसी तरह उबारें।

और—स्वामीजी के प्रति किस तरह असीम कृतज्ञता के आँसू उसकी आँखों में उमड़ आये थे जब चार-पाँच दिन बाद ही उनका तार मिला था कि वह उन लोगों के पास आ रहे हैं।

कितना बड़ा सौभाग्य था शंकर का, कि सुशीला जैसी भोली-भाली और सरल-सीधी पत्नी उसे मिली थी—क्या स्वामीजी के ही कारण नहीं?...और उस बेचारी ने बाकी रात इसी व्याकुलता में काट दी थी कि उस असफलता का कारण शायद वह ख़ुद थी, उसी के अन्दर की कोई त्रुटि। अगले दिन शंकर ने सारी असफलता का दायित्व अपने ऊपर लेकर जब उसे यह समझाने की कोशिश की थी कि उसका कारण शंकर के ही अन्दर की कोई मानसिक ग्रन्थि है, और स्वामीजी को लिखने पर वह उसकी समस्या का हल उसे बता देंगे, तो उसने सहज ही उस पर विश्वास करके किस तरह उसके दिल का बोझ एकबारगी ही हलका कर डाला था—जिसकी वजह से ही बाकी के दिन उन दोनों ने पारस्परिक सहानुभूति और सौहार्द के साथ ही बिताये थे।

स्वामीजी ने आकर उसकी वह बड़ी भूल उसी दम दिखा दी थी जिसके चलते अत्यधिक आत्मविश्वास के फलस्वरूप एक ऐसी हरकत कर बैठा था वह, जो साधारणतः बिलकुल नॉर्मल, लोग भी नहीं किया करते। और अतिविश्वास की

झोंक में की गयी उस ग़लती के चक्रव्यूह को उसके बाद उसे धीरे-धीरे ही भेदने की सलाह दी गयी थी, और कई हफ़्ते लग गये थे शंकर को अपने सहज आत्म-विश्वास को वापस पाकर सामान्य स्थिति को लाने में—

कोई सात साल पहले, जीवन-मरण के झूले में झूलता शंकर जब बरानगर में अपनी जटिल समस्या लेकर स्वामी जी के पास आया था—गांधीजी की छत्रछाया को छोड़कर···तब तक उसके मन में उनके प्रति न कोई विशेष श्रद्धा-भक्ति ही थी और न अपने उद्धार की कोई बड़ी आशा ही। फिर, संन्यासी हो जाने के बाद भी जिन्हें वह 'स्वामीजी' के स्थान पर, अपने पूर्व अभ्यास का ही आग्रह रख, 'प्रोफ़ेसर साहब' कहना ज्यादा पसन्द करता आया था और उसी पुराने स्तर पर मिलने की आशा रखता आया था जिस स्तर पर काशी विद्यापीठ में प्रोफ़ेसर योगेश्वर चट्टोपाध्याय या योगेश बाबू अपने छात्रों के साथ मिला करते थे, उन्हें बिलकुल ही बदला हुआ देख शुरू-शुरू में तो वह मन-ही-मन अत्यन्त आशंकित हो उठा था और ठीक-ठीक समझ ही नहीं पाया था कि उनके उस 'स्वामीजी-पन' के साथ वह किस तरह निभा पायेगा। पर एक घोर विवशता उसे उन तक खींचकर लायी थी, और उनका बहुत-कुछ अप्रिय लगने पर भी उसे सहन करना पड़ा था। तब वह कहाँ यह जान सका था कि संन्यासी होने के बाद उनके आचार-व्यवहार में जो अप्रिय परिवर्तन उसे दिखाई दिया था वह उसकी नासमझी का द्योतक था।

...काशी विद्यापीठ में शंकर द्वितीय वर्ष का छात्र था जब योगेश बाबू वहाँ प्रोफ़ेसर होकर आये थे। विज्ञान में एम० एस० सी० थे, और कलकत्ता विश्व-विद्यालय से प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम पास हुए थे। किन्तु विज्ञान विषय लेने वाला काशी विद्यापीठ में एक भी छात्र नहीं था, और योगेश बाबू तब अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ाने लगे थे, जिस नाते ही शंकर का उनसे प्रथम परिचय हुआ था। उसे कम आश्चर्य नहीं था कि विज्ञान में एम० एस०-सी० करने वाला कोई व्यक्ति अंग्रेज़ी साहित्य भी पढ़ा सकता है। लेकिन योगेश बाबू से अंग्रेजी साहित्य पढ़ने वाले सभी विद्यार्थी पूरी तरह सन्तुष्ट थे; यही नहीं, शंकर जानता था कि विद्यापीठ की पढ़ाई के समय के बाद, तीसरे पहर, योगेश बाबू उपनिषद का भी अनौप-चारिक रूप में एक क्लास लेते थे, जिसमें दो-एक प्रोफ़ेसर भी विद्यार्थी बनकर शामिल होते थे।

बड़े हँसमुख, विनोदप्रिय और स्नेहशील थे योगेश बाबू, और काशी विद्या-पीठ का एक भी विद्यार्थी ऐसा नहीं था जिसका व्यक्तिगत स्तर पर उनके साथ सम्पर्क न स्थापित हो चुका हो। शंकर तब कविता करता था और विद्यापीठ के

विद्यार्थी-कवियों का समय-समय पर कवि-सम्मेलन हुआ करता था। पता नहीं कैसे, योगेश बाबू भी जान गये थे कि शंकर कविता करता है, और जब भी वह उनके सामने पड़ जाता, अपने क़दम रोक खड़े हो जाते, और एक हलकी मुसकान के साथ पूछ उठते : "इधर कोई नयी कविता की है ?"

शंकर किसी हद तक झेंप जाता, पर साथ ही गर्वित-सा भी महसूस करता।

मगर—अनुशासन के मामले में उतने ही कड़े भी थे योगेश बाबू। उनके क्लास में किसी के कुछ देर से पहुँचने पर दो-एक बार तो उन लोगों को उनके मुँह से दो-चार ऐसे शब्द ही सुनने को मिले जिन्हें वे विनोद-परिहास समझ आसानी से हज़म कर ले सकते थे, लेकिन उसके बाद योगेश बाबू ने भरे क्लास में फ़तवा दे डाला कि क्लास शुरू हो जाने तक जो लड़का न पहुँच पाये वह उस दिन छुट्टी रखे, और अगले दिन भी तभी क्लास में दाखिल हो जब कि पिछले दिन की पढ़ाई किसी साथी से समझ ले...

एक बार की बात है। शाम के वक्त शंकर ने योगेश बाबू को छात्रों की एक छोटी-सी भीड़ में खड़े किसी हद तक ज़ोर-ज़ोर से कुछ कहते सुना, और अपने सहपाठी वसन्तजी के पीछे-पीछे वह भी, प्रायः तटस्थ भाव से, वहाँ जा खड़ा हुआ।

"...गाड़ी छूट जाती तो छूट जाती—" योगेश बाबू के शब्द उसके कानों में पड़े, और उसका कुतूहल बढ़ गया।

धीरे-धीरे पूरी बात साफ़ हुई। छात्रावास का एक विद्यार्थी छुट्टी पर कहीं बाहर जाकर लौटा था, और योगेश बाबू का लक्ष्य वही था। जब वह छुट्टी पर जा रहा था तब उन्होंने उसे बगल में अपना छोटा-सा बिस्तर दबाये दौड़ते हुए सड़क पर जाते देखा था, और अब उसके लौटने पर उन्होंने जानना चाहा, कि ठीक वक्त पर वह स्टेशन के लिए रवाना क्यों नहीं हुआ था, दौड़ने की क्यों ज़रूरत पड़ी ?

बड़ा अजीब सवाल था शंकर की दृष्टि में, और शायद बाकी छात्रों की दृष्टि में भी।

"दौड़ता नहीं जाता तो...गाड़ी जो छूट जाती—" सीधा-सादा जवाब था, लेकिन योगेश बाबू के लिए वह वाजिब जवाब था ही नहीं। गाड़ी छूट जाती तो छूट जाती—उन्होंने भी उतने ही स्वाभाविक लहजे में कह डाला, जिससे सारी ही श्रोता मंडली अचंभे में पड़ गयी।

फिर, और भी कितनी ही अजीब-अजीब बातें कहने लग गये योगेश बाबू : सारे जीवन में ही व्यवस्था और अनुशासन रखने की बात, सभी काम समझ-बूझकर और ठीक समय पर करने की बात; खाना भी खाओ तो एक-एक कौर देखकर और हाथ में उस कौर को उठाने के बाद, मुँह में डालने, चबाने, और

गले से उतारने तक की खाने की पूरी प्रक्रिया पर ध्यान रखने की वात; जल्द-बाजी में कुछ भी न करने, और जो करना है उसका शुरू से आखीर तक पूरा हिसाव सामने रख कर ही काम में हाथ डालने की वात।...सव-कुछ वड़ा ही उलझन-भरा लगा था शंकर को, पर साथ ही वहुत नया और चौंकाने वाला भी : गाड़ी छूट जाती तो कोई वात नहीं ?...आगे के लिए इससे अधिक सावधानी आती, अपनी जिस ग़लती से देर होती उसका फल मिलने पर भविष्य में उस तरह की ग़लती से वचने पर ध्यान रहता।...आश्चर्य !

मुशकिल से दो साल काशी विद्यापीठ में रह पाए थे योगेश वावू, कि संन्यास लेकर हिमालय चले गये। किन्तु उतने थोड़े समय में ही वह इतने लोकप्रिय हो उठे थे कि उनके उस अद्भुत निर्णय से पूरे विद्यापीठ में हलचल मच गई थी। उनके विदा होने से पहले, हफ़्तों तक, छात्रों के वीच गरमागरम वहस चली थी उनके संन्यास को लेकर, और शंकर उन छात्रों में था जो उनके इस निश्चय के घोर विरोधी थे। यों भी तव तक वह नास्तिक हो चुका था और साधु संन्यासियों के प्रति उसकी कोई आस्था नहीं रह गयी थी; फिर, इतना विद्वान और विचारवान होकर भी जो व्यक्ति अपनी अल्प-वयस्क पत्नी को अपने जीवित रहते ही विधवा वना कर चला जा रहा था उसके लिए तो उसके हृदय में क्षोभ ही क्षोभ उमड़ पड़ा था, और उनकी विदाई के अवसर पर उनके सम्मान में जो भी कुछ किया गया था उससे उसने अपने को पूरी तरह अलग रखा था।

वाद को वही योगेश वावू वंगाल के वर्दवान ज़िले में अपने गुरु निरालम्व स्वामी के देहत्याग के वाद उनके आश्रम में चले गये; काशी विद्यापीठ में समय समय पर उनके वारे में जो वातें उसे सुनने को मिलती रहीं उनसे उसकी यही धारणा वनती आयी थी कि उनके गुरु वहुत वड़ी विरासत वाली कोई गद्दी उनके लिए छोड़ गये हैं जहाँ उन लोगों के वही योगेश वावू अव ठाठ से यह महन्थी कर रहे हैं। लेकिन पहले-पहल जव वह खुद उस आश्रम में पहुँचा तव यह आविष्कार कर उसे कितनी वड़ी स्वस्ति मिली कि न तो कोई महन्थी थी वहाँ, न कोई वैसी 'गद्दी' ही, और न शिष्यों और 'चेलों' का जमघट, जो महन्थी की किसी परिकल्पना का अनिवार्य अंग माना जाता है। वलिक तभी पहले-पहल उसे आभास मिला कि स्वामीजी का उस तरह का कोई शिष्य या चेला है ही नहीं; प्राचीन परम्परा वाली 'दीक्षा' भी वह शायद किसी को नहीं देते। उस वार जव शंकर उस आश्रम में पहुँचा था—पहलेपहल—तव केवल एक नौकर रेणु उनके पास था, और वही उनकी सेवा और आश्रम की देखरेख करता था। छोटी-सी एक नदी के किनारे थोड़ी सी ज़मीन थी जिसकी कोई चहारदीवारी तक नहीं थी। कुछ वड़े-छोटे पेड़ों के वीच मिट्टी और फूस की तीन कच्ची झोंपड़ियाँ थीं : एक में स्वामी-जी रहते थे, एक में शंकर को जगह दी गयी थी, और सवसे छोटी झोंपड़ी में

रसोई होती थी। रहन-सहन भी बहुत ही मामूली था : न कोई ठाठ-बाट, न आडम्बर। धान के कुछ खेत थे, जिनकी पैदावार के बल ही 'आश्रम' या स्वामीजी का गुज़ारा होता था।

किन्तु जिस एक बात के कारण योगेश बाबू पर उसका सबसे अधिक क्षोभ था—अपनी अल्पवयस्का पत्नी का परित्याग कर संन्यास लेने के सम्बन्ध में—वह धीरे-धीरे एक विस्मय-विमूढ़ श्रद्धा में तभी से बदलने लग गया था जब संन्यास के डेढ़-दो वर्ष बाद ही वह हिमालय से वापस लौटने पर फिर 'सपरिवार' काशी विद्यापीठ में आ गये थे। कम बड़े साहस की बात नहीं लगी थी उसे यह; हालांकि अपनी 'पत्नी' के साथ उनका वह सम्बन्ध फिर भी स्थापित नहीं हुआ था।...और यह जानकर भी उसे किसी सीमा तक सन्तोष ही हुआ था कि संन्यास लेने के पहले अपनी पत्नी को एक सन्तान भी वह दे गये थे, जो उनके गृहत्याग के कुछ काल बाद उत्पन्न हुई—एक कन्या।

काशी विद्यापीठ अवश्य उन्हें कुछ वर्ष बाद फिर छोड़ देना पड़ा जब अपने गुरु के देहावसान पर वह उनके आश्रम में आकर रहने लगे, लेकिन अपने 'परिवार' के साथ उनका सम्बन्ध फिर भी पूरी तरह विच्छिन्न नहीं हुआ।···पहली बार जब शंकर इस आश्रम में आया था तब बारह-तेरह साल की उनकी उस कन्या चिन्मयी को भी उन्हीं के पास देख उसे जितना अचरज हुआ था उससे कहीं अधिक आनन्द। कलकत्ते के अपने स्कूल की गरमियों की छुट्टियों में वह उन्हीं के पास आयी हुई थी, और नियमित रूप से 'स्वामीजी' उसे पढ़ाया करते थे।

सच पूछा जाय तो अपने विवाह के बाद, बल्कि सुशीला के कारण ही, शंकर स्वामीजी के उस 'परिवार' के भी नज़दीक आ पाया था—खासतौर से चिन्मयी की ही बदौलत।···सबसे ज्यादा सुशीला उस चिन्मयी के प्रति ही आकृष्ट हुई थी—जब विवाह के अगले दिन शंकर स्वामीजी का आशीर्वाद लेने के लिए उसे बरानगर ले गया था। और विवाह के बाद उस बार जब स्वामीजी दो-तीन हफ़्ते पटने में उन लोगों के पास ठहरे थे, तब शंकर जहाँ उनसे अपनी उस विकट समस्या का समाधान पाने में लगा रहा था, सुशीला चौदह-पन्द्रह साल की उस सरल, मोहक और स्वच्छन्द किशोरी को लेकर ही रमी रही थी। शंकर तब तक बँगला बहुत कम बोल पाता था, लेकिन कलकत्ते में ही लालित-पालित सुशीला बिलकुल बंगालियों जैसी बँगला बोल सकती थी, और हिन्दी न समझने वाली चिन्मयी भी दिन-रात सुशीला के ही पीछे-पीछे लगी रही थी।···और जब अगले साल ही चिन्मयी का विवाह हुआ था और उसका विशेष आग्रह देख सुशीला और शंकर भी उसमें शामिल हुए थे तब से तो स्वामीजी के उस प्राक्तन 'परिवार' के अनायास ही एक अंग बन गये थे सुशीला-शंकर भी।

स्वामीजी उस मकान में न ठहर अपने बाल्यकालीन बंधु विजयवसन्त बसाक की
निकटस्थ हवेली में ठहरे थे।

...स्वामीजी का निरासक्त सन्यासी रूप जितना शंकर को अपने प्रसंग में
खलता रहा था उससे कहीं अधिक उनके उस प्राक्तन परिवार के प्रसंग में, और
जब-जब उसने उन्हें चिन्मयी के प्रति सामान्य सा भी पितृ-सुलभ कोई व्यवहार
करते देखा था वह मानो स्वयं कृतकृत्य हो उठा था। स्वभावतः उसे भारी खुशी
हुई थी जब उसने देखा कि विवाह वाले मकान में न ठहरकर भी वह विवाह-
आयोजन का पूरा ही सूत्र-संचालन उस दूसरी हवेली से करते रहे थे, और उस
विवाह के पूरे धूमधाम से किये जाने को चिन्मयी की माँ की साध को पूरा करने
में उनकी तरफ से कुछ भी उठा नहीं रखा गया था। (बल्कि शंकर को यह देख
उलटे आश्चर्य हुआ था कि स्वामीजी के पूर्वकालीन बंधुओं और वर्तमान भक्तों
में वहाँ से इतने धनी लोग निकल आये जिन्होंने इस कार्य में दिल खोल कर
सहायता की।) फिर भी एक हलकी टीस-सी उसके दिल में बराबर बनी ही रही
थी कि विवाह-अनुष्ठान से उन्होंने अपने को अलग रखा था, और कन्या-दान
उन्होंने नहीं उनके बड़े भाई, चिन्मयी के 'जेठा मशाइ' ने किया था।

'जेठा मशाइ' को तभी पहले-पहल उसने देखा था, स्वामी जी के उन बड़े
भाई को, जिनके बारे में वह सुन चुका था कि छोटे भाई योगेश्वर ने उन्हीं के
हठ के कारण, उनके वचन को न टाल सकने के ही फलस्वरूप, आजन्म ब्रह्मचारी
रहने का अपना संकल्प त्याग एक तरह से विवश होकर ही विवाह किया था।

सुशीला के साथ-साथ जब शंकर हावड़ा स्टेशन से बरानगर पहुँचा था, तो
उसके आँगन में कदम रखते ही, कई लोगों से घिरे स्वामीजी को कुछ ही दूर
पर श्वेत परिधान में खड़े देख, जितना वह चकित हो उठा था उतना ही
आनन्दित भी।

तेजी के साथ आगे बढ़कर, उस भीड़भाड़ के बीच भी, उसने नीचे तक झुक-
कर उनका चरण स्पर्श किया।

उसके सिर पर जिस ढंग से हाथ का स्पर्श हुआ वह कुछ नया-सा लगा,
और जब शंकर ने सामने सीधे खड़े होकर उनके चेहरे की ओर ताका, तो वह न
सिर्फ कुछ अजीब तरीके से बदला-बदला-सा लगा, बल्कि उस पर आ पड़ी
उनकी दृष्टि में न कोई सहज स्निग्धता थी, और न सदा की वह अकृत्रिम करुणा
ही।

शंकर धीरे से कुछ पीछे हट गया।

काफी देर बाद ही उसे यह पता लग पाया कि वह स्वामी जी नहीं उनके
बड़े भाई थे—चिन्मयी के 'जेठा मशाइ'।

कितनी ज्यादा मिलती-जुलती थीं दोनों भाइयों की शक्लें! बाद को कई

···वड़ी भीड़भाड़ थी विवाह में शामिल होने के लिए 12, जोगेन्द्र वसाक रोड वाले उस तिमंज़िले मकान में ठहरे लोगों की। और सुशीला उस घर में इस तरह खो गयी थी कि ज़रूरत पड़ने पर उसे ढूँढ़ निकालना भी शंकर के लिए अक्सर मुश्किल हो जाता था। कभी वह तव चिन्मयी को जाकर ही पकड़ता था जो हँसती हुई कहीं से खोज-खाजकर सुशीला को उसके हवाले करके दूसरे ही क्षण वहाँ से भाग जाती थी। पर कभी-कभी, किसी को भी न पा जव वह इधर उधर भटकता सा फिरता था कुछ देर तक और चिन्मयी की माँ की नज़र उस पर पड़ जाती, तो मुसकराती हुई वही पूछ उठती थीं : "काके खुँजछो शंकर··· सुशीलाके ?" (किसे खोज रहे हो शंकर···सुशीला को ?) और शंकर झेंप जाता था।

वात यह थी कि सुशीला गर्भवती थी, और ऐसी हालत में विवाह की उस भीड़भाड़ में सुशीला को शंकर लाना नहीं चाहता था : पता नहीं, भीड़-भाड़ वाले उस घर में सुशीला को कोई नुकसान पहुँच जाये।···लेकिन स्वामी जी ने उसकी इस आपत्ति को निर्मूल ठहराया था और लिखा था कि विवाह में सुशीला के न आ पाने की अगर सिर्फ़ यही वजह हो तो उसे फ़िक्र नहीं करनी चाहिए··· उसकी जैसी स्थिति है उसका वहाँ सभी लोग ख़याल रखकर चलेंगे···

मगर वहाँ पहुँच जाने के वाद भी शंकर को वरावर उसके वारे में फ़िक्र वनी ही रहती थी— अगर और कुछ नहीं तो इसी वात की, कि क्या उसे कुछ दूध-वूध मिल पा रहा है, जिसे लेडी डाक्टर ने अनिवार्य रूप से आवश्यक वताया था उसके लिए !

आख़िर एक दिन स्वामीजी के सामने जव वह अपनी यह चिन्ता प्रकट कर वैठा तव उन्होंने जिस तरह उसे झिड़क दिया था उससे ही शंकर को पहले-पहल इस वात का भान हो पाया था कि स्वामीजी के लिए जैसी चिन्मयी है वैसी ही सुशीला, या वहाँ एकत्र और सभी लड़के-लड़कियाँ।···तभी उन्होंने वताया कि अकेली सुशीला ही वैसी हालत में उस विवाह में शामिल नहीं हुई है; और यह कि जव वह यहाँ आया है तो सुशीला की फ़िक्र उसे दूसरों पर छोड़ देनी चाहिए, अर्थात् स्वामीजी पर, जिनकी निगाह हर किसी पर है—उस भीड़भाड़ के वीच भी···

स्वामीजी को उनके 'पारिवारिक' परिवेश में इतने निकट से देखने का शंकर के लिए वह पहला अवसर था। उनका यह परिवार 12, जोगेन्द्र वसाक रोड वाले जिस तिमंजिले मकान में था वहाँ चिन्मयी और उसकी माँ स्थायी रूप से स्वामीजी के उन्हीं वाल्यकालीन वंधु परेश वावू के संरक्षण में रहती थीं जो, उसी इमारत की पहली मंज़िल में चलने वाले, प्रसाधन सामग्री के एक कार-ख़ाने को भी चलाते थे। किन्तु विवाह के इस अवसर पर वरानगर आकर भी

थे, बल्कि अपने बंधु की परित्यक्त गृहस्थी का सारा दायित्व ले लिया था, अपने युग-युग की कभी परवा न कर उन्हीं के युग-युग के साथी बने रहे थे...

शंकर भी इसी बार उन परेश बाबू के कुछ ज्यादा नज़दीक आ पाया था; वह देखता था कि जहाँ स्वामीजी अपने एक-दूसरे बाल्य-बंधु विजय बसाक की तिरटम्प हवेली में बैठे-बैठे विवाह समारोह का सूत्र-संचालन करते रहे थे, और 12, जोगिन्द्र बसाक रोड वाले मकान में उनके प्राक्तन बड़े भाई केवल औपचारिक रूप में पिता का स्थान ग्रहण किये हुए थे, वहाँ सारा काम काज, सारी दौड़-धूप परेश बाबू ही कर रहे थे, और शंकर को आन्तरिक प्रसन्नता हुई थी कुछ छोटे-मोटे कामों में उनका हाथ बंटाते।

सब-कुछ वही कर रहे थे, लेकिन इस तरह, जैसे वह कोई अनुचर मात्र हों : राम के लक्ष्मण भी नहीं, हनुमान...

चिन्मयी के विवाह के सालसवा साल बाद जब एक हफ्ते के लिए शंकर स्वामी जी के पास गया था तब वह राँची में थे, और चिन्मयी की माँ और परेश बाबू भी—जिन्हें तब शंकर भी चिन्मयी की ही देखा-देखी 'काका' कहने लगा था—वहीं थे। और जिस रोज़ शाम को चिन्मयी की माँ चिन्मयी के घर चली जाती थीं—उसके ससुर वहाँ थे—उस रोज़ स्वामीजी और काका के लिए, उनके ठीक वक्त पर, गरम-गरम रोटी बनाकर उन्हें खिला देने का काम शंकर को सौंप जाती थीं। काका कुछ बीमार थे, और उनके लिए मैदे की रोटी बनानी पड़ती थी जिन्हें बेलने में शंकर को भी काफ़ी मुश्किल होती थी, लेकिन जितनी खुशी उसे स्वामीजी के लिए रोटियाँ बनाने में होती थी, शायद उससे भी ज्यादा काका के लिए बनाने में, और अपनी माँ और बड़े मामा से प्राप्त अपनी पूरी पाककला का प्रयोग कर वह मैदे की आसानी से न फैलने वाली रोटियों को भी बेलते वक्त ज्यादा से ज्यादा फैलाता और उन्हें सेंकते वक्त पूरा का पूरा फुलाता था। और जब काका के मुँह से पहली बार उसे अपनी रोटियों के लिए प्रशंसा के शब्द सुनने को मिले थे तो वह फूला नहीं समाया था...

"जानते हो—" चिन्मयी के विवाह के बाद ही कभी सुशीला एक बार उससे कह उठी थी—काका के सम्बन्ध में ही कोई चर्चा छिड़ जाने पर—"सतीनाथ ने काका के पाँव छूकर उन्हें प्रणाम नहीं करना चाहा था...मगर चिन्मयी जब अड़ गयी तो उसे भी आख़िर प्रणाम करना ही पड़ गया था।"

सतीनाथ चिन्मयी के पति का नाम था, और काका जिस जाति के थे उसे देखते हुए किसी ब्राह्मण के लिए उन्हें पाँव छूकर प्रणाम करना परम्परा के अनुसार अकल्पनीय ही था।

काका, चिन्मयी, और सतीनाथ—तीनों के ही लिए शंकर का दिल भर आया था वह घटना सुनकर।

चार

"सुपील तो तीन दिन से आया नहीं...तुमको ही इतना सारा काम करना पड़ता है। अब तो तुम्हें...यहाँ रहने में कठिनाई हो रही होगी न?"

दोपहर के खाने के बाद, जाड़े की गुलाबी धूप में चहलकदमी करते वक्त, एक दिन स्वामीजी शंकर से कह उठे—जब बच्चे की मृत्यु के बाद आश्रम आने पर उस बार उसका वह काम शुरू ही हुआ था, और उसके बाद अतीत का वह चित्र थोड़ा-सा ही उभरकर सामने आ पाया था।

सन्थालों का वार्षिक उत्सव चला था पिछले कुछ दिनों से—धान की फसल कटने के बाद का उनका उत्सव, जिसमें सभी मर्द शराब पी-पीकर मतवाले हो जाते हैं और कुछ दिन के लिए बिलकुल ही बेकाम।

कई वर्षों से इसी सन्थाल ग्राम का एक नौजवान सुपील स्वामीजी की सेवा में आ गया था रेणु के स्थान पर, और गरमी-बरसात में जब स्वामीजी बाहर कहीं जाते थे तब भी साथ जाता था।...और, इन कुछ वर्षों के बीच, वह बिलकुल ही बदल गया था...यहाँ तक कि अपनी बिरादरी के इन वार्षिक उत्सवों में भी उसने कभी शराब नहीं पी थी।

मगर इस बार वह अपने को नहीं रोक पाया...और तीन दिन ग़ायब रहने के बाद फिर इसलिए नहीं आया कि अब स्वामीजी के पास क्या मुंह लेकर जाये।

...पिछले तीन दिनों से शंकर ही सुपील वाला सारा काम करता आ रहा था...हालांकि स्वामीजी भी बीच-बीच में आकर उसकी मदद करने लग जाते थे, ख़ासतौर से रोटियाँ बनाते वक़्त...

"अब सुपील शायद नहीं रहेगा—" स्वामीजी फिर बोले, "यह सारा काम तुम कब तक करोगे?...अच्छा है, कुछ दिन कहीं बाहर रह आओ...जब यहाँ स्थिति अनुकूल हो, तब आ जाना।"

शंकर असमंजस में पड़ गया।

"मगर आप?...तब तो आपको ही सब कुछ करना पड़ेगा न?" अन्त में उसने कहा।

"उसमें क्या बात है?" स्वामीजी ने इस पहलू को कुछ भी महत्त्व न देते हुए जवाब दिया। "स्वामीजी तो अपना काम कर ही लेते हैं, जब कोई भी नहीं होता।...जब जैसा...तब वैसा!"

"लेकिन—" शंकर फिर हिचकिचाया, "मेरा जो काम शुरू हुआ है...वह

तो फिर रह ही जाएगा—न जाने कब तक के लिए ?"

स्वामीजी कुछ क्षण चुप रहे, फिर बोले। "देख लो...जिसमें तुम्हें सुविधा जान पड़े .."

"तो—मैं यही मानकर क्यों न रहूँ स्वामी जी—" आखिर शंकर के मुँह से निकल पड़ा, "कि मेरा जो काम शुरू हुआ है...उसके बदले में...मानो उसी की कीमत चुकाने के लिए...यह सारा काम भी मुझे करना है ?"

उसका दिल धड़क-सा उठा, कि कोई बहुत अनुचित बात तो नहीं कह बैठा वह...सौदे की-सी कोई बात ?

वह विस्मय-विमूढ़ रह गया जब स्वामीजी ने, चलते हुए अपने कदम रोक, उसी दम उसे खींच अपनी छाती से लगा लिया, और बोल उठे :

"यह बात ठीक है !...मूल्य दे रहे हो...यह समझकर, आनन्दपूर्वक, यह सारा बोझ सँभाल सको—तो इससे बड़ी बात क्या होगी ?...शाबाश !...तब तुम रहो...सँभालो स्वामीजी का भी यह बोझ—"

और शंकर कृतार्थ हो गया !...क्या बापू के सामने कभी वह कह सकता था इस तरह की सौदे की-सी बात ?

मगर दो दिन बाद तो उस पर और भी सारा काम आ पड़ा—स्वामीजी की व्यक्तिगत सेवा और रसोई का सुपोल वाला काम ही नहीं, बल्कि उसकी स्त्री पाँकू वाला बरतन वगैरः माँजने का काम भी—जब उसे भी एक विशेष कारण-वश लम्बी छुट्टी लेनी पड़ गयी।...आश्रम-भूमि में सिर्फ बाहर-बाहर झाड़ू-बुहारी वाला काम ही एक अन्य सन्थाल स्त्री कर जाती थी अब; बाकी सारा काम ही शंकर पर आ पड़ा था जिसमें, उसके न चाहने पर भी, बीच-बीच में स्वयं स्वामीजी हाथ बँटाने आ पहुँचते थे।

बापू और स्वामीजी के बीच प्रायः सभी बातों में जमीन-आसमान का फ़र्क पाया था शंकर ने; लेकिन एक बात में दोनों ही बहुत-कुछ एक-जैसे थे : घड़ी की सुई के हिसाब से बँधी हुई दिनचर्या। स्वामीजी भी सवेरे चार बजे उठते और रात को नौ बजे सोते थे, और बाकी सारे काम भी ठीक बँधे वक्त पर होते थे।

शंकर को दम मारने की भी फुर्सत न मिल पाती सवेरे से लेकर रात तक। जिन्दगी में क्या कभी भी पहले इतना काम किया था उसने ?...और—इतनी खुशी-खुशी ?...उसे बेगार न समझ, बहुत-कुछ अपना ही काम मान ?...कितनी बार अपने माताजी की तस्वीर उसके दिमाग में घूम गयी थी इस बीच, जिनके डर से वह थरथर काँपता रहता था बड़े हो जाने पर भी, और जिनका हुक्म बजा लाने के लिए जैसे हाथ बाँधे खड़ा रहता था। उनकी मार का डर, उनकी डाँट का डर किस तरह उस पर हर दम हावी रहता था तब...और उसे याद है कि एक बार, जब उतना बड़ा नहीं हुआ था, उनकी डाँट से खड़े-खड़े ही उसका पेशाब

निकल गया था आप-से-आप...

डर स्वामीजी से भी था...पर स्वामीजी उसे अब बताते चल रहे थे कि वह उनमें अपने शैशव के...और बाद के भी...नानाजी को ही देख लेता था—अतीत के उस बंधन, उस ग्रन्थि के कारण।...स्वामीजी उसके वह नानाजी नहीं हैं, उनसे डरने का कोई कारण नहीं है—बार-बार वह उसे दिखाते चल रहे थे...और उनकी 'सेवा' की अप्रियता शंकर के लिए धीरे-धीरे हलकी पड़ती जा रही थी...

सुबह चार बजे स्वामीजी के साथ ही साथ वह भी उठ जाता और, सुपौल की ही तरह, रात को भरकर रखे गए 'थर्मोफ्लास्क' में से निकालकर उन्हें हाथ-मुँह धोने के लिए गरम पानी देता; रात को बिस्तर पर उनके लेट जाने के बाद, उसी की तरह, एक तौलिये को हिला-हिलाकर, जल्दी-जल्दी मच्छरों को उड़ा, मसहरी गिरा देता, और फिर, उसके किनारों को चारों ओर से बिस्तर के नीचे दबा देता।...स्वामीजी ने पहले दिन ही इस तरह के कामों को उसके लिए 'अनावश्यक' बताया था : 'इतना तो स्वामीजी ख़ुद ही आसानी से कर ले सकते हैं!' मगर शंकर उन सभी कामों को करना चाहता था जिन्हें पहले कोई दूसरा करता रहा हो—जब कि स्वामीजी उसके लिए इतना कुछ कर रहे हैं।

"कैसा लग रहा है...इतना सारा काम करना···?" कभी-कभी स्वामीजी पूछ लेते। "अपना काम कर रहे हो...या बेगार मालूम हो रही है ?"

शंकर शुरू-शुरू में दो-एक बार थोड़ा घबड़ाया था स्वामीजी के इस तरह के सीधे सवाल से।...हमेशा क्या उसे एक-जैसा प्रिय लग पाता था यह सब करना ?

"बहुत थक जाते हो न ?" एक बार स्वामीजी ने पूछा, जब तक कि बरतनों को साफ़ करने और कुटियों के अन्दर झाड़ू-बुहारी करने की दूसरी व्यवस्था नहीं हो पायी थी...और सुपौल वाला भी सारा काम तो था ही...

"थक तो जाता हूँ स्वामीजी—" कुछ क्षण चुप रहने के बाद वह बोला, "...लेकिन बरतनों को साफ़ करना, यों, यहाँ काफ़ी आसान है। सारे बरतन नीचे नदी पर ले जाता हूँ पांकू की ही तरह...और वहाँ चूल्हे की राख और नदी की बालू से माँजकर नदी के पानी में धो-धोकर साफ़ कर डालने में कुछ भी मुश्किल नहीं होती।...कभी कभी तो बड़ा अच्छा लगता है..."

"बस, यही बड़ी बात है," स्वामीजी के स्वर में जैसे एक नयी ही स्निग्धता लगी शंकर को, "अच्छा लग सकना। इसीको पकड़ लो।...जो अपना होता है वही अच्छा लग सकता है। जो पराया होता है, वही अच्छा नहीं लगता।...पराया काम बेगार का है...बेगार नहीं करना।...जो बेगार लगे उसे छोड़ दो। अगर अपना लाभ दिखाई देता हो तभी करो...तब तो अपने लिए ही कर रहे

हो न ?"

"जी—" शंकर के दिल से एक गहरी साँस निकली, मानो अन्दर के किसी बहुत बड़े बोझ को उसके साथ ही उसने बाहर निकाल फेंका हो।

"वही आ जाता है...नानाजी वाला भाव," इसी तरह के एक प्रसंग में एक बार स्वामीजी बोले। "नानाजी ने जबर्दस्ती कराया था, 'सेवा' को जबर्दस्ती लादा था।...इसीलिए 'सेवा' अप्रिय बन गयी, 'बेगार' बन गयी।"

कुछ देर सोच में पड़े रहने के बाद वह बोला : "मगर स्वामीजी, सेवा-व्रत के लिये फिर इतना आकर्षण क्यों था ?"

"आकर्षण था ?...या अति-आकर्षण अर्थात् विकर्षण ?" स्वामीजी ने अपनी आँखों की सीधी निगाह शंकर की आँखों में गड़ा दी। फिर, और भी स्पष्ट करते हुए उसे बता चले, कि नानाजी का डर अचेतन में इतना जमकर बैठा हुआ था कि सेवा द्वारा...सेवा-व्रत लेकर ही उससे छुटकारा पाते थे।...नानाजी का डर...सज़ा का डर। आकर्षण और विकर्षण एक दूसरे से सम्बद्ध हैं...दोनों एक साथ हैं...इसीलिए तो भोग-भोग नहीं बन पाता, उससे तृप्ति नहीं हो पाती...हमेशा ही अतृप्ति बनी रहती है..."

मगर, तब क्या ठीक-ठीक समझ पाया था शंकर यह सब ? फिर भी, बहुत-कुछ नया और आकर्षक लगा था इन बातों में।.. फिर, स्वामीजी भी ज्यादा दूर तक नहीं बढ़े थे इस स्पष्टीकरण की दिशा में; इतना संकेत देकर ही बीच-बीच में वह रुक जाते थे—कि अचेतन की ग्रन्थियाँ जैसे-जैसे खुलती जायेंगी वैसे वैसे ये सारी उलझनें आप-से-आप साफ होती जायेंगी : सारी गड़बड़ी वस्तुतः इसलिए है कि अचेतन में निरुद्ध पड़े भाव बुद्धि को आच्छादित कर देते हैं; जब तक वह परदा नहीं उठता तब तक बुद्धि उन निरुद्ध, निगृहीत, इसलिए विकृत, भावों की दासी बनी रहती है—सरल से सरल सत्य को भी देखने नहीं देती, उसे विकृत रूप दे डालती है...

सेवा व्रत, निष्काम कर्म, अनासक्ति योग—गाधीजी की जिन मान्यताओं के, साथ बरसों से चिपटा रहा था शंकर—केवल बापू के प्रति अनन्य निष्ठा के कारण ही नहीं, बल्कि अपने भी बद्धमूल संस्कारों और चिन्तन के फलस्वरूप—उनमें से कोई भी तो नहीं ठहर पायी थी स्वामीजी द्वारा दी गयी तीक्ष्ण दृष्टि के सामने, उनकी अकाट्य युक्तियों के आगे, जब शंकर पिछली बार आश्रम में आकर रहा था पाँच-छः साल पहले—विवाह करने से पूर्व।

किसकी सेवा का व्रत ? किसलिए ? क्या ज़रूरत पड़ गयी सेवा-व्रत लेने की ?...जिसे अपना मानते हो, जिसके लिए दिल में दर्द है, उसकी सेवा के लिए

क्या कोई व्रत लेना पड़ता है ?...जिसे अपने से अलग मानते हो, जिसके लिए आप-से-आप दिल में दर्द नहीं पैदा होता, उसकी सेवा क्या कोई कर सकता है ?...जो स्वयं अतृप्त है, जिसे स्वयं बाहर से चाहिए, जो ख़ुद सेवा चाहता है, वह दूसरों की सेवा कर सकेगा ?...

किसी आन्दोलन में भाग लेने वाले किसी वर्ग या समूह के पीछे क्या-क्या प्रेरणाएँ किस तरह काम कर सकती हैं इस ओर थोड़ा-सा ही इंगित कर तब स्वामी जी ने उस चर्चा को व्यक्तिगत मोड़ देते हुए उसे दिखाया था कि जो लोग इस तरह के आन्दोलनों में केवल क्षणिक भावावेश में अथवा किसी सामूहिक ज्वार में पड़कर ही नहीं शामिल होते बल्कि, किसी हद तक, शंकर की तरह, अथवा उसके द्वारा उदाहरणस्वरूप रखे गये उसके 1930 के साथी खड्गबहादुर सिंह की तरह, अपने प्राणों की आहुति देने के लिए व्याकुल हो उठते हैं उनके पीछे एक प्रकार की आन्तरिक विवशता रहा करती है, कोई अज्ञात बंधन, अचेतन में दबी पड़ी किसी प्रचण्ड शक्ति की प्रेरणा...जो बड़ी-बड़ी बातों के नाम पर, दरअसल अपने को दण्ड देना चाहती है, नष्ट कर डालना चाहती है...

"अपनी ही बात बताओ—" तब स्वामीजी उससे पूछ उठे थे। "तुमने तो मार खायी, जेल की यातनाएँ भोगीं...गोलियाँ खाने को भी तैयार थे।...मगर क्या भाव था दिल के अन्दर ?...जिस देशभक्ति के नाम पर यह सब कर रहे थे उस देश का कोई रूप था तुम्हारे सामने ?...कोई अमूर्त्त आदर्शवाद था, या ठोस दर्द—सचमुच ही दुखी, पीड़ित लोगों के लिए इस देश के ?...लाखों लोगों को आधा पेट भी खाना नहीं मिलता इस अभागे देश में...मगर एक बार भी उनका ख़याल आता है, ख़ुद खाते वक़्त ?...इस ग्राम में ही जाकर देखो, कितने लोग सिर्फ़ नमक से भात खाकर रहते हैं...सो भी पेट भर कर नहीं मिलता।...उनकी तरफ़ ध्यान गया कभी ?..."

तब क्या दांडी-यात्री का भी शंकर का सारा गर्व बिलकुल निराधार था ?...उसने तो सचमुच कभी भी देशवासियों के लिए कोई दर्द इस तरह नहीं पाया अपने दिल में ! वह तो सिर्फ़ बलिदान करने गया था...सचमुच ही एक अमूर्त्त आदर्श के लिए।

इसी तरह—गीता का माना जाने वाला निष्काम कर्म का सिद्धान्त, बापू का अनासक्ति योग !...किस तरह धज्जियाँ उड़ा दी थीं स्वामीजी ने।...बिना इच्छा के, बिना कामना के कर्म हो नहीं सकता उन्होंने कहा था। इच्छा या भाव पहले है, क्रिया बाद को।...और, जब इच्छा या कामना से ही कर्म होता है तो उस इच्छा या कामना की पूर्ति के लिए ही तो ?...तब फिर, फल की कामना न करते हुए कर्म करने का प्रयोजन ?...

किन्तु, सब इच्छाएँ तो पूरी नहीं हो सकतीं स्वामीजी !—शंकर ने प्रति-

बाद किया था। कर्म का इच्छित परिणाम तो हमारे हाथ में नहीं है, इसलिए उससे होने वाली निराशा, तज्जनित उद्वेग से बचने का फिर क्या उपाय है ?

यह देखना, कि क्या गलती हुई, जिससे इच्छा पूरी नहीं हो सकी—स्वामीजी ने सिखाया। इच्छा जब है, तो तृप्त हुए बिना वह नष्ट नहीं हो सकती। या तो वह तृप्त होगी, या तुम्हें नष्ट करेगी, तुमसे बदला लेगी।...तुम उसे हमेशा के लिए दबाकर नहीं रख सकते। इच्छा अपने अन्दर है, उसकी पूर्ति बाहर पर निर्भर है।...इच्छा क्यों उत्पन्न हुई, उसका रूप क्या है, वह कैसे पूरी की जा सकती है, यह सब देख कर; फिर बाहर की परिस्थिति का अध्ययन कर, जहाँ से इच्छा पूरी हो सकती है उसे जान और समझकर, यथा-समय, यथा-शक्ति जब कर्म करोगे तब उसका तदनुरूप फल पाओगे...उसमें उस सीमा तक तृप्ति होगी। ...फिर भी जो कमी रह जायगी उसके लिए फिर प्रयत्न करोगे, जब तक वह इच्छा तृप्त नहीं होती...

फिर, इच्छा को, वासना को पाप मानकर पहले से ही उसके विपरीत भाव भी मन में लिए रहे, तो उसकी पूर्ति के लिये जो कर्म करोगे, वह अधूरा ही रहेगा—उसके पीछे भय बना रहेगा, मिलकर भी वह वस्तु मिलेगी नहीं, भोग अपूर्ण रहेगा, इसलिए तृप्त नहीं कर पायेगा...वह भोग नहीं, उपभोग होगा... तृप्ति भोग से होती है, उपभोग से नहीं—

यह सब-कुछ ही तेज़ी से बदलने लग गया था शंकर की जिन्दगी में, उसके बाद में ! बापू छूट गये थे, वे आदर्श छूट गये थे, वे आचार-विचार छूट गये थे... सारा रहन-सहन ही बदल गया था। महीना डेढ़ महीना स्वामीजी के पास रह कर जब एक बार फिर पटने लौटा था वह—विद्याभूषण की साप्ताहिक 'जागृति' में, अपने पुराने काम पर, उसे छोड़ने के कोई सात-आठ महीने बाद—तब वह पहले का शंकर नहीं था, और उसके सभी मित्र आश्चर्य में पड़ गये थे।...सिर के एक-समान बारीक कटे बालों की जगह अब उसके बाल अंग्रेज़ी ढंग से कटे और काढ़े-सँवारे हुए थे—खुशबूदार तेल के साथ, गांधीजी के आश्रम में जाने से पूर्व, टाल्सटाय के विचारों से प्रभावित होकर, आठ-नौ साल पहले उसने कुरता-पाजामा-टोपी की जो अपनी गांधीवादी 'राष्ट्रीय' पोशाक भी उतार फेंकी थी और उसकी जगह, नीचे घुटनों तक की छोटी-सी धोती या लुंगी, और सिर्फ़ गजी के ऊपर एक छोटा-सा दुपट्टा ओढ़ रखा था, उसकी जगह वह फिर अपनी पुरानी पोशाक पर वापस आ चुका था, और कुछ दिन बाद तो दाढ़ी बनाते वक्त मूँछों का भी सफाया कर 'क्लीन-शेव्ड' बन बैठा था—उन दिनों की बिलकुल ही नयी फैशन के मुताबिक।

और, अपने हाथ से 'कुकर' में दलिया या खिचड़ी खुद बनाना छोड़, प्रेस के ही एक कर्मचारी को आंशिक रूप में अपना खाना बनाने के लिए रख लिया

मात्र वही क्यों उस मृगमरीचिका को शुरू से आख़ीर तक नहीं देख पाया था।

"तब तो गांधी जी भी इस 'रेशनलाइज़ेशन' के शिकार होते रहे हैं कभी-कभी—" एक बार इसी प्रसंग में वह स्वामीजी से पूछ उठा था।

स्वामीजी उस बार सिर्फ़ मुसकराकर रह गये थे।

लेकिन बाद को—त्रिपुरी कांग्रेस के अध्यक्ष के चुनाव के सिलसिले में उठ खड़े विवाद पर साप्ताहिक 'जागृति' में लिखे गये शंकर के किसी अग्रलेख को पढ़ कर जब स्वामीजी ने उस पर टिप्पणी करते हुए उसे एक पत्र लिखा था तब जाकर पहली बार वह ठीक-ठीक देख पाया था कि गांधीजी भी किस प्रकार आत्म-प्रवंचना के शिकार हो 'रेशनलाइज़ेशन' का सहारा ले सकते हैं, हालांकि शुरू में उसने स्वामीजी के मन्तव्य को स्वीकार नहीं करना चाहा था।

...शंकर कोई पन्द्रह साल का ही था, जब 1921 में गांधीजी द्वारा असहयोग आन्दोलन छेड़े जाने पर वह नवें दरजे से स्कूल की पढ़ाई छोड़ अन्य कितने ही लड़कों के साथ बाहर निकल आया था, और बड़े मामाजी के पास नानाजी की बहुत ही कड़ी चिट्ठी आने पर, जिसमें स्कूल के हेडमास्टर से माफ़ी मांग वापस लौट जाने की सख़्त हिदायत थी, उसकी भी उसने उपेक्षा ही कर दी थी। स्कूल वापस न लौटने पर, नानाजी की हिदायत के मुताबिक़, उसे घर से निकाल दिये जाने का हुक्म था; और यह बताये जाने पर वह उसी दम, बिना कुछ भी आगा-पीछा सोचे, धड़धड़ाता हुआ घर के ज़ीने पर से नीचे की सड़क के लिए उतर गया था। पर न उसके बड़े मामा ही उसके नानाजी की तरह निष्ठुर थे, और न उसकी बड़ी मामी और माँ के रहते यह संभव ही था। नतीजा यह हुआ कि तब से उसने गांधीजी का बताया जो रास्ता पकड़ा उसी पर बढ़ता चला गया लगातार। विदेशी वस्त्रों की होली जलाने के लिए उसके शहर में भी महात्मा गांधी आये थे, और उसके घर में जिस-जिसके पास जो भी विदेशी कपड़े थे सब इकट्ठे कर उसके भारी गट्ठर को अपने एक दोस्त की मदद से वह अपने नवस्थापित राष्ट्रीय स्कूल में दे आया था—जिसके बाद, गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के मुताबिक़ देश-भर में जब चरखे ही चरखे चलने लगे थे तब वह भी ख़ुद सूत कातने लगा था और उन दिनों का बना बेहद मोटा, खुरदुरा और बनौलों के टुकड़ों की वजह से जगह-जगह चुभते रहने वाला खद्दर पहनने में एक नये ही ढंग का गर्व अनुभव करने लगा था।

फिर, गांधीजी द्वारा स्थापित राष्ट्रीय विद्यालय—काशी विद्यापीठ—में कॉलिज की अपनी शिक्षा पूरी कर जब राजनीति से अधिक उसकी दिलचस्पी साहित्य में हो गयी थी, तब लखनऊ में 'स्वराज्य' पत्रिका में उप-सम्पादक के रूप में काम करते-करते एक दिन वह टालसटाय की रचनाओं की ओर आकृष्ट हो गया था, और धोती-कुरता जैसी लम्बी-चौड़ी पोशाक पहनना भी उसे देश की

भूखी-भूखी जनता के प्रति विश्वासघात करना जान पड़ा था।...भंगी-भादियों के सामने उपहासास्पद बनने की सजा को भी झेल तब उसने अपनी वह पोशाक और भी मलिन कर डाली थी।...दरिद्रनारायण की सेवा के गांधीजी के आदर्श की ओर वह दुगने-चौगुने उत्साह के साथ आगे बढ़ चला था, और अवसर पाते ही, सेवा-व्रत से गांधी जी के सत्याग्रह आश्रम में साबरमती जा पहुँचा था।

यह बात सन 1929 की है, जिसके बाद ही लाहौर कांग्रेस में पूर्ण-स्वाधीनता को कांग्रेस का लक्ष्य घोषित करने वाला प्रस्ताव पास हुआ और गांधीजी को सत्याग्रह-संग्राम चलाने के लिए सारे अधिकार सौंप दिये गये। 12 मार्च, 1930 को गांधीजी, समुद्र-तट पर नमक सत्याग्रह करने के लिए, 79 दांडी-यात्रियों की जिस ऐतिहासिक टुकड़ी को लेकर पच्चीस दिन की पैदल यात्रा पर निकल पड़े थे उसमें शामिल होने का 'सौभाग्य' शंकर को भी प्राप्त हुआ था, और तब से लेकर 1937 तक, जबकि प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना के रूप में आंशिक स्वाधीनता प्राप्त हुई, बराबर ही प्राणों को हथेली पर लिये, सत्याग्रही सैनिक बना—सिर्फ़ चबेना या कच्चा-पक्का खाता—जगह-जगह घूमता रहा। तीन-तीन बार जेल गया, कड़ी से कड़ी मार खायी, जेल में अपमानित किये जाने पर लम्बा अनशन किया। एक प्रकार से तभी हमेशा के लिए अपने स्वास्थ्य को चौपट कर डाला, किन्तु आत्म-बलिदान, त्याग-तपस्या और ऊँचे आदर्शों के गर्व ने उसे टिकाये रखा, हालांकि कितनी ही बार आदर्शों से स्खलित होने के भी मौके आये, जिसके कारण आत्म-ग्लानि और पश्चात्ताप का भारी बोझ भी अपने दिल पर बराबर ढोता रहा...

अन्त में, अपनी पूनम को खोने के घोर विषाद से बापू की शरण में भी छुट-कारा न पा जब स्वामीजी की शरण में आकर वह उस विषाद से ही नहीं उन आदर्शों से च्युत होने की आत्म-ग्लानि से भी छुट्टी पा गया, तब उसके जीवन में गांधीजी वाला वह स्थान अवश्य स्वामीजी ने ले लिया, किन्तु गांधी जी की राजनीतिक सूझ-बूझ के प्रति फिर भी किसी न किसी मात्रा में उसकी आस्था बनी रही। और स्वामी जी के सामने भी तब तक कोई ऐसा प्रसंग नहीं उठा था जिसके कारण गांधीजी के राजनीतिक नेतृत्व पर कोई चर्चा हुई हो।

1930 और 1932 के अहिंसात्मक सत्याग्रहों के कारण उत्पन्न जन-जागृति के फलस्वरूप 1937 में जो नयी विधानसभाएँ निर्वाचित हुईं उनमें दो-तीन सूबों को छोड़ बाकी सभी में कांग्रेस को बहुत बड़ा बहुमत मिला, और उनमें कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल कायम हुए। गांधीजी का सितारा तब अपनी पूरी बुलन्दी पर था। 1938 में गुजरात के हरिपुरा गाँव में होने वाला कांग्रेस का अधिवेशन देश के इतिहास में पहला अधिवेशन था जो 'प्रान्तीय स्वराज्य' की छत्रछाया में हो रहा था, और बम्बई प्रान्त की सरकार (कांग्रेसी) उसे दुगना समर्थन दे रही थी...

हरिपुरा कांग्रेस के अध्यक्ष थे सुभाष बोस, जिन्होंने इसके बाद साल-भर तक, पिछले अध्यक्षों की भाँति, गांधीजी की ही सलाह से कांग्रेस का संचालन किया; इससे भिन्न की कल्पना की भी नहीं जा सकती थी।

लेकिन 1939 में त्रिपुरी में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष पद को लेकर, पिछले बीस सालों के अन्दर पहले-पहल, गांधीजी के नेतृत्व को खुल्लम-खुल्ला चुनौती दी गयी। गांधीजी और कार्यसमिति द्वारा समर्थित उम्मीदवार पट्टाभि सीतारामैया के ख़िलाफ़ सुभाष बोस दोबारा अध्यक्ष पद के लिए खड़े हो गये! बहुतों के साथ-साथ शंकर भी इस समाचार से भौचक्का-सा रह गया।

पिछले कुछ वर्षों के अन्दर जवाहरलाल नेहरू के साथ-साथ सुभाष बोस भी नवयुवकों के दिलों में तेज़ी के साथ अपनी जगह बनाते चले आये थे, पर जवाहरलाल जहाँ गांधीजी और कार्यसमिति को खुल्लमखुल्ला चुनौती नहीं देना चाहते थे, वहाँ सुभाष बोस अब कांग्रेस को पुरानी लीक से हटाकर 'प्रगतिशीलता' की ओर ले जाना चाहते थे। अब तक कांग्रेस के अन्दर वामपंथी कहलाने वाला एक दल ज़रूर बनता जा रहा था, लेकिन इसकी आशा शायद स्वयं सुभाष बोस तक को नहीं थी कि महात्मा गांधी और कार्यसमिति की परम प्रतिष्ठित नेतृमण्डली को चुनौती देकर वह सचमुच ही जीत जायेंगे।

कांग्रेस की राजनीति में एक ज़बर्दस्त भूचाल बनकर आया उनकी जीत का समाचार, और इसके अविलम्ब बाद ही गांधीजी का यह वक्तव्य कि "पट्टाभि की हार मेरी हार है!"

"...कांग्रेस तेज़ी के साथ एक भ्रष्ट संगठन बनती चली जा रही है—" 4 फ़रवरी, 1939 के 'हरिजन' में गांधीजी ने लिखा, "इस मानी में कि उसके रजिस्टर में 'बोगस' सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ गयी है।...मुझे इसमें सन्देह नहीं, कि इन 'बोगस' सदस्यों के वोट पर जो प्रतिनिनिधि चुने गये हैं उनके मामले की छानबीन की जाने पर उनमें से बहुतेरों का चुनाव रद हो जायगा।..."

अन्त में तो गांधीजी ने, अपने उस लेख द्वारा, अपने पक्ष के कांग्रेसजनों को एक तरह से विद्रोह करने की ही सलाह दे डाली: "जो अब अल्पसंख्यक रह गये हैं वे अगर बहुसंख्यक कांग्रेसजनों के साथ मिलकर न चल सकें, तो उन्हें कांग्रेस को छोड़ देना होगा।...सभी कांग्रेसजनों को मैं यह याद दिलाना जरूरी समझता हूँ कि उनमें से जो भी कांग्रेसी विचारधारा को मानते हुए इच्छापूर्वक कांग्रेस से बाहर रहेंगे वे ही उसका सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करते हैं।"

नतीजा यह हुआ कि जिन अधिकांश कांग्रेसजनों ने जोश में आकर, दरअसल सरदार पटेल द्वारा नियंत्रित 'नेताशाही' के विरुद्ध अपना विद्रोह प्रदर्शित करने के लिये ही, सुभाष बोस के पक्ष में मत दिया था वे भी सहम गए। पलड़ा फिर पलटा, और उन लोगों ने एक प्रस्ताव पास कर गांधीजी और उनके नेतृत्व में

अपनी पूर्ण आस्था प्रकट की।

शंकर शुरू से ही इस मामले में स्वभावतः गांधीजी के पक्ष का था।...गांधीजी ही देश के सर्वमान्य नेता हैं; गांधीजी अगर चाहें, तो चार देश भर के कांग्रेसजनों का बहुत बड़ा बहुमत उन्हीं को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाए; देश की आवश्यकताओं को देख कर अब तक वह जिसका समर्थन करते आए हैं उसके पक्ष में बाकी नेता बराबर ही अपना नाम वापस लेते रहे हैं; हर अध्यक्ष बराबर गांधीजी की ही राय से अपनी कार्यसमिति बनाता आया है; सुभाष बाबू भी हरिपुरा कांग्रेस के अध्यक्ष गांधीजी की ही इच्छा से हुये थे और उन्होंने भी तब तक की परम्परा का पालन कर, उन्हीं की राय से, अपनी कार्य-समिति बनाई थी, और, अब तक, बराबर गांधीजी की राय से ही अपनी अध्यक्षता करते आए थे!...ऐसी हालत में, ऐन मौक़े पर, गांधीजी और अपनी ही कार्यसमिति की इच्छा के खिलाफ़ बग़ावत करके फिर से अध्यक्ष पद के लिए उनका खड़ा हो जाना क्या विश्वासघात नहीं था...एक तरह से पीठ में छुरा भोंकना?...जब तक देश स्वाधीन नहीं होता, जब तक स्वाधीनता-संग्राम का सेनापतित्व गांधीजी के हाथों में है, तब तक कांग्रेस कार्यसमिति हमारी युद्ध-समिति के रूप में है, कांग्रेस अध्यक्ष भी प्रधान सेनापति का लेफ्टिनेंट है, और इसलिए, अनुशासन का भी तकाजा था कि वह उससे पूछे बिना कोई कदम न उठाता...

और उसके ये ही विचार 'जागृति' के अगले अग्रलेख में व्यक्त हुये।

कुछ दिन बाद उसे स्वामीजी का पत्र मिला। दरअसल यह पहला मौका था जब उन्होंने उसके किसी अग्रलेख को पढ़कर कुछ लिखा था।

पत्र के पहले ही वाक्य से एक ज़बर्दस्त धक्का लगा शंकर को : "लेख निष्पक्ष नहीं है," क्योंकि, उस अग्रलेख के अनुसार, "सारा दोष सुभाष बाबू का ही है" और 'युद्ध-समिति' सर्वथा निर्दोष।

गांधीजी के प्रति शंकर की राजनैतिक आस्था पर स्वामीजी द्वारा यह पहली चोट थी, और कुछ देर के लिए तो वह इस कदर तिलमिला उठा कि पत्र के अगले स्थलों पर जहां-तहां एक सरसरी नज़र डाल उसने एक तरह से उसे बिना पढ़े ही फिर से उसी लिफाफे में बंद करके रख दिया।

लेकिन जो उधेड़बुन उसके दिमाग़ में शुरू हो गई थी उसे रोक [illegible] असंभव था।

अपने कमरे के बाहर खुली छत पर देर तक चहलकदमी कर [illegible] जो करके वह फिर कुरसी पर आ बैठा उस पत्र को पूरा [illegible] के लिए : अगर स्वामीजी की दलील उनके [illegible] अपनी दलीलें उनके सामने रख सकता है!

लेकिन, कहाँ? अपने उस लम्बे पत्र में जिस तरह स्वामीजी ने उसके अग्रलेख की पूरी धज्जी ही उड़ा कर रख दी थी उसके जवाब में जो भी दलीलें उसके दिमाग में आतीं उनमें से कोई भी तो देर तक उसे आश्वस्त न कर पाती।

...स्वामीजी ने दिखाया था कि अग्रलेख में सुभाष बाबू के प्रति सम्पादक की तीव्र घृणा और विरोध भाव खुलकर सामने आए हैं, और गांधीजी के प्रति अटल श्रद्धा और समर्थन! सबसे अधिक विद्रोह शंकर के अन्दर स्वामी जी द्वारा लगाए गये इसी आरोप के विरुद्ध उत्पन्न हुआ था पूरा पत्र पढ़ चुकने पर; किन्तु अगले कुछ घंटों के बीच कई बार फिर उस पत्र को, और साथ ही अपने अग्रलेख के आलोचित स्थलों को भी पढ़ने पर उसे कोई भी तो काट नहीं सूझा इस आरोप का! बल्कि, धीरे-धीरे उसने पाया, कि अपनी जिन दलीलों से उन्होंने उस आरोप को सिद्ध करना चाहा था उन्हें सर्वथा निराधार तो नहीं ही माना जा सकता था।

एक पक्ष, अपने समर्थन में, कोई भी कारण न देकर कांग्रेस अध्यक्ष पर जो आरोप लगाता चला जाये—स्वामीजी ने लिखा था—उसे "व्यावहारिक राजनीति" के नाम पर जायज़ बताना; लेकिन, दूसरे पक्ष को, बिना कोई कारण दिखाये, सही ठहराना—क्या एक-तरफ़ा फ़ैसला नहीं है? "दोष-गुण दोनों पक्षों का ही देखना है न?"

फिर, "युद्ध-समिति" और "जनसत्तात्मक भावों" को लेकर तुमने बड़ी गड़बड़ी की—आगे चल कर स्वामीजी ने लिखा। "या तो कहो, कांग्रेस जनसत्तात्मक विधानों में प्रतिष्ठित है; नहीं तो कहो, यह 'युद्ध-काल' है—'डिक्टेटरशिप' की ज़रूरत। अपने मतलब के लिये, कभी युद्ध-काल की दुहाई और कभी जनतंत्र का बहाना—यह कैसे सत्य-सम्मत हैं? हर बात में निर्वाचन, लेकिन तुम्हारे मन के मुताबिक निर्वाचन न हो तो उलटी बात?"

युक्ति की दृष्टि से, किन्तु, स्वामीजी की जिस दलील ने अन्त में शंकर को पूरी तरह परास्त कर दिया वह यह थी कि अध्यक्ष के निर्वाचन का फल चूंकि अपने समर्थित उम्मीदवार के विरुद्ध रहा इसलिये गांधीजी ने 'बोगस' वोटरों की बात कह डाली। अगर बोगस वोटरों की बाबत उन्हें जानकारी थी, तो वोटिंग होने से पहले यह बात क्यों नहीं कही?

कई दिन लग गये थे शंकर को स्वामीजी की कठोर आलोचना को धीरे-धीरे समझने और पचा पाने में।...जो प्रधान बात तुमने बिलकुल छोड़ दी वह यह है—उन्होंने लिखा था—कि अगर 'कार्यसमिति' को 'युद्ध-समिति' भी माना जाय, तब भी तो आखिर वह एक समिति है न, जिसका एक निर्वाचित सभापति है। युद्ध-समिति सभापति को अलग रखकर कोई फ़ैसला कैसे कर ले सकती है? अगले अध्यक्ष की बाबत पूरी समिति में विचार क्यों नहीं किया गया?

सहमे-सहमे, पत्र, शहर की समाचार-एजेंसियों में उन्हीं ख़बरों में कुछ-कुछ ऐसा भी दिखाई देना शुरू हुआ जो पहले दिखाई पड़ ही नहीं सकता था।

"'त्रिपुरी कांग्रेस से पहले, उसकी विषय-समिति के लिए प्रस्ताव तैयार करने की दृष्टि से, निवर्तमान अध्यक्ष के नाते सुभाष बाबू ने कार्यसमिति की एक बैठक वर्धा में ही बुलायी थी, ताकि गांधीजी की उपस्थिति में ही वह हो। लेकिन खुद वह ही कलकत्ते में बीमार पड़ गये। उन्होंने तार दिया कि बैठक स्थगित कर दी जाये और उनकी ग़ैर-हाज़िरी में कोई काम न किया जाये। दरअसल तब तक कांग्रेस संगठन परस्पर-विरोधी दो शिविरों में बँट चुका था, और एक पक्ष दूसरे पक्ष के हर क़दम को सन्देह की दृष्टि से देखने लग गया था। दूसरे पक्ष की ओर से प्रेरित समाचारों में सुभाष बाबू की बीमारी तक पर सन्देह प्रकट किया जाने लगा और उसे 'राजनीतिक बीमारी' की संज्ञा दी गयी। और जब कार्य समिति ने अपने वर्तमान अध्यक्ष के इस तार की अवहेलना कर दी और कार्य समिति की बैठक को स्थगित करने की जगह उसके सदस्यों ने उनके पास अपना इस्तीफ़ा ही भेज दिया, तब से तो दोनों ही शिविरों द्वारा प्रेरित समाचारों और अफ़वाहों से दैनिक पत्रों के पन्ने रोज़ ही रँगे रहने लगे। एक पक्ष की अफ़वाहों के अनुसार, कभी तो सुभाष बाबू इतने बीमार बताये जाते कि त्रिपुरी आकर उनका अध्यक्षता करना ही असम्भव मान लिया जाता, और कभी उनकी बीमारी को ढोंग बताया जाता।...लेकिन दूसरा पक्ष भी सबूत पर सबूत देता जा रहा था कि सुभाष बाबू सचमुच कितने बीमार हैं; और साथ ही उनके इस दृढ़ संकल्प की भी घोषणा करता जा रहा था कि कितने भी बीमार क्यों न हों, भले ही उन्हें 'स्ट्रेचर' पर क्यों न ले जाया जाये, त्रिपुरी कांग्रेस की अध्यक्षता वह ज़रूरी करेंगे'"

धीरे-धीरे शंकर के लिए दोनों पक्षों में कोई बड़ा अन्तर नहीं रह गया. गांधी-पक्ष जहाँ सुभाष बोस से बदला लेने के लिए बद्ध-परिकर था, वहाँ सुभाष-पक्ष अच्छी तरह यह जानते हुए भी कि पासा पलट चुका है और उसकी प्रारंभिक जीत हार में बदल चुकी है, अपने हठ पर क़ायम था। देश या संगठन का दूरगामी हित दोनों पक्षों में से कोई भी नहीं देख रहा था।

और—तभी एक नई घटना ने सारे देश का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। जहाँ तो 7 मार्च से त्रिपुरी में कांग्रेस का अधिवेशन होने जा रहा था, और कहाँ काठियावाड़ की एक रियासत राजकोट के ठाकुर साहब (राजा) के ख़िलाफ़ गांधीजी ने राजकोट जाकर 2 मार्च से आमरण अनशन शुरू कर दिया।

सारे देश का ध्यान बिजली की-सी तेज़ी के साथ त्रिपुरी कांग्रे[illegible]र सुभाष बोस की ओर से हटकर गांधीजी की ओर जा पहुँचा।

शंकर स्तब्ध रह गया इस समाचार से।

हुए रूप को सामने रखकर लिखे गए हों ये शब्द। और जैसे-जैसे वह आगे पढ़ता गया, उसकी यह धारणा और भी पुष्ट होती गयी :

"अपने दिमाग़ के खुले होने का, या अपने हृदय की विशालता का, या किसी ऊँचे सिद्धान्त का किसी व्यक्ति का दावा ही यह प्रकट करता है कि विशिष्ट रूप से और प्रचण्ड रूप से भाव-संवेगात्मक अपनी कुछ मान्यताओं का औचित्य ठहराने की वह ज़रूरत महसूस कर रहा है।"

और, अन्त में—"कुछ लोगों को अपनी मान्यताओं से चिपटे रहने की इतनी ज़बर्दस्त ज़रूरत रहती है कि जो उनका विरोध करते हैं उनके ऊपर वे हर तरह की ज्यादतियाँ आसानी से कर गुज़रते हैं!"

गांधीजी ने उपवास के पक्ष में जो दलील दी थी वह उसी वक्त उसे न सिर्फ़ ग़लत लगी थी बल्कि इतनी हास्यास्पद और आत्म-प्रवंचनापूर्ण कि उनके प्रति तब तक भी जो श्रद्धा-भक्ति उसके दिल में क़ायम रह गयी थी वह भी मानों एक पल में ग़ायब हो गयी। और उसे लगा जैसे गांधीजी ने उसके साथ विश्वासघात किया हो। जिस दिन वह अनशन शुरू हुआ, मानो उनसे बदला लेने के लिए ही, वह एक रेस्तराँ में रसगुल्ले खाने जा पहुँचा।

उसके बाद, कभी-कभी उसे अपने उस क्रूर कृत्य पर थोड़ी-बहुत शर्म भी आयी थी अन्दर ही अन्दर, अपनी उस भावावेशपूर्ण प्रचण्ड प्रतिक्रिया पर; लेकिन बाद की घटनाओं से धीरे-धीरे जिस तरह उसकी आँखों के सामने पड़ा एक मोटा परदा हटता गया था उससे उसकी वह शर्म और आत्म-ग्लानि भी जाती रही थी।

अब, रेशनलाइज़ेशन वाले उस उद्धरण को दोबारा पढ़ने पर उन घटनाओं का सिंहावलोकन कर उसकी आँखें और भी खुल गयीं; कितनी ख़ूबसूरती के साथ इस समूचे घटनाचक्र पर चस्पाँ हो रहा था उस यूरोपियन लेखक का यह वाक्य : "रेशनलाइज़ेशन यह दिखाता है कि...लोग पहले भावावेश-वश फ़ैसला कर डालते हैं, और उसके बाद उसका औचित्य ठहराने के लिए युक्तियाँ खोजते हैं।"

22 फ़रवरी को सुभाष बाबू द्वारा वर्धा में बुलायी गयी कार्यसमिति ने उनकी बीमारी की वजह से उसे स्थगित करने के उनके तार की अवहेलना कर अपना इस्तीफ़ा दिया था, और पाँच दिन बाद, 27 फ़रवरी को गांधीजी ने राजकोट की अपनी यात्रा के मार्ग से अपने सचिव महादेव देसाई को लिखा :

"परमात्मा की गति-विधि कितनी रहस्यपूर्ण है! राजकोट की अपनी यह यात्रा खुद मेरे लिए ही आश्चर्यजनक है। क्यों मैं जा रहा हूँ, किधर चला जा रहा हूँ? किसलिए? इन सारी बातों की बाबत मैंने कुछ भी नहीं सोचा है। और, परमात्मा यदि मुझे मार्ग दिखाता है, तो मैं सोचूँ भी क्या, और किस-

लिए? सोचना-विचारना भी उनके मार्ग-प्रदर्शन की राह में बाधक बन जा सकता है।" ('हरिजन'—11.3.39)

लेकिन तीन दिन बाद, 2 मार्च को ही, उन्होंने आमरण उपवास की घोषणा कर दी और राजकोट के ठाकुर साहब को—जीवन में पहले पहल बताये गये अपने बेटे को—इन शब्दों में 'अल्टीमेटम' दे डाला :

"...मुझे विश्वास है कि मेरे पत्र की भाषा तुम्हें कठोर नहीं लगेगी। और अगर मैं कड़ी भाषा का इस्तेमाल कर रहा हूँ, या मेरा कदम अगर तुम्हें वैसा लगे, तो तुम पर यह कड़ाई करने का मैं अपना हक मानता हूँ। तुम्हारे दादा जब इस रियासत के प्रमुख थे तब मेरे पिता को इसकी सेवा करने का सौभाग्य मिला था। तुम्हारे पिता मुझे अपने पिता की तरह मानते थे। बल्कि एक आम सभा में तो उन्होंने मुझे अपना गुरु तक कह दिया था; लेकिन मैं कभी किसी का गुरु नहीं रहा; इसलिए मैंने उन्हें कभी अपना शिष्य नहीं समझा। इसलिए तुम मेरे बेटे की तरह हो। हो सकता है कि तुम मुझे पिता की तरह न समझते हो। अगर समझते होगे तो मेरी बात तुम पल-भर में मान लोगे और, साथ ही, 26 दिसम्बर के बाद तुम्हारी प्रजा पर जो कुछ बीता है उसके लिए तुम अपना खेद प्रकट करोगे।" ('हरिजन', 11.3.39)

लेकिन ठाकुर साहब से गांधीजी को कोई जवाब तक नहीं मिला, और चार-पाँच दिन बाद ही गांधीजी ने स्वयं आमरण उपवास के अपने संकल्प को त्याग दिया!

11 मार्च के 'हरिजन' में अग्रलेख के रूप में उन्होंने अपना स्पष्टीकरण दिया :

"कोई आलोचक पूछ सकता है : 'उपवास को तोड़ देने लायक आपकी कौन-सी बात पूरी हो गयी? ठाकुर साहब को दिये गये आपके 'अल्टीमेटम' की एक भी शर्त तो पूरी नहीं हुई—सिवा कैदियों की रिहाई के। लेकिन उनकी रिहाई के लिए तो आपने उपवास किया नहीं था!'

"सतही तौर पर यह दलील बिलकुल सही है। मेरा जवाब यह है : 'शब्द मारता है, किन्तु भावना जीवन देती है।' जीवन देनेवाली बात यहाँ यह है कि राजकोट एक अखिल भारतीय मामला बन गया है और ठाकुर साहब की जगह वाइसराय ने ले ली है जिनके वचन पर सन्देह करने का मेरे पास कोई कारण नहीं है। ठाकुर साहब अगर मेरी सारी शर्तें भी मान लेते तब भी उनके पूरे किये जाने का मुझे कोई भरोसा नहीं हो सकता था, हालाँकि उन्हें मंजूर करने के लिए मुझे मजबूर हो जाना पड़ता। सरदार के दिये गये मशहूर खत का मतलब क्या लगाया जाना चाहिए—इस बात को मैंने खुद ही सन्देहास्पद बना डाला था। अपने 'अल्टीमेटम' में मैं यह मानकर चला था कि उसका एक ही

मतलब हो सकता है, लेकिन सत्याग्रही के नाते मुझे हर समय अपनी वातों के परखे जाने के लिए तैयार रहना चाहिए और अगर कोई ग़लती पायी जाये तो मुआविज़ा देने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसलिए इस समझौते को मैं तो इसी तरह देखता हूँ कि परमात्मा ने मुझे मेरी आशा से भी कहीं ज्यादा दे डाला है। वक़्त ही बतायेगा कि मेरा यह दावा सही है या नहीं।"

उपवास करने या उपवास तोड़ने के लिए उचित कारण रहे हों या नहीं, लेकिन गांधीजी की मृत्यु की चिन्ता ने सारे देश को व्याकुल कर दिया था। वाइसराय पर भी दबाव पड़े और उनकी मध्यस्थता स्वीकार कर जब गांधीजी ने उपवास तोड़ दिया तो, कुछ समय बाद, दोनों ही पक्षों का मान रखने की दृष्टि से एक फ़ार्मूला निकाला गया : सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सर मॉरिस ग्वायर यह फ़ैसला करें कि ठाकुर साहब द्वारा दिये गये वचन की उनकी या, दूसरे शब्दों में, उनके अन्तरंग सलाहकार दरबार वीरावाला की व्याख्या सही है, या प्रजा परिषद की ओर से नियुक्त उसके पंच सरदार पटेल की। और—जब अन्त में सर मॉरिस ग्वायर का फ़ैसला सरदार पटेल के पक्ष में ही हुआ, तो कुछ अरसे तक गांधीजी की राजनीतिक विचक्षणता की एक बार फिर दाद दी जाने लगी!

लेकिन आख़िर में गांधीजी की यह जीत फिर उनकी हार में बदल गयी—जब दरबार वीरावाला के हथकण्डों के फलस्वरूप, प्रजा परिषद के ख़िलाफ़ रियासती प्रजा में ही कुछ अल्पसंख्यक जातियों को उभार दिया गया, ख़ास तौर से मुसलमानों और 'भैयात' लोगों को। 29 अप्रैल के 'हरिजन' में गांधीजी ने 'मेरी हार' शीर्षक अग्रलेख में लिखा :

"जान पड़ता है कि राजकोट ने मेरी जवानी ही हर ली है। मैंने कभी जाना ही नहीं था कि मैं बूढ़ा हूँ। अब मैं जरा-जीर्णता के बोध से दबा हुआ हूँ। आशा त्याग बैठना मैंने कभी जाना ही नहीं था। लेकिन अब लगता है कि राजकोट में उसकी चिता जला दी गयी है। मेरी अहिंसा की ऐसी कड़ी परीक्षा की गयी जैसी पहले कभी नहीं की गयी थी।

"भारत के प्रधान न्यायाधीश द्वारा दिये गये पंच-फ़ैसले में जिस समिति की व्यवस्था है उसके निर्माण पर मैंने अपने पन्द्रह क़ीमती दिन ख़र्च किये। लेकिन वह अभी भी उतनी ही दूर जान पड़ती है जितनी पहले कभी थी। मुझे अपने मार्ग में अप्रत्याशित कठिनाइयाँ मिली हैं। इस फ़ैसले का सारे देश में सरदार की जीत समझकर स्वागत किया गया था। लेकिन मुसलमानों और भैयातों को दिये गये अपने वचन का भंग करने का आरोप मुझ पर लगाने के लिए इसका कारगर ढंग से इस्तेमाल किया गया है।...

"मुसलमानों और भैयातों को राज़ी करने में जब मैं कामयाब नहीं हो सका

तो मैंने ठाकुर साहब के पास परिषद के सात नाम भेज दिये। उसके जवाब में मुझसे उन सात नामों में से छः के बारे में यह साबित करने के लिए कहा गया कि वे सचमुच राजकोट रियासत की ही प्रजा हैं। इस तरह के एतराज़ की बाबत पहले कोई इशारा भी अगर किया गया होता तब भी कोई बात थी।... फिर भी मैंने जरूरी सबूत भेज दिये।

'जब मुझे लगा कि अपनी सामर्थ्य और धीरज के आख़िरी छोर तक मैं आ पहुँचा हूँ तब मैंने 'रेजिडेंट' को ही सर्वोच्च सत्ता के स्थानीय प्रतिनिधि के रूप में मान, उनके पास शिकायती चिट्ठी भेजी और वाइसराय ने मुझे जो भरोसा दिया था उसके आधार पर उनकी मदद माँगी। उन्होंने मुझे बुलवा भेजा। और जब हम दोनों के बीच बातचीत चल ही रही थी कि क्या रास्ता निकाला जाये, अचानक यह बात मेरे दिमाग में कौंध गयी कि समिति के सदस्यों को नामज़द करने के अपने अधिकार को तिलाजलि देकर मैं इस यातना से छुटकारा पाऊँ, और इसलिए मैंने...उसी दम यह बढ़िया सुझाव पेश कर दिया कि पूरी की पूरी समिति को ही पिछले 26 दिसम्बर की अपनी विज्ञप्ति के अनुसार ख़ुद ठाकुर साहब चुनें, बशर्ते कि उसकी रिपोर्ट परिषद को दिखायी जाय और अगर वह यह समझे कि यह रिपोर्ट उस विज्ञप्ति के अनुसार नहीं है तो मूल रिपोर्ट को, मतभेद-सूचक नोट के साथ, प्रधान न्यायाधीश के पास उनके फ़ैसले के लिए भेज दिया जाय। 'रेजिडेंट' ने मेरे इस प्रस्ताव को दरबार श्री वीरावाला के पास भेज दिया, लेकिन महामान्य ठाकुर साहब ने इसे नामंज़ूर कर दिया है।

"इन पन्द्रह दिनों के बीच मुझे जो यातनाएँ भोगनी पड़ी हैं उन्होंने मुझे यह दिखा दिया है कि अगर ठाकुर साहब और दरबार वीरावाला यह महसूस कर रहे हों कि ऊपर से डाले जाने वाले दबाव की वजह से ही उन्हें कुछ देना पड़ रहा है तो इसे मेरी अहिंसा की हार माना जाना चाहिए। मेरी अहिंसा का तकाज़ा था कि उनके दिल से यह भाव दूर कर दूँ। और इसलिए ज्यों ही मौका आया मैंने दरबार श्री वीरावाला को यह इतमीनान दिलाने की कोशिश की कि सर्वोच्च सत्ता की मदद लेने में मुझे ज़रा भी ख़ुशी नहीं हुई थी। अहिंसा के अलावा, राजकोट के साथ मेरा जो सम्बन्ध रहा है उसकी वजह से भी मुझे अपने ऊपर यह अकुंश लगाना था...

"और इस तरह मुझे वहाँ से ख़ाली हाथों लौटना पड़ा है...भग्न शरीर को लेकर और आशा की चिता जलाकर। राजकोट मेरे लिए एक अमूल्य प्रयोग-शाला रहा है:..."

और अन्त में गांधीजी को, पूरी ही पराजय स्वीकार कर, प्रधान न्यायाधीश के फ़ैसले द्वारा मिली सुविधाओं को तिलाजलि देने के लिए और राजकोट के मामले से अपना हाथ पूरी तरह खींच लेने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा।

20 मई के 'हरिजन' में 'अपराध-स्वीकार और पश्चात्ताप' शीर्षक अग्रलेख में उन्होंने लिखा :

"...मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूं कि...प्रधान न्यायाधीश के फ़ैसले से मिली सुविधाओं को मैं छोड़ दूं।

"मैं अपनी ग़लती स्वीकार करता हूँ। उपवास भंग करने के बाद यह कह डालने के लिए मैंने अपने को राज़ी कर लिया था कि पिछले सभी उपवासों से वह कहीं ज्यादा सफल हुआ है। अब मैं देख रहा हूँ कि वह हिंसा से रंगा हुआ था। उपवास भंग करके ही मैंने सर्वोच्च सत्ता को अविलम्ब हस्तक्षेप करने का न्यौता दे दिया ताकि वह ठाकुर साहब पर अपना वचन पालन करने के लिए ज़ोर डाले। यह अहिंसा या हृदय-परिवर्तन का मार्ग नहीं था। यह हिंसा अथवा ज़बर्दस्ती का रास्ता था।...उनकी, या दरअसल उनके सलाहकार दरबार श्री वीरावाला की, गरमी को अगर मैं पिघला नहीं सकता था तो मुझे मृत्यु का वरण करके सन्तुष्ट रहना चाहिए था। मेरी आँखें खुलतीं ही नहीं अगर रास्ते में मुझे अप्रत्याशित कठिनाइयों का सामना न करना पड़ता। दरबार श्री वीरावाला खुशी से पंच फ़ैसला कराने के लिए राज़ी नहीं हुए थे। स्वभावतः वह उसका स्वागत नहीं कर सकते थे। इसलिए हर मौक़े से फ़ायदा उठाकर वह देर पर देर कराते गये। नतीजा यह हुआ कि इस फ़ैसले से मेरा रास्ता तो आसान नहीं हुआ, उलटे वह मुसलमानों और भैयातों को नाराज़ करने की एक ज़बर्दस्त वजह बन गया।"

मगर आख़िर तक भी क्या गांधीजी अपनी पूरी ग़लती देख पाये हैं या देख सकते हैं ?—शंकर के दिल में ख़याल आया। क्या वह देख सकते हैं कि उनकी मूल ग़लती कहाँ से शुरू हुई थी, उनकी मूल हिंसा का स्रोत कहाँ था : पट्टाभि की हार मेरी हार है—वाली पुकार जिस भाव-संवेग के प्रवल ज्वार में उनके मुंह से निकल पड़ी थी क्या उसी का यह सारा खेल नहीं था, शुरू से आख़िर तक ?...बुद्धि द्वारा वह देख पाये हों या नहीं, लेकिन दिल में भी क्या उन्हें अन्दर ही अन्दर तृप्ति नहीं हुई होगी कि कांग्रेस के अन्दर उनके या उनके प्रमुख लेफ्टिनेंट सरदार पटेल के ख़िलाफ़ जो बग़ावत हुई उसे दबा दिया गया है, और सुभाष बोस के कांग्रेस से निकल जाने के बाद उस राष्ट्रीय मंच पर फिर से उनका एकछत्र अधिकार क़ायम हो गया है—हालाँकि वह कांग्रेस की साधारण सदस्यता भी कई साल पहले खुद छोड़ चुके थे ?

और शंकर ने देखा, सचमुच ही यह 'रेशनलाइज़ेशन' एक बहुत बड़ा जादूगर है और उसकी करामात को समझ सकना कम मुश्किल नहीं है—ख़ासतौर से उस व्यक्ति के लिए जो खुद ही उसका शिकार हो।

... ...

अपनी बार स्वामीजी से मिलने पर जब उसने उनके सामने अपना यह अनुभव रखा था तो उन्होंने उसकी पीठ ठोंकते हुए उससे यही कहा था कि अपने भावावेग से कुछ छुटकारा पाकर ही दूसरे के 'रेशनलाइजेशन' को देखा जा सकता है, और अपने खुद के 'रेशनलाइजेशन' को देख सकने के लिए तो और भी ज्यादा जागरूकता चाहिए।

फिर कुछ देर बाद, उन्होंने उससे जानना चाहा था कि गांधीजी के राजकोट उपवास पर उसे उन पर इतना गुस्सा क्यों आया था, उसे यह क्यों लगा था मानो उसे धोखा दिया गया हो?...गांधीजी ने उसे तो कोई धोखा नहीं दिया था।

फिर स्वामीजी ने दिखाया था कि गांधीजी की उस आत्म-प्रवंचना से उसे इसलिए चोट लगी कि वहाँ उसे भी अपना रूप दिखाई दे गया था—जो उसे तब तक भी ठीक-ठीक स्वीकार नहीं हो पाया था!...इसके अलावा, गांधीजी पर जो विश्वास उसने कर लिया था उसका कारण उसके अन्दर था, उसकी जरूरत उसके अपने अन्दर थी—और बाहर का जो अवलम्ब उसने ले रखा था उसके छूट जाने का कारण अपने अन्दर न देख उसने बाहर फेंक दिया था, और वहाँ अपना गुस्सा उतारा था। गांधीजी ने क्या उसे खुद अपने पास बुलाकर कहा था कि वह उन्हें आत्म-समर्पण कर दे? वह खुद अपनी ही ग़रज़ से तो उनके पास गया था! वह जैसे पहले थे, वैसे ही अब भी थे—पर शंकर का अपना ही मानदण्ड बदल गया था।...मगर इसमें उन पर गुस्से की तो बात थी नहीं...वह तो अपने ही अन्दर लाचार थे!...ऐसा अगर देख पाता तो उसे उन पर गुस्सा न होता, न उनके ख़िलाफ़ कोई शिकायत! उन्होंने अगर धोखा दिया था तो अपने को; शंकर ने अगर तब तक उन्हें नेता मान कर धोखा खाया था तो इसका कारण उसके अन्दर था।

फिर, कुछ देर बाद, स्वामीजी सहसा पूछ उठे थे: तुमने पिछले साल गांधीजी के एक 'कनफ़ेशन' की बात कही थी न?...और उनके इस फ़ैसले की—कि लड़कियों के कधों का सहारा लेकर भविष्य में वह नहीं चला करेंगे?...मगर इधर तो उनका एक वैसा फ़ोटो अखबारों में देखा।

राजनीति से बाहर—इस क्षेत्र में—गांधीजी के 'रेशनलाइजेशन' पर स्वामीजी के साथ शंकर की बात पिछले साल ही एक बार हो चुकी थी। साबरमती आश्रम-वासी अपने एक मित्र से पटने में अचानक भेंट हो जाने पर शंकर ने उनके पास आयी गांधीजी की 'साइक्लोस्टाइल' से छापी गयी 'कनफ़ेशन' की एक चिट्ठी देखी थी जिसकी बात उसने बाद को स्वामीजी को बतायी थी। काम-विकारों वाले मामले में तब तक शंकर पूरी तरह स्वामीजी के दिखाये रास्ते का क़ायल हो चुका था और काम-विकारों से लड़ने और उनका निग्रह

करने के गांधीजी के मार्ग को हानिकर मान चुका था...

शायद 1938 के ही पूवार्ध की वात थी। एक रोज़ गांधीजी को अपने काम-विकारों के साथ वड़ा प्रचण्ड संघर्ष करना पड़ा। (तव उनकी उम्र सत्तर साल के क़रीव हो रही थी।) तभी, आत्म-निरीक्षण करते हुए, उनका ध्यान उस विशेष छूट की ओर गया जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए भी उन्होंने अपने को दे रखी थी : लड़कियों के कंधों पर हाथ रखकर चलना और उनसे मालिश वग़ैरह कराना। उनके अनुयायियों में कई, पहले भी, इस वात पर उनसे वहस करते आये थे कि जो छूट वह दूसरों को नहीं दे सकते उसे खुद भी नहीं ले सकते। लेकिन पहले उन दलीलों को उन्होंने कोई वजन नहीं दिया था।

अव, कठोर आत्म-निरीक्षण करने पर सहसा ही यह वात उनके सामने 'दीये की रोशनी की तरह' साफ़ हो गयी कि ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाले सभी लोगों के लिए एक समान आचार-संहिता होनी चाहिए, और उन्हें अपने लिए कोई विशेष छूट रखने का अधिकार नहीं है।

इस 'कनफ़ेशन' की चिट्ठी द्वारा उन्होंने नैतिक-आध्यात्मिक क्षेत्र के अपने अनुयायियों को (शंकर तव तक उस परिधि से वाहर जा चुका था जिस वजह से ही शायद उसके पास वैसी चिट्ठी नहीं आयी थी) अपने इस निश्चय की सूचना दी कि भविष्य में वह नारी-स्पर्श से दूर रहेंगे और लड़कियों के कंधों पर हाथ रखकर चलने की अपनी आदत भी छोड़ देंगे, हालाँकि वहुत गहराई तक अपने अन्दर देख जाने पर भी उन्हें लड़कियों के इस प्रकार के स्पर्श और उस दिन के अपने काम विकारों की उग्रता के वीच कोई सम्वन्ध नहीं दिखाई दिया है...

उस कनफ़ेशन का क्या हुआ ?—स्वामीजी ने अव शंकर से पूछा।

"ओ—ह, आपसे कहना भूल गया था," शंकर ने उसी दम जवाव दिया। "अभी हाल ही में पटने में आश्रमवासी उन मित्र से फिर मुलाकात होने पर उन्होंने गांधीजी की साइक्लोस्टाइल पर छपी वैसी ही एक दूसरी चिठ्ठी दिखायी, जिसमें उन्होंने अपने पिछले निश्चय को वापस लेने की सूचना दी थी।

और शंकर हंस पड़ा।

"अच्छा—!...क्यों ?"

"इस वार गांधीजी ने लिखा था कि कई महीने तक अपने उस निश्चय पर अमल करने के वाद उन्होंने जितना ही इस वात पर विचार किया उतना ही यह विश्वास पक्का होता गया, कि उस वार के काम-विकारों के साथ इस आदत का रंच मात्र भी संवंध नहीं था..."

स्वामी जी भी कुछ मुसकरा उठे।

फिर वोले : "देखा, किस तरह रेशनलाइजेशन काम करता है ?...यह वात तो पहले भी उन्हें लगी थी, लेकिन उस निश्चय का कारण तो यही वताया था

जो कि उसका यह काम शुरू होने के कुछ ही दिन बाद घटी थी।

शंकर के पास एक छोटी-सी टॉर्च थी, जिसे आश्रम में, शाम का झुटपुटा होते ही, अपनी बंडी की जेब में डाल लेता था। एक रोज़ शाम को जब वह उसे लाने अपनी कोठरी में गया तो देखा, वह अपनी जगह पर नहीं है। आस-पास सभी जगहें उसने देख डालीं, पर वह नहीं मिली। उस रोज़ उस कोठरी के आधे हिस्से को खाली करके उसमें नये धान के कुछ बोरे स्वामीजी ने रखवाये थे, उसे इसमें शक नहीं रह गया कि उन्हें अन्दर लाने वाले सन्थालों में से ही किसीने उसे उड़ा लिया है।

उसने जाकर स्वामीजी को बताया। और उसे कुछ अजीब-सा ही लगा जब उन्होंने उस घटना को उतना वज़न नहीं दिया जितने की उसने उम्मीद की थी।

अपनी कुटिया के दक्खिन वाले बरामदे में वह आ बैठे थे, उसके साथ-साथ शाम का टहलना पूरा करने के बाद, और कुछ दूर पर एक कोने में मन्दी की हुई लालटेन रखी थी जिसकी हलकी रोशनी में उनका चेहरा बहुत ही धुंधला दिखाई दे रहा था।

शंकर ने उम्मीद की थी कि उसी दम वह किसी को आवाज़ देंगे, और उन संथालों के पास दौड़ा देंगे जिनकी बस्ती आश्रम से कुछ ही दूर पर थी।

पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। स्वामीजी जैसे बैठे थे वैसे ही बैठे रहे कुछ देर तक।

फिर धीरे से उसकी ओर मुंह फेरकर बोले :

"ठीक से देख लिया है—तुम्हीं ने तो कहीं और नहीं रख दी?"

"सब जगह देख लिया है स्वामी जी," उनके आसन से कुछ ही दूर बिछी दरी पर बैठे शंकर ने जवाब दिया।

धीरे से स्वामीजी ने अपनी गरदन दूसरी ओर मोड़ी, फिर अपने आसन के उस ओर रखी अपनी टॉर्च उठा शंकर की ओर बढ़ाते हुए बोले :

"इसे रख लो अपने पास।"

स्वामीजी का वह हाथ उसी तरह बढ़ा रहा कुछ देर, और शंकर यही कैफ़ियत देता चला गया कि यह बात उसने इसलिए उन्हें नहीं बताई कि टॉर्च के बिना उसका काम नहीं चल सकेगा—रात को उठने पर लालटेन वह जला ही ले सकता है—बल्कि इसीलिए कही कि आश्रम में अगर कोई चोरी हो जाती है तो उन्हें तो उसकी बात बतायी ही जानी चाहिए।

"सो तो ठीक किया—" अपने बढ़े हुए हाथ से टॉर्च को अपने आसन के और शंकर के बीच रखते हुए स्वामीजी बोले, "लेकिन अभी तो समस्या तुम्हारे पास टॉर्च न रह जाने की है न? टॉर्च न रहने से रात को तुम्हें परेशानी

पांच

"अपने बच्चे के लिए अब भी रुलाई आती है ?" एक दिन स्वामीजी अचानक शंकर से पूछ उठे।

"नहीं तो—" उसने उसी दम जवाब दे डाला।

...दोपहर को खाने के बाद के आराम वाले वक्त में या रात को सोते समय शंकर अपने बच्चे की स्मृतियों में रमने के लिए अपने को छोड़ दिया करता था कुछ देर, और अपने पिछले अनुभव के आधार पर रो-रोकर अपने दिल को हलका कर लिया करता था।...फिर, यह सिलसिला धीरे-धीरे कब ढीला पड़ता चला गया था और अन्त में बिलकुल ही छूट गया था—उसे पता ही नहीं चल पाया।

स्वामीजी की बात सुन वह चौंक-सा पड़ा। एक धक्का-सा भी लगा दिल को...क्या वह सचमुच उसे भूल चला है ? उसी रात को, सोते वक्त, वह उसकी स्मृति को ताज़ा करने की कोशिश करेगा, उसके प्रति इतना निर्मम नहीं हो जाना चाहता वह—उसने तय किया।

"मगर एक बात तो बताओ—" तभी स्वामी जी फिर कह उठे, "अपने शैशव की स्मृतियों में घुसते वक्त तुम इतने दिन से इतने रोते-चिल्लाते आये... मगर अपने मरे हुए बच्चे के लिए तो एक बार भी नहीं रोये ?.. उसका शोक तो कभी प्रकट नहीं हुआ वहाँ—"

सचमुच तो।

"यह कैसे हुआ स्वामीजी ?" कुछ देर बाद उसने पूछा।

"पहले यह बताओ," उन्होंने फिर उसी से प्रश्न किया; "बच्चे की स्मृति अब भी दुःखद है ?...अब भी लगता है—जैसे तुम्हारा सब कुछ चला गया उसकी मृत्यु से ?"

"जी नहीं—" शंकर ने दृढ़तापूर्वक ही जवाब दिया।

"अपने बच्चे के प्रति इतनी आसक्ति...इतना मोह...जिस कारण से था, वह दूर हो गया न।" स्वामीजी धीरे-धीरे कह चले, और शंकर विस्मय-विमूढ़ हो सुनता चला।...बचपन की जिस विशिष्ट घटना अथवा घटना-चक्र की ग्रन्थि में मन बंधा पड़ा था उसी का प्रतीक बन बैठा था अपना बच्चा, जिसके लिए विशिष्ट कारण थे। और जब वह छिन गया, तो अचेतन की उसी दबी-पड़ी आसक्ति का रुद्ध द्वार जैसे अचानक खुल गया था...

फिर स्वामी जी ने उसकी टॉर्च के खो जाने की वह घटना उसे याद दिलायी

ठीक से सो तक नहीं पाया। और, अगले दिन जब उसे पता चला कि वही फोड़ा फट गया था और रात को निकला मुन गुदकर जम गया था, तो जितनी उसे अपनी उस वक्त की बेबसी पर रुलाई मालूम हुई थी उतना ही गर्व भी हुआ था अपनी दृढ़ता पर।

फिर, अगले दिन, स्वामीजी को जब वह उनकी टॉर्च लौटाने गया था तब वह बहुत उसकी छाती दुगुनी हो गयी थी कि उसने उसका एक बार भी इस्तेमाल नहीं किया; उसने देख लिया कि टॉर्च के बिना वह भी काम चला ले सकता है।

स्वामीजी ने फिर उससे कुछ नहीं कहा था, एक बार भी और नहीं—कि अभी वह उस टॉर्च को अपने ही पास रखे; शंकर को न इस बात का मौका दिया कि अपने संकल्प की दृढ़ता को वह और भी जोर देकर उनके सामने दुहरा स... और न यह बताने का, कि दियासलाई तक न जलाकर वह किस तरह रात अँधेरे में ही बाहर आया-गया। उसी सिलसिले में चोट खा जाने वाली ... को भी उनसे कह डालने से वह मुश्किल से ही अपने को रोक पाया था।

..."तुम्हें याद है...उस बार जब तुम्हारी टॉर्च खो गयी थी, तब ... घबड़ाये हुए आये थे," स्वामीजी अब बोले।"...जैसे तुम्हारी ... सम्पत्ति छिन गई है।"

होगी..."

"नहीं स्वामीजी...मैं काम चला लूंगा।" शंकर ने फिर ज़ोरदार प्रतिवाद किया; "मेरी ज़रूरत हो भी...तो आपकी टॉर्च मैं कैसे ले सकता हूँ? आपकी ज़रूरत..."

"नहीं—मुझे कोई ऐसी ज़रूरत नहीं है," स्वामीजी ने शान्त स्वर में किन्तु दृढ़ता के साथ उसकी बात काट दी। "सवेरे एक बार घड़ी देखने की ज़रूरत पड़ती है...मगर वह काम दियासलाई की एक सलाई जला कर भी आसानी से हो जा सकता है।...तुम नयी जगह पर हो, रात को उठने पर तुम्हें टॉर्च की ज्यादा ज़रूरत है।...तुम इसे ले जाओ—"

अन्तिम बात उन्होंने एक ऐसे अधिकारपूर्ण स्वर में कही थी, जिसकी उपेक्षा करना, शंकर को लगा, स्वामीजी के आदेश का उल्लंघन करना था।

अन्त में स्वामीजी की उस टॉर्च को लेकर ही शंकर को उठना पड़ा था वहाँ से।

और, उसके उठते-उठते स्वामीजी ने संक्षेप में उसे बताया था कि जब टॉर्च चली ही गयी है, तो उसके बारे में ज्यादा चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं; कई सन्थाल काम कर रहे थे, और किसी एक की चोरी के लिए सबों पर शक करना और इस बात को लेकर उनके बीच खलबली पैदा कर देना निरर्थक ही होगा। फिर उसे यह सलाह भी दे डाली कि इस बीरान जगह में अगर कोई चीज़ खो जाये तो उसके लिए वह तैयार रहे; अपनी चीज़ों को संभालकर रखे; जिन्हें ज्यादा क़ीमती समझता हो उन्हें बक्स में ताले के अन्दर बन्द रखा करे।

लेकिन स्वामीजी की टॉर्च लाकर क्या एक बार भी वह उसका इस्तेमाल कर सका था?...शर्म से वह कटकर रह गया था उस टॉर्च को अपने हाथ में लेते वक़्त—और तभी उसने पक्का निश्चय कर लिया था कि वह उसके बिना ही काम चलायेगा, न सिर्फ़ उस रात, बल्कि जब तक भी आश्रम में रहेगा। अगर स्वामी जी अपनी टॉर्च इतनी आसानी से उसे दे दे सकते हैं और उसके बिना ही रह जा सकते हैं, तो क्या वह भी वैसा नहीं कर सकता...जब कि गांधीजी के आश्रम में रहकर सादगी और अपरिग्रह का जीवन बिताते किसी वक्त उसे इतना गर्व था?

बल्कि इसी जोश में उसने रात को, दो-एक बार पेशाब करने के लिए उठकर अपनी कोठरी से बाहर मैदान में जाते-आते वक़्त, दियासलाई की एक सलाई तक नहीं जलायी, और टटोल-टटोलकर, दो-एक चीज़ों के साथ ठोकर खाते हुए ही, अपना रास्ता बनाया। और, एक बार तो उसका सिर, बाहर से लौटते वक़्त, अपनी कोठरी के सामने के बरामदे के काफ़ी नीचे झुके छप्पर के काठ की धरन से टकरा भी गया। फिर, बाक़ी रात वह उस चोट के दर्द की वजह से

"फिर—टॉर्च ही नहीं, और भी तो कितनी ही, मामूली से मामूली, चीजों के खो जाने पर जरूरत से कहीं ज्यादा घवड़ाहट होती रही होगी तुम्हें...हमेशा ही," स्वामीजी फिर किसी समय सहसा कह उठे। "पेंसिल का छोटा-सा टुकड़ा...या—"

"जी—" शंकर उसी दम कह उठा। "पूरी पेंसिल से कहीं ज़्यादा उसके किसी टुकड़े के खो जाने पर वड़ी वेचैनी होती थी स्वामीजी, और जब तक उसे खोज नहीं निकालता था तव तक सारा काम रुका रह जाता था..."

"ठीक...वह तो होता ही—" स्वामीजी वोले।

तभी शंकर के दिमाग़ में अचानक मूंगफली की एक मींग की याद कौंध गयी, जब कि एक वार सिनेमाहाल में उसने मूँगफली छीलकर उसका एक दाना मुँह में डाल लिया था और दूसरा छिटककर नीचे गिर पड़ा था। कैसी छटपटाहट हुई थी उस गिर पड़े दाने के लिए, जिसकी वजह से बाद की मूंगफलियों का भी उसका उत्साह कुछ फीका पड़ गया था।

वह घटना भी उसने स्वामीजी को सुना डाली।

कुछ देर तक और इसी तरह के दृष्टान्त दिये जाते रहे दोनों ओर से, जिसके वाद स्वामीजी ने कहा :

"अव तो देख लिया न—मूल कारण क्या था ?...वरावर याद रखना, जब कभी किसी वात की जरूरत से ज्यादा वड़ी प्रतिक्रिया हो...तभी समझना—उसके पीछे कोई निरुद्ध और अस्वीकृत भाव है। उस भाव से छुटकारा पाए विना जीवन में स्थिरता नहीं आ पाती..."

कितने उत्साह के साथ, कितना वड़ा आत्म-विश्वास लेकर, इस वार स्वामीजी के पास से लौटा शंकर।

"अव तो काम-काज में मन लग सकेगा न ?" स्वामीजी ने पूछा, जब अतीत के गर्तों में दवी वड़ी स्मृति-ग्रन्थियों में से एक जटिल ग्रन्थि काफ़ी हद तक खुल गयी, और शंकर का वह सारा हाथ-पाँव पटकना, रोना-चिल्लाना-चीख़ना धीरे-धीरे रुक गया, शान्त हो गया।

"खूव सावधान रहना," स्वामीजी ने उसके विदा होते समय उसके सिर पर हाथ फेरते-फेरते आशीर्वाद दिया, "अपने अलावा दूसरों के भी प्रिय-अप्रिय पर दृष्टि रखना।...तुम्हें जो अच्छा लगता है उसे जिस तरह तुम करना चाहते हो, उसी तरह दूसरे भी वही करना चाहते हैं जो उन्हें अच्छा लगता है।...जल्दबाज़ी में कोई फ़ैसला नहीं करना। अपने को भी देखने के लिए समय लेना...दूसरे को भी समझने के लिए—"

इशारा किधर था, समझते शंकर को देर नहीं लगी। कितनी बड़ी नासमझी का काम कर डाला था उसने—विद्याभूषण से झगड़ कर और पटने की 'जागृति' यानि अपने काफ़ी पुराने काम से ठीक ऐसे वक़्त इस्तीफ़ा देकर जबकि सुशीला के बच्चा होने वाला था।...कैसी-कैसी स्कीमें दिमाग़ में थीं जिनके चलते उसने—बिना स्वामीजी तक से सलाह लेने की ज़रूरत समझे—अपना बँधा-बँधाया काम छोड़ दिया था और इनके सिलसिले में एक के बाद एक ऐसी हरकत करता चला गया था जो न केवल उसके स्वाभिमान के बल्कि उसकी प्रकृति के भी विपरीत थीं।...एक साल वे सभी लोग, जो सहकारिता के आधार पर कलकत्ते से एक साप्ताहिक पत्र निकालने जा रहे थे, अवैतनिक रूप में ही काम करने वाले थे, और शंकर ने साल-भर तक अपने परिवार का खर्च चलाने की दृष्टि से अपने बड़े मामा को किसी तरह इस बात पर राज़ी कर लिया कि अपने वेतन में से एक सौ रुपया मासिक वह उसे भेजते रहेंगे...उस पत्रिका को अपने क़र्ज़ की रक़म के तौर पर। लेकिन स्कीम शुरू भी नहीं हो पायी थी कि द्वितीय महायुद्ध में जापान के भी उतर आने पर कलकत्ते से भगदड़ शुरू हो गयी। और जब परिस्थितियाँ उत्तरोत्तर प्रतिकूल ही होती चली गयीं तो विवश होकर उसे अपने बीवी-बच्चे के साथ अपने बड़े मामा और माँ के ही पास जाकर रहने के लिए बाध्य हो जाना पड़ा। फिर, 1942 का आन्दोलन छिड़ जाने के फल स्वरूप जब उसके वे सभी साथी जेलों में बन्द हो गये तो सुशीला को किस तरह समझा-बुझा उसने इस बात के लिये मजबूर कर डाला कि वह बी० टी० भी कर डाले, ताकि अनिवार्य स्थिति में वह कम से कम अपना और अपने बच्चे का गुज़ारा तो कर ले सके। और—खर्च के इस नये बोझ को सँभालने के लिए उसने अपने बड़े मामा के साले कृष्णकान्त मामा से—जो शंकर को सदा से स्नेह करते आये थे—हज़ार डेढ़-हज़ार का क़र्ज़ तक ले डाला—

सुशीला की पढ़ाई के सिलसिले में वे लोग बनारस में थे—जब कि अपने बच्चे की उस घातक बीमारी का पता लगा था, और उस कठोर आघात की बाबत स्वामीजी के साथ पत्र-व्यवहार होने पर जब एक बार बड़े उत्साह के साथ उसने अपनी 'आसक्ति' को जड़-मूल से काट डालने के अपने नये संकल्प की बात उन्हें लिखी थी—बल्कि मोक्ष-प्राप्ति के ही अपने चरम लक्ष्य की—तो स्वामीजी ने उसके अहंकार पर पहली बार कड़ी चोट कर उसे बुरी तरह क्षत-विक्षत कर दिया था :

"...आघात बड़ी बात नहीं है," उन्होंने लिखा था, "आघात तो कितने लगे और लगते हैं पर मोह में आदमी सब भूल जाता है—श्मशान-वैराग्य आता है: पर आघात के दुख का अनुभव तीव्र होना चाहिए, और वह अनुभव दृढ़ हो,

यही बात है। तुम्हारी यह विशेषता अब तक रही है कि घटना घटने के बाद उसकी शिक्षा भूलते आये हो—याद नहीं रख सके, सजगता, सावधानता नहीं रही। आघात तो काफ़ी मिले।—अब भी एक ही भूल से वृद्ध मामा की कमाई पर गुज़ारा करना पड़ रहा है; खुद पिता होकर अपने पुत्र की ज़िम्मेदारी नहीं ले सके; फिर भी माँ—सुशीला—को पढ़ने के लिए भेजना पड़ा।..."

"आँखें खोलो।...सिर्फ़ सस्ती भावुकता से कुछ भी नहीं बनेगा।..."

...किन्तु अब, प्रसंग उठने पर, जब अपनी उन सारी हरकतों को उसने स्वामीजी के सामने रखा तो खुद ही दंग रह गया, और उसे इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं रहा कि यह कुल की कुल करामात उस "रेशनलाइज़ेशन' की ही थी—जिसके बारे में वह समझे बैठा था कि तब तक वह उससे छुटकारा पा चुका था...

विद्याभूषण अपने पिता की बीमारी के कारण 'पैरोल' पर एक महीने के लिए जेल से छूटकर आए हुए थे, जब—बच्चे की मृत्यु के बाद—इस बार बनारस से आश्रम आ रहा था शंकर। पटने में एक दिन के लिए रुककर उन्मुक्त हृदय से उसने अपने पिछले सलूक के लिए उनसे माफ़ी माँग ली थी, और देखा था कि उनके दिल पर से भी जैसे एक भारी बोझ उतर गया था, उसकी मित्रता को फिर से वापस पाकर जैसे उन्हें भी खुशी हुई थी।

यहाँ आने के कुछ दिन बाद ही प्रसंगवश स्वामीजी को भी यह बात उसने बता डाली थी, और उन्होंने ही विद्याभूषण के लिए उससे एक पत्र लिखवाया था—कि उनके जेल वापस लौट जाने पर 'जागृति' के लिए शंकर की उन्हें आवश्यकता जान पड़े, तो वह निस्संकोच उस पर निर्भर कर सकते हैं।

जेल लौटने से पहले विद्याभूषण उसे जवाब देते गये, कि वह जितनी जल्द आश्रम से आकर अपना पिछला काम सँभाल लेगा उतनी ही उन्हें निश्चिन्तता हो जायगी। और, अचेतन की उस विशिष्ट ग्रन्थि के खुल जाने से उसके चित्त में काफ़ी हद तक स्थिरता आ जाने पर अब स्वामीजी ने उसी काम पर जाने की उसे सलाह दी—ताकि परीक्षा पूरी होते ही सुशीला बनारस से, जहाँ वह बच्चे की मृत्यु के बाद होस्टल में रहने लगी थी, उसके पास आ जा सके।

दरअसल अब वह खुद भी व्यग्र हो उठा था सुशीला से मिलने के लिए।... बच्चे की मृत्यु के बाद भी वह चार महीने बाद होने वाली अपनी परीक्षा को छोड़ना नहीं चाहेगी—इसकी शंकर ने कल्पना तक नहीं की थी, और उसकी उस बहादुरी के लिए उसके मन में उसके प्रति उस दिन एक नया ही आदर उत्पन्न हुआ था।...और अब उसका दिल उतावला हो उठा था उसकी उस तपस्या का पुरस्कार दे, जल्द से जल्द, उसकी उजड़ी गृहस्थी को बसा डालने के लिए और··· सबसे बड़ी बात···उसके घायल दिल पर खुद जाकर मलहम लगाने के लिए,

जबकि उसके अपने दिल का घाव, स्वामीजी के परम अनुग्रह से, पूरी तरह से भर चुका था।

इस बार पटने में किराये के जिस मकान में वे दोनों आकर रहे वह उस सड़क पर था जो श्मशान का प्रमुख मार्ग था। दिन के शोरगुल में तो "रामनाम सत्य है..." की आवाज़ ऊपर की मंज़िल पर, जहाँ वे लोग रहते थे, ज्यादा न सुनाई पड़ती, लेकिन रात को काफी तेज़ हो जाती, और शंकर देखता कि उसे सुनते ही सुशीला का चेहरा सफेद पड़ जाता।...फिर, एक विशेष कारणवश एक नये सम्पादक की नियुक्ति के बाद जब शकर का काम बदल गया, और किसी-किसी हफ्ते में उसकी 'ड्यूटी' रात को रहने लगी, तब तो सुशीला पर मानो पहाड़ ही टूट पड़ा। "रात-भर मैं नही सो सकी," सवेरे शकर के लिए अन्दर से दरवाज़ा खोलने पर वह रो पड़ी, "सारी रात डर लगता रहा..."

शंकर ने उसे अपनी छाती से लगा लिया, जी भरकर रो लेने की भी सलाह दी, और रात को फिर अपनी 'ड्यूटी' पर जाते वक्त काफी दिलासा दिया, बहादुरी के साथ उस आवाज़ का मुकाबला करने के लिए समझाया-बुझाया··· पर कार्यालय में काम करते वक्त सारी रात सुशीला का वह भयभीत चेहरा उसकी आँखों के आगे घूमता रहा।

पर सुशीला के डर में कोई फर्क नहीं पड़ा। उसे खुद भी कम ताज्जुब नही था अपनी उस स्थिति पर। सारे दिन वह तरह-तरह के तर्क देकर अपने मन को समझाती, पर रात होने पर, शकर के जाने का वक्त आते ही उसका चेहरा डर से फिर सफेद पड़ जाता।

शकर जबरदस्त सोच में पड़ गया—कि कैसे वह उसे भी स्वामीजी के पास भेज दे—अपनी इस स्थिति से उबरने के लिए।...तब तक अपनी चिकित्सा वाली बात वह उसे बता चुका था...कि किस तरह बच्चे की मृत्यु के दु:ख से सदा के लिए वह छुटकारा पा आया है वहाँ जाकर। लेकिन स्वामीजी के पास जाने की सुशीला के अन्दर कोई भी उत्सुकता उसे नही दिखाई दी; जैसे अपने बच्चे को खोकर, और तीन-चार महीने बनारस में अकेली रहकर, अब वह पल-भर के लिए भी उसे नही छोड़ना चाहती थी। उसके कार्यालय जाने पर जब वह दरवाज़ा बन्द करती, तो उसकी आँखों की वह दृष्टि शकर को देर तक बींधती रहती, मानो वह उसे किसी दूर की यात्रा के लिए विदा कर रही हो... और उसके लौटने पर उसकी आँखें इस तरह खिल उठती, मानो युगों बाद उसे पा रही हो: "तुम्हारे जाने के घंटे दो घंटे बाद से ही घड़ी देखने लग जाती हूँ," वह कहती, "पर हर बार दम सूख जाता है...कि अभी तो लौटने में बहुत देर

है..."

शंकर का दिल मसोस उठता। वह क्या करे जिससे इस बेचारी के दिल का, जो अपने खोये रंजन को भी मानो अब शंकर में ही पाना चाहती हो, वह घाव भर दे, जो भरने की जगह उलटे दिन पर दिन हरा ही होता जा रहा था !

स्वामीजी को अपनी यह समस्या उसने शुरू में ही लिख दी थी, और अधीरतापूर्वक उनके जवाब का इन्तज़ार था।...जवाब आने में देर इसलिए हुई कि आश्रम से अचानक ही वह बरानगर चले गये थे, और शंकर की चिट्ठी उन्हें आश्रम में रहते नहीं मिल पायी।

स्वामीजी से उसने जानना चाहा था कि अगर सुशीला को वह नहीं सँभाल पाया, तो क्या कुछ दिन के लिए वह उन लोगों के पास पटने आ सकेंगे?...अब जवाब मिला कि चिन्मयी की सख़्त बीमारी की वजह से उन्हें बरानगर आ जाना पड़ा है, और उसकी सेवा का क़रीब-क़रीब सारा भार उन्हीं पर है...

तब तो सुशीला को इस बहाने भी स्वामीजी के पास भेजा ही जा सकता है—शंकर के मन में नया ख़याल आया।

चार साल हो चुके थे चिन्मयी का विवाह हुए, और अपनी छोटी-सी कन्या को लेकर वह अपनी माँ के पास आयी हुई थी बरानगर में—उसके पति सतीनाथ राँची में थे और बीच-बीच में ही आ सकते थे—और इसलिए स्वयं स्वामीजी आश्रम से बरानगर आ गये थे उसकी परिचर्या करने।

क्या सुशीला स्वामीजी की इतनी भी मदद नहीं कर सकेगी अब—कि चिन्मयी की सेवा में वहाँ रहकर उनका हाथ बंटाये?

और, इस प्रश्न पर उसे सोचने-विचारने के लिए समय देकर उसने स्वामीजी से इसके लिए अनुमति माँगी।

मगर, स्वामीजी की अनुमति आ जाने पर भी, क्या वह आसानी से सुशीला को उनके पास जाने के लिए राज़ी कर पाया था? कितनी तरह से उसने समझाने-बुझाने की कोशिश की थी: स्वामीजी के प्रति अपनी असीम कृतज्ञता की बात...इस बीमारी में सुशीला को पाकर सिर्फ़ स्वामीजी का ही भार हलका नहीं होगा, बल्कि चिन्मयी का भी जी बहलेगा...और अपनी आठ-नौ महीने की बच्ची की देखभाल का काम उस पर सौंप वह भी कितनी निश्चिन्त हो जाएगी... आदि...आदि...

आख़िर, एक तरह से जबरन ही, उससे हाँ करा ली उसने—अगर ज़्यादा दिन नहीं तो हफ़्ते दो हफ़्ते के लिए ही वहाँ चले जाने के लिए; और जब गाड़ी पर चढ़ाकर वह घर लौटा तो बहुत ही भारी दिल लेकर!...रह-रहकर उसकी वह मूक कातर दृष्टि उसे अन्दर तक बींध देती जो गाड़ी के चल देने के बाद भी

देर तक खिड़की में से उसपर टिकी रही थी।...

मगर तब क्या वह कल्पना भी कर सकता था कि सुशीला फिर पटने वापस लौट ही नहीं पायेगी; उसकी फिर से बसी गृहस्थी को वह फिर उजाड़ देगा?

विद्याभूषण जेल में थे, और शकर ने अपनी ओर से ऐसा कुछ भी नहीं होने देना चाहा जिसकी वजह से उनके हितों पर किसी प्रकार की भी चोट पहुँचे। 'जागृति' एक पब्लिक लिमिटेड कम्पनी थी, जिसके 'शेयरहोल्डरों' और 'डाइरेक्टरों' में से अधिकांश विद्याभूषण के ही विश्वासपात्र थे, जिन्होंने सब-कुछ उन्हीं पर छोड़ रखा था। किन्तु इस बार अपने जिन 'विश्वासपात्र' मित्र को वह मैनेजिंग डाइरेक्टर बना कर गये थे, उन्होंने ही कुछ अन्य डाइरेक्टरों के साथ अन्दर ही अन्दर कुचक्र रचकर उन्हें कमज़ोर कर देने की ठान ली। अभी तक 'दैनिक जागृति' पर—पिछले साल से ही वह 'दैनिक' हुई थी—सम्पादक के रूप में विद्याभूषण का ही नाम जाता रहा था—नाम के आगे कोष्ठक में 'जेल में' लिखकर। अब तय किया गया कि उनका नाम उनके जेल से लौटने के बाद ही जायेगा। और, इस पद के लिए एक विज्ञापन दे दिया गया।

पिछले आठ-नौ साल के बीच शकर जब-जब 'जागृति' में रहा था, 'अग्रलेख' आदि वही लिखता था, पर 'सम्पादक' के रूप में नाम विद्याभूषण का जाता था। 'नाम' के प्रति उनकी इस दुर्बलता का शकर को पता था, किन्तु उनके अहसानों से वह इतना दबा हुआ था, अपने प्रति उनके स्नेह का इस हद तक क़ायल था, कि इस बात को लेकर उसके मन में कोई कटुता नहीं आई थी। पिछली बार भी उनके साथ झगड़कर उसके चले जाने का कारण यह नहीं, कुछ दूसरा ही था।...वस्तुतः उसे इसी में कम सन्तोष नहीं था कि उस पत्र में विद्याभूषण ने उसे इच्छानुसार लिखने की, अपने विचारों को अभिव्यक्ति देने की, काफी आज़ादी दे रखी थी...

अब भी, विद्याभूषण के जेल में रहते, वास्तविक सम्पादक वही था; एक दूसरे सम्पादक की नियुक्ति का जब प्रश्न उठा, तो उसके सामने नयी समस्या आ खड़ी हुई। विद्याभूषण के स्थान पर उसका नाम देने की बात भी एक डाइरेक्टर ने उसके सामने अनौपचारिक ढग से रखी; पर उसने इनकार कर दिया : विद्याभूषण के ही कारण वह फिर यहाँ आया था—पिछले मनोमालिन्य को ख़त्म करने की नीयत से, अब उनके नाम की जगह उसका अपना नाम जाय, यह स्पष्ट रूप से उनके प्रति विश्वासघात होता।

अन्त में एक नये सम्पादक की नियुक्ति हुई, जिसके बाद शकर की स्थिति ही बदल गयी। अब वह सम्पादकीय अग्रलेख, आदि न लिख, समाचार-सम्पादक

का काम करने के लिए विवश कर दिया गया जो, स्पष्ट ही, उसकी पदावनति थी। इसके अलावा, जीवन में पहली बार उसे किसी संस्था में एक साधारण कर्मचारी के रूप में काम करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा था—केवल वेतन-भोगी कर्मचारी के रूप में। पहले क्या, ऐसी स्थिति आने पर, इस्तीफ़ा दिये विना वह रह सकता था ?

इस बार लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। आदर्शवाद और कोरी भावुकता में वह कर अपने 'वर्तमान' उत्तरदायित्व को वह नहीं भूलना चाहता था अब—सावधान रहने और 'सब' बातों पर विचार करके ही कोई फ़ैसला करने की स्वामीजी की शिक्षा को ध्यान में रखते हुए...

रोज़ ही छोटी-मोटी कितनी बातें होती रहीं कार्यालय में, जो पहले उसे वेहद अपमानजनक मालूम होतीं। मालूम अब भी होती थीं, पर 'आज की वस्तु-स्थिति,' 'वर्तमान की यथार्थता' मान उन्हें वह कड़वी दवाई की घूंटों की तरह सटकता चला गया...

कष्ट से वह भागेगा नहीं, अप्रिय से डरेगा नहीं—इस बार का उसका दृढ़ निश्चय था। और, इस संघर्ष में अपने को स्थिर रखने के प्रयत्न में जैसे-जैसे सफलता मिलती गयी, उसका उत्साह बढ़ता गया, आत्म-विश्वास में वृद्धि होती गयी।

स्वामीजी को समय-समय पर वह लिखता रहा। वह भी उसकी चिट्ठियों को, हाशिये पर अपनी छोटी-छोटी टिप्पणियों के साथ, लौटाते रहे :

"बदली हुई परिस्थिति के अनुसार चलना।"..."ठीक।"..."नई स्थिति की प्रतीक्षा करो।"..."सतर्कतापूर्वक अपना क़दम उठाओ।"..."थोड़ा रुको, और देखो, क्या होता है।"..."जब जैसी स्थिति हो तब वैसा करो।"...

अपनी अन्तिम चिट्ठी में उन्होंने लिखा : "अब 'डिफेंसिव ऐटीट्यूड' (प्रति-रक्षात्मक रुख़) रखना—देखते चलो, प्रतीक्षा करो और सावधानी के साथ कदम बढ़ाओ।"

फिर, अचानक एक बिल्कुल ही नयी स्थिति उत्पन्न हो गयी। मैनेजिंग डाइ-रेक्टर ने एक हुक्म जारी किया कि सभी कर्मचारी ठीक वक़्त पर कार्यालय में पहुँचकर हाज़िरी के रजिस्टर में दस्तख़त करें। सम्पादकीय विभाग में जब यह हुक्मनामा लेकर चपरासी आया तो शंकर के सभी सहयोगियों ने विरोध किया, लेकिन शंकर इस कड़वी घूंट को पीने के लिए भी तैयार था। अन्त में सभी साथियों की राय हुई कि मैनेजिंग डाइरेक्टर से उनका कोई सीधा सम्बंध नहीं है; वे सम्पादक का ही आदेश मान सकते हैं। उन्होंने दस्तख़त करने से इनकार कर दिया।

अन्त में सम्पादकीय विभाग ने हड़ताल का निश्चय कर लिया, जिसका

व्यक्तिगत हैसियत से तो शंकर ने विरोध किया, लेकिन साथ ही यह भी साफ़ कर दिया कि अगर बाकी सभी सहयोगी हड़ताल का ही निश्चय करेंगे तो वह उनका साथ ही देगा ।

हड़ताल हो गई, जिसमें कुछ दिन तक तो नये सम्पादक ने भी उन्हीं लोगों का पक्ष लिया, लेकिन मैनेजिंग डाइरेक्टर ने तभी कुछ नये लोगों की नियुक्तियाँ करनी शुरू कर दीं, और धीरे-धीरे पुराने लोगों में से भी कुछ, वेतन-वृद्धि द्वारा फुसलाये जाकर, फूट गये । अन्त में रह गये सिर्फ़ शंकर, और उस विभाग के तीन-चार और पुराने साथी—जिन्हें बर्ख़ास्त कर दिया गया ।

अब उन लोगों के सामने सिवा इसके कोई चारा नहीं रह गया कि 'बोर्ड आफ़ डाइरेक्टर्स' के सामने अपील करें । अपील की गयी, और 'बोर्ड' की बैठक के लिए नोटिस जारी हुआ । हड़तालियों में से कुछ लोग डाइरेक्टरों को अपने पक्ष में प्रभावित करने की तैयारी में जुट गये ।

शंकर बीच में ही लटका रहा, हालाँकि उसके चित्त में कुछ अधिक उद्वेग नहीं था इस बार । अपने साथियों के ख़िलाफ़ जाने का सवाल उठना ही नहीं था; स्वामीजी के वे शब्द उसके कानों में बराबर गूँजते रहते थे : "अपने अलावा दूसरों के भी प्रिय-अप्रिय पर दृष्टि रखना..."

उस समय की परिस्थिति में जो करना उसका धर्म था वह उसने किया; अब इसका परिणाम यदि दुःखद होने वाला है, तो उस दुःख को भी वह स्वेच्छाकृत कर्म का अनिवार्य परिणाम मानकर सहज रूप में ही ग्रहण करेगा...

स्वामीजी ने उसमें यह नया समाचार पाने पर एक नयी ही दृष्टि दी, जिस ओर उसका ध्यान हो नहीं जा सका था ।

"ठीक ही तो है," उन्होंने लिखा, "दिन-दिन किस तरह स्थिति बदलती है—जहाँ तक हो सके 'ऑब्जेक्टिव' रहकर निर्णय करने की कोशिश करना । सिर्फ़ एक बात का ख़याल रखना चाहिए और वह यह है कि 'दल' में काम करने के पहले यह निश्चय हो जाना चाहिए कि 'दल' के 'व्यक्ति' आख़िर तक डटे रहेंगे । जो निश्चय कर चुके उसके आधार पर ही धीरता के साथ चलो ।

"जो हो गया सो हो गया—पर साधारण भाव से यह ख़याल रखना चाहिए कि जब उच्च अधिकारियों के पास अपील करना हो तब अन्तिम निर्णय अपने हाथ में नहीं लेना ही ठीक है । जब 'बोर्ड ऑव डाइरेक्टर्स' के पास अपील करना था तब आख़िरी इनकार ठीक नहीं न ? मैनेजिंग डाइरेक्टर का हुक्म 'विरोध प्रकट करते हुए, और बोर्ड का निर्णय होने तक' मान लेना ठीक था । उससे अपनी स्थिति भी बनी रहती और बोर्ड का अहंकार भी तृप्त रहता—जिसमें अनुकूल राय के लिए सुविधा होती । याद रखना, 'बोर्ड ऑव डाइरेक्टर्स' निःस्वार्थ नहीं है, उससे निष्पक्ष निर्णय की आशा नहीं की जा सकती, उसकी अहंकार भावना

पर चोट न पड़े, यह देखना चाहिए।

"कोई परवा नहीं।...ख़बर देते रहना।"

अन्त में हुआ भी वही। वोर्ड ने हड़तालियों के खिलाफ़ फ़ैसला दिया, और उन लोगों को बरख़ास्त कर दिया गया।

उसे तसल्ली यही थी कि इस बार उसने किसी झोंक में आकर खुद काम नहीं छोड़ा था; सहयोगियों का साथ देकर एक व्यापक हित में क़दम उठाने के लिए परिस्थितिवश बाध्य हुआ था। साथ ही वह विस्मित रह गया, कि स्वामी जी ने व्यावहारिक दृष्टि से जो भूलें दिखाई थीं, वे कितनी सही साबित हुईं।

छः

एक बार फिर से बेरोज़गार हो जाने और सुशीला को फिर से गृहहीन बना देने के आघात मामूली नहीं थे शंकर के लिए, लेकिन वह बहुत कुछ अविचलित ही रह गया उनसे। उसे सन्तोष था कि परिवर्तन की धारा को वह सहज रूप में स्वीकार कर रहा है...कोई भी आघात उसे जड़-मूल से उखड़ने नहीं दे सकता, बड़े से बड़े दुःख का अब वह साहस के साथ सामना कर सकता है।

इसी आत्म-विश्वास को लेकर वह कलकत्ते पहुँचा—नये काम की तलाश में। इस बार उसने निश्चय कर लिया कि हर तरह का काम करने के लिए तैयार रहेगा—पसन्द और नापसन्द, प्रिय और अप्रिय के बीच भेद नहीं करेगा। कलकत्ता-स्थित मित्रों में से जिसने जिस काम की बात कही उसी के लिए वह तैयार हो गया: एक मित्र के साथ, जिनकी वहाँ के मारवाड़ी समाज में काफ़ी क़द्र थी, दो-चार बड़े-बड़े सेठों के यहाँ गया और घंटों 'मुलाक़ात' की बारी आने के लिए धीरज के साथ इन्तज़ार करता रहा; एक दूसरे मित्र के साथ दो-तीन दैनिक पत्रों के संस्थापकों से मिला, और पटने की 'जागृति' के मुक़ाबले कहीं नीचे स्तर वाले उन पत्रों में काम करने की दरख़ास्त दे आया—साधारण उप-सम्पादक वाली जगहों तक के लिए! घोर अपमानजनक लगने वाली कितनी ही स्थितियों के बीच होकर गुज़रना पड़ा उसे—पर उन सबको 'स्वीकार' और हज़म करता चला गया...

सबसे अधिक अपमानजनक अनुभव उसी जालान परिवार के बहुत बड़े मारवाड़ी व्यावसायिक संस्थान के एक 'पार्टनर' से मुलाकात करने के लिए जाकर हुआ। एक मारवाड़ी पुस्तकालय के लाइब्रेरियन की जगह उनके हाथ में थी, और शंकर अपने जिन मित्र के साथ उनकी आलीशान हवेली में गया था वह कभी उस मारवाड़ी नवयुवक के 'प्राइवेट ट्यूटर' रह चुके थे। हवेली की सजी-सजाई शानदार बाहरी बैठक में वे दोनों चुपचाप एक सोफे पर जा बैठे: कई लोग पहले से वहाँ बैठे थे; बाद को भी वैसे ही दर्शनार्थियों की भीड़ बढ़ती गयी।

अचानक सब लोग उठ खड़े हुए : शंकर के वह मित्र भी। शंकर को भी खड़े हो जाना पड़ा।

बाहर आकर रुकी एक बहुत बड़ी मोटरकार से उतर कीमती वेशभूषा में बाईस-तेईस साल का जो युवक अन्दर आया उसने पल भर के लिए ठहरकर आगन्तुकों में से कुछ की ओर उड़ती-सी नजर डाली; और शंकर ने देखा, कि उसके मित्र दो क़दम आगे बढ़कर भी ठिठककर रुक गये। नवयुवक की नजर उनके चेहरे पर से फिसलती किसी दूसरी ओर चली गयी, और फिर वह एक दरवाज़े में गायब हो गया।

धीरे-धीरे सभी लोग फिर बैठ गये।

करीब आधे, पौन घंटे बाद मुलाक़ातें शुरू हुई : उस बाहरी बैठक के बायें दरवाज़े पर पड़े परदे को हटाकर एक-एक आगन्तुक, बुलाहट होने पर, बग़ल के मुलाकाती कमरे में दाखिल होता, और कुछ देर बाद, उसके लौट आने पर, किसी दूसरे मुलाकाती को बुलाया जाता। बाक़ी सभी लोगों के उत्सुक चेहरों पर निराशा की हलकी-सी लहर फैल जाती...

आखिर शंकर के उन मित्र की बुलाहट हुई, और उनके पीछे-पीछे शंकर भी बग़ल वाले कमरे में दाखिल हुआ। एक लम्बी मेज के दोनों ओर दो सोफ़ों पर कुछ लोग बैठे हुए थे, और मेज़ के एक ओर, आराम कुरसी पर, वह नवयुवक, अब बारीक धोती और मलमल का बहुत ही बारीक कुरता पहने लेटा हुआ था—अपनी दोनों टाँगें मेज़ पर फैलाए।

इतने लोगों के बीच उस नौजवान की यह बदतमीज़ी बुरी तरह खल गई शंकर को—जब अपने मित्र के साथ-साथ वह भी एक ओर के सोफ़े पर धीरे से जा बैठा। अपने प्राक्तन अध्यापक के सामने भी वह उसी तरह मेज़ पर टाँगें फैलाये लेटा रहा। कृपापूर्ण एक हलकी-सी मुसकराहट मात्र उसके चेहरे पर दिखाई दी अपने 'मास्टर साहब' को देखकर · "कहिये मास्टर साहब...कैसे हैं?"—और 'मास्टर साहब' की विनम्र भावभंगी के प्रदर्शन की उपेक्षा-सी कर उसी क्षण दूसरी ओर के सोफे पर बैठे मुसाहबनुमा एक व्यक्ति की ओर

मुख़ातिब हो गया।

'मास्टर साहब'—शंकर के मित्र—कुछ झेंपकर रह गये; क्या इसीलिए नहीं—शंकर को लगा—कि वह उनके साथ था, और उनकी इस तरह की उपेक्षा उसके सामने हुई थी?...

बाक़ी जितने लोग उस मेज़ के दोनों ओर बैठे थे वे भी, सब के सब, मुसाहिबों जैसे ही दिखाई दे रहे थे : कोई दांत निपोर रहा था किसी अर्ध-अपमानजनक-से किसी भोंड़े मज़ाक पर...कोई 'हुज़ूर' की विरुदावली का बखान करते भाव-विभोर हो सिर हिला रहा था...कोई उस नवयुवक उद्योगपति के किसी प्रतिद्वन्द्वी की निन्दा का अमृत उसके कानों में चुआ रहा था। सभी की नज़र सिर्फ़ इस ओर थी कि कब 'हुज़ूर' की बाँछें खिलें, और कब यह प्रसाद या पुरस्कार पा वे धन्य हो उठें...

बार-बार शंकर की आँखें भगवान बुद्ध की संगमर्मर की परम शान्त और गंभीर मुद्रा वाली उस प्रतिमा की ओर उठ जातीं जो उस उद्धत नवयुवक के सामने वाली दीवाल के 'मेंटेलपीस' की ही नहीं, उस कमरे की भी एकमात्र सजावटी वस्तु थी, और जिसकी ओर ही उसके पाँव उस मेज़ पर फैले हुए थे।

बड़े हो जाने के बाद शंकर के जीवन में यह पहला मौक़ा था जब इस तरह की असभ्य अपमानजनक स्थिति को भी उसे चुपचाप सहते रहना पड़ा हो।... पर उसने दृढ़ संकल्प कर रखा था इस बार, कि अप्रिय से अप्रिय और अधिक से अधिक अपमानजनक स्थिति का भी वह सामना करेगा और उससे पीछे नहीं हटेगा। ग़रज़ उसकी अपनी है, प्रयोजन उसका अपना है...इस देश के हज़ारों-लाखों बेरोज़गार लोगों को जिन अपमानजनक स्थितियों में से होकर गुज़रने के लिए विवश होना पड़ता है उनके अनुभव से वही क्यों हमेशा बचा रहेगा—ख़ास तौर से अब, जबकि स्वामीजी की कृपा से उसकी आँखें खुल गई हैं, और केवल प्रिय ही प्रिय को लेकर वह नहीं रहना चाहता—ऐसे प्रिय को लेकर, जिसके बाद 'अप्रिय' का आना अनिवार्य है, और जिसकी तैयारी न रहने के कारण ही वह जीवन में इतने बड़े-बड़े आघात पाता आया है।

फिर भी उसे भारी निवृत्ति मिली जब अन्त में क़रीब-क़रीब निराश ही होकर अपने मित्र के साथ वह उस 'दरबार' के जेलख़ाने से छुटकारा पा सड़क पर बाहर आया और वहाँ की आज़ाद खुली हवा में साँस ले पाया। उसके मित्र ने, अन्त में, उस प्राक्तन छात्र की कृपा-दृष्टि फिर से अपनी ओर आकृष्ट देख शंकर का परिचय दे, उसकी विद्वत्ता आदि गुणों का बखान करते हुए जो कुछ कहा था उससे उस युवक के चेहरे की रेखाओं में रंच मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ था, उसकी आंखों में क्षीण से क्षीण भी कोई चमक नहीं दिखाई दी थी, और—सबसे ज्यादा खलने वाली बात यह थी कि शंकर की ओर न एक बार

को तो स्वामीजी ने वहुत-कुछ हलका कर ही दिया था, वल्कि इससे भी वड़ी निवृत्ति वाली वात यह, कि हफ़्तों से वह नियमित रूप से घंटा, आध घंटा उनके पास विताती आ रही थी...

वरानगर के जिस मकान में सात साल पूर्व शंकर ने पहलेपहल स्वामीजी को देखा था वह मकान महायुद्ध में फ़ौज के काम के लिए ले लिया गया था, और और अव जिस छोटे से मकान में स्वामीजी ठहरे हुए थे वह वसाक परिवार के कई अन्य मकानों में से एक था। उससे लगी ही हुई वसाक हवेली में वीमार चिन्मयी को लाकर रखा गया था, और वहीं पटने से आने पर सुशीला को भी टिकाया गया था। स्वामीजी से छुट्टी ले जव शंकर उस हवेली में चिन्मयी को देखने पहुँचा था, जो तव तक क़रीव-क़रीव रोगमुक्त हो चुकी थी, तव वहीं सुशीला भी उसे देखने को मिली।

कितना फ़र्क था सुशीला के इस चेहरे में और पटने से विदा होते वक्त के उसके चेहरे में—जो ही उसकी अनुपस्थिति में शंकर के दिल पर जैसे हमेशा के लिए अक्स रह गया था! तव जैसे वह किसी अन्धकारपूर्ण अनिश्चित भविष्य की ओर धकेली जा रही थी; जवकि अव, एक कहीं अधिक स्वस्थ, धीर, और आस्थापूर्ण व्यक्ति का चेहरा था यह—उस व्यक्ति का चेहरा जो अपने चारों ओर से स्नेह और प्यार से घिरी हुई थी।

शंकर को देखते ही उसका वह चेहरा खिल ज़रूर उठा था, आँखों में भी सहसा एक चमक आ गयी थी, लेकिन कहीं कोई अधीर आतुरता नहीं थी। चिन्मयी और उसकी माँ से शंकर की जव तक वातें होती रहीं, वह भी उनमें खुलकर ही योग देती रही, मानो उसे कोई भी जल्दी नहीं है एकान्त रूप से उसे पा जाने की...

फिर, सव लोगों से विदा ले जव शंकर फिर स्वामीजी के पास आया—सेंट्रल एवेन्यू लौटने के लिए, जहाँ कि वह ठहरा हुआ था, तव सुशीला भी उसके साथ थी। स्वामीजी ने उसकी घरेलू साज-सज्जा में कोई परिवर्तन न देख उसे टोका : "तुम तैयार होकर नहीं आयीं?"

शंकर और सुशीला दोनों ही अचम्भे में पड़ गये।

"शंकर जव आ गया है...और चिन्मयी भी अव काफ़ी अच्छी है," स्वामी जी वोले, "तव—तुम्हें भी क्या वहीं जाकर नहीं रहना चाहिए?..." और सुशीला के चेहरे पर फिर भी असमंजस का-सा भाव दिखाई दिया तो इतना और जोड़ दिया, "सवेरे आ जाया करना और रात को लौट जाना...शंकर के ही साथ।"

सेंट्रल एवेन्यू में शंकर की ससुराल थी : सुशीला के पिता नहीं थे जव शंकर की शादी हुई थी; उसकी विधवा माँ का भार तव वड़ी वेटी निर्मला ने सम्हाला

था जो विवाह करके भी अपने पिता की लम्बी बीमारी में अपने माता-पिता और भाई-बहनों की जिम्मेदारी से अपने को अलग नहीं कर पायी थी और अपने पति की कटूक्तियों की उपेक्षा कर पिता के घर पर रहते हुए ही जीविकोपार्जन में लगी रही थी। दूसरी बेटी विमला का विवाह भी पिता के जीवित रहते ही, उनकी बीमारी के वक़्त हो चुका था, पर तीसरी और चौथी सन्तान—विनोद और सुशीला—पिता की मृत्यु के समय भी कालेज में पढ़ रहे थे। यह सारा बोझ ही बड़ी बेटी निर्मला के कंधों पर आ पड़ा था : सुशीला कुछ महीने बाद ही बी. ए. पास कर कानपुर में एक स्कूल की अध्यापिका होकर चली गयी थी, लेकिन भाई विनोद स्कालरशिप लेकर तब भी एम. काम. में पढ़ रहा था, जिसके बाद उसने एक मित्र के साथ एक विज्ञापन एजेंसी खोल अपना जो काम शुरू किया था उसे जमने में कई साल लग गये थे।

इधर ढाई-तीन साल पहले ही विनोद ने विवाह कर लिया था और बड़ी बहन निर्मला कलकत्ते से कुछ दूर अपने इंजीनियर पति के साथ रहने चली गयी थी। अपनी माँ और नव विवाहित पत्नी को लेकर विनोद अब भी सेंट्रल एवेन्यू स्थित अपने पिता वाले उसी किराये के मकान में रह रहा था जहाँ से सुशीला का विवाह हुआ था : विनोद की बंगाली पत्नी अंजलि सुशीला की ही स्कूल तथा कालेज की सहपाठिनी तथा अन्तरंग सखी थी; सुशीला के कारण ही अंजलि का इस घर में बराबर आना-जाना रहा था, और अपने विवाह से पूर्व भी अंजलि दो-एक बार शंकर-सुशीला की गृहस्थी में मेहमान रह चुकी थी; विनोद-अंजलि के विवाह में आने वाली कुछ बाधाओं को दूर करने में भी शंकर का ख़ास तौर से हाथ रहा था। यही कारण था कि शंकर ने विनोद-अंजलि की गृहस्थी को, जहाँ सुशीला की माँ भी अब बड़ी बेटी का आश्रय छोड़ सुख-शान्ति से रहने लगी थी, अपनी ससुराल की तरह न देख अपने छोटे भाई और बहन की ही गृहस्थी की तरह देखा था। जब भी वह कलकत्ते आता था, बिना कोई झिझक महसूस किये उन्हीं के पास ठहरता था...

सुशीला इस बार पटने से सीधे बरानगर ही आयी थी और इस बीच दो-चार बार से ज्यादा सेंट्रल एवेन्यू नहीं गयी थी। अपनी माँ, भाई और 'बउ-दि' (बंगाली भाभी) बन-उठी अन्तरंग सखी अंजलि के पास कुछ दिन के लिए भी रहने का मौका पाने के लिए किसी समय जो अत्यन्त लालायित रहती थी, उसका इस बार इतने लम्बे वक़्त तक बरानगर ही रहे आना इन लोगों को अच्छा ज़रूर नहीं लगा था, और अब, शंकर के साथ-साथ यहाँ रहने के लिए आ जाने के बाद भी, रोज ही फिर दिन-भर के लिए उसका वहाँ चला जाना! फिर भी कितने सहज रूप में स्थिति को सम्भाल लिया था सुशीला ने, और उनके हलके कटाक्षों को हँसकर उड़ा दिया था।

काम की तलाश में जगह-जगह भटकते दस-पन्द्रह दिन हो गये थे शंकर को, कि एक दिन स्वामीजी उसकी उपस्थिति में ही सुशीला से बोले :

"तुम्हें भी तो किसी स्कूल में पढ़ाने का काम मिल सकता है !...तुम नहीं कुछ काम करना चाहोगी ?"

शंकर ने देखा, सुशीला का चेहरा किसी हद तक फीका पड़ गया है।

ख़ुद उसे भी यह सुझाव कुछ भाया नहीं। अपनी स्त्री से काम कराके उसकी कमाई का सहारा लेना न केवल उसके पुराने बद्धमूल संस्कारों के विरुद्ध था, बल्कि किसी सुखद गृहस्थ जीवन की उसकी अपनी परिकल्पना के भी विपरीत। इसके अलावा, वह जानता था कि सुशीला ख़ुद भी मास्टरी करने से घबड़ाती थी, बी. टी. पढ़ने के लिए भी अगर वह तैयार हुई थी तो सिर्फ़ इस डर से कि दुर्भाग्यवश कभी कोई बहुत ही प्रतिकूल परिस्थिति आयी और शंकर ही न रहा, तो अपना और बच्चे का काम चला सके।

"नहीं स्वामीजी," शंकर ने उसी दम प्रतिवाद किया, "इसे काम करने की ज़रूरत नहीं है।...मैं जल्द कोई काम खोज निकालूंगा ही—"

"तुम्हें तो काम करना ही है," स्वामीजी ने उसके प्रतिवाद को कुछ विशेष महत्त्व न देते हुए जवाब दिया, और साथ ही सुशीला की ओर ताक फिर कहने लगे : "जब तक शंकर को काम नहीं मिलता तभी तक के लिए तो !... फिर, महँगाई का जमाना है...दोनों काम करें तो ज्यादा सहूलियत नहीं हो जायेगी ?" और अपनी स्निग्ध किन्तु तीक्ष्ण सी दृष्टि सुशीला के चेहरे पर गड़ा दी।

"कर लूंगी स्वामीजी," आख़िर सुशीला को राज़ी हो जाना पड़ा, लेकिन शंकर फिर भी ज्यादा खुश नहीं लौटा उस रोज़—स्वामीजी की ओर से सुशीला के लिए भी काम खोजने का एक प्रकार से आदेश ही पाकर। पर अगले दिन जब उसने अकेले में स्वामीजी के सामने एक बार फिर प्रतिवाद किया, तभी जाकर वह समझ पाया कि क्यों स्वामीजी इस बात पर इतना ज़ोर दे रहे हैं। "इतनी बड़ी चोट पड़ी है बेचारी के दिल पर," उन्होंने उसे समझाया, "सारे दिन घर बैठी क्या करेगी ?...कहीं काम करेगी तो मन धीरे-धीरे दूसरी ओर खिसने लग जायेगा..."

और तब से शंकर को, अपने लिए ही नहीं, सुशीला के लिए भी, जगह-जगह की धूल छाननी पड़ी—कभी-कभी तो उसे साथ लेकर भी, लेकिन कुल मिलाकर उसे राहत ही मिली जब सुशीला को कोई काम नहीं मिल सका। यों, सुशीला ने प्रथम कोटि में बी. ए. पास किया था, और सो भी गणित विषय लेकर—जिसके कारण उसे काम मिलने में विशेष कठिनाई न होती। पर पहली बार जिस स्कूल में वह 'इंटरव्यू' देने गयी वहाँ वालों ने यह शर्त रख दी कि ज़रूरत पड़ने पर वह कभी-कभी अंग्रेज़ी का भी क्लास ले लिया करेगी। सुशीला

ने इससे साफ़ इनकार कर दिया और हेडमिस्ट्रेस से यह आश्वासन पाकर भी कि किसी छोटे क्लास में ही अंग्रेजी पढ़ाने का काम वह उसे देगी, वह टस से मस नहीं हुई। "अंग्रेजी मेरी अच्छी नहीं है...अंग्रेजी मैं नहीं पढ़ाऊँगी..." लौट कर शंकर से कहते कहते वह लगभग रो ही पड़ी, और शंकर अन्दर ही अन्दर कटकर रह गया—कि मर्द होकर भी उसने अपनी पत्नी को ऐसी अप्रिय स्थिति में डाला।...बल्कि, उस शाम को जब स्वामीजी ने भी उलटे सुशीला को ही समझाने की कोशिश की, कि छोटे क्लासों में अंग्रेजी पढ़ानी पड़ भी जाय, तो इसमें इतने घबड़ाने की क्या बात—तो सुशीला को कुछ भी कहने का मौक़ा न दे उसी ने उसकी वकालत कर डाली, और एकान्त रूप से अनुरोध किया कि सुशीला को अभी छोड़ दिया जाय।...एक ट्यूशन शंकर को तब तक मिल चुकी थी, और एक दूसरा काम भी जल्द ही मिल जाने की आशा थी।

पर कितनी तेजी के साथ शंकर का वह सारा आत्म-विश्वास, बालू पर चुने गये महल की तरह, भहराकर गिरने लग गया—जब एक-के-बाद एक कई ऐसी घटनाएं घटती चली गयीं जिनकी उसने कल्पना ही नहीं की थी...

आठवें दरजे के तेरह-चौदह साल के एक विद्यार्थी को अंग्रेजी, इतिहास और गणित पढ़ाने के लिए दो घंटे रोज की एक ट्यूशन मिली थी उसे—पचास रुपये महीने पर—और दो-एक दिन में ही वह भांप गया था कि दरअसल वह लड़का सिर्फ़ अंग्रेजी और इतिहास में ही कच्चा था : गणित तो, एक मारवाड़ी सेठ का वह लड़का, उल्टे उसी को पढ़ा दे सकता था। इसलिए, सिर्फ गणित का उस दिन का पाठ पढ़ाने के लिए ही शंकर को ख़ास तौर से तैयारी करके आना पड़ता था : बल्कि उस दिन वाले गणित के सवालों में से घर पर दो-चार सवाल वह ख़ुद लगाकर देख लिया करता था, और कोई मुश्किल मालूम होने पर सुशीला से समझ लेता था।

एक दिन की बात है। घर से निकलते ही ज़ोर की बारिश होने लगी, और वहाँ पहुँचते-पहुँचते, छाते के बावजूद, शंकर बुरी तरह भीग गया। पहले तो उसने रास्ते से ही लौट जाना चाहा, क्योंकि गीले कपड़ों में दो घंटे बैठकर पढ़ाने की बात नितान्त अव्यावहारिक थी। लेकिन फिर तय किया कि वहाँ जाकर खबर दे आये कि आज वह छुट्टी रखेगा। मगर वहाँ पहुँच कर देखा कि बीच की सड़क करीब घुटने-भर पानी में डूबी हुई थी। कुछ देर वह खड़ा सोचता रहा, कि क्या करे; अन्त में सड़क पार करके और ज़्यादा भीगने में कोई तुक न देख वहीं से वापस लौट गया।

अगले दिन उसके वहाँ पहुँचने पर, पढ़ने वाले कमरे में उसे ले जाने के

पहले ही नौकर ने इत्तिला दी कि ड्राइंग-रूम से सेठ जी से वह मिलता जाय।

ख़ुद कैफ़ियत देने से पहले ही लड़के का वाप उससे कैफ़ियत माँग सकता है, यह वात शंकर के दिमाग़ में आई ही नहीं थी। अपमान की इस कड़वी घूँट को किसी तरह गले के नीचे उतारता वह सेठजी के सामने हाज़िर हुआ।

"कल आप नहीं आये थे—?" उसकी ओर नज़र उठाये विना ही चालीस-वयालीस साल के सुशिक्षित, भद्र और आधुनिक विचारों वाले सेठजी ने पूछा तो सौम्य-से स्वर में ही, लेकिन शंकर को लगा, जैसे उसे अपराधी के कठघरे में खड़ा कर दिया गया है।

थोड़े से थोड़े शब्दों में उसने सफ़ाई दी : किस तरह सड़क के उस पार से ही उसे लौट जाना पड़ा था। किन्तु इतना कहते-कहते ही जैसे उसका गला खुश्क हो उठा।

"कहीं से टेलीफ़ोन ही कर देते।" इस वार सेठजी की नज़र उसकी ओर उठी। "लड़का काफ़ी देर इन्तज़ार करता रहा...उसका उतना वक़्त ख़राव हुआ—"

टेलीफ़ोन शंकर भला कहाँ से कर सकता था?...इतनी सारी सहूलियतें उसे नसीव होतीं, तो क्या वह आज इस तरह किसी लड़के की ट्यूशन करने के लिए किसी सेठ की ड्योढ़ी के अन्दर पाँव रखता!

वह कुछ नहीं वोला।

"आगे से...कभी आ न सकें तो—ख़वर ज़रूर भिजवा दिया करें," सेठजी के मुंह से आख़िरी वाक्य निकला, और उसकी ओर से आँखें हटा अख़वार पढ़ने में दत्तचित्त हो गये।

अपने विद्यार्थी के कमरे में जव शंकर दाख़िल हुआ, उसे लगा, उसकी टाँगें काँप रही हैं...

अँग्रेजी और इतिहास के पाठ पढ़ाते-पढ़ाते शंकर वहुत-कुछ प्रकृतिस्थ हो गया, हालांकि उसके दिल में वरावर ही सन्देह-सा वना रहा कि वह लड़का अपने वाप के सामने हुए उसके उस अपमान का अप्रत्यक्ष रूप में साक्षी था, और मानो उसकी परीक्षा लेने के लिए ही, यानी उसे और भी कुण्ठित करने के लिए, वीच-वीच में कोई ऐसी वात पूछ लेता था जिसे वह पहले से ही जानता हो...

गणित के पाठ के समय, अन्त में, उसने एक ऐसा सवाल उससे समझना चाहा जिसे पिछले दिन ही शंकर ने सुशीला की मदद से घर पर ही हल किया था, लेकिन जिसकी पेचीदगियों में शुरू-शुरू में वह काफ़ी उलझा था।...आज

घर से चलने से पहले उसने पिछले दिन वाली अपनी तैयारी पर ही भरोसा कर लिया था, लेकिन अब उसे अपनी भूल का पता चला। कल सुशीला की मदद से वह उलझन जिस तरह हल हुई थी उसकी एक झिलमिलती-सी झाँकी, अब उस सवाल को हल करते वक्त एक बार सामने आकर दूसरे क्षण ही गायब हो गयी, जिसके बाद का एक-एक पल उसके दिल और दिमाग के लिए हथौड़े की एक-एक चोट बनता चला गया और, हर क्षण ही, उसे लगता रहा कि वह लड़का मन ही मन उस पर हँस रहा है...

आखिर शंकर का दिमाग बुरी तरह झनझना उठा। वह समझ गया कि आज उसकी सारी कोशिश बेकार होगी। और इस विफलता की कुण्ठा, लज्जा, और ग्लानि का बोध जिस तीव्रता के साथ उसके अन्दर बढ़ता गया उतनी ही तेजी के साथ उसे लगने लगा जैसे उसके नीचे की धरती खिसकती चली जा रही है।

अन्त में पूरा जोर लगाकर उसने एक फैसला कर डाला।

"...ओ—आज तो मुझे एक बहुत जरूरी काम से जल्द ही घर लौट जाना था।...पहले याद ही नहीं रहा।...अब यह सवाल कल होगा—" कहता वह तेजी के साथ उठ खड़ा हुआ, और उस लड़के की ओर से किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया के लिए न ठहर, उसी दम, धड़धड़ाता हुआ उस कमरे से बाहर निकल, जीना पार कर, नीचे के सदर दरवाजे से बाहर आ खड़ा हुआ।...और, उसके बाद भी, इस तरह तेजी के साथ और धड़कते दिल से सड़क पार कर अपने घर का रास्ता पकड़ बड़े-बड़े कदम रखने लगा, मानो कोई उसका पीछा कर रहा हो।

अगले दिन न वह उस ट्यूशन पर गया, और न ट्यूशन छोड़ देने की नोटिस देने। आठ-दस दिन के अपने काम का वेतन तो उसने छोड़ा ही, भविष्य के लिए कोई और ट्यूशन न करने का फैसला भी उसके अन्दर आप-से-आप पक्का हो गया।

और—कई दिन बाद तक भी, रह-रहकर अचानक वह चौंक पड़ता — जब कि अपनी पीठ के पीछे उसे उसी लड़के का अट्टहास-सा सुनाई पड़ जाता, और अपने अन्दर की गहराइयों तक वह बुरी तरह दहल उठता। बल्कि, कभी कभी तो, किसी भी सड़क पर चलते उसे लगता—बगल वाली ऊँची इमारत की खिड़की से खड़ा वही लड़का उसकी ओर घूर रहा है...

आत्म-विश्वास के पिछले ज्वार के बाद आने वाले इस भाटे से शंकर सम्हल भी नहीं पाया था, कि दूसरी चोट, इस बार, सुशीला की ओर से पड़ी, और बिलकुल ही अप्रत्याशित रूप में।

उस ट्यूशन के 'छूट जाने' की असली वजह, अपनी उस विफलता और

तज्जनित लज्जा की वात, सुशीला के सामने भी खुलकर रखने का वह साहस नहीं कर सका था। अपने पहले वाक्य पर ही उसके चेहरे को जव उसने एकदम ही भारी हो जाते देखा था तो उसकी किसी भी वात का जवाव देने की उसकी सारी इच्छा लुप्त हो गयी थी।

दो-चार दिन वाद की वात है। रोज़ की तरह, काम की तलाश में सारे दिन जगह-जगह की धूल छानने के वाद थका-थकाया जव वह घर लौटा, सहज रूप में ही एक प्याला गरम-गरम चाय वनाकर ले आने की माँग सुशीला से कर वैठने पर, ताज्जुव के साथ उसने देखा कि चाय वनाकर लाने की जगह वह न सिर्फ़ जैसी की तैसी वैठी रह गयी, वल्कि उसके चेहरे पर एक कठोर तनाव-सा भी आ गया।

"क्यों, चाय नहीं मिलेगी ?" शंकर ने ज़रा रूखेपन के साथ पूछा।

पर सुशीला की आँखों से जैसे चिनगारियाँ छूट रही थीं। "महीने-भर से ज्यादा हो गया...दूसरों के घर पड़े-पड़े," तैश के साथ वह कह उठी, "तुम्हें शर्म भी नहीं आती...वार-वार चाय के लिए कहने में ?"

शंकर का पूरा चेहरा तमतमा उठा, मगर सिर तक जा चढ़े गुस्से को अन्दर ही अन्दर घूंट-सी पीकर रह गया।

फिर, कुछ देर वाद, चाय का प्याला लेकर जव वह आयी, तव वात को आगे न वढ़ने देने के लिए शंकर ने उसकी दो-एक घूंट लेकर उसे ठण्डा होने के लिए छोड़ दिया, और फिर, जव वह विलकुल ही ठण्डी और वेस्वाद हो गयी तव एक वार में ही गटगट करके उसे गले में उतार पूरा प्याला ख़ाली कर दिया।

उस रात को सुशीला से उसने कोई भी वात नहीं करनी चाही, वल्कि रात-भर का उसका सामीप्य भी उसे वुरी तरह खल उठा।

विनोद और अंजलि के साथ शंकर का जैसा सम्वन्ध पिछले कुछ वर्षों के वीच वन चुका था उसके कारण उसके मन में यह वात आ ही नहीं पा रही थी कि उन दोनों का वहाँ रहना उन लोगों के लिए अप्रिय हो सकता है; सुशीला ने वह वात क्यों कही, इसपर कितने ही तर्क-वितर्क उसके दिमाग़ में उठते रहे, पर वह कुछ भी ठीक नहीं कर पाया। और जितनी ही उसकी उलझन वढ़ती गयी, उतना ही वह सुशीला की ओर तनता चला गया।...क्या वह यह देख नहीं रही है कि किस तरह काम की तलाश में, आत्म-सम्मान की भावना को भी तिलांजलि दे, वह दर-दर भटकता फिर रहा है ?...क्या उसके दिल में इस वात के लिए जरा भी कृतज्ञता नहीं है कि स्वामीजी के कहने पर भी वह उससे काम नहीं कराना चाहता ?

मगर कहा उसने कुछ नहीं। आहत-अभिमान की तुषाग्नि में अन्दर ही

अन्दर सिर्फ सुलगता चला गया अगले कुछ दिन तक; घर के अन्दर उतने ही वक्त रहा जितना अनिवार्य था, बाकी सारा वक्त बाहर ही बिताने लगा— पहले से भी ज्यादा कड़ा जी करके काम की तलाश में...

और तभी, पहले-पहल, उसे एक बिलकुल ही नयी बात का पता लगा अपने अन्दर की गहराइयों में।

न जाने किस तरह का एक डर-सा घुस बैठा है उसके अन्दर : सहानुभूतिपूर्ण मित्रों के अलावा किसी भी व्यक्ति का सामना करने में एक अजीब-सी घबड़ाहट, बल्कि सड़क पार करते, या ट्राम-बस में चढ़ते वक्त, अपरिचित व्यक्तियों की भीड़ के बीच एक अजीब-सी दहशत। उसका दिल तेजी से धड़कने लग जाता...और, अजनबी लोगों की उस दुनिया में अगर कभी साधारण से साधारण भी परिचित कोई व्यक्ति मिल जाता, तो लगता जैसे अथाह जल में डूबते-उतराते हुए अचानक उसके पाँव धरती से छू गये हैं।

धीरे-धीरे, कुछ ही दिनों के अन्दर यह स्थिति आ गयी कि न उसे घर में शान्ति थी, न बाहर ही वह अकेला आजादी के साथ घूम-फिर सकता था। काम की तलाश में निकलने के लिए जब तक किसी मित्र का साथ न मिल जाता तब तक वह मानो भालुओं और भेड़ियों से भरे जंगल में होता...

अन्त में, विवश होकर, स्वामीजी को अपनी इस नयी स्थिति के बारे में उसने लिखा। वह तब तक बरानगर छोड़ वर्षा-प्रवास पर हजारीबाग रोड चले जा चुके थे, और जाते वक्त भी कह गये थे कि सामर्थ्य को देखकर ही वह अपने कदम उठायें...

स्वामीजी ने जवाब में लिखा कि घबड़ाने की कोई बात नहीं है, सावधान रहकर चलने से भी अगर वह अपनी 'घबड़ाहट' पर काबू न पा सके, तो दोनों ही यहाँ चले आयें।

लेकिन उसी बीच उसे एक प्रकार से बिना प्रयास किये एक मनोनुकूल काम मिल गया और फिर से स्वामीजी के पास भागकर जा पहुँचने की सहसा प्रचण्ड हो उठी इच्छा पर उसने कसकर लगाम लगायी।

विनोद विज्ञापन-जगत का प्राणी था, और पटने की 'जागृति' के कलकत्ता स्थित विज्ञापन-प्रतिनिधि शर्माजी से भी शकर की कई वर्षों की मित्रता थी। इन्हीं दोनों के कारण कलकत्ते के विज्ञापन-जगत के दो-चार जिन व्यक्तियों के साथ शकर का कुछ पुराना परिचय था उनमें सन्तराम उसके विशेष प्रशंसकों में थे। कुछ ही काल पूर्व उन्होंने विज्ञापन प्राप्त कर सकने की अपनी कुशलता के बल पर 'चपला' नाम की एक पत्रिका निकाली थी, जो कुछ ही काल में स्वावलम्बी हो गयी थी। इस पत्रिका की कुल व्यवस्था सन्तराम और उनकी पत्नी मिलकर

ही करते थे—यहाँ तक कि 'डिस्पैच' जैसे काम भी। सन्तराम पंजावी थे और हिन्दी अच्छी नहीं जानते थे। उर्दू में ज़रूर वह अच्छा लिख लेते थे और इस बीच अपने लिखे उर्दू सम्पादकीय लेखों का वह शंकर की मदद से हिन्दी अनुवाद कराते रहे थे। कई बार वह अपनी यह अभिलाषा व्यक्त कर चुके थे कि 'चंचला' में मुनाफ़ा होने लगे तो शंकर को वह, पूरे समय के लिए नहीं तो 'पार्ट-टाइम' पर ही, 'सम्पादकीय सहयोगी' नियुक्त कर लें। पर इसके लिये अभी समय नहीं आया था।

एक रोज़ शाम को सन्तराम के यहाँ शंकर की खाने की दावत थी। उनके दो-एक मित्र और निमंत्रित थे, जिनमें कलकत्ते के एक पंजावी उद्योगपति लाला हंसराज भी थे। संयोग यह कि लाला हंसराज कुछ वर्षों से 'आनन्द' नाम का एक हिन्दी दैनिक पत्र भी कलकत्ते से निकालने लगे थे, जिसे दरअसल उनके एक वाल्यवंधु सुधाकर का शौक़ पूरा करने के लिए ही शुरू किया गया था। पत्रकार के रूप में शंकर का परिचय कराए जाने पर लाला हंसराज उछल-से पड़े : उनके वाल्यवंधु, और 'आनन्द' के सम्पादक, सुधाकर मनमौजी तवीयत के युवक थे, और इस वार एक महीने के लिए पंजाव जाकर दो महीने वीत जाने पर भी लौटे नहीं थे; वल्कि दो ही चार दिन पहले किसी वात पर रूठकर सदा के लिए 'आनन्द' से छुट्टी ले लेने का अपना 'पक्का' फ़ैसला उन्हें लिख दिया था।
"मैं तो अव तंग आ गया हूँ, भाई सन्तराम," संक्षेप में अपनी समस्या रखकर लाला हंसराज खीझे-से स्वर में वोले, "सुधाकर के लिए मैंने जो-जो किया, आप अच्छी तरह जानते हैं।...इसके कितने ही ख़वतों की वजह से 'आनन्द' 'सेल्फ़-सपोर्टिंग' नहीं हो सका।...मगर मैं भी अव ऊव गया हूँ उसके इस वेमुरौअ-ताना रुख़ से। उसे घमंड हो गया है कि उसके विना 'आनन्द' चल नहीं सकेगा... और शायद यह भी कि उसकी दोस्ती के वग़ैर मेरी भी गुज़र नहीं।...मगर मैंने भी तय कर लिया है कि उसे वापस आने के लिए नहीं लिखूँगा...'आनन्द' के लिए नया 'एडीटर' ढूंढ़ूंगा।...अच्छा हुआ, आपके दोस्त उदयशंकरजी से यहाँ मुलाक़ात हो गयी...अगर इन्हें एतराज़ न हो, तो कल से ही काम सम्हाल लें। सिर्फ़ एक ही शर्त है मेरी ओर से...एक महीना हम दोनों एक-दूसरे को समझ लें, जिसके वाद ही इन्हें 'एपांइटमेंट लेटर' दूंगा।"

और, मानो एक ही साँस में, विना दूसरे पक्ष की प्रतिक्रिया की ओर ध्यान दिये, लगातार इतना सव कह चुकने के वाद शंकर की ओर पहले-पहल सीधे मुख़ातिव हुए : "माफ़ कीजियेगा, लाग-लपेट करना मैं नहीं जानता। लाला सन्तराम की ही तरह सीधी और साफ़ वात करना पसन्द करता हूँ।...अभी मैं डेढ़ सौ रुपये महीने आपको दूंगा। काम होगा—सम्पादकीय लेख लिखना, और साप्ताहिक मैगेज़ीन सेक्शन के लेखों-कविताओं को एडिट करना। मुझे काम से

मतलब है, वक्त की किसी तरह की पाबन्दी से नहीं।...हाँ, मशीन नहीं रुकनी चाहिए, और न 'मैटर' की कमी से कम्पोज़िटरों को खाली बैठना पड़े।"

और, जब तक शंकर कुछ जवाब दे सकता, सन्तराम ने खुद ही उसकी ओर से मंज़ूरी दे डाली।

"मुझे खुशी हुई," लाला हंसराज ने सन्तराम की मंज़ूरी को शंकर की ही मंज़ूरी मान, उसी दम आगे कहना शुरू किया, "दूसरी बात यह भी अभी से साफ़ रहे, कि एक महीने बाद हम दोनों ही आज़ाद रहेंगे—एक-दूसरे के साथ यह रिश्ता क़ायम रखने, न रखने के लिये।...अगर रिश्ता कायम न रह सका, तो किसी को किसी से कोई शिकायत नहीं रहेगी—"

लेकिन शंकर को एक महीना नहीं रुकना पड़ा। काम शुरू किये उसे दस-बारह दिन ही हुए होंगे कि सन्तराम से मुलाक़ात होने पर उन्होंने बताया : लाला हंसराज उसके सम्पादकीय लेखों से पूरी तरह सन्तुष्ट हैं और स्थायी रूप से उसकी नियुक्ति करने को तैयार—अगर शंकर को भी यह 'रिश्ता' पसन्द हो। बल्कि, उन्होंने एक तरह से यह इशारा भी किया, कि तीन-चार महीने बाद वह उसका वेतन बढ़ाकर दो सौ भी कर दे सकते हैं।

पटने की 'जागृति' से शंकर को कुछ महीने पहले डेढ़ सौ ही मिलते थे, और द्वितीय महायुद्ध के कारण सभी चीज़ों का दाम काफ़ी चढ़ जाने के बाद भी उसकी छोटी-सी गृहस्थी के लिए कलकत्ते में अब भी डेढ़ सौ रुपया काफी ही था।

जब तक कलकत्ते में शंकर की अपनी आमदनी का कोई ज़रिया पक्का नहीं हो पाया था तब तक अपने साले विनोद की गृहस्थी में अपने और सुशीला के भोजन-व्यय के मद में कोई नकद रकम देने की बात दोनों में से किसी भी पक्ष के लिए शोभनीय नहीं थी। कलकत्ते आते वक्त उसके पास कोई डेढ़-दो सौ ही रुपये थे, और इसी पूँजी में से समय-समय पर, बाहर से लौटते वक्त, घर में काम आने वाली कुछ चीज़ें वह ख़रीद लाता था। पर उनकी भी एक सीमा थी जिससे ज़्यादा लाने पर उसे अंजलि से भी उलाहना मिलता था और, विनोद के आने पर, उससे भी।...दरअसल उस दिन सुशीला ने उस पर जो तीक्ष्ण व्यंग्य बाण छोड़ा था उसके पीछे भी, शंकर को बाद को पता लगा, विनोद या अंजलि के व्यवहार से उत्पन्न लज्जा नहीं थी, बल्कि सुशीला की माँ का, मानो हँसी-हँसी में कहा गया ही एक हलका-सा इशारा : दामाद की ससुराल में ज़्यादा दिन रह जाने से इज्ज़त घट जाती है...

बाद को जब सुशीला से, उस दिन की सफ़ाई के तौर पर, शंकर को यह बात मालूम हुई थी तब भी वह बुरी तरह तिलमिला उठा था, लेकिन तब सुशीला ने ही उसके दिल पर यह कहकर मलहम लगाने की कोशिश की थी कि उसकी विधवा माँ अपने पति की लम्बी बीमारी में, और उनकी मृत्यु के बाद भी

काफ़ी अरसे तक, काफ़ी तंग हालत में रही हैं; [फिर, उन लोगों के आपसी स्नेह की मार्मिकता और उसकी मर्यादा को भी पूरी तरह हृदयंगम करने में वह अक्षम है...

जो भी हो—महीना पूरा होने पर पहली तारीख़ को दैनिक 'आनन्द' में बाईस-तेईस दिन का वेतन मिलने पर—जो एक सौ रुपये से कुछ अधिक ही था—शंकर ने वह कुल की कुल रक़म सुशीला के हाथ में रखते हुए उसी दम अंजलि को दे आने के लिए कहा, और जब उसे इधर-उधर करते देखा तो ख़ुद ही अंजलि को पुकार कर बुलाया, और साथ में लायी मिठाई का पैकेट उसके हाथ में थमाते हुए हँसते-हँसते बोला :

"लो—यह है मेरी पहली कमाई की मिठाई...और यह लो, पूरी की पूरी कमाई।" और दूसरा हाथ जेब में डाल उसमें से नोटों का वह लिफ़ाफ़ा भी निकाल उसकी ओर बढ़ा दिया।

"मिठाई जरूर मेरी है दादा," अंजलि ने हँसते-हँसते भी मानो कुछ झेंपते हुए जवाब दिया, और रुपयों के लिफ़ाफ़े वाले उसके हाथ की ओर इशारा करती बोली, "यह आप और 'उनके' बीच की बात है...मैं इसमें नहीं पडूँगी—"

और उसी दम पीठ फेर उस कमरे से निकल गयी।

शंकर का खोया आत्म-विश्वास, उसके बाद, एक बार फिर तेज़ी से वापस लौटना शुरू हो गया : विनोद को समझा-बुझाकर उसने एक सौ रुपया मासिक घर-ख़र्च के मद में स्वीकार करने के लिए उसे तैयार कर लिया, और सुशीला के दिल पर जमते हुए उस बोझ को उतार ख़ुद भी भारी राहत पायी।

दूसरी ओर, 'आनन्द' के कामकाज में भी उसका किसी हद तक मन लग गया—ख़ास तौर से दीवाली के अवसर पर निकाले गये उसके विशेषांक, और उसमें लिखे उसके अग्रलेख पर स्वयं लाला हंसराज के मुँह से अपनी प्रशंसा सुनकर, जब कि एक दिन 'आनन्द'-कार्यालय में आकर वह सीधे उसी के कमरे में चले आए, और सम्पादकीय विभाग के अन्य सभी कर्मचारियों के सामने उसे विशेषांक के लिये बधाई दे डाली।

फिर, अचानक ही कोई बात कहते-कहते रुककर लाला हंसराज 'आनन्द' के प्रमुख सहकारी सम्पादक प्रदीपजी को सम्बोधित करके कह उठे :

"उदयशंकरजी भी क्या इसी भीड़-भाड़ में बैठकर अग्रलेख लिखते हैं, प्रदीपजी ?...इन्हें अलग कमरा नहीं दिया गया है ?"

"अलग कमरा तो...कोई और है नहीं—" संकोच और दुविधा की मूर्ति बने दुबले-पतले लम्बे-से प्रदीपजी ठिठकते स्वर में बोले।..."एक ही तो कमरा और है...सुधाकरजी वाला।"

"तो—उसे क्यों नहीं खुलवा दिया ?" लाला हंसराज भी किसी हद तक

दुविधा के साथ मुँझला-से उठे।

"उसकी तालो तो सुधाकरजी के ही पास रहती थी..." प्रदीप जी और भी गड़बड़ा उठे।

"तो क्या...ताली भी यह हजरत साथ ही लेते गये?...उसका क्या अचार डालेंगे लाहौर में?"

मगर शंकर जैसे इतने से ही कृतकृत्य हो उठा। लाला हंसराज ने उसे इतना मान देना चाहा, उसकी सुविधा-असुविधा की बात उनके दिमाग में आयी—यही क्या कम था?

...पहले दिन जब वह सेंट्रल एवेन्यू से बस से और फिर आधे घंटे बाद एक दूसरी जगह से ट्राम से चढ़कर, डेढ़ घंटे के सफर के बाद, कलकत्ते के एक उप-नगर में स्थित 'आनन्द' कार्यालय में पहुँचा था, तब यह प्रदीपजी ही थे जिन्होंने सम्पादकीय कमरे की सबसे कम भद्दी अपनी मेज उसी दम, शंकर के मना करने पर भी, परम सौजन्यपूर्वक उसके लिए खाली कर दी थी। लेकिन कई लोगों की उस भीड़भाड़ के बीच, खास तौर से सम्पादकीय लेख लिखते वक्त, काम करना उसे काफी अखर गया था, और उसने उनसे पूछा भी था कि क्या उतने वक्त के लिए भी उसे कोई अलग जगह नहीं मिल सकती? और, प्रदीपजी को जब उसने कोई जवाब देने की जगह सिर्फ सकपकाते देखा था तब दिल में उठे इस सवाल को उनके सामने रखने का इरादा छोड़ दिया था—कि सुधाकरजी भी क्या यहीं, इस भीड़भाड़ में, लिखते पढ़ते थे?

लेकिन अब जब स्वयं लाला हंसराज को उसने इस मामले में अपनी फिक्र करते देखा तो तब तक का जमा होता वह असन्तोष बहुत-कुछ धुल गया; उसे पूरा भरोसा हो गया कि अगली बार उनके यहाँ आने से पहले तक उसकी यह समस्या हल होकर ही रहेगी।

पर लाला हंसराज की जगह, दो-चार दिन बाद ही, सर्वथा अप्रत्याशित रूप से आ पहुँचे स्वयं सुधाकरजी।

उनके पुनराविर्भाव का पता उसे, बड़े नाटकीय ढंग से, कार्यालय पहुँचने पर तब लगा जब अपनी मेज पर उसने प्रदीपजी को जमे देखा, जो उसे देखते ही पहले तो उठकर पान-तमाखू की पीक छोड़ने बाहर गये, फिर लौटने पर बोले, "सुधाकरजी आ गये हैं...आपके लिए भी उन्होंने अपने ही कमरे में मेज लगवा ली है।"

शंकर को सहसा लगा, जिस जमीन पर वह खड़ा है वह डगमगा उठी है।

प्रदीपजी शायद किसी हद तक उसके दिल की हालत को भाँप गये, और हमदर्दी के साथ बोले:

"चलिये, उनसे आपकी मुलाकात करा देता हूँ—" जिसके बाद, उसके

साथ चलते-चलते, राह में इतना और जोड़ दिया, "बहुत ही भले आदमी हैं... बड़े-छोटे सभी के साथ दिल खोलकर बात करते हैं—"

पहले तो शंकर के दिल में यही आया कि बीच में ही प्रदीपजी का साथ छोड़ वह किसी बहाने उस दिन की छुट्टी ले सीधे घर लौट जाये और ज़रा शान्त होने पर तय करे कि उसी दम इस्तीफ़ा देकर स्वामीजी के पास हज़ारी-बाग रोड चले जाना ठीक होगा...या लाला हंसराज से सीधे, या सन्तराम के ज़रिये, मिलना ज्यादा सही होगा। लेकिन अन्त में, एक तरह से यंत्र-चालित की ही नाईं वह प्रदीपजी के साथ-साथ चलता, उन सुधाकरजी के सुसज्जित कमरे में दाख़िल हो गया—बहुत-कुछ इसी कारण, कि अपने बढ़े हुए आत्म-विश्वास में आने वाले पिछले भाटे के बाद इधर कुछ हफ़्तों के अन्दर नये सिरे से जो ज्वार-सा आना फिर शुरू हुआ था उसके बल पर एक बार फिर वह अपनी सहन-शक्ति की परीक्षा कर लेना चाहता था : इन सुधाकरजी से मिले बिना, उनके साथ—या उनके नीचे ही—काम करने का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किये बिना, पहले से ही मैदान छोड़कर भाग नहीं खड़ा होगा वह...

पूरे तीन दिन तक शंकर ने सुधाकरजी की आलीशान मेज़ से दूर एक कोने में लगी छोटी-सी मेज़ के पीछे बैठे-बैठे, उनके लिखे सम्पादकीय लेखों के प्रूफ़ देखे, और बाक़ी वक़्त में, उनके आदेशानुसार, आम सम्पादकीय कमरे में जाकर समाचारों के अनुवाद में प्रदीपजी और अन्य सहकारी सम्पादकों की मदद की।

पहली मुलाक़ात में ही, प्रदीपजी द्वारा उनके साथ परिचय कराये जाने पर, शंकर ने देखा था कि सहसा ही अत्यधिक गंभीर मुद्रा धारण कर उन्होंने इस तरह उसकी ओर ताका था जैसे कोई भिखारी पैसा-दो पैसा पाने के लिए उनके पास भेज दिया गया हो।

...प्रतिष्ठाजनक और मनोनुकूल काम पा जाने पर, और फिर उस काम की क़द्र भी की जाने पर, सुशीला की माँ और भाई के घर में फिर से सिर ऊँचा करके रहने लायक़ बन सका था शंकर, और उस घर की दीवालों के संरक्षण में पहुँच उसका सारा आत्म-विश्वास फिर लौट आता था—हालाँकि घर और 'आनन्द' कार्यालय के बीच का सफ़र फिर भी उसके लिए हर रोज किसी न किसी हद तक खौफनाक़ बना ही रह गया था : रास्ता पार करते और बस या ट्राम में अजनबी लोगों की भीड़ में होकर अपना रास्ता बनाते तब भी उसका दिल कुछ देर तक धड़कता रहता था।

लेकिन सुधाकरजी के साथ हुई उस पहली मुठभेड़ ने ही उसे फिर पूरी तरह उखाड़ डाला, और क्षण-भर में ही उसे फिर उसी जगह ला पटका जहाँ वह सन्तराम के घर पर लाला हंसराज के साथ हुई पहली मुलाक़ात के पहले था, या

सेठजी के उस सड़क के वन्नित अट्टहास के यत्न। सुधाकरजी के साथ निभा-कर काम करने की कोशिश के उसके वे तीन दिन प्रचण्ड अन्तर्द्वन्द्व के दिन सिद्ध हुए—जब कि कार्यालय के अन्दर या बाहर, घर में या ट्राम-बस में, हर यत्न, हर क्षण, उसके अन्दर दो मल्ल एक-दूसरे के साथ उठा-पटक करते रहे।... सुधाकर के नाम से उसे नफ़रत हो गयी...सुधाकर की शक्ल से चिढ़ हो गयी... सुधाकर का सामना करने में उसे जैसे दहशत होने लगी। उसकी विचार-शक्ति जैसे बिलकुल ही कुण्ठित हो गयी थी इस मामले में और जितनी ही उसने अपने ऊपर दबाव डालने की कोशिश की, और मन को समझाना चाहा, कि जीविका के लिये मान-अपमान की इस तरह की कसौटी लेकर चलना उसे अब शोभा नहीं देता—ख़ास तौर से स्वामीजी से प्राप्त नयी दृष्टि के बाद—उतना ही वह उत्तरोत्तर विक्षुब्ध...बल्कि विक्षिप्त होता चला गया।

तीन दिन के बाद वह 'आनन्द' कार्यालय नहीं जा सका, और, अपने मित्र सन्तराम की मार्फ़त, लाला हंसराज के पास आख़िर अपना इस्तीफ़ा भिजवा दिया। सन्तराम ने उसे हर तरह से समझाया-बुझाया, सुधाकरजी की ज़िन्दा-दिली और ख़ुशमिज़ाजी की तारीफ़ों के पुल बाँधे, और आख़ीर में अपने यहाँ दावत पर उन्हें बुलाकर शंकर के साथ उनकी 'दोस्ती' कराने का भी सुझाव रखा, लेकिन शंकर टस से मस न हुआ। "ज़रूरत पड़ने पर मैं वहाँ के प्रदीपजी के नीचे भी शायद काम कर ले सकूँ भाई सन्तराम," उसने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया, "लेकिन इस सुधाकर के नीचे रहकर..."

"मानता हूँ...कि किसी दैनिक अख़बार के तो क्या...किसी तीसरे दरजे के 'वीकली' का भी सब-एडीटर तक होने लायक़ नहीं है वह," सन्तराम ने आख़िर ख़ुद भी स्वीकार किया; "न उसमें सोचने-विचारने की ही अक्ल है, और न किताबें ही पढ़ने का शौक़।...ऊलजलूल जो मन में आता है लिख डालता है सर्रे के सर्रे...लेकिन क्या कहने जाकर आख़ीर में कहाँ जा पहुँचता है—"

"और, एक वाक्य अगले वाक्य में कब और कैसे जा मिलता है...बिना व्याकरण की परवा किये—" शंकर ने उसी रौ में बीच में जोड़ दिया।

और—इस्तीफ़ा भिजवा देने के बाद—जब सुधाकर से भविष्य में कभी भी, कहीं भी, मुलाक़ात तक हो जाने की संभावना का उसने पूरी तरह अन्त कर दिया तब उसे ऐसी ज़बर्दस्त राहत मिली, मानो किसी बाघ के पंजे से अक्षत निकल आया हो...

अगले दिन ही उसने स्वामीजी को लिख दिया कि वह आ रहा है: अगर नहीं आएगा, तो शायद पागल हो जाय...

इस्तीफ़ा देने के बाद से रेल के दूसरे दर्जे में सफ़र करने के लिए जिस दिन का रिज़र्वेशन मिला—सुशीला का साथ रहते भी तीसरे या ड्योढ़े दरजे में सफ़र

करने में जिस भीड़भाड़ का सामना करना पड़ता उसकी भी हिम्मत उसमें नहीं रह गई थी, और एक मित्र के साथ ही वह रिज़र्वेशन के लिए फ़ेयर्ली प्लेस जा सका था।—तब तक के पाँच-छ: दिन शंकर एक बार भी घर से बाहर नहीं निकला; बाहर जाने के लिये जो थोड़ी-बहुत ख़रीदफ़रोख़्त ज़रूरी थी वह भी सुशीला या विनोद ने की। और जब टैक्सी में हावड़ा स्टेशन के लिये वह रवाना हुआ तो उसे लगा, कलकत्ता शहर से नहीं, ख़ूँख़्वार जानवरों से बसे किसी जंगल से छुटकारा पाकर तेज़ी से भागा चला जा रहा है वह—किसी ऐसी बस्ती की ओर, जहाँ किसी तरह का भी ख़तरा नहीं है।

सात

"आज मेरा जन्मदिन है स्वामी जी—" शंकर किसी समय कह उठा, जब कि शाम के वक़्त वह भी उनके साथ-साथ ऊपर की खुली छत पर टहल रहा था।

"हाँ, आज तो तुम्हारा जन्मदिन है," स्वामी जी चलते-चलते कुछ क्षण के लिये रुक कर एक स्निग्ध दृष्टि उसके चेहरे पर टिकाते हुए बोले; पाश्चात्य ज्योतिष और 'संख्या विज्ञान' के विख्यात पंडित 'कीरो' का अध्ययन करते समय कुछ वर्ष पहले उन्होंने अपने निकटस्थ प्राय: सभी लोगों के जन्म की तारीख़ों का पता लगाया था, और शंकर को आश्चर्य-सा हुआ कि उन्हें उसके जन्मदिन की बात याद थी।

"यही आशीर्वाद चाहता हूँ—" आगे कहने के लिये और कोई बात न पा, सहसा और अनायास ही शंकर कह उठा, "कि अगले जन्मदिन तक मैं दो-ढाई साल का छोटा-सा बच्चा न रह जाऊँ...अपनी उम्र का हो जाऊँ, स्वामी जी।"

स्वामी जी के चेहरे पर इस बार और भी अधिक स्निग्ध मुसकान खिल उठी, और उसकी पीठ थपथपाते हुए बोले :

"सुन्दर कहा।—यही तो हो जाना है।...ठीक है।...बहुत अच्छी बात—"

तीन चार हफ़्ते हो चुके थे शंकर-सुशीला को स्वामी जी के पास हज़ारीबाग रोड स्टेशन के एक ओर बसे सरिया में आए, जो उन दिनों मुख्यत: कलकत्ते के

बनानी मध्यम और उच्च मध्यम वर्ग के लोगों की वायु-परिवर्तन की एक छोटी-सी बस्ती थी—बिहार के छोटा नागपुर अंचल के पहाड़ी इलाके में। स्वामीजी के बराहनगर स्थित आवास बंधु विजय बाबू ने भी यहाँ एक कोठी बनवा रखी थी, द्वितीय महायुद्ध के समय जापानी हमले की आशंका से भारी भगदड़ मच जाने पर उन्होंने अपने परिवार के लोगों को साल डेढ़ साल तक यहीं रखा था। जापानी हमले की आशंका अब खत्म हो चुकी थी; 1944 का अन्त हो रहा था और यूरोप में जर्मनी की पराजय निकट थी। इस बार वे लोग यहाँ नहीं आये थे, और वर्षा काल के लिए स्वामीजी की उन्होंने यहीं व्यवस्था कर दी थी।

कलकत्ते से मन की जो स्थिति लेकर शंकर यहाँ आया था उसमें किसी हद तक वह उबर चुका था इन कुछ हफ्तों में ही, स्वामीजी की शरण में आकर वह अपनी सारी समस्याओं और चिन्ताओं से किसी छोटे बच्चे की नाईं छुटकारा पा गया था जो—बाहर मार खाने के डर से—अपनी माँ की गोद में आ छिपता है; उसकी सारी चिन्ताओं और समस्याओं को अपने ऊपर लेकर स्वामीजी ने मानो उसे अभयदान दे दिया था...

कुछ मास पूर्व, बच्चे की मृत्यु के बाद आश्रम पहुँचने पर उसके साथ जो प्रक्रिया शुरू की गयी थी वह इस बार यहीं से आगे बढ़ायी गयी। ...अब फिर शंकर दो-ढाई साल या डेढ़-दो साल का बच्चा बन जाता था स्वामीजी के सामने—घंटे डेढ़ घंटे के लिए एक अँधेरी कोठरी में लेट जाने पर—और एक के बाद एक, शैशव के कितने स्मृति-चित्र उभरते चले गये थे उसके चित्त पट पर। और, उनके पीछे छिपी तीव्र और प्रचण्ड भाव-ग्रन्थियाँ किस तरह साथ ही साथ खुलती और ढीली पड़ती चली आ रही थीं। कसाई जैसे उसके पिता...विकराल नाना...सबने किस तरह पीस डाला था उस अबोध, निरीह, असहाय शिशु को। उनतालीस साल का यह आज का शंकर किस तरह स्वामीजी के वटवृक्ष-जैसे विराट, सशक्त और दृढ़ व्यक्तित्व के आश्रय में बाप और नाना के उस आतंक और त्रास से निपीड़ित और मर्दित अपने प्रसुप्त शिशु-व्यक्तित्व को धीरे धीरे उद्घाटित करने लग गया था...

कलकत्ते में तेरह-चौदह साल के उस लड़के के विद्रूपपूर्ण अट्टहास की कल्पना से जो शंकर पूरी तरह उखड़ गया था उसे तब यह पता कहाँ चल पाया था कि उसके अन्दर उस लड़के से भी कहीं छोटा—ढाई-तीन साल का—शिशु अचानक जाग गया था, सुधाकर की उस उपेक्षापूर्ण मुद्रा के पीछे उसे नन्हे-से शंकर के कठोर पिता की ही झाँकी सहसा दिखाई दे गयी थी—यह भी वह कहाँ समझ सका था तब ?

जब तक शैशवकालीन सुदूर अतीत में दबी पड़ी स्मृतियों के भूतों को झकझोरकर जगा नहीं दिया जाता तब तक जैसे-तैसे करके यह जिन्दगी चलती

चली जाती है—स्वामीजी से शंकर बिलकुल शुरू में ही जान चुका था—भले ही वह क़दम-क़दम पर ठोकर खाती रहे और कभी कभी लड़खड़ा कर गिर भी पड़े...लेकिन एक बार जहाँ वे भूत जगा दिये गये, उनका ताण्डव अन्दर ही अन्दर प्रचण्ड हो उठता है, और जब तक उन्हें जड़-मूल से नष्ट नहीं कर दिया जाता, वे बार-बार कन्धे पर सवार हो जाते हैं और चलना असंभव बना देते हैं।...इसीलिए सावधानी से क़दम बढ़ाने की बात तुमसे कही थी—स्वामीजी ने इस बार कलकत्ते से उसके आने पर उसकी बिगड़ी हालत देखकर बताया था—हर तरह की 'अति' से बचने को कहा था...

मगर साथ ही उन्होंने उसे यह कहकर आश्वस्त भी कर दिया था कि कितनी ही सावधानी रखने पर भी, जल्द या कुछ देर से, यह स्थिति तो आनी ही थी; अच्छा हुआ कि हालत और भी बिगड़ने से पहले वह स्वामीजी के पास आ गया।

और—इस नवीन प्रकार की और आधुनिक ढंग की साधना या चिकित्सा के फिर से शुरू होने के बाद शंकर के दिल में इतनी बात तो जम ही चुकी थी अब, कि जब तक वह अतीत के उन भूतों को समूल उखाड़ नहीं फेंकता तब तक शरीर से भले ही वह वयस्क दिखाई दे, चित्तवृत्तियों और आचार-व्यवहार के मामले में वह छोटा-सा बच्चा ही बना रहेगा।...अपने अगले जन्मदिन तक, अपनी असल उम्र तक पहुँच जाने का जो आशीर्वाद उसने आज स्वामीजी से माँगा उसके पीछे अनुभवजनित यही गहरा विश्वास था...

कुछ देर और टहलते रहे स्वामीजी उस खुली छत पर, और उनके साथ-साथ शंकर भी—कि उस कोठी के सामने वाले छोर तक आकर स्वामीजी सहसा रुक गये, और नीचे की ओर झांक मुसकरा उठे।

शंकर भी रुक गया; उसने भी नीचे की ओर दृष्टि डाली।

देखा, नीचे खड़ी गौरी-दि सिर उठाकर स्वामीजी से कुछ कह रही हैं, और वह थोड़ा पीछे हट गया।

मिनट दो मिनट बाद स्वामीजी ने छत के उस छोर से पलट कर फिर टहलना शुरू कर दिया, और साथ-साथ शंकर ने भी। कि अचानक स्वामीजी पूछ उठे :

"देखा तुमने ?...गौरी का चेहरा किस तरह खिल उठा था...गुलाब का वह फूल दिखाते समय—उस गुलाब की ही तरह ?"

"जी...बहुत खुश दिखाई दे रही थीं—" शंकर ने स्वामीजी का अभिप्राय न समझ ठिठकते से स्वर में जवाब दिया।

"गौरी के चेहरे पर कुछ काल पहले क्या यह खुशी देखने को मिल सकती थी ?" स्वामी जी बोले।

शंकर जानता था कि गौरी-दि विधवा हैं और उनके सम्पन्न धनी पति जब विवाह के कुछ ही साल बाद केवल एक नन्ही-सी कन्या को उनकी गोद में छोड़ सदा के लिये चले गए थे तब से अब तक गौरी-दि का जीवन वैसी ही अन्य अनेक बंगाली विधवाओं की भाँति कठोर निग्रह और साधनाओं से बीता था, हालाँकि धन और ऐश्वर्य की उनके पास कोई कमी नहीं थी। वह कन्या धीरे-धीरे बड़ी हुई, फिर उसका विवाह हो गया। और उसके बाद से ही गौरी-दि के मरुभूमि जैसे जीवन से रस की वह पतली-सी धारा भी गायब हो गई।...कुछ मास पूर्व अपना पावन दिन लेकर जब वह स्वामीजी के पास आयी थीं, तब भी शंकर ने उन्हें देखा था।...विषाद और निराशा की एक कालिमा-सी हरदम पुती दिखाई देती थी उनके चेहरे पर उन दिनों—हालाँकि उस कालिमा के पीछे छिपा एक खास प्रकार का लालित्य भी कभी-कभी उनकी किसी भावभंगी में झलक उठता था।...इस बार, कलकत्ते के यहाँ आने पर, उनके उस प्रच्छन्न लालित्य को उसने बड़ी ज्यादा निखरा हुआ पाया था (तब से प्रायः बराबर ही वह स्वामीजी के पास थीं), और उनकी भावभंगी को भी पहले से अधिक अकुण्ठित, लेकिन इधर दो-चार दिन से उनके चेहरे पर जो एक नये ही प्रकार की आभा दिखाई देने लग गयी थी, इस ओर शंकर का ध्यान अब स्वामीजी की इस बात के बाद ही जा पाया।

"...पहले कभी...इस तरह, मुझको पुकारकर फूल दिखा सकती थी गौरी ?" स्वामीजी आगे कह रहे थे।

स्वामीजी को नीचे से इस तरह पुकारना क्या उचित था, शंकर के मन में शंका उत्पन्न हुई थी कि तभी उनकी अगली बात से उसकी शंका बहुत-कुछ दब गयी :

"विधवा होने की ग्लानि से किस तरह कुण्ठित रहा आया इसका जीवन।...खुलकर हँस-बोल सकना तक जिसके लिये संभव नहीं था...दिल के भावों को अन्दर ही अन्दर दबा देना ही जिसने अब तक सीखा था...जो तिल-तिल कर अपने को मार रही थी...वह आज नीचे से पुकारकर मुझको रोक सकी, यह क्या कम बड़ी बात है ?...फिर—जिसने कभी अकेले घर से बाहर पाँव नहीं रखा, उसे अब पड़ोस वालों की कोठी में जाते झिझक नहीं होती...वहाँ के बगीचे में लगे फूलों को देख उसके दिल में भी बगीचा लगाने का शौक पैदा हुआ है...उन लोगों से माँगकर गुलाब का एक अधखिला फूल लायी...और वह इतना अच्छा लगा कि 'बाबा' को दिखाये बिना रह नहीं सकी।...मामूली बात है यह...इसके लिए ?"

मानो किसी नये ही क्षितिज की एक झाँकी-सी दिखाई पड़ी शंकर को, और, चुपचाप उनके साथ टहलते-टहलते वह विचारों की एक नयी ही दुनिया में जा

पहुँचा...

"मुझको क्या दोगे—" अचानक स्वामीजी के शब्द उसके कानों में पहुँचे, "...अगर अपने बचपन से छुटकारा पा गये...अपनी उम्र के हो गये—जैसा कि तुमने कहा ?"

स्वामीजी के क़दम रुक गये थे, शंकर की ओर मुँह करके वह खड़े थे, उनकी सीधी दृष्टि शंकर के चेहरे पर थी।

क्षण-भर के लिए वह घवड़ा-सा उठा। क्या चाहते हैं स्वामीजी उससे? महाभारत और पुराणों में लड़कपन में उसने किसी-किसी गुरु द्वारा तो शिष्य की कठोर से कठोर परीक्षा की वात पढ़ी थी, जवकि गुरु-दक्षिणा देने के लिए उसे वरसों तक न जाने कहाँ-कहाँ की धूल छाननी पड़ी थी, कैसे-कैसे संकटों में से गुज़रना पड़ा था।

शंकर के मुँह से कोई जवाव नहीं निकल सका—वहुत ही भारी और अस्वस्तिकर-से कुछ क्षणों तक...

"घवड़ाओ नहीं,...मुझे भला और क्या चाहिए—सिवा तुम लोगों के चेहरों के...उस गुलाव की तरह खिल उठने के!...तुम लोगों के दिल खुल जायँ... फूल के पौधे में लगा कीड़ा नष्ट हो जाय...तुम लोग स्वच्छन्दता के साथ खिल सको—इसी में तो मेरे परिश्रम की सार्थकता है...मेरा पुरस्कार—"

और एक स्निग्ध दृष्टि उसके चेहरे पर डाल वह फिर उसी तरह टहलने लग गये।

शंकर जैसे कटकर रह गया अन्दर ही अन्दर। स्वामीजी से कुछ फ़ासला रख कर चलते उसके पाँव इस वार मानो वहुत ही भारी हो उठे।...कितना संकीर्ण, कितना कंजूस है उसका दिल अभी तक, स्वामीजी से इतना पाने के वाद भी! क्या उन्हें अपना सर्वस्व निछावर करके भी वह उनके ऋण से उऋण हो सकता है?

...कोई छः साल पहले जव चान्ना आश्रम में पहले-पहल शंकर गया था तव कई दिन तक इस पसोपेश में पड़ा रहा था कि वहाँ से विदा होने के पहले स्वामीजी के चरणों में कुछ रुपये रख दे, या नहीं!

लेकिन आख़ीर तक शंकर कुछ भी नहीं दे पाया था; स्वामीजी को साधारण साधु-महात्मा के रूप में उसका दिल किसी तरह भी स्वीकार नहीं कर सका था तव तक; यह वह भूल ही नहीं पाता था कि कभी वह उसके प्रोफ़ेसर थे।

इस कमी को उसने पूरा किया था—अगली वर्षा के तीन-चार मास के लिये पटने में ही स्वामीजी के रहने की व्यवस्था करके, क्योंकि इतना वह आश्रम में

रहने पर ही जान गया था कि वर्षा काल में यह स्थान स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुकूल नहीं रहता—खास तौर से स्वामीजी के लिए, जो एकाध साल पहले ही एक ऐसी बीमारी भोग चुके थे जिसके बाद नम आबोहवा में रहना उनके लिए वर्जित था।

पटने में स्वामीजी के रहने की उस बार जो व्यवस्था उसे करनी पड़ी वह दरअसल उसकी आर्थिक सीमा से बाहर थी, लेकिन उस वक्त के अपने जोश में उसने अपने कार्यालय से उस अवधि के लिए वेतन के अलावा कुछ रकम पेशगी ली, जिसे चुकाने में स्वामीजी के जाने के बाद कुछ महीने लग गये। कुल मिला कर उसे स्वामीजी के लिए यह सब करना अच्छा ही लगा था। उन्हीं की बदौलत तो वह जीवन में फिर से प्रतिष्ठित और कमाने-धमाने लायक हो पाया था।

कुछ महीने बाद, स्वामीजी के एक पत्र से इस बात का इशारा मिला कि अगर उसके पास कुछ फालतू रुपया होगा तो शायद वह मँगायेंगे; इसके लिए पहले से ही वह उसे 'चेतावनी' दे रखते हैं।

गांधीवादी आदर्शों से उसे विमुख कर, अपनी इच्छाओं को तृप्त करने का जो मार्ग स्वामीजी ने उसके सामने रखा था उसके कारण वह तब अपने कितने ही दबे पड़े शौक़ों को पूरा करने लगा था। बिजली की केटली लेकर चाय की व्यवस्था की थी; बिजली का एक टेबुल फैन लिया था, पोशाक पर भी कुछ ज़्यादा ख़र्च करने लग गया था, और एक बड़ा ख़र्च उन्हीं दिनों इस कारण आ पड़ा था कि स्वामीजी के पटने से विदा होने न होते उसने, किस्तों पर, एक ग्रामोफ़ोन ख़रीद लिया था जिसके लिए हर महीने नये-नये रेकर्ड भी ख़रीदने शुरू कर दिये थे।

एक सौ रुपये फिर भी उसने तत्काल स्वामी जी के पास भेज दिये, और अपनी 'ऐयाशी' पर भी लगाम लगानी शुरू की। यों, ज़माना सस्ती का था और नंकर पर किसी दूसरे व्यक्ति का आर्थिक बोझ नहीं था। ज़रूरत पड़ने पर तो वह बीस-पच्चीस रुपये मासिक तक में ही अपना ख़र्च चलाकर अपने एक सौ रुपये के वेतन में से बाकी सब स्वामीजी के चरणों में अर्पित कर दे सकता था।

स्वामीजी के आश्रम का ख़र्च कैसे चलता था—उसे कुछ भी पता नहीं था। ...पिछली बार जब वहाँ रहा था, इसका आभास तक नहीं मिल पाया था उसे कि वहाँ भी द्रव्याभाव हो जा सकता है। क्या कोई नयी स्थिति आ गयी है इस बीच? रुपये के साथ-साथ उसने जो पत्र भेजा उसमें आश्रम की आर्थिक स्थिति के बारे में भी कुछ जिज्ञासा प्रकट की, ताकि वहाँ की कोई स्थायी व्यवस्था की जा सके और स्वामीजी को किसी के आगे ख़ुद हाथ न फैलाना पड़े।

"आजकल सरकार, ख़ास कर इस देश में, आर्थिक मामले में बड़ा दीन है,"

स्वामीजी ने जवाव दिया था। "इसलिए आर्थिक सम्बन्ध वहुत धीरता के साथ करना चाहिए। तुममें इस दीनता का कुछ अभाव देखा था, इसलिए तुमको 'चेतावनी' देने में कुछ भी संकोच नहीं हुआ। अपनी ओर से रुपये माँगने का यह दूसरा मौक़ा है।

"आय-व्यय की पूरी ख़वर देने के लिए अधिक लिखना पड़ेगा—उसकी ज़रूरत नहीं। संक्षेप में इतना है कि जानते ही हो प्रज्ञान-मार्ग[1] आत्मस्थ होने का मार्ग है, सुतरां शुरू से आख़ीर तक अपने ऊपर रहना ही है।...जीविका के लिए सर्वप्रथम आत्मनिर्भर और स्वावलम्वी होना है। इस ख़्याल से आश्रम में थोड़ी ज़मीन है। यदि ठीक से धान हो तो उससे आश्रम का 'ग्राम्य जीवन' साधारणत: चल सकता है। इस वार धान ठीक से नहीं हुआ—इसलिए ऊपरी कामों के लिए कुछ असुविधा होती है।..." साथ ही, पिछली वरसात में गायों के रहने की जगह नष्ट हो गयी और वे पानी में भीगती रहीं। स्वामीजी को 'लगा मानो वह ख़ुद भीगते रहे।' इसलिये इस वार उस जगह को वह पक्का कर देना चाहते थे, आदि।

फिर भी 'इतना रुपया' रखने को वह तैयार नहीं हुए, और लिखा कि "कुछ रुपया तुमको वापस मिलेगा—तुम 'न' नहीं कह सकते हो।...इतने रुपये तुमको नहीं देना है।"

शंकर के दिल में एक ज्वार-सा उठा था : ख़ास तौर से स्वामी जी के इस वाक्य से कि—"तुममें इस दीनता का कुछ अभाव देखा था, इसलिये तुमको चेतावनी देने में कुछ भी संकोच नहीं हुआ," और यह जानकर कि "रुपये माँगने का यह दूसरा मौक़ा है"—अर्थात्, शंकर स्वामीजी के अन्तरंग विश्वासपात्रों में है...

जवाव में उसने एक लम्वा पत्र लिख डाला था : इस वात पर लज्जा और दुःख, कि उसने वहाँ की आर्थिक स्थिति के वारे में पहले कभी यही मान स्वयं कुछ नहीं पूछा, कि इस दिशा में सव ठीक ही होगा; अगर पहले से पता होता तो निश्चय ही थोड़ा-वहुत तो नियमित रूप से भेजता रह सकता था; और यह कि रुपये-पैसे के मामले में उसके अन्दर 'दीनता' कुछ कम ज़रूर है, लेकिन फिर भी "अभी काफ़ी है—ख़ास तौर से विलासितापूर्ण जीवन की इच्छा तो वहुत ही अधिक।"...फिर उसने अपने विलासितापूर्ण ख़र्चों का लम्वा व्योरा दिया और लिखा कि पहले तो आवेश में आकर उसने यही तय कर डाला कि खाना वनाने के लिए आंशिक रूप में जो नौकर रखा है उसे हटाकर फिर से, हमेशा की तरह, ख़ुद ही खाना वनाने लग जाय और विलासिता वाले ख़र्चों में कसकर कटौती कर डाले। लेकिन वाद को विचार करने पर स्थिर चित्त से ही कोई निश्चय करना ठीक समझा। "मैं वहुत अस्थिर चित्त व्यक्ति सावित हुआ हूँ स्वामीजी," अन्त

1. स्वामीजी का संन्यासी-नाम था स्वामी प्रज्ञानपाद।

दिया।..."

शंकर के दिल पर जैसे अक़्स हो गया था उस वक्त स्वामीजी का यह वाक्य : "देना-लेना तब मधुर और प्रसन्न करने वाला होता है जब 'देना' और 'लेना' न रहे—देने वाले के मन में 'मुझे देना है, मैं देता हूँ', और लेने वाले के मन में 'मैं लेता हूँ'—ये भाव न रहे, मानो अपने ही दाहिने हाथ से देना और बायें हाथ से लेना है।"...जब-जब पुरानी चिट्ठियाँ उलटते वक़्त उस चिट्ठी के इस स्थल पर उसकी नज़र पड़ी थी इन पिछले सालों में, केवल भावुकता के ज्वार में ही वह बह-बह गया था। अपने व्यवहार में कहाँ उतार पाया था इसे अभी तक?...

कलकत्ते से चित्त की जिस विक्षिप्त अवस्था में शंकर स्वामीजी की शरण में जा पहुँचने के लिए चल दिया था उसमें उसके सामने न कोई वर्तमान ही रह गया था, न भविष्य ही। इसीलिए, स्वामीजी ने जब उसे ठीक़ माँ की तरह अपनी गोद में ले लिया तो कुछ दिनों के लिए वह सारी चिन्ताओं से मुक्त हो गया और यह बात उसके मन में एक बार भी नहीं आयी कि उसे कितने महीने... या कितने साल...वहाँ रहना पड़ेगा, और अपने साथ साथ सुशीला के भी ख़र्च की वह क्या व्यवस्था करेगा।

आख़िर एक दिन अपनी इस समस्या को उसने स्वामीजी के ही सामने रख दिया :

"मेरा यह काम...कितना वक़्त लग जायगा इसमें, स्वामीजी?"

"कितना वक़्त?...कुछ ठीक तो नहीं कहा जा सकता।...जिस तरह तुम बढ़ रहे हो...वैसा ही चलता रहा तो भी...आठ-दस महीने—एक साल तक भी—लग ही जा सकता है..."

"मगर, मेरे पास तो...इतने वक़्त तक रहने के लिए—" और-आगे वह कुछ नहीं कह पाया। उसके पास इतने रुपये नहीं हैं, उसका और सुशीला का इतने वक़्त तक का ख़र्च कैसे चलेगा...रुपये-पैसे सम्बन्धी ये क्षुद्र बातें उसकी ज़बान पर अटक गयीं।

स्वामीजी तब ख़ुद ही बोले।

"अब तो आश्रम चलने का वक़्त आ रहा है...साधारण खाने-पीने के लिए अन्न की वहाँ कमी नहीं पड़ेगी।...और यहाँ भी, अभी तो गौरी ही सारा ख़र्च चला रही है।...तुम दो प्राणियों के साधारण खाने-पीने का ख़र्च भी वह उठा ही सकती है।"

लेकिन शंकर फिर भी वहाँ से उठकर जा नहीं पा रहा था...

"हाँ, थोड़ी-बहुत खर्च की कठिनाई हो सकती है..." थोड़ा रुककर स्वामीजी फिर बोले।

"दुख-भी की बात भला कैसे उठ सकती है, स्वामी जी?" शंकर बुरी तरह लज्जित हो उठा।

"देखा जाये—" स्वामीजी ने उसके बाद (क्या पता, शायद उसको टटोलने के लिए ही?) कहा, "कभी-कभी तो...थोड़ा-बहुत मिलता ही!...थोड़ा चाहिए भी—जब अन्दर के भावों का इतना वेग बाहर निकल रहा है।...इस काम में बहुत अधिक शक्ति क्षीण होती है...थोड़ा पौष्टिक तो मिलना ही चाहिये।...अच्छा, देखा जाये—"

फिर कुछ और कहने की शंकर की हिम्मत नहीं पड़ी।

धीरे-धीरे उठ कर वह खड़ा हो गया।

"घबड़ाओ नहीं ..जब स्वामीजी के पास हो, तब स्वामीजी के ही हो!...लोग जब स्वामीजी के लिए कर रहे हैं तब जो स्वामीजी के साथ हैं उनके लिए भी करेंगे।...उनकी आर्थिक स्थिति तो ठीक ही है—"

फिर भी, अगर साल डेढ़ साल तक उसे और सुशीला को स्वामी जी के ही पास रह जाना पड़ा (सुशीला के साथ भी तब तक, शंकर की ही तरह, अचेतन की भाव-ग्रन्थियों से छुटकारा पाने की वह प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी) तो क्या इतने लम्बे अर्से तक वह स्वामीजी पर ही नहीं, गोविन्द पर, या उनके बाद आने वाले किसी दूसरे व्यक्ति पर, अपना आर्थिक बोझ डालता चला जायगा?—स्वामीजी द्वारा आश्वस्त किये जाने के बावजूद उसके अन्दर इस समस्या को लेकर उथल-पुथल मची ही रही।

यह नहीं, कि उसके पास रुपया बिलकुल ही नहीं था। सौ-डेढ़ सौ रुपये उसके पास अभी भी थे, लेकिन कुछ दिन बाद जब आश्रम जाना होगा तब सुशीला के और अपने किराये के लिए भी तो रुपये खर्च करने होंगे।...बाकी बचे रुपयों के बल क्या वे दोनों अपनी दूसरी जरूरतें भी पूरी कर पायेंगे?

फिर—हफ्ते में दो दिन लगने वाले 'हाट' से तरकारी वगैरह लाने के लिए जब कुछ दिन पहले गोविन्द ने उसे कुछ देना चाहा था तो उस वक्त उसने यह कहकर वह नहीं लिया था कि हिसाब देने के बाद ले लेगा, मगर बाद को हिसाब करने में भी उसे संकोच हुआ था। और तब से यह खर्च भी एक तरह से उसी के ऊपर आ पड़ा था।

गनीमत थी कि अब जल्द ही आश्रम जाने की बात थी, जहाँ कम से कम अपने पाँच-छः महीने तो रहना ही होगा। गोविन्द भी उनके साथ ही आश्रम जा रहे थे: पर वहाँ पहुँच जाने पर वे दोनों कम से कम अपने खाने-पीने के लिए तो उनके ऋणी नहीं होंगे!

रह गयी स्वामीजी के प्रति ऋणी होने की वात। उनका तो वह पद-पद पर ऋणी होता आया था, जव से उनकी शरण में आया था। उनसे उसने जो कुछ पाया था, पा रहा था और पाने जा रहा था उसकी क़ीमत क्या रुपये-पैसों में आँकी जा सकती है?—हालाँकि अभी, कुछ ही महीने पहले, रुपये पैसे के मामले में भी वह स्वामीजी का ऋणी वन चुका था, और उसकी लज्जा से अभी तक पूरा छुटकारा नहीं पा सका था।

...क़रीव एक हफ़्ते की वीमारी के वाद उस दिन पहले-पहल वह वरानगर जा पाया था स्वामीजी के पास—जिन दिनों कलकत्ते में वह काम की तलाश में था—और उन्होंने पूछा था कि डाक्टर को उसने दिखाया या नहीं!...संग्रहिणी या 'एमीवियासिस' की उसकी पुरानी वीमारी ही शायद एक वार फिर उभड़ आयी होगी, स्वामीजी ने कहा। शंकर ने जव डाक्टर को दिखाने की वात को टालना चाहा तो उस वक़्त स्वामीजी ने उस वारे में फिर कुछ नहीं कहा और उसकी दूसरी-दूसरी वातें सुनते चले गये। फिर, उस दिन के लिए विदा होने के लिए जव वह उठने लगा तो कमरे के एक कोने में रखी आलमारी में से एक लिफ़ाफ़ा लाने के लिए कहा, जो कुछ कितावों के वीच में रखा हुआ था।

ढूँढ़-ढाँढ़कर शंकर वह लिफ़ाफ़ा लाया, और स्वामीजी की गद्दी के एक किनारे उसे रख विदा लेने की नीयत से उन्हें प्रणाम करने के लिए सिर झुकाया।

"इसे खोलो तो—" तभी उसे स्वामीजी के शब्द सुनाई दिये।

प्रणाम रोक, उस लिफ़ाफ़े को उसने खोला। देखा, दस-दस रुपये के कुछ नोट थे उसमें।

"कुछ रुपये हैं इसमें—" शंकर ने वताया।

"गिनो तो—कितने हैं?" स्वामीजी वोले।

शंकर ने गिना: "पचास रुपये!"

"इन्हें रख लो; जल्द ही डाक्टर को दिखाकर इलाज शुरू कर दो।"

रुपयों को लिफ़ाफ़े में फिर से रखते-रखते शंकर समझ नहीं पा रहा था कि स्वामीजी को क्या जवाव दे, और उस लिफ़ाफ़े का भी क्या करे।

सव कुछ तो लिया है उसने स्वामीजी से; अव क्या रुपया भी वह उन्हीं से लेगा?...उनसे, जिनसे यह चीज़ तो उसे किसी तरह भी नहीं लेनी चाहिए!... फिर, अगर वह इन्हें ले भी लेता है, तो लौटायेगा कैसे...कव...कहाँ से?

"किस चिन्ता में पड़ गये?" स्वामीजी ने पूछा। "...क्या यह, कि लौटा कैसे पाओगे?"

"जी।" कुण्ठित-से स्वर में शंकर ने जवाव दिया।

"पागल कहीं का—" स्वामीजी की निर्झर जैसी निर्मल हँसी ने तभी शंकर के दिल की मानो सारी कुण्ठा दूर कर दी। "स्वामीजी को भी क्या लौटाने की

बात आती है ?...स्वामीजी के पास तो आता रहना है...आता रहता है ! यहाँ क्या रुपये का हिसाब किया जाता है ?"

कलकत्ता वाले उनके पुराने मित्र रूपचन्द ने, जो पिछले दो-तीन साल से अपने पारिवारिक व्यवसाय के सिलसिले में बम्बई चले गये थे, उसके भावी जन्मदिन के उपलक्ष्य मे एक पार्सल भेजी जिसमें उसके लिए एक पाजामा और एक गरम कुरता था। यह पहला मौक़ा था कि उन्होंने, या किसी ने भी, उसके जन्मदिन के उपलक्ष्य में उसे कोई उपहार दिया हो। उसने खुद भी अपने किसी मित्र या प्रियजन के जन्मदिन पर कभी किसी को उपहार नहीं दिया था, और न इस तरह की प्रथा उसके परिवार या बंधुसमाज में ही प्रचलित थी।

उस पार्सल को पाकर उसे आश्चर्य भी हुआ और संकोच और कुण्ठा भी।

कुछ दिन पहले ही उनके पत्र से शंकर को खबर मिली थी कि एक महीने की छुट्टी लेकर वह भी स्वामीजी के पास आने वाले हैं। लेकिन फिर, उन्हें वह प्रोग्राम कुछ महीनों के लिए स्थगित कर देना पड़ा था।

"आपके जन्मदिन से दो-चार दिन पहले ही मैं इस बार आपके पास पहुँच जाने वाला था", उन्होंने अब लिखा, "और आपको जन्मदिन का उपहार देने के लिए मैंने ये पोशाक सिलवा रखी थी। खुद आकर तो आपको नहीं दे पाऊँगा अब, इसलिए पार्सल मे भेज रहा हूँ। अफ़सोस यही है कि यह आपके जन्मदिन के बाद जा पा रही है..."

रूपचन्द का वह पारिवारिक व्यवसाय महायुद्ध की बदौलत बहुत तरक्क़ी कर गया था इस बीच, जबकि शंकर बड़ी मुश्किल से मिले अपने काम को भी छोड़-छाड़कर सर्वथा नि सम्बल हो यहाँ चले आने के लिए मजबूर हुआ था।... क्या उसके आर्थिक संकट का ही खयाल कर रूपचन्द को जाड़ों के लिए उपयोगी एक उपहार जन्मदिन के बहाने उसे देने का खयाल आया—उसके मन में एक अस्वस्तिकर प्रश्न उठा।

या—उनके अन्दर कोई अपराध-भावना काम कर रही थी उसके बारे में ?...सहकारिता के आधार पर कलकत्ते से एक पत्र निकालने की जिस स्कीम की आशा में शंकर पिछली बार पटने की 'जागृति' को छोड़ बिलकुल ही बेसहारा हो गया था अचानक, उसमें रूपचन्द की भी कुछ भूमिका थी, और अपना खुद का एक प्रेस खोलने का अपना पक्का फ़ैसला उन लोगों को बताकर उन्होंने उसे कलकत्ते बुला भी लिया था—उस स्कीम को शुरू करने के सिलसिले में। लेकिन उन्होंने अपने भाइयों की स्वीकृति जितनी आसान मान ली थी उतनी आसान वह

नहीं सिद्ध हुई, और अन्त में प्रेस खोलने की बात खटाई में पड़ गयी। उलटे, बेरोज़गार शंकर का कलकत्ते आने-जाने में कुछ रुपया ऊपर से ख़र्च हो गया।

क्या उसीका थोड़ा-बहुत अपराधी-भाव बना हुआ है रूपचन्द के अन्दर अभी तक—और मौक़ा पाकर इस तरह उन्होंने उससे छुटकारा पा लेना चाहा?

यह भी कुछ अच्छा नहीं लग सका शंकर को।

लेकिन—जब उन्होंने उपहार भेजा है, तो उसे वापस करके उनका अपमान भी तो नहीं किया जा सकता।

इस बेहूदा क़िस्म की बेबसी से पैदा होने वाला एक अजीब छोटापन महसूस होने लगा शंकर को अपने अन्दर, और आख़िर किसी वक़्त यह सारी बात ही उसने स्वामीजी के सामने रख दी।

"यह सब तो तुमने अपने मन से ही मान लिया न?" सब कुछ सुनने के बाद स्वामीजी बोले। "यह भी तो हो सकता है कि उसी के अन्दर कोई नया भाव आया हो?...उपहार भेजने का जो कारण उसने लिखा है उसे ही सही मान लेने में तुम्हें क्यों मुशकिल हो रही है?...आख़िर तो वह तुम्हारा पुराना मित्र है!"

इस सीधे-सादे तर्क के विरुद्ध भी कोई जवाब नहीं था उसके पास, लेकिन बहुत आसानी से हज़म भी नहीं हो रही थी यह बात। अपने आर्थिक संकट के समय किसी मित्र से भी इस तरह एक ऐसा उपहार स्वीकार करना क़तई अच्छा नहीं लग रहा था।

कुछ देर तक वह चुप ही बैठा रह गया—असमंजस की-सी मुद्रा में, कि स्वामीजी बोले:

"किसीसे कुछ लेने में संकोच अपनी ही कृपणता के कारण भी हो सकता है—ख़ुद किसी को कुछ न देने की इच्छा की वजह से।"

उसे कुछ अच्छा नहीं लगा स्वामीजी का यह विश्लेषण, किन्तु तुरन्त प्रतिवाद करने से बलपूर्वक अपने को रोक लिया।...कितने नये-नये पहलू तो आते जा रहे थे अपने मन की करामातों के—जब से उसके अचेतन स्तरों को उलट-पुलटकर उसके सामने रखा जाने लगा था, और अपने व्यवहार और अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओं के कितने नये-नये और प्रच्छन्न कारण उसके दिल की कृपणता को उसके सामने उघाड़कर रखते जा रहे थे।

आठ

"एक बात पूछूँ—दादा ?" शंकर के साथ टहलते-टहलते, चलती बात को बीच में ही रोककर, नन्तु सहसा कह उठा।

स्थान—हजारीबाग रोड (सरिया) स्थित 'आनन्दकुटी' नाम की कोठी के सामने वाला बागीचा। काल—नवम्बर मास का एक सवेरा ; आठ साढ़े आठ का वक्त।

'दुर्गा-पूजा' की छुट्टियों में कलकत्ते से तभी-तब नन्तु आया था : डेढ़-दो साल पहले प्रतिष्ठापूर्वक अंग्रेजी में एम० ए० पास करके वहाँ के एक कालेज में वह प्राध्यापक नियुक्त हुआ था; स्वामीजी के साथ पहले से ही सम्पर्क था, और कोई प्रचण्ड आघात पाकर दो ही तीन दिन पहले वहाँ आया था। और अगले दिन से ही उसका भी वह 'काम' शुरू होने वाला था जिसे तब तक शंकर 'आपरेशन थियेटर' की मेज़ पर लेटना कहने लग गया था।

"पूछो—" शंकर ने भी अपने बढ़ते कदमों को रोककर कहा।

"क्या हो रहा है...दीदी के साथ ?...इतनी बुरी तरह रो-चीख क्यों रही हैं वह...इतनी देर से ?"

दीदी से मतलब था सुशीला से, जो इस वक्त 'आपरेशन-थियेटर' में थी : उस अहाते के सुदूर कोने में वट वृक्ष के नीचे बनी एक कच्ची झोंपडी, जिसके लिपे-पुते कच्चे फर्श पर रोज़ सवेरे और तीसरे पहर स्वामीजी का आसन बिछ जाता था, और एक दरी तहा कर रख दी जाती थी। बारी-बारी से वे सभी रोगी—उस समय उनकी सख्या पांच-छः तक जा पहुँची थी—अपने-अपने तकिये बगल में दबाये वहाँ जा पहुँचते, और बन्द खिड़कियों वाली उस कोठरी के दरवाज़े में घुसकर उसे पीछे से बन्द कर, अचानक हो उठे अँधेरे में टटोल-टटोल कर, रोज़ के अभ्यास वाली जगह पर स्वामीजी के आसन के सामने उस दरी को फिर बिछा लेते और अपना तकिया सिरहाने रख लेट जाते...

"सुशीला अपने अतीत की जकड़ से छुटकारा पा रही है नन्तु..." शंकर के स्वर में उत्साह और उल्लास था; "यह रोना, ईश्वर करे, सब किसी को नसीब हो।"

नन्तु के चेहरे पर जो घबड़ाहट फैली हुई थी उसमें इस जवाब से कोई फर्क नहीं पड़ा ; भौचक्का-सा उसकी ओर ताकता ही रह गया वह।

फिर, कुछ देर बाद आतंकित से स्वर में बोला "कल से...मेरा भी यही···?"

"तुम्हारा बहुत बड़ा भाग्य होगा—अगर नन्तु ने जल्द अपने सुदूर अतीत

की उन असह्य यातनापूर्ण स्मृतियों में तुम घुस जा सको जिन्होंने हमारे जीवन को पंगु बना रखा है—" शंकर एक आवेश में कहता चला गया। "सुशीला तो महीनों तक सिर्फ़ गाने ही गाती रही...आपरेशन थियेटर में। अभी कुछ दिन ही तो हुए कि उसका रोना फूट निकला है...अपनी सारी दबी-पड़ी वेदना से—बचपन में मिली यातनाओं की पीड़ा से—जड़-मूल से छुट्टी पा जाने के लिए।"

क़रीब एक साल हो रहा था शंकर को कलकत्ते से भागकर आये, और फिर से 'आपरेशन थियेटर' में दरी बिछाकर लेटते।...कितनी बुरी तरह इस बार रोया और चीख़ा था वह—छटपटाया था, तड़पा था, और असह्य पीड़ा की कब की जमी बर्फ़ की शिला धीरे-धीरे पिघलती चली गयी थी।...किस तरह फिर उसका रोना और आर्त्तनाद, दिल को फाड़कर निकलने वाली उसकी वह चीख़-पुकार, धीरे-धीरे, रोष और क्रोध में परिणत होती गयी थी, और स्वामीजी के सामने उस अँधेरी कोठरी में दरी पर लेटा वह ज़ोर-ज़ोर से अपने हाथ-पाँव फेंकने लग गया था, उसकी मुट्ठियाँ कस-कस गयी थीं, ज़ोर-ज़ोर से चलने वाली लातों ने अपनी धमाधम से नीचे की ज़मीन को हिला-हिला डाला था। "मार डालूँगा...मार डालूँगा..." उसके गले से गगनभेदी क्रुद्ध गर्जन की दहाड़ क्रमशः ऊँची होती गयी थी, और कभी अपने आततायी नाना को और कभी नृशंस पिता को जीवन भर के जमा अपने असीम क्रोध का पात्र बना, कितनी बड़ी राहत पायी थी। न जाने कितनी बार, निवृत्ति की कितनी गहरी साँस निकली थी दिल की अगाध गहराइयों से...

और अब, कुछ दिनों से, सुशीला भी रो और चीख़ रही थी। उसने बताया था कि उसके गीतों को स्वामीजी ने अब आगे सुनने से इनकार कर दिया है; चेतावनी दे दी है कि पलायन की इस प्रवृत्ति को वह और अधिक सहन नहीं करने वाले हैं; अन्दर घुसकर शैशव की अत्यन्त अप्रिय और असह्य उन स्मृतियों का सामना उसे अब करना ही पड़ेगा जिनके डर से ही वह गीत गा-गाकर तब तक स्वामीजी को, और अपने को भी, धोखा देने की कोशिश करती रही है।

लेकिन जहाँ एक ओर शंकर सुशीला के उस दिल दहलाने वाले आर्त्तनाद को बाहर दूर से सुनकर अन्दर ही अन्दर ख़ुशियाँ मना रहा था, वहाँ दूसरी ओर उसे ख़ुद भी कम बड़ी क़ीमत नहीं चुकानी पड़ रही थी इसकी। उन दिनों, न जाने किन कारणों से स्वामीजी ने उन दोनों के रहने की व्यवस्था एक ही कोठरी में कर दी थी, उस कोठी की प्रमुख इमारत से कुछ दूर बनी तीन-चार कोठरियों में से ही एक में—जिसमें एक बहुत बड़ा तख्त पड़ा हुआ था। पिछले कई दिनों से सुशीला ज़रा ज़रा-सी बात पर बिगड़ खड़ी होती और उसके मुँह से भद्दी से भद्दी गालियों की बौछार शुरू हो जाती; और शंकर जब उनकी उपेक्षा ही करता

चला जाता और अन्दर ही अन्दर बढ़ते अपने क्रोध को दबा हँसने लगता, तब तो सुशीला एकदम ही चण्डी रूप धारण कर लेती और पहले तो अपने नाखूनों से उसे बकोटना शुरू करती, और फिर उस पर लातों से प्रहार करने लग जाती।

लेकिन वटवृक्ष के नीचे वाली कुटिया को बींधकर शंकर के कानों तक पहुँचती रहने वाली उसके आर्त्तनाद की याद ताज़ी थी; वह जानता था कि सुशीला का यह क्रोध उसी वेदना की प्रतिशोधात्मक प्रतिक्रिया है: दरअसल उसके प्रति नहीं, शैशवकालीन उस आततायी—संभवतः अपने पिता—के ही प्रति।...वह देख चुका था कि हमारी आज की अधिकांश भावात्मक क्रियाओं या प्रतिक्रियाओं का मूल स्रोत हमारे शैशव में ही रहता है और आज की ये प्रतिक्रियाएँ प्रतीकात्मक ही होती हैं; काफी हद तक अपमानित बोध करता हुआ भी वह सुशीला के प्रति, इसीलिए, सहानुभूतिपूर्ण था, बल्कि, उसके इस क्रोध को सहन कर वह उसकी सहायता भी करना चाहता था, जबकि वह देख रहा था कि उन सभी के लिए स्वामीजी किस तरह अपना जीवन ही होम रहे थे—उन सबके विष को नीलकण्ठ की नाईं स्वयं पचाकर...

पिछली बार—अपने बच्चे की मृत्यु के बाद—जब शंकर आश्रम गया था और उसके अचेतन में दबी पड़ी स्मृतियों की वह दुनिया उसके सामने उद्घाटित होनी शुरू हुई थी, तब वह स्वामीजी के पास अकेला था। उस प्रक्रिया के सिल-सिले में स्वयं स्वामीजी को भी कितना घोर परिश्रम करना पड़ रहा था—इसका ठीक-ठीक पता उसे नहीं चल पाया था। पर इस बार—पिछले एक साल के बीच—स्वामी जी को उसने शायद ही कभी खाली देखा हो. चार-चार, पांच-पांच 'रोगियों' की एक साथ ही चिकित्सा कर रहे थे वह, और सवेरे से रात तक काम करने के बाद थककर चूर-चूर हो जाते थे। सवेरे सात बजे नाश्ता करने के बाद ही यह सिलसिला शुरू हो जाता था, जो उनके दोपहर के भोजन के समय तक चलता रहता था। फिर, दोपहर के विश्राम के बाद, तीन बजे से दोबारा काम शुरू हो जाता और पांच, या कभी-कभी छ, बजे तक भी चलता रहता जब उनके टहलने का वक्त हो जाता था। एक-एक व्यक्ति के साथ घंटा-घंटा, डेढ़-डेढ़ घंटा कठोर परिश्रम करते थे स्वामीजी, और उस कोठरी से बाहर निकलते थे तो जाड़ों में भी उनके माथे पर पसीने की बूँदें छलकती दिखाई देती थीं, चेहरा लाल और तमतमाया हुआ, आँखें चढ़ी-सी।

कुछ देर तक शंकर बिलकुल चुप लेटा रहा था स्वामीजी के सामने, फिर अचानक त्रस्त स्वर में चिल्ला उठा था :

"बाघ।"

उसके सारे वदन पर डर के मारे रोंगटे खड़े हो गये थे।

"हाँ-हाँ...वाघ।...देखो-देखो—वाघ।" तभी स्वामीजी ने उसके ऊपर झुक-कर वढ़ावा देना शुरू कर दिया था, और परम परित्राणकारी उनकी उस उप-स्थिति ने शंकर को अन्दर ही अन्दर जैसे आश्वस्त कर दिया था।

कुछ देर के लिए फिर सन्नाटा छा गया था—शंकर के अन्दर भी और वाहर भी।

आनन्द कुटी में आने के अगले दिन की ही वात थी, 'आपरेशन थियेटर' में इस वार के उसके पहले दिन की।

वाघ उसी दम ग़ायव हो चुका था, मगर वाद का वह सन्नाटा क़ायम रहा आया था काफ़ी देर तक...

अचानक, अत्यन्त भयभीत स्वर में वह ज़ोर से चीख़ उठा: "अम्मा—" और डर के मारे जैसे उसकी घिग्घी वँध गई।

"अम्मा—देखो...देखो..." स्वामीजी उसके ऊपर झुके हुए थे।

घवड़ाकर शंकर ने अपनी आँखें खोल दीं, और अभय दान करती स्वामीजी की उपस्थिति ने धीरे-धीरे उसके वदन के तनाव को ढीला करना शुरू कर दिया... आप-से-आप कव वँध-गयी उसकी मुट्ठियाँ धीरे-धीरे ढीली पड़ने लगीं...

क्या वह सो गया था स्वामीजी के सामने लेटा-लेटा?—और किसी वक्त, आचनक ही, उसका सिर, मानो वह किसी सपने में हो, वेहद भारी हो उठा था, और फैलता, वढ़ता और फूलता ही चला गया था—जव तक कि कमरे की छत तक वह नहीं जा लगा था! सारा वदन जल रहा था तेज़ वुख़ार की गरमी में, और उसका दिमाग़ उड़ा चला जा रहा था कहीं...और कमरे की छत और दीवालें सव मिलकर चारों ओर से उसे ग्रसने के लिए वढ़ी आ रही थीं...और अचानक, घवड़ाकर उसने अपनी आँखें खोल दी थीं, और, मंदी करके कहीं दूर रखी गयी लालटेन की रोशनी में उसे लगा मानो चारों ओर से काली-काली छायाओं का कोई पहाड़-सा वढ़ा चला आ रहा है उसे घर-दवोचने के लिए। वह ज़ोर से चीख़ उठा था, "अम्मा—" और उसके सारे वदन से दर-दर करके पसीना वहने लगा था...

कहाँ का दृश्य था यह? क्या उसके लड़कपन का ही नहीं, जव, कभी-कभी, तेज़ वुख़ार की ख़ुमारी में रात को अचानक इस तरह जग पड़ता था वह, और उसकी चीख़ सुनकर पास ही कहीं सो-पड़ी उसकी माँ उसी दम जगकर उसके पास आ पहुँचतीं और उसका सिर गोद में ले उस पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगतीं...और उसके दिल की वढ़ी हुई धड़कन, धीरे-धीरे, स्वाभाविक हो जाती...

"हाँ, हाँ...देखो। तुम पुकार रहे हो, अम्मा—" स्वामीजी कहे जा रहे

थे, और शंकर ने तब अपनी बीमारी का यह चित्र उन्हें बना डाला।

थोड़ी देर तक फिर एक सन्नाटा, जिस बीच स्वामीजी कुछ नहीं बोले, और शंकर भी उन दिमाग़ी भूलभुलैयों से निकल, एक तरह से राहत ही पा, धीरे-धीरे एक शून्य में खो गया...

"देखो तो...अम्मा—" मानो किसी दूसरे ही युग से आती स्वामीजी की आवाज़ अचानक उसके कानों में पहुँची, और चौंककर वह चीख़ उठा :

"छायाएँ—"

"हाँ-हाँ...छायाएँ—" स्वामीजी ने उसे बढ़ावा दिया।

"काली-काली...लम्बी-लम्बी..." एक बार फिर जैसे शंकर की घिग्घी बँध चली...

कब आज के प्रौढ़ शंकर के अन्दर का न-जाने कितनी तहों के नीचे दबा पड़ा भयभीत शिशु धीरे-धीरे पूरी तरह उठ खड़ा हुआ, उसे पता ही नहीं चल पाया था। शंकर के दो जीवन एक-दूसरे के साथ-साथ, अग़ल-बग़ल, चलते रहे थे महीनों तक : उस अँधेरी कोठरी के अन्दर घुसते ही उसका वह आतंकग्रस्त शिशु-जीवन, और वहाँ से बाहर आने पर उसका आज का प्रौढ़ जीवन; किन्तु कितनी ही बार आज वाले इस तथाकथित प्रौढ़ जीवन पर सुदूर अतीत का वही शिशु आरोपित हो जाता था। और, वह स्तब्ध रह जाता था समय-समय पर स्वामीजी द्वारा यह दिखाये जाने पर।

"कौन काम कर रहा है यहाँ—" स्वामीजी की साधारण सेवा का कोई काम करते वक्त अचानक ही वह उनके मुँह से एक मीठी-सी हलकी फटकार सुनता, "आज वाला प्रौढ़ शंकर...या दो-ढाई साल की उम्र का वह बच्चा ?" दरअसल फटकार भी वह कहाँ होती थी ?...सिर्फ़ शंकर को वैसी लगती थी, अतीत वाली उन डरावनी स्मृतियों के उस तरह जाग्रत कर दिये जाने के कारण... क्योंकि, एक बार जब किसी पुरानी घटना की चर्चा करते हुए उसने स्वामीजी को उनकी किसी पिछली फटकार की बात सुनायी थी, तो वह बोले थे: "फटकार तो कोई नहीं दी थी।...हाँ, तुम्हें वैसा लग सकता था...अतीत की उस जकड़ के कारण, जहाँ नानाजी का या पिता का डर तुम पर सवार था।"

"आजकल स्वामीजी कुछ उदास-से नहीं दिखाई दे रहे हैं उदय जी—?" रूपचन्द उससे पूछ उठे थे, जिनके साथ भी कुछ वक्त से अँधेरी कोठरी में की जाने वाली वह प्रक्रिया शुरू हो गयी थी। कई हफ़्ते तक उनकी सिर्फ़ हँसी ही हँसी सुनाई देती रही थी उस कोठरी से बाहर—कभी-कभी तो अट्टहास तक।

"नहीं तो—" शंकर ने विस्मित हो जवाब दिया, "स्वामीजी जैसे पहले थे

वैसे ही अब भी हैं।...फिर, स्वामीजी के उदास हो सकने का सवाल ही कैसे उठ सकता है !"

"मगर मुझे तो कल से बेहद उदास और मायूस-से नज़र आ रहे हैं वह—"

कुछ ही दिन पहले दोनों मित्रों के बीच मनोविश्लेपण शास्त्र सम्बन्धी किसी चर्चा के सिलसिले में यह बात हो चुकी थी कि शैशव की दबी पड़ी स्मृतियाँ, उभाड़े जाने पर, किस तरह कभी-कभी वर्तमान पर अपनी लम्बी छाया डाल देती हैं, और हम आज की परिस्थिति से कटकर बिलकुल उस बच्चे की नाईं व्यवहार करने लगते हैं जो पहले अन्दर सोया पड़ा था पर अब जग चुका है।

"कहीं आपके अन्दर ही तो उदासी और मायूसी की कोई याद नहीं जग उठना चाहती रूपचन्द भाई—" शंकर ने उसी हवाले से, सिर्फ़ अन्दाज़ से, टिप्पणी कस दी।

अगले दिन से ही उस अन्धेरी कोठरी से रूपचन्द का जो रोना फूट निकला वह हफ़्तों तक चलता ही चला गया; बल्कि, कई दिनों तक तो बाहर भी, जब कभी उनकी कोठरी के पास से वह गुज़रता, उनकी सिसकियाँ उसे सुनने को मिलतीं—कभी-कभी तो रात को भी काफ़ी देर तक...

'प्रोजेक्शन' (आरोप) 'ट्रांसफ़रेंस' (पात्रान्तरण)—अजीब-अजीब शब्द पढ़ और सुन रखे थे शंकर ने—मनोविश्लेपण शास्त्र का यत्किंचित् अध्ययन करते वक्त, या बनारस के अपने साहित्यिक-दार्शनिक मित्र शोभाराम के साथ उस शास्त्र की चर्चा के सिलसिले में।...क्या यही है 'प्रोजेक्शन', या ट्रांसफ़रेंस' ?—उसके मन में प्रश्न उठता। लेकिन स्वामीजी के सामने जब-जब उसने यह कुतूहल प्रकट किया, उन्होंने उसे रोक दिया : पढ़ी-पढ़ाई और सुनी-सुनाई बातों को कुछ समय के लिए वह बिलकुल ही भूल जाय—उनकी हिदायत थी—क्योंकि यह विज्ञान अनुभव की कसौटी पर ही परखा जा सकता है; बल्कि, अपने अनुभवों से गुजरते वक्त वे पढ़ी-पढ़ाई बातें उलटे मुशकिलों को ही बढ़ाएँगी; तब तक उनकी ओर चित को ले जाने से दरअसल निजी अनुभव की गहनता में बाधा पड़ेगी...

और-कोई बात शंकर अपने दिमाग़ से भले ही निकाल देता, 'इडीपस काम्पलेक्स' (इडीपस भाव-ग्रंथि) की बात को तो लाख चाहने पर भी अपने दिमाग़ से दूर नहीं रख सका था—जब 'बाघ' और 'काली-काली, लम्बी-लम्बी उन छायाओं' के सिलसिले में, धीरे-धीरे, बड़ी-बड़ी मूँछों वाले उसके विकराल पिता का चित्र उसके स्मृति पट पर उतरता चला आया था—जिन्हें ढाई-तीन साल की उम्र में ही वह सदा के लिए गँवा चुका था।

क्या यही वह 'इडीपस काम्पलेक्स' नहीं है—उसके चित्त में बार-बार प्रश्न उठता—जिसे लेकर मनोविश्लेपण विज्ञान का स्रष्टा फ्रायड सारी दुनिया में

बदनाम हुआ, पर जिसके चलते ही आज शंकर अतीत की एक इतनी कड़ी जकड़ से छुटकारा पाता रहा था ?...

... ...

कितनी प्रचण्ड शक्ति अचानक अपने अन्दर पायी थी करीब ढाई साल के ही उस शिशु ने, जब उसके पिता ने उसकी माँ के पास से खींचकर एक ही झटके मे उसे अलग हटा देना चाहा था। रात का वक्त था; उसकी माँ पलंग पर लेटी उसे छाती से लगाये दुलार कर रही थी कि उसके पिता ने, पहले धीरे से, लेकिन बाद को ज़ोर से उसे खींचकर वहाँ से हटा देना चाहा...

नन्हे-से शंकर ने अपनी माँ की गर्दन दोनों बाँहों में जकड़ ली और पूरा ज़ोर लगा अपनी टाँगों को भी कसकर उनकी कमर में लपेट लेना चाहा... कि आखिर दो बलिष्ठ कर्कश पंजों ने उसकी माँ की गर्दन में लिपटी उसकी उन बाँहों को इस तेज़ी के साथ पीछे से खींच लिया कि वह हक्का-बक्का रह गया।

फिर उसके पिता ने उसे एक झटके के साथ पलग से नीचे खीच लिया, लेकिन शकर ने तब भी हार नही मानी। कसकर वह उनकी टाँगो से लिपट गया—बालों से भरी उनकी काली-काली टाँगों से; फिर उन्हें बकोटने लग गया, काटने लग गया...और उसे रोकने की कोशिश करने वाले उनके हाथों को भी उसने कसकर दाँतो से काटने की कोशिश की कितनी ही बार...

लेकिन, अन्त मे, कब उसकी पूरी हार हो गयी, कब उसके वह पिता सहसा अत्यन्त विकराल हो उस पर बुरी तरह टूट पडे, पीट-पीटकर किस तरह उन्होंने उसका कचूमर निकाल अन्त मे उसकी एक बाँह पकड ज़ोर से उसे उठा उसके छोटे-से खटोले पर पटक दिया, वह कुछ समझ ही नही पाया।...बस, एक हलकी सी स्मृति और थी उसकी, कि उसकी माँ ने उसे बार-बार बचाना चाहा था, उसकी ओर से उसके पिता से कितनी बार दीन वाणी में भीख-सी माँगी थी, लेकिन उनकी कुछ भी नही चल पायी, और अन्त मे जब वह भी उठकर पलग पर बैठ गई, और उसके खटोले की ओर बढना चाहा, तो उसके पिता उसे छोड फिर उन्ही पर टूट पड़े...

नन्हा-सा शकर बुरी तरह टूट चुका था। अपने खटोले पर पडे जब उसने रोना शुरू कर दिया तब उस पलग पर से उसके पिता का वज्र-कठोर स्वर उसके कानों को बींध गया था

"ख़बरदार, जो रोया।...चुप...बिलकुल चुप—"

और शकर की वह रुलाई बीच में ही कही अटक गयी; सिसकियाँ लेने की भी तब उसके अन्दर हिम्मत नही थी...

इस तरह, न जाने कब, शायद वह सो गया था।

फिर—जब किसी वक्त उसकी आँखें अचानक खुल गयी, तो सामने दीवालों

पर लम्बी-लम्बी, काली-काली, बेहद भयावनी छायाएँ दीख पड़ीं उसे—उस कमरे के एक कोने में जलते तेल के दीये की रोशनी की छायाएँ—और उसका दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लग गया। उसने ज़ोर से रो पड़ना चाहा, उठकर तेज़ी के साथ अपनी माँ के पास दौड़ जाना। लेकिन तभी उसकी दृष्टि उस पलंग पर जा पहुँची, जहाँ उसके बाप उसकी माँ के ऊपर औंधे पड़े हुए थे...

उसका पूरा दम खुश्क हो गया।

कोई दो-तीन महीने लग गये थे इस पूरे चित्र, और बाद के और-भी भयावह चित्रों वाले इस सिलसिले के पूरी तरह प्रकाश में आने में, जिस बीच, अपने आज के जगत से पूरी तरह विच्छिन्न और सम्पूर्ण रूप से आत्मविस्मृत हुए बिना भी एक बिलकुल नयी, अतीत की दुनिया में ही रमा रहा था शंकर, और दिन पर दिन विस्मित होता चला गया था—प्रति दिन आविर्भूत होती नयी-नयी स्मृतियों से। "कचूमल निकाल दिया ले···" शिशुकालीन एक तोतला-सा स्वर आज के प्रौढ़ शंकर के कण्ठ से स्वामीजी के सामने, बिना किसी लज्जा के, बिना किसी झिझक के, सहसा फूट उठता, और उसकी उस अवस्था के साथ एकात्म हो-उठे स्वामी जी भी उसके पीछे-पीछे वैसे ही तोतले स्वर में दोहराने लग जाते :

"कचूमल निकाल दिया ले...हाँ-हाँ, कचूमल...देखो तो···कैसा कचूमर निकाल दिया बाबूजी ने।···देखो-देखो···"

मगर थोड़ा ही आगे बढ़कर संत्रस्त और भयभीत शंकर फिर रुक जाता, और स्वामी जी उसे आगे ठेलते चलते : "देखो-देखो...घबड़ाओ नहीं। हाँ, हाँ। बाप ने कचूमर निकाल दिया था।···कितना पीटा था...छोटा-सा बच्चा... माँ के पास से छीन लिया...माँ की गोद से..."

शंकर का कुछ देर से रुका बाँध अचानक फिर टूट जाता, और उसकी पूरी छाती को झकझोरती एक तीव्र पुकार निकलती उसके कण्ठ से :

"अम्मा—"

किन्तु दूसरे ही क्षण वह फिर भयभीत हो रुक जाता।

"अम्मा—" स्वामीजी उसे फिर बढ़ावा देते, "अम्मा।...अम्मा कुछ नहीं कर सकी।...अम्मा बचा नहीं सकी। बाबूजी ने मारा...इतना मारा..."

"अम्मा की गोद से खींच लिया···" अचानक शंकर चीख़ उठता, और दूसरे ही क्षण अत्यन्त आर्त्त स्वर में उसका रोना फूट पड़ता।

और—जब थोड़ा रो लिया, तब एक दिन उसका सारा बदन अवरुद्ध क्रोध से ऐंठने लग गया, मुँह से झाग-से निकलने लगे, उसकी बाँहें और टाँगें तन गईं... फिर; हवा में उसकी मुट्ठियाँ कस गयीं, अपने पाँवों को ज़ोर-ज़ोर से वह धरती पर पटकने लगा।

"देखो-देखो...बाबूजी पीट रहे हैं," स्वामीजी उसके ऊपर पूरे झुके हुए

थे, "वह देखो...बाबूजी...तमतमाया चेहरा...बड़ी-बड़ी मूँछें...लाल-लाल आँखें..."

पल-भर के लिए जैसे फिर सहम गया शकर।...फिर, अचानक ही, उसका सारा तनाव उसके कण्ठ की राह एक प्रचण्ड गर्जन के रूप में बाहर निकल पड़ा :

"मार डालूं-ऊँ-गा-न !" और उस गर्जन ने उसे अन्दर और बाहर पूरी तरह हिला दिया।

"हाँ-हाँ..." और भी नज़दीक आ चुके स्वामीजी उसे बढ़ावा दिये जा रहे थे, "बाबूजी ने पीटा है...देखो-देखो...पीटा है...पीट रहे हैं...बड़ी बड़ी मूँछें...बाबूजी—"

लगातार कितने दिनों तक फिर शकर भी—वह नन्हा शिशु—अपने उस विकराल पिता को पीटता रहा, बकोटता रहा, काटता रहा, उनका 'कचूमर निकालता' रहा; स्वामीजी की उस विराट उपस्थिति का सहारा पाकर, धीरे धीरे, एक अभूतपूर्व साहस पा गया था वह—अपने दीनतापूर्ण असहाय क्रन्दन को प्रचण्ड क्रोध में परिणत करने के लिये। कितने दिन तक स्वामीजी की उस छोटी सी अँधेरी कोठरी में शंकर का वह नन्हा-सा शिशु रूप दिन पर दिन जिस कुरुक्षेत्र की सृष्टि करता चला गया था उसमें वही था विजेता वीर, और उसके वह दुर्द्धर्ष पिता उसके प्रहारों के सामने अपना कोई बचाव नहीं कर पाये...

अन्त में उसने न सिर्फ़ अपने पिता के उस भूत का संहार कर डाला अपने अन्तस्तल में दबी पडी उस रणभूमि में, बल्कि, उसके बाद, अपनी माँ को भी उनके सर्वग्रासी आलिंगन पाश से उबारा, और पूरी तरह उन्हें फिर से पा, उन पर अपना एकाधिकार स्थापित कर, परम तृप्ति प्राप्त की...

कई महीने लगे थे इस प्रक्रिया में।...दिसम्बर में ही स्वामीजी हज़ारीबाग रोड स्थित आनन्दकुटी छोड़ फिर आश्रम लौट गये थे, और उनके साथ-साथ शकर और सुशीला भी। इस प्रक्रिया के बीच के कुछ दिन—जब तक कि अपने पिता से वह बदला नहीं ले सका था, और जिस बीच उस सिलसिले के कुछ और भी भीषण, कुछ और भी आतंकप्रद, कुछ और भी रहस्यपूर्ण स्मृति-चित्रों की भूलभुलैयों में वह अटका पड़ा रह गया था—उस अँधेरी कोठरी के बाहर आने के बाद भी वह खोया-खोया-सा और बेहद उदास इधर से उधर भटकता फिरा था आश्रम-भूमि में, या उसके बाहर भी; जो रहस्य तब तक भी पूरी तरह उद्घाटित नहीं हो पाये थे उनसे अनजाने ही प्रभावित, न-जाने किन-किन प्रतीकों से डरता-घबडाता रहा था, कैसी-कैसी प्रतीकात्मक क्रियाओं का शिकार होता रहा था, कैसी-कैसी अज्ञात और अपरिचित मानसिक प्रवृत्तियों का अखाड़ा बना रहा था।

···उसके ये सारे अनुभव सुन रहे थे शोभाराम, और इस तरह उसकी ओर देख रहे थे मानो भूतों की सिर्फ़ कहानी ही सुन रखने वाले किसी व्यक्ति के सामने सचमुच सहसा भूत का आविर्भाव हो गया हो। अविश्वास उन्होंने नहीं किया: एक तो इसलिये कि फ़ायड के मनोविश्लेपण शास्त्र का उन्होंने काफ़ी अध्ययन किया था; दूसरे इसलिए कि शंकर के साथ उनका जैसा निकट का सम्बंध था उसमें उसकी अनुभूति की ईमानदारी पर तो वह अविश्वास कर ही नहीं सकते थे। फिर, स्वामीजी के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा थी; स्वयं भले ही वह उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में यदा-कदा और थोड़े ही थोड़े समय के लिए आये हों, किन्तु उनकी चर्चा बड़े ही आदर के साथ करते थे।

1942 के आन्दोलन में जेल चले जा चुके थे शोभाराम; शंकर के बच्चे की मृत्यु उसी बीच हुई थी। जब तक किसी साथी से आगरा जेल में उन्हें उस पर हुए इस प्रचण्ड आघात की ख़बर मिली थी तब तक शंकर आश्रम जाकर उस शोक से छुटकारा पा पटने में काम करने लग गया था। उनका समवेदना का पत्र पाने पर जब जवाब में शंकर द्वारा उस शोक की जड़ से ही सदा के लिए छुटकारा पा चुकने का समाचार दिये जाने पर जब उन्होंने उसकी इस धारणा को निराधार बताते हुए यह लिखा था कि पुत्र की मृत्यु का शोक उसकी चेतना से भले ही कुछ दिन के लिए लुप्त हो चुका हो, किन्तु जड़-मूल से तो वह किसी प्रकार भी नष्ट नहीं हो सकता, तो शंकर ने उनके अविश्वास को डिगाने की कोई कोशिश नहीं की थी...

अब 1945 का अन्त निकट था; जर्मनी और जापान दोनों की ही पराजय के फलस्वरूप महायुद्ध समाप्त हो चुका था, और धीरे-धीरे उन लोगों को जेलों से छोड़ा जाने लगा था जो 1942 के भारत-छोड़ो आन्दोलन में गिरफ़्तार कर लिये गये थे। जेल से छूटते ही शोभाराम ने उसकी खोज-ख़बर की, और उससे मिलने और 'स्वामीजी के भी दर्शन करने' के निमित्त दो-चार दिन के लिए आनन्द-कुटी आ गये थे।

तथाकथित 'इडीपस काम्प्लेक्स' के बारे में शोभाराम का भी कुतूहल कम नहीं था, और जितना ही शंकर बताता चल रहा था उतनी ही उनकी जिज्ञासा बढ़ती जा रही थी।...लेकिन उन सारे अनुभवों को क्या शंकर, उनके सामने भी, पूरी तरह खोलकर रख सकता था? कितने प्रसंग ऐसे थे जिन्हें किसी भी दूसरे को सुना सकना उसके लिए बेहद शर्मनाक था...और स्वामीजी ने भी आगाह कर दिया था कि निरुद्ध अचेतन के अपने कुल अनुभव वह किसी को भी न सुनाये: यह विज्ञान अपने निजी अनुभवों के आधार पर ही लाभप्रद है; दूसरे के अनुभवों से किसी का लाभ होने की जगह क्षति होने की ही संभावना अधिक है। फिर, एक बार शंकर के स्वानुभूति-जनित इस विचार की भी उन्होंने पुष्टि की थी कि

प्रत्येक व्यक्ति का चेतन चित्त अपने अचेतन का निराकरण करके, उसके अस्तित्व को अस्वीकार करके ही अपने मिथ्या, भ्रमपूर्ण जीवन की सत्ता कायम रख सकता है, और इसलिए बिना प्रत्यक्ष अनुभव के किसी का इस विज्ञान पर सहज विश्वास करना कठिन ही है।

तथाकथित 'इडीपस काम्प्लेक्स' वाले अपने अनुभव का वर्णन करते-करते शंकर शोभाराम के सामने कितनी ही बार बीच में अटका; कुछ स्थलों को तो अधूरा और रहस्य से अवगुण्ठित ही छोड़ उसे आगे बढ़ने के लिए लाचार हो जाना पड़ा। शोभाराम भी उसकी कठिनाई समझ फिर बहुत ज्यादा ज़ोर नहीं दे पाये;·और शंकर को जब उनसे यह पता चला कि जेल में उन्होंने 'काव्य में प्रतीक' नाम की एक पुस्तक लिख डाली है, तब तो अपने स्मृति-चित्रों के प्रतीकों वाले अंशों पर ही उनका ध्यान केंद्रीभूत रखना उसके लिए विशेष रूप से सुविधा-जनक हो गया।

...बाघ किस तरह उसके पिता की उस विकराल मूर्ति का प्रतीक बना हुआ था यह तो शंकर बिलकुल शुरू में ही देख चुका था; बाद को और भी वैसे ही कितने प्रतीकात्मक चित्रों का, धीरे-धीरे, किसी न किसी भीषण स्मृति-चित्र के साथ-साथ उद्घाटन होता चला गया था। अपने पिता-माता से सम्बद्ध इसी निरुद्ध स्मृति-शृंखला के उद्घाटित होने के सिलसिले में एक बार वह आश्रम-भूमि के नीचे बहती उस छोटी-सी नदी में नहाते वक़्त बुरी तरह डर गया था जिसमें रोज ही वह स्नान करता था। गरमी आते-आते नदी की धारा बहुत ही पतली रह गयी थी। फिर भी उसमें पाँव डुबाते ही—जब कि काफ़ी दूर तक फुट-भर से ज्यादा गहरा पानी नहीं था—वह सहम गया और सारे बदन में एक सिहरन दौड़ गयी। काफ़ी देर बाद ही किसी तरह साहस बटोर वह कदम दो कदम आगे बढ़ा और वहीं बैठे-बैठे अंजलि भर-भर पानी बाकी बदन पर किसी तरह डाल जल्दी से बाहर निकल आया। वह कुछ भी नहीं समझ पाया कि यह हुआ क्या, लेकिन कई दिन उसकी यही अवस्था बनी रही।

अन्त में एक दिन उस बन्द कोठरी के अन्दर उसका यह डर भी सामने आ गया, और वह देख पाया कि नदी उसकी माँ की प्रतीक बन गयी थी उन दिनों—एक कारण विशेष से अत्यन्त भयावह हो उठी माँ की प्रतीक। ..नदी के अन्दर घड़ियाल रहते हैं—'नदी' को लेकर शुरू की गयी सम्बन्ध-शृंखला के सिलसिले में शंकर ने बताया, जिस पर स्वामी जी बोले : "इस छोटी-सी नदी में, जिसमें कोई गहराई है ही नहीं—घड़ियाल कहाँ से आयेंगे?"...शंकर सकपका उठा, किन्तु सर्वथा सगत यह युक्ति भी तब उसकी पूरी दिलजमई नहीं कर पायी। ..लेकिन जिस दिन उस भीषण, संत्रासकारी शैशवकालीन घटना पर से रहस्य का परदा अचानक हट गया, यह देख वह अवाक रह गया कि जिस नज़र ने नदी अत्यन्त

भयावह हो-उठी उसकी माँ की परम स्वाभाविक प्रतीक बन सकती थी उतनी ही स्वाभाविकता के साथ उसमें घड़ियाल का होना भी अनिवार्य था—उसके पिता-रूप घड़ियाल का।

पर इससे भी कहीं अधिक मात्रा में उसे विस्मित और विमूढ़ बनाने वाला आविष्कार तो यह था कि पिता-माता वाले उस परम आतंकप्रद और साथ ही रहस्यावगुण्ठित प्रसंग के चलते, उन दिनों, मन की अत्यन्त विक्षुब्ध और विमूढ़ स्थिति में किसी समय उसने एक काग़ज़ पर बिना समझे-बूझे पेंसिल से टेढ़ी-मेढ़ी जो लकीरें खींचनी शुरू कर दी थीं उनके पीछे भी अर्थ था, वे भी प्रतीकात्मक थीं। उनके पीछे भी उसके निरुद्ध अचेतन की विस्मृत घटनाएँ ही थीं।...पहले दिन उस काग़ज़ पर कुछ बेतुकी लकीरें खींचते-खींचते उसे केवल इसी बात से आश्चर्य-सा हुआ था—कि किसी प्रकार भी बोधगम्य न होते हुए भी वह रेखा-चित्र जहाँ जाकर रुक गया, वहाँ तक पहुँचकर उसने उसके दिल को एक अजीब-सी राहत दे डाली थी। दूसरे दिन भी, चित्त की वैसी ही व्याकुल स्थिति में वह फिर एक काग़ज़ लेकर, उसी तरह, किसी एकान्त में जा बैठा था...और तीसरे दिन भी। और—आश्चर्य, हर रोज़ ही उसका हाथ मानो आप-से-आप कुछ रेखाएँ खींचता जाता, जिसके फलस्वरूप काग़ज़ पर कोई नया ही, किन्तु उतना ही अर्थहीन, रेखाचित्र बनता चला जाता, जिसके बाद उसके दिल को फिर उस दिन के लिए जैसे कुछ राहत मिल जाती।...क़रीब दस-बारह दिन तक नित्य यह प्रक्रिया चली; किन्तु अन्तिम दो-तीन दिनों में जो रेखाचित्र तैयार हुए उनमें उसे जैसे कुछ अर्थ दिखाई देने लग गया : यही नहीं, पिछले रेखाचित्रों के साथ किसी हद तक एक सम्बंध भी जैसे स्पष्ट होता जान पड़ा, एक सिलसिला जैसा...

लेकिन जिस दिन उस स्मृति-शृंखला का अन्तिम और सबसे अधिक भयावह चित्र उस बन्द कोठरी में उसकी बन्द आँखों के सामने पूरी तरह उभर कर आया और अत्यन्त भयार्त्त स्वर में वह चीख़ उठा, उस दिन उसके पिछले दिन वाले रेखाचित्र का प्रतीक इस स्मृति-चित्र से हूबहू मिल गया, उसके साथ एक हो गया, दरअसल वह प्रतीक नहीं रह गया।

..."क्या यही था मेरा इडीपस काम्प्लेक्स?" साहस करके एक दिन वह स्वामीजी से पूछ ही बैठा—जबकि उन कुल रेखाचित्रों को उसके सामने फैला उन्होंने उसे उनका अर्थ दिखाते हुए उसके स्मृति-चित्रों के साथ उनका क्रमिक सम्बंध बिठा डाला।

"हाँ—यही तुम्हारी इडीपस भाव-ग्रन्थि थी," स्वामीजी ने भी उस दिन उसके उस बौद्धिक कुतूहल को शान्त करने में शायद कोई हानि नहीं देखी। "अब तो...दिल और दिमाग़ काफ़ी हलका हो गया होगा न?"

"जी—" शंकर को ज़रा भी देर नहीं लगी जवाब देते। और तभी उसे

ख़याल आया कि पिछले कुछ दिनों से—उस अन्तिम स्मृति-चित्र के उद्घाटित होने के बाद से ही—बार-बार उसे यह महसूस हुआ है कि उसके सिर पर रखी कोई भारी चीज़ जैसे खिसक गयी है।...अपने सिर को बार-बार, किन्तु अनायास, एक झटका सा देना पड़ा है उसे—यह देखने के लिए कि क्या वहाँ सचमुच कुछ था जो अब अचानक नहीं रह गया?...अजीब खाली-खाली या हलका हलका सा जान पड़ता था उसका सिर, उसका माथा, उसकी गर्दन। बार-बार वह अपनी भँवों को सिकोड़ता, फिर उन्हें माथे तक ऊँचा ले जाकर छोड़ देता, आँखें बन्द कर भँवों को सिकोड़ लेता.. और जब पता लगता कि कहीं कोई ख़ास तबदीली तो नहीं जान पड़ती—तब भी जैसे किसी भारी चीज़ के सिर पर से उतर जाने वाला वह भाव धीरे-धीरे फिर वापस लौट आता...

"जी—" उसने अनायास ही स्वामीजी को जवाब दे डाला, दिल और दिमाग़ के हलके हो जाने वाले उनके प्रश्न के उत्तर में। और पिछले कुछ दिनों वाली अपनी उस रहस्यपूर्ण अनुभूति की बात भी उन्हें बतायी।

फिर—स्वामीजी द्वारा और भी स्पष्टीकरण के बाद, प्रयोग कर करके, अगले कई दिन तक वह अनुभव करता रहा—कि सचमुच उसके माथे की वे सलवटें ढीली पड़ गयी हैं जो पहले बराबर तनी रहती थीं, उसकी आँखों का तनाव ढीला पड़ गया है, उसके सारे चेहरे पर ही जैसे कड़ी रेखाओं का स्थान ढीली रेखाओं ने ले लिया है...

उफ़, जिन्दगी-भर स्नायुओं के अन्दर कितना तीखा तनाव ढोता चला आया था वह—उसने अब देखा, और फिर भी जैसे उस मानसिक ग्रन्थि-मोचन के इस विशुद्ध शारीरिक परिणाम पर पूरा विश्वास नहीं कर पाया...

चुपचाप, बीच में टोकने का साहस किये बिना, यह सब सुनते चले जा रहे थे शोभाराम और बीच-बीच में जब शंकर की नज़र उनके चेहरे की ओर जाती, उसे लगता मानो चाह कर भी वह उसकी बातों पर पूरा विश्वास न कर पा रहे हों...

कितनी मुश्किल से शंकर अपने को रोक सका था, प्रतीकों वाले अपने उन रेखाचित्रों को उन्हें दिखा डालने से: वह साफ़ देख रहा था कि उनकी चर्चा छेड़ देने के बाद उन्हें उनसे छिपाकर रखना उनके प्रति विश्वासघात जैसा है। शोभाराम ने ही तो चिकित्सा के लिए उसे स्वामीजी के पास भेजा था, और अब उन्हीं से उसे बहुत-सी बातें छिपानी पड़ रही थीं—उनके इतने कुतूहल के बावजूद। अपने अचेतन में दबी पड़ी दमित बुभुक्षाओं और पिपासाओं के उन प्रतीकों को खुलकर उनके सामने रखना क्या संभव था जो ही प्रच्छन्न रूप से जीवन-भर उसे प्रभावित और संचालित करती रही थीं और जिन्हें उसके चेतन चित्त ने, अवश्य अनजाने ही, बड़ी बड़ी नैतिक मान्यताओं, बड़े-बड़े आदर्शों और त्याग,

तपस्या तथा वलिदान की ऊँची-ऊँची भावनाओं की आड़ में छिपा रखा था ? उसकी उस प्रमुख भावग्रन्थि के उन्मोचन के सिलसिले में जो रेखाचित्र आप-से-आप वनते चले गये थे उनका अर्थ शुरू-शुरू में ज़रूर वहुत ही अस्पष्ट था, और उनसे उसकी उन निरुद्ध प्रवृत्तियों का पता लग सकना अवश्य कठिन था, किन्तु अन्त में आते-आते तो वह सम्वन्ध अधिकाधिक स्पष्ट होता चला गया था, और किसी अनाड़ी को भी उनका अर्थ साफ़ दिखाई दे जाता—ऐसा अर्थ, जो सभ्य समाज में उसके लिए घोर से घोर लज्जा का विषय वन जा सकता था...

"और भी कोई प्रतीक आये ?" उन रेखाचित्रों के वारे में अन्त में उसे पूरी तरह मौन हो गया देख शोभाराम ने ही उस अशोभन स्थिति से उसे कुछ देर वाद उवारा। और शंकर के दिल पर से अस्वस्ति का एक भारी वोझ उतर गया।

"उल्लू और विल्ली से मैं वहुत डरता था," शंकर ने कुछ देर सोचने के वाद कहना शुरू किया, "वड़े हो जाने के वाद भी—अभी कुछ महीने पहले तक भी।...उल्लू और विल्ली दोनों की ही आँखें वेहद भयावनी लगती थीं, और अकेले रहने पर कभी ये दिखाई पड़ जाते थे तो सारे वदन में अचानक सिहरन दौड़ जाती थी।...मगर जव से इनके स्रोत का पता चला है, यह डर जाता रहा है शोभारामजी ! क्या कभी पहले स्वप्न में भी यह कल्पना कर सकता था कि ये केवल प्रतीक थे मेरी मँझली मामी के...जिनकी भी आँखें गोल-गोल थीं, और जिनसे मैं इतना डरता था—ख़ास तौर से जव वे उन आँखों को और भी गोल गोल कर मेरी ओर ताक उठती थीं—कि रोता हुआ भी मैं उसी दम वीच में रुक जाता था।...वोलती वह वहुत कम थीं, और मेरी माँ या औरों के सामने मुझे कभी नहीं डाटती थीं...वल्कि उनके सामने तो उनके उस कठोर क्रूर चेहरे पर भी न जाने कहाँ से हलकी मुसकराहट खिल उठती थी; मगर उस मुसकराहट के पीछे भी मुझे हमेशा उनका वही छिपा रूप दिखाई दे जाता था।...सच पूछा जाय तो उनकी वह मुसकान मुझे रामलीला के नक़ली चेहरों जैसी दिखाई देती थी...वल्कि शुरू में तो रामलीला का एक ऐसा चेहरा ही स्वामीजी के सामने लेटे-लेटे मेरी वन्द आँखों के सामने आ खड़ा हुआ था, जो ही फिर सहसा मँझली मामी की उस जहरीली मुसकान में वदल गया था।

"मगर...अपनी मँझली मामी से इतने डरते क्यों थे आप ?" शोभाराम ने कुछ देर चुप रहने के वाद प्रश्न किया।

"थी एक घटना उसके पीछे..." शंकर ने सकुचते हुए कहा, "एक हरक़त की थी मैंने...पर जानता नहीं था कि यह कोई ग़लत काम है।...मुझसे डेढ़-दो साल वड़ी एक लड़की थी उनकी, उसी ने वह सव करने को कहा था—जिसका फल फिर मुझे भुगतना पड़ा। पहले तो मुझे कसकर पीटा मँझली मामी ने, और

...फिर वही आतंक, फिर वही दबी हुई रुलाई, जिसके बाद, पहले की ही नाईं, पिता के उस भूत को लातों और घूंसों से पछाड़ना...और फिर, उस पूरी स्मृति-शृंखला से उत्पन्न सभी प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रियाओं से छुटकारा पा, शान्ति की गहरी सांस का छाती के अन्दर दबी-पड़ी न जाने कितनी तहों को चीरकर बाहर निकल आना...

"देख जाओ—फिर सारा चित्र शुरू से आख़ीर तक देख जाओ," उसके साथ साथ ख़ुद भी पसीने से तरबतर हो-उठे स्वामीजी उसके ऊपर और भी झुक आते, और उस पूरी स्मृति-शृंखला की पिछली किसी भी कड़ी के स्मृति-पट पर आने पर किसी भी भावात्मक प्रतिक्रिया का कोई साधारण से साधारण भी संकेत जब तक दिखाई देता, तब तक शंकर को उस दिन उस प्रक्रिया से छुट्टी न मिलती...

प्रतीकों के अलावा शोभाराम की दूसरी दिलचस्पी उस प्रक्रिया की प्रविधि में थी। उस ओर शंकर का ध्यान पहले गया ही नहीं था, पर उनके पूछने पर जब उसने उस पर विचार किया तो देखा, सारे स्मृति-चित्रों के ही उद्घाटित होने के सिलसिले में उसके साथ जो बात हर बार समान रूप से घटित होती आयी थी वह यह कि पहले निरुद्ध भय सतह पर आना शुरू होता, उसका खुल कर प्रकाश हो जाने पर, किसी वक़्त, दबी हुई रुलाई का थोड़ा-बहुत प्रकाश; जिसके बाद किसी समय अचानक क्रोध का आविर्भाव—छाती के अन्दर छिपे न-जाने किस तहख़ाने से। पहले वह अपने दाँतों को ज़ोर से भींच लेता, उसका चेहरा विकृत ' जाता, हाथ-पाँव तन जाते; फिर किसी वक़्त उसके हाथों की मुट्ठियाँ त तनाव के साथ बँध जातीं और हवा में वह हाथ-पाँव झटकारने लग

एक ही प्रसंग पर आकर वह देर तक—कभी-कभी तो लगातार कई दिनों तक—रुका रह जाता था। किन्तु आश्चर्य, ज्यों ही वह उस जगह से कुछ आगे बढ़ निकलता, स्वामीजी की वह निद्रा आप-से-आप भंग हो जाती और पूरी तरह चैतन्य होकर वह कह उठते :

"हाँ-हाँ...खोलो-खोलो...बाहर आ जाने दो...रुको मत—"

उस दिन स्वामीजी के खर्राटे सुन उसे पहली बार कुछ ऐसी घबड़ाहट मालूम हुई—जैसे वह चोरी करते पकड़ा गया हो।

मगर स्वामी जी तो सो रहे हैं, उसने अपने को विश्वास दिलाया—और एक बार फिर आँखें खोल दीं।

देखा, स्वामीजी का ऊँघता सिर सामने नीचे तक लटक गया है और एक-एक ख़र्राटे के साथ ऊपर-नीचे हो रहा है।

वह फिर सिहर-सा उठा, और अपनी आँखें फिर बन्द कर लीं...

पल-दो पल ही बीते होंगे, कि अचानक वह चीख़ उठा—अत्यन्त भयभीत स्वर में।

"बोलो, बोलो—" स्वामीजी भी उसी दम मानो पूर्णतया सचेत हो उठे, और शंकर के गले से अनायास निकल पड़ा :

"खर्राटे—"

"खर्राटे—हाँ, हाँ...खर्राटे..." स्वामीजी भी कह उठे। "किसके खर्राटे ?"

शंकर ने शायद कहना चाहा, 'आपके ख़र्राटे,' लेकिन उसके मुँह से निकला :

"बाबूजी के...खर्राटे—" और अन्तिम शब्द उसके मुँह से एक चीख़-सी बनकर निकला, और डर के मारे उसकी घिग्घी-सी बँध गयी।

"देखो-देखो, बाबूजी के खर्राटे।...बाबूजी खर्राटे ले रहे हैं—"

धीरे-धीरे उन खर्राटों के पीछे छिपा भय पूरा का पूरा उभड़कर सामने आ चला—उसी स्मृति-श्रृंखला की एक छोटी-सी किन्तु अत्यन्त भयावह कड़ी के रूप में—जब कि माँ के पास से उसके पिता ने जबरदस्ती उसे खींच लिया था।... जिस रात उसने अपने बाप से वह मार खायी थी और एक बार आँखें खुलने पर दीवाल पर उतरती-चढ़ती वे छायाएँ देखी थीं, उसी रात को एक बार फिर जगने पर उसने पहली आवाज़ इन खर्राटों की ही सुनी थी। उन्हें छोड़ उस सिल-सिले के बाक़ी सारे चित्र वह पहले ही देख चुका था—हफ़्तों पहले—और उसका ख़याल था कि उस दृश्य की भयावह से भयावह और अधिक से अधिक आतंकप्रद सभी स्मृतियों को जगाकर वह उनसे छुटकारा पा चुका था...

लेकिन, बीच की छूटी किसी कड़ी की तरह कब कोई नन्हा-सा स्मृति-खण्ड फिर उसे बुरी तरह भयभीत कर डालता अगले कुछ हफ़्तों या महीनों तक के लिए, और स्वामीजी भी उसके पीछे फिर उसी तरह जैसे हाथ धोकर पड़ जाते।

...फिर वही आतंक, फिर वही दबी हुई रुलाई, जिसके बाद, पहले की ही नाईं, पिता के उस भूत को लातों और घूँसों से पछाड़ना...और फिर, उस पूरी स्मृति-शृंखला से उत्पन्न सभी प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रियाओं से छुटकारा पा, शान्ति की गहरी साँस का छाती के अन्दर दबी-पड़ी न जाने कितनी तहों को चीरकर बाहर निकल आना...

"देख जाओ—फिर सारा चित्र शुरू से आख़ीर तक देख जाओ," उसके साथ साथ ख़ुद भी पसीने से तरबतर हो-उठे स्वामीजी उसके ऊपर और भी झुक आते, और उस पूरी स्मृति-शृंखला की पिछली किसी भी कड़ी के स्मृति-पट पर आने पर किसी भी भावात्मक प्रतिक्रिया का कोई साधारण से साधारण भी संकेत जब तक दिखाई देता, तब तक शंकर को उस दिन उस प्रक्रिया से छुट्टी न मिलती...

प्रतीकों के अलावा शोभाराम की दूसरी दिलचस्पी उस प्रक्रिया की प्रविधि में थी। उस ओर शंकर का ध्यान पहले गया ही नहीं था, पर उनके पूछने पर जब उसने उस पर विचार किया तो देखा, सारे स्मृति-चित्रों के ही उद्घाटित होने के सिलसिले में उसके साथ जो बात हर बार समान रूप से घटित होती आयी थी वह यह कि पहले निरुद्ध भय सतह पर आना शुरू होता, उसका खुल कर प्रकाश हो जाने पर, किसी वक्त, दबी हुई रुलाई का थोड़ा-बहुत प्रकाश; जिसके बाद किसी समय अचानक क्रोध का आविर्भाव—छाती के अन्दर छिपे न-जाने किस तहख़ाने से। पहले वह अपने दाँतों को ज़ोर से भींच लेता, उसका चेहरा विकृत हो जाता, हाथ-पाँव तन जाते; फिर किसी वक्त उसके हाथों की मुट्ठियाँ ज़बरदस्त तनाव के साथ बँध जातीं और हवा में वह हाथ-पाँव झटकारने लग जाता।

और, क्रोध का पूरी तरह प्रकाश हो जाने पर, एक बार फिर उसका रोना फूट निकलता—इस बार उसकी सारी छाती को झकझोरता हुआ, और फिर कई दिन तक सिर्फ़ रोना ही रोना चलता रहता उस अँधेरी बन्द कोठरी में। उसके बाद उसका सारा दिल इस तरह हलका हो जाता जैसे कोई बहुत भारी शिला उसने छाती पर से उतार फेंकी हो। और साथ ही बुरी तरह क्लान्त और पस्त हो जाता कुछ दिन के लिए...

सबसे बड़ी कसरत उस दबे हुए क्रोध को निकाल बाहर करते वक्त ही करनी होती थी। उसके पाँव नीचे की धरती को पीटने लगते...कभी-कभी तो, अपने तन-बदन की सारी सुध भूल, न जाने कितनी देर तक पीठ के बल पड़ा ही पड़ा वह अपनी दरी से नंगे फ़र्श पर जा पहुँचता, और बड़ी मुश्किल से इस बात का

लगता है...यही भाव उसका भी स्रोत होगा। दण्ड देने वाले शक्तिशाली पिता के स्थान पर जिस 'सूपर ईगो' को फ्रायड ने हमारी सामाजिक मर्यादा, विधि-निषेध, नैतिकता, आदर्श, आदि का स्रोत माना है, वह भला और क्या हो सकता है?...स्वामीजी ने तो सभी विधि-निषेधों से छुट्टी दिला देनी चाही थी मुझे, पाप-पुण्य की भावना को दिल और दिमाग़ से निकाल देने को कहा था...लेकिन फिर भी, परम्परागत नैतिकता-अनैतिकता को ग़लत जान लेने पर भी, स्वयं स्वामीजी के ही प्रति एक नया राग-द्वेषात्मक, विधि-निषेधात्मक रुख़ अख़्तियार कर लिया मेरे मन ने।...कितनी वार उन्होंने उसे अतीत के निरुद्ध भावों का ही 'प्रोजेक्शन' (आरोप) बताया, उसी पिछले राग-द्वेष का अपने प्रति 'ट्रांसफरेंस' (पात्रान्तरण)...मगर जब-जब अन्दर किसी निरुद्ध भाव ने अंगड़ाई ली... स्वामीजी के प्रति ही वे भाव फिर-फिर 'ट्रांसफ़र' (पात्रान्तरित) हो गये।..."

"बच्चे की याद भी...क्या अब सचमुच...बिलकुल नहीं सताती?" अचानक शोभाराम उससे पूछ उठे, जब कि उन्हें बिदा करने के लिए वह और सुशीला स्टेशन की ओर धीरे-धीरे चले जा रहे थे।

"आपको क्या लगा?" शंकर ने अपने क़दम रोक उनके चेहरे पर सीधी निगाह टिका उलटे उन्हीं से सवाल किया।

"ऊपर से देखने पर तो लगता है...आपने जो लिखा था वही ठीक था," किसी हद तक असमंजस के साथ उन्होंने जवाब दिया, "लेकिन—यक़ीन करने को जी नहीं चाहता—" कुछ देर के लिए जैसे वह खो से गये अपने अन्दर। फिर सुशीला की ओर मुख़ातिब हो पूछ उठे:

"आपका भी वह 'काम्प्लेक्स' दूर हो गया...आपको भी अब बच्चे की याद नहीं आती?"

सुशीला उनकी ओर ताक सिर्फ़ मुसकरा उठी।

थोड़ी देर तक वे तीनों फिर कुछ नहीं बोले, चुपचाप उस रास्ते पर धीरे-धीरे क़दम बढ़ाते रहे।

फिर किसी वक़्त, जब कि सुशीला उन दोनों से कुछ पीछे पड़ गयी थी—रास्ते में पड़ोस के मकान की किसी लड़की से बात करने के लिए जो कि उलटी ओर से लौट रही थी—शंकर उनसे कह उठा:

"अपने विवाह की पहली रात को जिस वजह से मैं विफल हो गया था शोभारामजी...उसका भी 'इडीपस काम्प्लेक्स' वाला स्रोत पूरा दिखाई दे गया अब..." और संक्षेप में उसने उन्हें शैशव की वह पूरी घटना आख़िर सुना ही डाली जिसे पिछले दो दिनों से सुनाना चाह रहा था, पर जिसके लिए तब तक

पूरा साहस नहीं बटोर पाया था : शोमाराम-जैसे अन्तरंग बंधु के सामने भी अपने माता-पिता के यौन-सम्बंध वाला वह परम गुह्य प्रसंग सुनाते उसे झिझक महसूस हो रही थी।

आख़िर जब उस प्रसंग को उसने उनके सामने पूरा का पूरा रख दिया तब दोनों मित्रों के बीच, गाड़ी के इन्तज़ार में देर तक प्लेटफार्म पर टहलते-टहलते, विस्तार से इसी बात को लेकर चर्चा होती रही कि शैशव के उस चित्र ने किस तरह उसके लिए काम-विकार के विशुद्ध यौन रूप को उतना भयावह और घृणोत्पादक बना डाला था और किस तरह उस घृणा और भय को उसने अज्ञात रूप से ब्रह्मचर्य व्रत के आदर्शवाद मे परिणत कर डाला था।

नौ

सरिया (हज़ारीबाग रोड) के छोटे-से बाज़ार की एकमात्र मिठाई की दुकान से कुछ मिठाई और नमकीन लेकर आनन्दकुटी लौटने पर शकर और सुशीला बाहर वाली अपनी कोठरी मे पहुँचे ही थे, कि कपड़े बदलने पर शकर ने देखा, एक रसगुल्ला सुशीला अपने मुँह मे डाल चुकी है।

"यह क्या ?...स्वामीजी को खिलाये बिना ही तुमने खा लिया ?" शकर चिल्ला उठा।

रसगुल्ले को किसी तरह जल्दी-जल्दी गले के अन्दर उतार सुशीला ने अपराधी मुद्रा मे उसकी ओर ताका।

फिर अपनी अबोध किन्तु पश्चात्तापपूर्ण-सी दृष्टि से उसकी ओर देखती हुई बोली :

"बिलकुल भूल गयी थी !...अब क्या होगा ?"

"अब क्या होगा ?—" शकर ने भी उसके उस प्रश्न को व्यंग्यात्मक स्वर मे उलटे उसी पर उछाल दिया। "अब स्वामीजी को नही खिलायी जा सकती ये चीज़ें !...तुम्ही खा जाओ सब...नाक तक ठूँस-ठूँसकर, और बाकी सबो से छिपाकर..."

बेचारी सुशीला की सूरत तब देखने लायक थी।

आख़िर वह मिठाई और नमकीन उन्हीं दोनों की उस कोठरी में रखे रहे, न शंकर ने, और न फिर सुशीला ने ही उनमें से एक भी चीज़ से हाथ लगाया, और न उसके भाग्य का निपटारा करने वाला कोई दूसरा ही निश्चय उस वक्त किया जा सका...

लेकिन स्वामीजी के सांध्य भोजन के समय उन्हीं चीज़ों को उनकी थाली में देख शंकर आपे से वाहर हो गया होता—अगर वहाँ गौरी-दि भी मौजूद न होतीं !...वाद को अपनी कोठरी में सुशीला का सामना होने पर जव उसने कड़े स्वर में उसके उस अक्षम्य अपराध की सफ़ाई चाही तो सारी हया-शर्म छोड़ वह ठठाकर हँस पड़ी।

तव जाकर ही उसे पता चला कि स्वामीजी के भोजन से पहले, दो-चार मिनट के लिए उन्हें एकान्त में पा, उनके सामने उसने अपना अपराध स्वयं स्वीकार किया था, जिसके वाद, उनके आदेश से ही वे चीज़ें रसोईघर में गौरी-दि के हवाले कर दी थीं ।

"गौरी-दि को भी तुमने वता दिया, कि एक रसगुल्ला तुम पहले ही खा चुकी थीं ?" शंकर ने और भी खिन्न स्वर में प्रश्न किया।

"उन्हें कैसे वता सकती थी ?" एक भोली चितवन शंकर के कठोर चेहरे पर डालती वह वोली। "स्वामीजी ने मना जो कर दिया था।"

"मगर—" भौचक्का-सा शंकर उसकी ओर ताकता ही रह गया।

धीरे-धीरे सारी वात साफ़ हुई। स्वामीजी के सामने अपनी ग़लती क़वूल कर लेने पर सुशीला लज्जा और ग्लानि की मूर्ति वनी कुछ देर खड़ी रह गयी थी, कि आगे से सावधान होने की वात कहकर स्वामीजी ने उसे सान्त्वना दी : "तुम्हारा तो इस सव वातों का संस्कार नहीं था न ?" और, यह जान चुकने पर कि शंकर के सिवा इस वात को दूसरा कोई नहीं जानता, उन सव चीज़ों को गौरी-दि को दे आने को कहा था, अगर इससे सुशीला को तृप्ति हो। "मगर और किसी को न मालूम होने पाये कि स्वामी जी का प्रसाद वनने से पहले ही तुमने उसमें से थोड़ा खा लिया था," उन्होंने ही फिर उसे सावधान कर दिया, "क्योंकि इससे उनके संस्कारों पर भी चोट पड़ेगी और तुम्हारे प्रति भी उनके दिल में सम्मान नहीं रह जायेगा—"

...स्वामीजी के पास, एकान्त में, सभी को पूरी आज़ादी थी खुलकर अपने भावों का प्रकाश करने की, अपने को पूरी छूट दे डालने की, क्योंकि तभी वे अपनी निरुद्ध भाव-ग्रन्थियों से धीरे-धीरे छुटकारा पा सकते थे—उन्हें पूर्णतया स्वीकार करके, उन्हें अपना कर, अच्छे-वुरे के समाज-प्रदत्त और संस्कारगत वंधनों को काटकर। किन्तु समाज में, आश्रम के सामूहिक जीवन में, सभी से किसी-न-किसी सीमा तक मर्यादाओं का पालन करने की अपेक्षा रखी जाती थी—ताकि

उनमें से हर एक अपने जड़ीभूत शिशुत्व को छोड़ प्रौढ़ होना सीख सके, अपने प्रियत्व की सकीर्णता से उठकर दूसरों के भी प्रिय-अप्रिय पर दृष्टि रख सकें, या, दूसरे शब्दों में, मानव बन सकें।...स्वयं स्वामीजी का जीवन किसी खुली पुस्तक की नाईं था। और उन सभी के लिए नमूने के तौर पर अपने-अपने प्रिय-अप्रिय की क्षुद्र सकीर्णताओं में बँधे और घिरे वे सब जहाँ एक-दूसरे से विच्छिन्न थे, और उनमें से प्रत्येक का आचरण अलग-अलग प्रकार का था, वहाँ स्वामीजी के लिए—शंकर ने धीरे-धीरे आविष्कार करना शुरू किया—न कुछ भी प्रिय था, न अप्रिय; उनकी दिनचर्या नित्य एक ही नियमित धारा में चलती चली जा रही थी—सूक्ष्म से सूक्ष्म, बारीक से बारीक और छोटी से छोटी बातों में भी। किन्तु जहाँ कोई प्रयोजन उपस्थित हो जाता, अत्यन्त सहज रूप में वह धारा, आवश्यकतानुसार, क्षण-भर में इधर से उधर की ओर मुड़ जाती, और स्वामीजी जैसे फिर भी सर्वथा अपरिवर्तित बने रह जाते।

पिछले आठ साल से स्वामीजी को निकट से देखने के अवसर मिलते रहे थे शंकर को, और उनकी दिनचर्या में उसने कभी कोई अन्तर नहीं देखा था : सवेरे चार बजे उठने से लेकर रात को नौ बजे बिस्तर पर जाने तक, सारे ही काम घड़ी की सुई की तरह नियमित थे; नित्यकर्म से निवृत्त हो, जिसमें व्यायाम और सुबह-शाम बँधे वक्त पर टहलना भी शामिल था, ठीक सात बजे सवेरे जलपान, ग्यारह बजे दोपहर का भोजन, तीसरे पहर चार बजे फिर हलका नाश्ता, और शाम को सात बजे, साध्य आहार! समय-समय पर, स्वास्थ्य की आवश्यकता के अनुसार अथवा उपलब्ध सुविधाओं के अनुरूप, आहार में अवश्य परिवर्तन होते रहे थे, अथवा जिस समय जिससे सेवा ली जाती थी उसकी श्रद्धा-भक्तियुक्त इच्छा का भी सम्मान करने के लिए।...गौरी-दि के रहने पर शकर देखता—रोज ही स्वामीजी के साधारण आहार में कुछ न कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहता था : नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन; कभी बहुत गाढ़ी खीर, कभी कोई अन्य मिष्टान्न। और जब, पेट के पुराने रोग—एमीबियासिस—के कारण उनकी तबीयत खराब हो जाती, तो शकर यह जान चकित रह जाता कि गौरी-दि की तीव्र इच्छा की पूर्ति के लिए, उनके अतृप्त और वंचित जीवन को किसी सीमा तक तृप्त और आप्यायित करने के लिए स्वामीजी ने अपने शरीर पर, जानकर ही, अत्याचार होने दिया था...

गौरी-दि के मानो सौ खून माफ थे उन दिनों...स्वामीजी के दरबार में। बड़े घर की वधू थीं, और प्रचुर सम्पत्ति की स्वामिनी। जब से वह स्वामीजी की शरण में आयी थीं तब से स्वामीजी के भी रहन-सहन में शंकर ने काफी

परिवर्तन देखा था। जहाँ पहले स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक भी 'प्रोटीन' खाद्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं था, और न मौसमी सस्ते फलों को छोड़ शेष फल ही, वहाँ अब न सिर्फ दूध-दही-'छाने' की मात्रा बढ़ गयी थी, बल्कि हर तरह के क़ीमती फलों और मेवों का भी उनके आहार में प्राचुर्य हो गया था। वस्त्रों में भी अब पहले से ज्यादा बारीक खादी और जाड़ों में क़ीमती से क़ीमती सर्ज या फ़लालैन का चोगा, और मुलायम से मुलायम कम्बल...

किन्तु इन सबके बीच भी—अपनी तत्कालीन मनःस्थिति में भी शंकर देख पाता था—स्वामीजी वही के वही थे; इनमें से कुछ भी जैसे उनको स्पर्श नहीं करता था।

फिर भी, हमेशा क्या यह पहलू सामने रह पाता था शंकर के? गौरी-दि के प्रति कभी-कभी गहरा असन्तोष उत्पन्न हो जाता उसके मन में, जो फिर प्रच्छन्न रूप में स्वामीजी के प्रति ही आरोपित हो जाता। क्यों स्वामीजी इतना सब कर रहे हैं गौरी-दि के लिए...क्यों उन्हें इतनी छूट दिये चले जा रहे हैं? क्यों उनके सौ खून माफ़, जब कि बाक़ी लोगों की छोटी से छोटी भूलचूक पर कड़ी नज़र? ...अंधेरी बन्द कोठरी में जाने के लिये ज़रूर सबको एक-जैसा नियमित समय मिलता था, पर स्वामीजी के बाक़ी ख़ाली वक्त पर जहाँ गौरी-दि का अबाध अधिकार दिखाई देता था, वहाँ बाक़ी लोगों के पल्ले गौरी-दि से बचे वक्त में से ही थोड़ा-थोड़ा पड़ता था—जिसकी, मन-ही-मन, उनमें से कई को शिकायत बनी रहती थी। वैसे भी, गौरी-दि की बनाई तरकारी में अगर किसी दिन नमक न पड़ा या उनकी असावधानी से कांच का गिलास, चीनी मिट्टी की प्याली, अथवा स्वामीजी के लिए तैयार रहने वाला गरम पानी का 'थर्मोफ़्लास्क' (वैकूम वाली शीशी) टूट गया; अथवा उनकी स्वाभाविक शिथिलता, सुस्ती और ढीलेढालेपन की वजह से कोई काम ठीक समय पर न हो पाया और स्वामीजी को इन्तज़ार करना पड़ा—तो स्वामीजी सिर्फ उनकी ओर मुसकराकर रह जाते...जब कि शंकर से उसकी भूलों के लिए वह कितनी ही बार सफाई मांग बैठते, और उसकी शायद ही कोई ग़लती उनकी दृष्टि से ओझल रहती।

"जो काम जिस समय करते हो, उस समय चित्त और दृष्टि उसी पर रहती है, या कहीं और?"—शंकर से स्वामीजी प्रश्न करते—जब कि भोजन के बाद उन्हें आचमन कराते समय उसका ध्यान थोड़ी देर के लिए भी कहीं और चला जाता, और पानी की धार की प्रतीक्षा में फैली स्वामीजी की अंजली कुछ क्षण के लिए भी फैली रह जाती...अथवा, लोटे में से डाली जाने वाली धार ज़रा भी इधर से उधर हो जाती...अथवा, आचमन वाली पूरी क्रिया के निष्पन्न होने से पूर्व जब चार-चार, पांच-पांच मिनट तक स्वामीजी एक हाथ में 'खरका' लिए सिर्फ़ दांतों को कुरेदते होते और शंकर अन्यमनस्क हो जाता और जान भी

न पाता कि स्वामीजी का यह कार्य पूरा हो चुका है और अब कुल्ला करके मुंह साफ़ करने के लिए उन्हें उससे पानी की अपेक्षा है...

शंकर कटकर रह जाता स्वामीजी द्वारा इस तरह भूल दिखाये जाने पर...और गौरी-दि के प्रति उनका भिन्न व्यवहार उसे और भी खल उठता। वह भूल जाता कि स्वामीजी प्रत्येक व्यक्ति के साथ अलग-अलग ढंग से पेश आते थे, प्रत्येक की पृथक-पृथक अवस्था और चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यकता के अनुरूप व्यवहार करते थे, सभी भेड़ों को एक ही डण्डे से नहीं हांकते थे।...किन्तु केवल गौरी-दि के प्रति ही स्वामीजी का पक्षपात देख ईर्ष्या की आग में नहीं भुनता रहा था वह, औरों में से भी किसी के प्रति जब ,स्वामीजी कुछ अधिक स्नेहपूर्ण दिखाई देने लगते थे तब भी उसके अन्दर जसे कोई सांप फन उठा लेता था—यहां तक कि सुशीला पर भी उनका कोई स्नेहपूर्ण व्यवहार या दुलार देख। बल्कि, कभी-कभी तो वह स्पष्ट देख पाया था कि सबसे अधिक यही उसके लिये असह्य हो उठता था—सुशीला के प्रति ही उनका स्नेह-दुलार !

किन्तु ईर्ष्या की उस भट्टी में कुछ देर सुलग चुकने के बाद जब उसका ध्यान सहसा माता-पिता वाले अपने उस स्मृति-चित्र की ओर चला जाता जिसे कुछ समय पहले वह उद्घाटित कर चुका था, तब यह समझते देर न लगती—क्योंकि स्वामीजी स्वय एकाधिक बार यह बात समझा चुके थे—कि सुशीला को लेकर स्वामीजी के प्रति जगी उसकी ईर्ष्या वस्तुत अपनी मां को लेकर पिता के प्रति उत्पन्न ईर्ष्या का ही स्थानान्तरण है, और यह भी, कि उस स्मृति-चित्र के पीछे अभी भी किसी सीमा तक उसका भाव निरुद्ध रह गया है।...

बल्कि एकाध बार तो स्वय स्वामीजी से उसे यह सकेत मिल चुका था कि उसके सामने सुशीला को स्नेह-दुलार करके उन्होंने जान-बूझकर शकर की भावात्मक प्रतिक्रिया को देखना चाहा था—निरुद्ध भाव का जो भी बचा-खुचा हिस्सा उसके अन्दर रह गया हो, उसे बाहर ले आने के लिए।

... ...

बिना दांतों वाले पोपले मुंह से शकर की ओर ताककर मुसकरा उठा था नन्हा-सा किरन, और शकर का तन-बदन जल उठा था उस मुंह मे भरे अपनी मां के दूध को उसके ओठो के किनारे बहते देखकर...

फिर, इस चित्र के गायब हो जाने के कुछ देर बाद, एक दूसरा चित्र—जिसमें ढाई-तीन साल का शकर अपने से दो साल छोटे किरन का गला दबा रहा था, और किरन के मुंह से एक चीख निकल पडी थी, फिर उसके गले से गों-गों करती एक अजीब-सी आवाज आनी शुरू हुई थी, मुंह मे झाग-से आ चले थे और आंखों के तारे ऊपर की ओर चढ़ गये थे।

नन्हा शकर बुरी तरह सहम गया था...और तभी बाहर से दौड़ते हुए पांवों

की आवाज़ आती सुन, तेज़ी के साथ कमरे के एक कोने में जा छिपा था। (किरन था शंकर के वड़े मामा और वड़ी मामी का पहला वेटा, जिसके वारे में वचपन से ही वह सुनता आया था कि उसे उसी की माँ ने अपना दूध पिलाकर पाला था, अपनी वड़ी भाभी के तभी वीमार हो जाने की वजह से। शंकर के भी एक वहन तभी-तव पैदा होकर उसी दम मर गयी थी, जिस वजह से ही उसकी माँ का दूध किरन को नसीव हो सका था...)

क्या हुआ ?...क्या हुआ ?...एक हल्ला-सा...फिर, एक-एक करके उसकी माँ, वड़े मामा, वड़ी मामी दौड़ते घुस आये कमरे में !...फिर किसी वक़्त शंकर को उस कोने में खड़ा पाया गया, और उसकी माँ वरस पड़ीं उस पर : "क्या किया था तूने ?...वता, क्या किया था ?"

शंकर पत्थर-सा सख़्त होता चला गया था माँ के एक-एक प्रश्न पर, और जव उस पर उनकी मार पड़ी थी तव तो अन्दर ही अन्दर और भी तनता गया था...

शंकर के पिता ढाई-तीन साल की ही उसकी उम्र में उन लोगों को हमेशा के लिए छोड़ चले गये थे, और अपनी माँ के साथ साथ उसे भी अपने वड़े मामा की जिस गृहस्थी में हमेशा के लिए रह जाना पड़ा था उसमें शंकर की ईर्ष्या सवसे ज्यादा किरन पर ही रही थी, जो अपने वाप (शंकर के वड़े मामा) का वड़ा ही लाड़ला था।

...और स्वामीजी की उस अँधेरी वन्द कोठरी में उनके सामने दरी पर पड़े शंकर के अन्दर का जो ईर्ष्या-सर्प फन उठाकर उस दिन खड़ा हो गया था उसे मानो वीन वजा-वजा कर उन्होंने नचाया था :

"देखो-देखो...किरन के मुँह में दूध भरा है...तुम्हारी माँ का दूध..."

"नहीं पीने दूँगा !" शंकर दहाड़ उठा, "गला घोट दूँगा...किरन का..." उसकी पूरी छाती को हिलाती और गले को चीरती चीख़ निकली उसके मुँह से।

"हाँ-हाँ...वह देखो !...देखो—किरन के मुंह में...दूध भरा है !... तुम्हारा दूध...जो तुम्हें नहीं मिला !"

"नहीं पीने दूँगा—" शंकर फिर उवल पड़ा, दोनों हाथों से उसने किरन का गला दवा दिया...प्रचण्ड क्रोध से उसका सारा वदन वुरी तरह ऐंठ उठा।

"नहीं पीने दोगे !...नहीं पीने दोगे !" स्वामी जी उसे वढ़ावा देते ही चले गये...

"अव तो भावों की जकड़ से काफ़ी छुटकारा मिल चुका है वुद्धि को," माता-पिता सम्वंधी उस अत्यन्त जटिल भाव-ग्रन्थि के शिथिल पड़ जाने पर एक

बार आश्रम में स्वामीजी ने उससे कहा था, "अब तो उसका काम शुरू होना चाहिये।"

"जी—" शंकर ने उसी दम जवाब दे डाला था, और संकल्प किया था कि अब वह नित्य नियमित रूप से कुछ समय अपने को देखा करेगा—अपने अन्दर आने-जाने वाले भावों और विचारों को, जैसा करने के लिए स्वामीजी ने, बच्चे की मृत्यु के बाद, आश्रम से उसके पटना जाते समय कहा था।

पर कितना देख पाता था वह, कितनी देर तक अपने चित्त को एकाग्र कर पाता था—अन्दर ही अन्दर बराबर होती रहने वाली उथल-पुथल पर दृष्टि रखने के लिये?...कुछ ही देर बाद वह ऊब उठता, और कभी-कभी तो वैसा करना बिलकुल ही भूला रहता लगातार कई दिनों तक...

"अन्दर ही अन्दर डूबे रहते हो हमेशा?—या बाहर भी दृष्टि रहती है... कि कहाँ क्या हो रहा है?" फिर किसी बार स्वामीजी ने उसे टोका।

शंकर कुछ समझ नहीं पाया, क्या मतलब है उनका।

"कल दोपहर के खाने के बाद तुम अपनी कोठरी में थे," स्वामीजी फिर बोले, "और बाहर से आकर कोई गाय तुम्हारी झोपड़ी का फूस खाने लग गयी··· तुम्हें कुछ पता ही नहीं चला!...सो गये थे?"

"जी नहीं—" शंकर ने अप्रतिभ होकर जवाब दिया।

"तो—? तुमको पता ही नहीं लगा, और मुझे दूर की अपनी कोठरी में भी उसकी आवाज सुनाई दे गयी!...फिर जाकर उस गाय को भगाया—"

शंकर बुरी तरह लज्जित था।

किसी दिन, किसी सिलसिले में, आश्रम-भूमि में खड़े किसी पेड़ की बात चल पड़ी थी, जिसके अस्तित्व की शंकर को जानकारी ही नहीं थी···हालाँकि वैसे पेड़ों से वह पूरी तरह परिचित था। स्वामीजी ने उसे दिखाया: किस तरह, आँखें रहते भी वह उनसे देखता नहीं है।

"मगर स्वामीजी," शंकर ने सफाई दी, "जिस चीज से मेरा कोई वास्ता नहीं पड़ता, जिसका मेरे लिए प्रयोजन नहीं, वैसी तो सैकड़ों-हजारों चीजें बाहर पड़ी हुई हैं...कहाँ तक देखा जा सकता है उन्हें, कैसे हिसाब रखा जा सकता है उन सबका?···अपनी जगह के आसपास, या रास्ते में, कहाँ क्या है...जब तक कि उससे मेरा ताल्लुक न हो, उनकी ओर नजर जायेगी ही क्यों?...जायेगी भी तो उनका हिसाब क्यों रहेगा मन में?"

"मगर आँखों के सामने तो आती ही हैं न...वे सब चीजें?" स्वामीजी ने उलटा प्रश्न किया। "आखें देखने के लिए ही है न? जिधर दृष्टि जायगी उधर कहाँ क्या है, यह दिखाई क्यों नहीं पड़ेगा?"

तब से उसने प्रयासपूर्वक देखने की कोशिश की, कि आश्रम में क्या-क्या

पेड़ हैं, क्या-क्या फूल हैं, क्या-क्या और-कुछ है...

फिर एक दिन स्वामी जी ने पूछा, कि सुशीला को भी क्या वह देख रहा है ?

क्या मतलब स्वामीजी का ?

...कुछ ही दिन पहले, एक रोज़ स्वामीजी ने उससे कहा था कि वह ज़रा उस पर निगाह रखे : उसके अचेतन में निरुद्ध पड़ी कोई विशिष्ट भाव-ग्रन्थि जिस एक विकट स्थल पर आकर कुछ दिनों से अटकी हुई थी, उसके कारण उसकी हालत बहुत नाज़ुक थी उन दिनों, स्वामीजी को भी उसे उस दलदल से निकालने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ रहा था। "उस पर ज़रा नज़र रखना—ख़ास तौर से, जब वह खेतों ही खेतों में किसी ओर को आगे बढ़ जाय।...वह पूरे होश में नहीं है...कुछ भी कर डाल सकती है—"

शंकर का दिल दहल गया था यह सुनकर। क्या वह पागल हो जा सकती है ?—उसके मन में प्रश्न उठा। अपने माता-पिता वाले उस विकराल प्रसंग के सिलसिले में उसकी अपनी स्थिति क्या हुई थी कुछ समय पहले—यह वह भूला नहीं था, और सुशीला के प्रति सहानुभूति ही सहानुभूति उमड़ आयी उसके अन्दर, स्वामीजी की उस भीषण चेतावनी से। साथ ही, स्वामीजी के अद्भुत सामर्थ्य, उनके चमत्कार के प्रति शंका भी हो उठी किसी हद तक : क्या वह भी हार जा सकते हैं सुशीला के मामले में, जबकि खुद उसके इतने बड़े भय की जड़ तक वह इतनी आसानी से जा पहुँचे थे ?

तब से कई दिन घबड़ाया रहा था वह, और सुशीला के सामने सहमा-सहमा; जब तक सुशीला उस दलदल से निकलकर बाहर नहीं आयी तब तक उसकी हर हरकत पर उसकी निगाह रही, उससे जो भी व्यक्तिगत प्रत्याशाएँ उस आश्रम-जीवन में भी अपने लिए अब तक रखता आया था उन्हें अन्दर ही अन्दर दबाये रहा उस बीच।...खाने के लिए उसके बैठने पर सुशीला जिस दिन थाली में नमक देना पहले भूल जाया करती थी—उसके ख़िलाफ देर तक उसका मन कड़ुवा बना रहता था, और बाद को किसी न किसी बहाने उसका गुस्सा उसके ख़िलाफ़ भड़क ही उठता था।...पर उस दौरान या तो वह खुद थाली में नमक लेकर बैठने लग गया, या, बिना ऊपर से नमक मिलाये, काफ़ी बेस्वाद और फीकी लगने वाली दाल-तरकारी को भी, बिना किसी शिकायत के, गले के नीचे उतार लेता।

...मगर आज क्या मतलब था स्वामीजी के इस प्रश्न का, कि सुशीला को भी क्या वह देख रहा है ? अब तो सुशीला उस दलदल को पार कर चुकी थी।

मतलब यह—स्वामीजी ने साफ़ किया—क्या वह यह भी देख रहा है कि

सुशीला किस तरह खुशी-खुशी काम में लगी रहती है...अपने आराम के लिए वक्त न मिलने पर भी कभी-कभी—आश्रम में अचानक दो-चार अतिथियों के आ पहुँचने पर—रेणु का और अपना भी खाना उन लोगों को खिला, बिना किसी शिकायत के, बिना बोझ समझे, फिर से थोड़ा भात पकाने बैठ जाती है...थकती नहीं...शंकर के लिये भी अब किस तरह थाली में रोज नमक रख देती है...और सबसे बड़ी बात, उसकी किसी फ़रमाइश पर भड़क नहीं उठती!

शंकर को लगा—जैसे अभी, पहले-पहल, इन बातों की ओर उसका ध्यान जा सका है, स्वामीजी के इस तरह बताने के बाद ही; यों, अपनी ओर से, उनकी ओर उसका ध्यान न तो गया ही था, न जा ही पाता...

... ...

नरिया से स्वामीजी जाड़ों में आश्रम आये थे, और बरसात शुरू होने से पहले गरमी-भर रहे थे। मार्च से ही काफ़ी गरमी पड़नी शुरू हो गयी थी, और शंकर देखता कि कभी-कभी स्वामीजी ताड़ के एक छोटे-से पंखे से अपने सिर पर हवा कर रहे हैं। बल्कि, कभी-कभी तो उस अँधेरी बन्द कोठरी में भी वह उनके सामने दरी पर लेटा-लेटा, अचानक आँखें खोल देने पर, उन्हें उसी तरह अपने सिर की हवा करते देखता।

सुशीला को भी कभी-कभी उसने, शाम के वक्त, स्वामीजी के बाहर आराम कुरसी पर बैठ जाने पर, खड़े-खड़े उनके सिर पर हवा करते देखा था; लेकिन खुद ऐसा करने की बात उसके मन में उठ-उठकर भी रह गई थी।

वह दिन जरूर बहुत पीछे छूट चुका था जब, आठ साल पहले बरानगर में स्वामीजी को आत्म-समर्पण करने के लिए पहले-पहल आकर, दूसरों द्वारा उनकी सेवा के विविध कृत्यों को देख वह घबड़ा उठा था, उन्हीं दिनों जब वह कलकत्ते में स्वामीजी के साथ-साथ उनके एक पुराने छात्र वीरेन्द्रजी के यहाँ कुछ दिनों के लिए गया था तब स्वामीजी के बदन पर उन्हें पंखा झलते देख वह और भी घबड़ा उठा था, और एक बार, उनमें से किसीके भी वहाँ न रह जाने पर जब उसने उनके द्वारा नीचे रख दिये गये पंखे को, अत्यन्त अनिच्छापूर्वक, किन्तु एक कटु कर्तव्य समझ उठा लिया था, तब स्वामीजी ने ही उसे रोक दिया था और कहा था . तुम्हें यह सब करने की जरूरत नहीं है। शंकर के दिल से वह सारी घबड़ाहट दूर हो गयी थी उसी दम, और यह जान उसे भारी निवृत्ति मिली थी कि स्वामीजी उससे इस प्रकार की हीन समझी जाने वाली सेवा नहीं लेना चाहते। जिस घर में शंकर का पालन-पोषण हुआ था उसमें, नौकरों या घर की स्त्रियों को छोड़, और कोई भी घर के स्वामी के बदन पर पंखा नहीं झलता था; उसके परम प्रतापी नानाजी तक ने कभी पंखा नहीं

झलवाया था उससे...

फिर भी—अब तक स्थिति बहुत-कुछ बदल गयी थी, और शंकर के मन में बार-बार प्रश्न उठा था कि वह भी क्यों न स्वामीजी के सिर पर कभी-कभी हवा करे। उनकी बहुत-सी व्यक्तिगत सेवा अब वह स्वेच्छापूर्वक, आप-से-आप, बिना किसी झिझक के, करने ही लग गया था—सिर्फ़ आज नहीं, बल्कि तभी से जबकि बच्चे की मृत्यु के बाद यहाँ आकर रहा था और आश्रम में कोई भी सेवक नहीं रह गया था। अब भी कभी-कभी वह स्वामीजी को आचमन कराता था, उनका आसन बिछा देता था, या और भी कोई वैसा ही काम।...इसके अलावा गोपाल-दा पुरुष होते हुए भी कितने भक्ति-भाव से स्वामीजी के सिर पर, उनके सारे बदन पर, पंखा झलने लगते थे—जब भी निकट के अपने गाँव से कुछ घंटों के लिए आ जाते थे—और कितनी आसानी से स्वामीजी के पाँवों को भी दबाने लग जाते थे···

किन्तु—खुद भी पंखा झलना शुरू कर देने के बारे में उसके मन की झिझक पूरी तरह दूर होने भी नहीं पायी थी, कि एक दिन, जब कि गरमी काफ़ी तेज थी और आश्रम के किसी भी वृक्ष का कोई पत्ता तक नहीं हिल रहा था, सुशीला को स्वामीजी के सिर पर और बदन पर पंखा झलते-झलते किसी दूसरे काम से जाना पड़ गया, और पास ही खड़े शंकर के हाथ में जल्दी-जल्दी पंखा थमा यह कहती वह तेजी से वहाँ से चल दी : तुम नहीं पंखा झल सकते ?

बात इतने धीमे स्वर में कही गयी थी कि स्वामीजी नहीं सुन सकते थे।

सुशीला पर मन ही मन जल-भुन उठा शंकर, और उसकी पहली प्रतिक्रिया यही हुई कि उसके हाथ में जबरदस्ती थमा दिये गये उस पंखे को उसी दम नीचे रख दे...लेकिन फिर उसने अपना वह गुस्सा पी डाला, और धीरे-धीरे, पहले तो सहमते हुए ही, स्वामीजी के सिर पर पंखा झलना शुरू कर दिया।

स्वामीजी ने उसके द्वारा पंखे के दो-चार बार हिला-डुला लिये जाने के बाद ही उसकी ओर ताका था—किसी हद तक गंभीर-सी दृष्टि से। पहले तो शंकर कुछ सहम-सा गया, लेकिन फिर, मानो इम्तिहान में पास हो गया हो, कुछ इतमीनान के साथ ही तब तक पंखा झलता चला गया जब तक कि सुशीला ने वापस आने पर उसे फिर उससे ले नहीं लिया। जिस कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से उसने शंकर की ओर ताका था उसके बाद पंखे को फिर से थमाते भी उसे किसी हद तक शर्म मालूम हुई थी, लेकिन पहले दिन अपने लिए इतना भी काफ़ी समझ उसने सुशीला के अधिकार की उस प्राथमिकता को चुपचाप स्वीकार कर लिया।

धीरे-धीरे आश्रम के कुछ और काम भी उसने शुरू कर दिये—ऐसे काम

भी जिन्हें पहले उसने 'अपना काम' माना ही नहीं था। एक बार आश्रम-भूमि में नियमित रूप से झाड़ू लगाने वाली सन्थाल स्त्री के कुछ दिन तक न आने पर जब आश्रम-सेवक रेणु ने उसके अधिक उपयोग में आने वाले हिस्से को ही, अपने दूसरे कामों में से वक़्त निकाल, साफ़ कर बाक़ी हिस्सा छोड़ दिया, और हवा से गिरे पेड़ों के पत्ते दो दिन तक उसमें जमा ही होते चले गये—तब शकर की झोंपड़ी के सामने वाले एक ऐसे ही हिस्से की ओर इशारा कर स्वामीजी,उस ओर आने पर, कह उठे : अपने सामने का हिस्सा साफ़ करने के लिए भी क्या वक़्त नहीं मिल पाता ?

'वक़्त नहीं मिल पाता ?' वाक्यांश ने शंकर को तीर की तरह अन्दर तक बींध दिया। इस व्यंग्य-बाण की क्या जरूरत थी स्वामीजी को ?...क्या दूसरे ढंग से वह इशारा नहीं कर सकते थे ?...शकर का सारा मन कड़वा रहा कई घंटों तक—हालाँकि झाड़ू उठा, कुछ देर बाद, कड़ी धूप रहते भी वह उस जगह को साफ़ करने लग गया।

मगर वक़्त वाली वही बात तो सबसे ज्यादा सही, बल्कि अचूक थी, उसके मामले में—धीरे-धीरे उसने स्वयं ही यह आविष्कार किया—जबकि उस तिल-मिलाहट से उबरने और ठंडे दिमाग़ से विचार करने पर उसने देखा कि अकेला वही था सारे आश्रम में जिसके पास खाली वक़्त की कमी नहीं थी।...तब से उसने अपने सामने वाले उस हिस्से में रोज़ही झाड़ू लगाना शुरू कर दिया—उस सन्थाल स्त्री के लौटने पर भी, और स्वामीजी से इसकी इजाज़त लेकर।

अपना काम लगे...बेगार न जान पड़े...तब तो जरूर करो—स्वामीजी ने कहा, जिसे सुन शकर ने उसके पक्ष में एक दलील यह भी दे डाली कि इससे थोड़ा व्यायाम भी हो जाता है...

पंखा झलने वाली झिझक भी दूर हो जाने के कुछ दिन बाद शकर को ख़याल आया : स्वामीजी को सबसे ज्यादा गरमी तो उन लोगों का काम करते वक़्त लगती है—उस बन्द कोठरी में बैठे-बैठे, जबकि उनके बदन से पसीना बहता रहता है और बीच-बीच में वह अपने सिर पर पखा झलने लगते हैं।

तब क्या, छत से लटकने वाला कोई बड़ा पखा लगा देना नहीं ठीक होगा स्वामीजी की कोठरी में, जिसकी रस्सी को दरवाज़े की ऊपरवाली चौखट में छेद करके और एक छोटी-सी चरखी लगाकर बाहर से कोई खींचा करे ?—उसने सोचा। बल्कि, तब तो, स्वामीजी के दोपहर के विश्राम के समय भी उन पर बाहर से हवा होती रहेगी।

उन दिनों गौरी-दि वहाँ नहीं थी; उनके लिए इस तरह का पखा बनवाना बहुत ही मामूली बात होती। शकर की अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी; स्वामीजी और आश्रम की कोई आर्थिक सेवा करने के स्थान पर इन दिनों तो

वह और सुशीला आश्रम पर ही उलटे अपना भी आर्थिक बोझ डाले हुए थे: काफ़ी हद तक।

तब ?

बचपन में उसने अपने बड़े मामा को ख़ुद ही एक बार इस तरह का एक पंखा बनाते देखा था, बिना किसी बढ़ई की मदद के। उसी की याद कर, एक दिन वह ख़ुद जुट गया इस तरह का एक कामचलाऊ पंखा बनाने में। आश्रम के कबाड़ख़ाने में से लकड़ी की एक पुरानी बल्ली निकाली और रेणु द्वारा गाँव से एक आरी मँगा ख़ुद ही उसका एक छोर काट उसे उपयोग लायक बना लिया।...फिर स्वामी जी के फटे-पुराने गेरुआ कपड़ों की पट्टियाँ फाड़ उस पर लपेट दीं ताकि वह बल्ली देखने में अशोभन न लगे। फिर एक फटी-पुरानी दरी को दोहरा करके उसे भी दोनों ओर से गेरुआ कपड़े से ढक दिया और एक चौड़ी झालर के तौर पर कीलों के ज़रिये उस बल्ली में ठोक नीचे झुला दिया।

आख़िर पंखा तैयार हो गया, और उस कोठरी की फूस वाली छत की बल्लियों में बांधकर लटका दिया गया।

स्वामीजी ने बीच-बीच में देखा था कि वह क्या कर रहा है; न उन्होंने कोई रोक-टोक की थी, न उसे कोई बढ़ावा दिया था।

मगर जब पंखा लग गया, और स्वामीजी को उनके आसन पर बिठाकर उसे खींचकर दिखाया गया, तब उन्होंने भी उसकी तारीफ़ ही की।

अब थी चर्ख़ी की समस्या, जिसके बिना दरवाज़े को बन्द करके बाहर से उसे खींचा ही नहीं जा सकता था। कुछ भी तो उसे पता नहीं था कि ऐसी चर्ख़ी कहाँ मिलेगी, कौन लायेगा, कौन लगायेगा।

तुम ख़ुद नहीं ला सकते, बर्दवान जाकर ?—स्वामीजी ने उलटे उसी पर उसकी समस्या टिका दी।

फिर, शंकर का असमंजस भाँप, उसके चेहरे पर घबड़ाहट की हलकी-सी छाया फैलते देख, बढ़ावा दिया : अब भी क्या पहले की भाँति उतनी घबड़ाहट होगी—शहर जाकर अजनबी लोगों का सामना करने में...अपने काम की चीज बाजार में से खोज निकालने में...जो आम तौर पर सभी लोग करते हैं ?

यह पहला मौक़ा था—कलकत्ते से भागकर आने के बाद—कि उसे ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए उकसाया जा रहा था। पिछले छः सात महीनों के बीच एक बार भी उस पर कोई बाहरी काम करने की ज़िम्मेदारी नहीं डाली थी स्वामीजी ने, और सरिया में गौरी-दि ने जब एकाध बार कोई इस तरह का काम उससे कराने की बात कही थी तो स्वामी जी ने ही उसे उस अप्रिय

म्युनि से उबारा था। हफ़्ते में दो बार हाट जाकर तरकारी लाने वाले काम को उम्र भरिया से वह बराबर निभाता आया था, लेकिन तब आनन्द कुटी का मानो हमेशा उसके साथ होता था।...हज़ारीबाग़ रोड से कलकत्ता और वहाँ से ग्वाना जंक्शन का सफ़र करते वक्त भी सारी तैयारी स्वामी जी की ही देखरेख में की गयी थी, और रास्ते में भी शंकर हर वक्त स्वामीजी के पीछे-पीछे रहा था। स्वामी जी और अपने लिये गौरी-दि ने दूसरे दरजे (उन दिनों रेल में चार दरजे होते थे : पहला, दूसरा, ड्योढ़ा और तीसरा) की टिकट कटवायी थी और स्वामीजी ने जब शंकर से पूछा था वह किस दरजे में सफ़र करेगा—तब उसने तीसरे दरजे की भीड़भाड़ में अकेले सारी रात काटने की परम अप्रिय सम्भावना के बावजूद अपनी छोटी-सी पूँजी को देख तीसरे दरजे की ही बात कह दी थी। सुशीला को तो पहले ही उन्होंने अपनी पार्टी में रख लिया था, किन्तु दो-तीन स्टेशनों बाद शंकर का भी टिकट बदलवाकर अपने डब्बे में बुलवा लिया था।...माता-पिता वाली उसकी वह स्मृति-शृंखला तब तक बीच में ही अटकी हुई थी, और दो-तीन स्टेशन तक ही उन सबसे अलग सफ़र कर उसके अन्दर की घबड़ाहट काफ़ी बढ़ चुकी थी...

लेकिन आज स्वामीजी ने उसे मानो जबरन ठेल दिया एक ऐसी अप्रिय स्थिति की ओर, जिसमें, अगर उसका बस चलता, वह अब भी हर तरह से बचना चाहता।

कलकत्ते में ट्यूशन वाले उस लड़के और सुधाकरजी के साथ हुई मुठभेड़ों के बाद जो अजीब दहशत, वहाँ बाहर अकेले निकलने पर, शंकर के दिल पर हर-दम छाई रहती थी उससे उसे इस बार काफ़ी हद तक छुटकारा मिल गया है—शंकर ने साहसपूर्वक शहर के लिये चल देने पर पाया। और, कई दूकानों पर भटकने के बाद, जब अपने मतलब की चर्खी उसे मिल गई तो आत्म-विश्वास की एक नई ही खुराक लिये उस दिन आश्रम लौटा, जिसके फलस्वरूप, उस चर्खी को चौखट में बिठाने, उसके ऊपर की कच्ची दीवाल को खोदकर उसमें रस्सी के लिए एक सूराख रखने, तोड़ी हुई दीवाल को फिर से ठीक करने, आदि की सारी कठिन समस्याएँ आप-से-आप आसान होती चली गयीं, और ये सारे ही काम उसने खुद कर डाले...

लेकिन असल समस्या सामने तब आयी जब उस पंखे को खींचने के लिए कोई 'पंखा-कुली' ही नहीं मिला।

"गाँव में ग़रीबों के दस-बारह साल की उम्र के इतने लड़के हैं जो गाय-बकरी चराते रहते हैं," शंकर ने रेणु से कहा। "क्या दो-चार पैसे घण्टे के हिसाब से इनमें से कोई नहीं मिल जा सकता ?"

"नहीं दादा..." रेणु ने हँसते हुए जवाब दिया, "यह काम कोई नहीं

करेगा..."

"तो फिर," शंकर ने कहा, "इन सन्थालों के ही कितने बच्चे सारे दिन इधर-उधर ऊधम करते फिरते हैं।...इन्हीं में से किसी के बाप से पूछो..."

आश्रम-सेवक रेणु, जो स्वामीजी के गुरु निरालम्ब स्वामी के ही काल से आश्रम में था और बीच में एक बार निकाल दिये जाने के बाद अब फिर रख लिया गया था, सिर्फ़ अपना सिर खुजाने लग गया।

शंकर समझ नहीं पाया, माजरा क्या है।

अन्त में उसने सीधे स्वामीजी से बात की।

और तब उसे यह जान बेहद ताज्जुब हुआ कि उस अंचल के इन बंगाली लड़कों से पंखा खींचने जैसा पित्ते-मार काम कराना असंभव है—पैसों के लालच में भी। बल्कि,तभी उसे पहले-पहल यह जानकारी हुई कि इधर के ग़रीब बंगाली भूखे-नंगे रह लेंगे मगर शारीरिक परिश्रम वाला कोई काम नहीं करेंगे; खेती-बाड़ी का इनका सारा काम सन्थाल लोग ही करते हैं।

"तो फिर, कोई सन्थाल लड़का क्यों नहीं कर सकता यह काम?" शंकर ने जानना चाहा। और, उन लोगों के बारे में भी उसे यह जान कम अचरज नहीं हुआ कि शारीरिक मेहनत वाला काम इनसे चाहे जितना करा लिया जाये··· लेकिन पंखा खींचने जैसा हलका, पर साथ ही उबाने वाला, काम उनके बस का नहीं। दस-पन्द्रह मिनट से ज्यादा देर कोई सन्थाल लड़का यह काम नहीं करेगा।

तब?

क्या शंकर की यह सारी ही मेहनत बेकार गयी?

तो फिर स्वामीजी ने पहले ही यह बात उसे क्यों नहीं बतायी—शंकर के मन में सवाल उठा, हालांकि सीधे उन्हीं से यह पूछ बैठना भी धृष्टता जैसा जान पड़ा...

और तब समस्या का समाधान निकाला और किसी ने नहीं, सुशीला ने।

"तो...थोड़ा-थोड़ा करके हमीं दोनों क्यों न खींचा करें?—" अन्त में वही उससे कह उठी।

यह नहीं, कि यह बात शंकर के दिमाग़ में बिलकुल आयी ही न हो। आयी थी, पर हर बार उसी दम दिमाग़ से निकल भी गई थी। अजीब-सी एक झिझक मालूम हुई थी—स्वामीजी के लिये भी 'पंखा-कुली' का काम करने की बात से; साथ ही अपनी शक्ति पर विश्वास भी नहीं था: एक बार पंखा खींचने बैठ कर कम से कम एक घंटा तो खींचना ही होगा, पर उतनी देर क्या वह उससे सध पायेगा?

पर अगले दिन सुशीला ने शुरूआत कर भी दी; दोपहर की रसोई का सारा काम निपटा, ख़ुद भी खा-पीकर, स्वामीजी के विश्राम-काल में बन्द उनकी

कोठरी के दरवाज़े के बाहर बैठी-बैठी वह लगी पंखा खींचने।

और तब—कोई घंटे-भर बाद शंकर ने ख़ुद भी जाकर उसे छुट्टी दे उसकी जगह ले ली।

निपट नया अनुभव था यह शंकर के लिए। और पंखा-कुली के हीन समझे जाने वाले काम की शर्म धीरे-धीरे न जाने कब घटकर उलटे एक प्रच्छन्न गर्व में बदल गयी—कि वह और किसी की नहीं, स्वामीजी की सेवा कर रहा है।

तब से समस्या केवल अपने धीरज की रह गई। बेहद उबाने वाला काम था।...कभी एक हाथ को बदल वह दूसरे हाथ से रस्सी खींचता, कभी एक आसन छोड़ दूसरे आसन में बैठता...फिर भी वक्त काटे न काटता। बार-बार घड़ी पर नज़र जाती···कब एक घंटा पूरा होगा, जबकि स्वामीजी के उठने का समय होगा...या सुशीला के साथ उसकी पारी के बदलने का।

कभी-कभी...अन्दर से स्वामीजी की ही धीमी-सी आवाज़ आती : 'अब छोड़ दो शंकर, बहुत हो गया'...या, 'उतनी गरमी आज नहीं है, अब रहने दो'—पर शंकर के उत्साह के बुझते दिये के लिए स्वामीजी के ये शब्द ही जैसे नये तेल का काम करते; वह और भी जमकर बैठ जाता।

तब शंकर ज़रूर नहीं समझा था, पर बाद को जब इस विषय पर साफ़ साफ़ बात हुई तो यह जानकर भी उसने अपने को कम धन्य नहीं समझा कि स्वामीजी के सामने उसकी परीक्षा ही चल रही थी इस मामले में, जिसमें फ़ेल होने से वह बाल-बाल बच गया था।

किसलिए कर रहे हो यह काम?...अपना काम लगता है या बेगार?—स्वामीजी एक दिन पूछ उठे, जिसके बाद कृतज्ञता का, पाकर देने का, ऋण से उऋण होने का प्रसंग चल पड़ा।

बच्चा सिर्फ़ लेना ही जानता है—स्वामी जी कह रहे थे, जब तक वह देना भी नहीं सीखता तब तक बड़ा नहीं होता—बच्चा ही बना रहता है। जो माँ-बाप बच्चे को यह नहीं सिखाते चलते—अवश्य तब, जब उसमें इतनी समझ आ चले—कि लेने के बाद देना भी होता है...पाने के लिए देना भी होता है...वे उसे जीवन-भर के लिए पंगु बना डालते हैं—हमेशा वह बच्चा ही बना रहता है, हालाँकि शरीर से प्रौढ़, और वृद्ध तक, हो जाता है...

मगर माँ-बाप तो हमेशा बने नहीं रहेंगे...और न ख़ुद भी वे हमेशा बच्चे को सिर्फ़ देते ही देते चले जायेंगे—स्वामीजी बोले।...इसलिए जब उसे वह नहीं मिलेगा जिसे उसने अपना प्राप्य, अपना अधिकार मान लिया है...तब वह झुंझलायेगा, हाथ-पाँव पटकेगा, और माँ-बाप को ही दोषी ठहरायेगा—अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी होने पर।...मगर दूसरे लोग कब तक उसे छोटा-सा बच्चा ही मानते रहेंगे?

"तो...यह देना कैसे सीखेगा बच्चा—स्वामीजी ?" शंकर ने पूछा।

"इसी तरह...जैसे तुम सीख रहे हो अब—यहाँ।" स्वामीजी मुसकराते हुए बोले। "क्यों पंखा खींचते हो ?...क्यों पंखा बनाया स्वामी जी के लिए ?"

"कृतज्ञता-स्वरूप स्वामीजी।" शंकर को रंच मात्र भी देर नहीं लगी जवाब देने में। "आपसे जितना पाया है...जितना पा रहा हूँ—उसके मुक़ाबले यह थोड़ी-सी सेवा तो कुछ भी नहीं है..."

बस, इसी तरह माँ-बाप भी बच्चे को सिखाएँगे—स्वामीजी ने दिखाया; बच्चे की ज़रूरतों को...उसकी इच्छाओं को पूरा करते वक्त...दिखाते चलेंगे कि उनके लिए उसे भी कुछ करना होगा...एक तरह से मूल्य ही देना होगा... अधिकारी बनना होगा।

दस

पेयेछि आमि

भयहीन प्रेम पेयेछि

आमि भयहीन प्रेम पेयेछि—

शान्त-दि ने एक दिन भाव-विह्वलता में एक कविता रच डाली थी, जिसकी इस प्रथम पंक्ति से जैसे शंकर की भी हृत्तंत्री का कोई अज्ञात तार झनझना उठा था।

भयहीन प्रेम।

जैसे उसे अभयदान कर रहा हो—प्रेम भी।

जैसे निर्भय होकर किसी को प्रेम कर सकना उसकी दूर से दूर की भी कल्पना से परे रहा हो।

स्वामीजी ने ही शंकर को शान्त-दि की यह कविता सुनायी थी जब कि उनके चले जाने के बाद ही वह आश्रम आया था। भद्र परिवार की बंगाली महिला थीं, किन्तु चित्त में अशान्ति ही अशान्ति थी, वेदना ही वेदना। उम्र काफ़ी हो गयी थी पर सन्तान नहीं थी, और न भविष्य में इसकी कोई आशा ही। उदार पति की अनुमति पा कुछ मास पूर्व स्वामीजी की शरण में आश्रम आयी

थी और जब विदा हुई थी तब तक अपना दिल काफी हलका कर चुकी थी। तभी, एक दिन, उन्होंने अपनी छोटी सी वह कविता स्वामीजी के चरणों में रख दी थी।

कुछ अधिक पढ़ी-लिखी नहीं थी शान्त-दि; स्कूल-कालेज की शिक्षा तो नहीं ही पायी थी। अंग्रेजी नहीं जानती थी, बंगला साहित्य की भी केवल प्राथमिक जानकारी रही होगी।

"यह भावोद्‌गार तो असाधारण है स्वामीजी···परम कवित्व-पूर्ण—" शंकर ने अभिभूत स्वर में कहा था।

"हाँ—वंचित हृदय का असाधारण भावोद्‌गार है," स्वामीजी बोले, "यहाँ से कुछ मिला था—जिससे दिल इतना भर गया।"

शंकर ने जिस-जिसको भी प्रेम किया था जीवन में, जिस-जिससे प्रेम पाया था तब तक—मानों सभी के आगे-पीछे, सभी के साथ-साथ, भय की भी ध्रुव सत्ता बनी रही थी; भय से पृथक रूप में प्रेम सर्वथा अकल्पित था...! जिसे एकान्त रूप से अपना मान बैठा था—बचपन में अपनी माँ को, उसके बाद अपनी सगी बहन जैसी ही जानकी को, और यौवन में पूनम को—उसकी छोटी से छोटी भी प्रतिकूल भावाभिव्यक्ति या क्रिया उसके अन्दर जबरदस्त डर पैदा कर देती थी—कि कहीं वह उससे छिन तो नहीं जायेगी...

और यह डर उस प्रेम के साथ इस तरह घुल-मिलकर एक हो गया था कि वह उस प्रेम के सम्बन्ध में कभी भी पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो पाता था, और मानो इसीलिए बात-बात पर, पद-पद पर, अपने प्रति उस व्यक्ति के प्रेम की जैसे परीक्षा लिया करता था, खुद ही ऐसी स्थितियाँ पैदा कर देता था कि जो कुछ तब तक मिल चुका था वह भी छिन जाए...

पूनम से जो प्यार उसे मिला था, जिस सीमा तक उसने शंकर को आत्म-समर्पण कर दिया था, उससे भी क्या वह तृप्त और आश्वस्त हो पाया था? किस तरह, छोटी से छोटी बात पर, उसे डर बना रहता था उसके उस प्यार के छिन जाने का...और किस तरह खुद उसीने बार-बार उसे कड़ी से कड़ी परीक्षा की स्थिति में डाल दिया था। और जब आखीर में उस परीक्षा से भी वह पास हो जाती थी और विजय-गर्व में पुलकित शंकर कुछ समय के लिए फिर आश्वस्त हो जाता था उसके अडिग प्रेम के सम्बन्ध में—तब उसकी उस निष्ठुरता की याद कर किस तरह डबडबाई आँखों की तीक्ष्ण दृष्टि से उसकी ओर ताकती यह कह उठती थी: "बिलकुल कसाई ही बन जाते हो तुम भैया, कभी-कभी।"

कसाई बन जाना ही तो तुम्हारे लिए स्वाभाविक था—स्वामीजी ने एक बार पूनम वाली उस उक्ति की याद दिलाते हुए उससे कहा—तुम्हारे शैशव का जो इतिहास अब निकला चला आ रहा है उसमें और हो ही क्या सकता था?

उसके माता-पिता वाली 'इडीपस' भाव-ग्रन्थि के प्रमुख चित्र जब पूरी तरह खुलकर उसके सामने प्रकट हो चुके थे तब भी एक बार स्वामीजी बोले थे : तुम्हारे पिता तो अब नहीं हैं...लेकिन अगर वह रहते और खुद अपना वह चित्र देख पाते...साथ ही उस ज़रा-से बच्चे की वह छटपटाहट...उसकी वह यंत्रणा... और यह भी कि उसके कारण उसका सारा जीवन कितनी यातनाओं में बीता— तो क्या वह अपने को क्षमा कर पाते ?...देखो—किस तरह अपने क्षुद्र स्वार्थपूर्ण भावावेग में बहकर माँ-बाप ढाई-तीन साल के असहाय बच्चे पर भी इस तरह अत्याचार कर डालते हैं।...किस तरह उसका सारा जीवन ही भय से आच्छादित बना रह जाता है, और वह मनुष्य नहीं बन पाता।...तुमने तो अब खुद ही देख लिया न ?...पूनम से कितना प्यार मिला था, लेकिन तुम्हींने उसे विषमय बना दिया—उसके लिए भी, अपने लिए भी।...हमेशा डर बना रहा, सन्देह बना रहा, पद-पद पर ईर्ष्या के शिकार होते रहे...खुद भी मरते रहे...उसे भी मारते रहे।

माता-पिता वाली 'इडीपस' भाव-ग्रन्थि के निकलने के कई महीने बाद तक शंकर की धारणा यही थी कि उसके बद्धमूल भय के स्रोत केवल उसके निष्ठुर पिता, और उनसे भी अधिक निष्ठुर नाना थे। उसका विश्वास था कि कम-से-कम अपनी माँ का तो पूरा प्यार उसने पाया ही था। मार भी ज़रूर उसने सबसे ज्यादा उन्हीं की खाई थी, लेकिन डरा वह उनसे कभी नहीं था; उनकी मार का वह हमेशा ढीठ की तरह मुक़ाबला करता आया था, या उपेक्षा।

लेकिन अचेतन में दबी पड़ी जो स्मृतियाँ उभड़ कर कुछ समय पहले सामने आनी शुरू हुई थीं उनमें पहली बार अब उसे अपनी माँ का भी एक ऐसा रूप दिखाई दिया जिससे अपने प्रति उनके अविभाज्य और एकनिष्ठ प्रेम के उसके विश्वास पर चोट पड़ी। नन्हे-से किरन के मुँह में उनकी छाती का वही दूध भरा देख, जिस पर एकमात्र उसी का अधिकार था, उसके तन-बदन में आग-सी लग गयी थी, और...बाद को कभी जब उसी किरन का गला घोट देने के उसके विफल प्रयास के फलस्वरूप उस पर उसकी माँ की डाँट और मार पड़ी थी तब अचानक ही उसे लगा था कि यह उसकी माँ है ही नहीं।...स्वामीजी के सामने उस अँधेरी बन्द कोठरी में लेटा-लेटा कई दिन तक वह गहरे विषाद के उसी चित्र में खोया पड़ा रहा जिसमें वह था लड़कपन में पढ़ी ध्रुव की कथा का बालक ध्रुव, और उसकी यह माँ हो उठी थी ध्रुव की सौतेली माँ, जिसने उसे वनवास दे दिया था।...भगवान विष्णु के प्रकट होने से पहले तक बालक ध्रुव जंगल में जिस तरह भटकता फिरा था, उसी तरह उस काल के उस नन्हे-से शंकर के लिए भी उसकी माँ का वही घर जैसे जंगल बना रह गया था न जाने कब तक, जिसमें उसका कोई भी अपना नहीं था...

"कहाँ चली गयी तू अम्माँ—?" उसके दिल की गहराइयों को चीरकर एक बड़ी ही आकुल पुकार फूट उठी स्वामीजी के सामने—और बर्फ़ की सिल्ली की तरह जमी उसकी उस घनी वेदना को कितने दिन लग गए आँसुओं की राह पिघल-पिघल कर बहने में...

जिसके बाद ही—स्वामीजी से बढ़ावा पाकर—धीरे-धीरे उसका वह असहाय क्रन्दन प्रचण्ड क्रोध में बदल गया था, और न जाने कब उसकी माँ पूतना बन उठी थी जो कंस की प्रेरणा से, अपना स्तन-पान करा, अपने विष-दुग्ध से कृष्ण की हत्या कर डालने के लिए आयी थी।...और, स्वयं ही शिशु-कृष्ण बन-उठे नन्हे-से शंकर ने पूतना के उस दूध को इतनी प्रचण्डता के साथ चूसा, उसके स्तन को इस तरह क्षत-विक्षत कर डाला कि उसकी राह दूध ही नहीं उसका सारा रक्त ही जैसे उसने चूस लिया...

तब क्या अपनी माँ को भी उसने मार डालना चाहा था बचपन में?—उसके मन में प्रश्न उठा।

शैशव में कोई बीच की स्थिति नहीं हुआ करती—स्वामीजी ने उसे बताया; जिससे बच्चा प्यार पाता है उसे एकान्त रूप में अपना मान हमेशा उससे चिपटा रहना चाहता है, और अगर वह प्यार छिन जाता है तो वह उसे शत्रु मान बैठता है और उसके विनाश, उसकी मृत्यु, से कम में सन्तुष्ट नहीं हो सकता। 'बदला' लेने का उसका एक ही तरीका है—मार डालना, उसके अस्तित्व का लोप कर देना। (शंकर को याद आया कि कुछ बड़े हो जाने पर जब वह माँ से नाराज होता था तो उसे एक ही गाली देता था : मर जा।)

किन्तु आश्चर्य—पूतना का वह चित्र धीरे-धीरे जब लुप्त हो गया, उसके निरुद्ध और दमित क्रोध की, उस बन्द कोठरी के अन्दर हफ्ते-दो हफ्ते तक चलने वाले उस प्रचण्ड युद्ध में, जब पूरी तरह शान्ति हो गयी, तब उसकी माँ की वही पिछली स्नेहमयी मूर्ति उसके चित्तपट पर अनायास ही फिर उभर आयी।

स्वामीजी ने ही तब स्पष्टीकरण किया : जीवन-भर माँ के उस अप्रिय रूप पर जो क्रोध बना रहा था, उसे मार डालने की जो इच्छा अन्दर ही अन्दर दमित रह गयी थी—उसके कारण माँ के प्रति, और माँ का स्थान लेने वाले बाद के हर दूसरे व्यक्ति के प्रति भी, बराबर, प्रिय के साथ साथ अप्रिय भाव बना रहा—प्रेम के साथ-साथ द्वेष, 'ऐम्बीवेलेंस'।...देखो न, किस तरह पूनम के प्रति भी प्रियत्व के साथ-साथ अप्रियत्व बना रहा, बात-बात पर उसके साथ इतनी क्रूरता बरतते रहे...और आख़िर, एक तरह से देखा जाय तो उसे मारकर ही दम लिया न?

"पूनम के बारे में अब तुम्हारे दिल का भाव कैसा है?—" स्वामीजी सहसा पूछ उठे।

मनोहरलाल के जेल से छूट जाने पर शंकर को उनकी चिट्ठी मिली थी और साथ ही यह सूचना भी कि जल्द ही, अपने अखबार के एक काम से कलकत्ते जाते हुए रास्ते में वह उससे मिलने और "पूज्य स्वामीजी के भी दर्शन करने," वहाँ पहुँच सकते हैं।

स्वामीजी के सामने स्वभावतः शंकर ने यह बात रखी, और कुछ देर तक चुप रहने के बाद सहसा ही उन्होंने यह प्रश्न कर डाला।

...अपने विवाह के बाद सुशीला को अपनी माँ और बड़े मामा के पास ले जाते हुए शंकर राह में तीन-चार दिन के लिए लखनऊ में मनोहरलाल और पूनम के पास भी ठहरा था और अपने मामा और [माँ के पास उन सबका दो-चार दिन के लिए साथ हो गया था—जिसके बाद मनोहरलाल ज़रूर दो-एक बार उन लोगों की गृहस्थी में पटने रह गये थे, पर पूनम से वह फिर तभी मिला था जब कि सुशीला की बी० टी० की पढ़ाई के सिलसिले में वे लोग बनारस आये थे। 1942 का आन्दोलन तब तक छिड़ चुका था और मनोहरलाल भी शुरू में ही गिरफ्तार कर लिये गये थे—जिसके दो-चार महीने बाद ही शंकर को पूनम की एक चिट्ठी से पता चला था कि उसके पिता, जिन्होंने उसके विवाह के फलस्वरूप उसका पूर्ण परित्याग कर दिया था, स्वयं ही एक दिन लखनऊ आ पहुँचे थे और उसे 'एक तरह से बलपूर्वक ही' अपने पास बनारस ले गये थे—मय उसके दोनों बच्चों के...

जब तक शंकर-सुशीला बनारस रहे—शंकर के एक ममेरे भाई विजय के पास—तब तक अकसर ही पूनम उनके यहाँ आती रही थी, लेकिन शंकर अपने शेखर मामा (पूनम के पिता) के घर एक बार भी नहीं गया। पूनम के उस असवर्ण विवाह के लिए वह शंकर को ही पूरी तरह उत्तरदायी मानते थे; अपनी बेटी की विपत्ति के समय वह उसके प्रति भले ही पिघल गए हों, लेकिन शंकर के प्रति उनके क्रोध और क्षोभ में रंच मात्र भी कमी नहीं हुई थी...

"पूनम के बारे में अब तुम्हारे दिल का भाव कैसा है?—" स्वामीजी का प्रश्न था, और शंकर कुछ ठीक नहीं कर पाया कि क्या जवाब दे।

अपने विवाह के बाद जब-जब सुशीला के सामने पूनम और मनोहरलाल का जिक्र चल पड़ा था, अन्दर ही अन्दर शंकर को एक झिझक-सी महसूस हुई थी—पूनम के प्रति अपनी पिछली आसक्ति के कारण। नतीजा यह हुआ था कि सुशीला के सामने उन लोगों के सम्बन्ध की बाबत जो तस्वीर आप-से-आप उभरती चली गयी, उसमें मनोहरलाल के साथ उसकी अन्तरंग मैत्री ही प्रधान थी; पूनम के प्रति उसकी प्रगाढ़ आसक्ति बहुत-कुछ अव्यक्त ही बनी रही। यही कारण था कि जब-

जब सुशीला और पूनम का मिलन हुआ था, अन्दर ही अन्दर शंकर किसी न किसी हद तक डरा रहा था कि पूनम के या उसके अपने ही किसी व्यवहार अथवा भावभंगी से सुशीला के सामने उसकी क़लई न खुल जाय।

...विवाह से पहले शंकर ने पूनम की सारी चिट्ठियाँ जला डाली थीं, उसके सारे स्मृति-चिह्न नष्ट कर दिये थे—सिर्फ़ इसलिए नहीं कि उससे पूरी तरह मुक्त होकर ही वह अपनी नयी जीवन-यात्रा शुरू करे, बल्कि अपनी भावी पत्नी को भी शंका-सन्देह-ईर्ष्या से बचाने के लिए।...स्वामीजी के भी सामने उसने तब यह बात रखी थी; बल्कि, गांधीवादी विचारधारा के अनुसार, जिसमें तब तक वह पूरा छुटकारा नहीं पा सका था, यह बात भी थोड़ी देर के लिए उसके मन में उठी ही थी कि पूनम के साथ के अपने पिछले सम्बन्ध की बात विवाह के पूर्व ही सुशीला को बताकर किसी भावी गलतफ़हमी की जड़ उसे शुरू से ही काट देनी चाहिए।...लेकिन स्वामीजी ने जहाँ उसकी पहली बात का समर्थन किया था—पूनम के स्मृतिचिह्नों को नष्ट कर देने का—वहाँ दूसरी बात उसी दम काट दी थी : "विवाह से पहले तुमने क्या किया, क्या नहीं किया—इसका हिसाब देने की जरूरत ?...उस लड़की ने विवाह से पहले क्या किया, क्या नहीं—इसकी ओर जिस तरह तुम्हें ध्यान नहीं देना है...उसी तरह अपने अतीत को भी उस पर अकारण नहीं थोपना है।"

"मगर स्वामीजी—" शंकर ने शंका प्रकट की थी, "अगर बाद को कभी उसे कुछ पता चला...कोई ग़लतफ़हमी हुई...उसे अगर शिकायत हुई कि मैंने उससे कुछ छिपाया...तो ?"

"तो क्या ?" स्वामीजी ने दृढ़तापूर्वक कहा था। "तब जैसी स्थिति आये वैसा करना।...अतीत के बंधन को काटकर ही तो तुमने विवाह करने का निश्चय किया है...अब तो वह बंधन मन के अन्दर है नहीं।...अतीत में तुमने और उसने क्या-क्या किया...इसका कौन किससे हिसाब माँग सकता है ? मुख्य बात है...वर्तमान में उसे सम्पूर्ण हृदय से अपना सकना।...उसमें कमी रहे... तब तो दूसरे पक्ष की शिकायत जायज़ हो—"

फिर भी, विवाह के बाद हमेशा शंकर अन्दर ही अन्दर सहम जाता था—जब-जब सुशीला के सामने पूनम की कोई बात उसकी माँ के यहाँ चल पड़ती थी।.. और, उन मौक़ों पर तो और भी ज्यादा, जब कि पूनम और सुशीला दोनों के बीच वह अपने को भी पाता था। ऐसे हर मौक़े पर ही उसके दिल के अन्दर धुकधुकी-सी मची रहती थी, और अपने को सहज-स्वाभाविक बनाने की जितनी ही कोशिश करता था, उतना ही उसे लगता था, जैसे उसका सारा व्यवहार बनावटी हो उठा है...

"क़लई खुल जाने के डर के पीछे तुम्हारे अन्दर सुशीला के प्रति एक

अपराधी भाव ही काम करता आया है—" एक बार यह प्रसंग उठने पर स्वामी जी उससे बोले थे; "पूनम को प्यार करने के बाद भी सुशीला से विवाह करके तुमने अन्याय किया है—यह भाव जब तक मन में रहेगा तब तक पूनम-सुशीला के सामने यह झिझक बनी ही रहेगी।" और जब शंकर ने बताया कि ज्ञात रूप से तो अपने चित्त से वह इस भाव को पूरी तरह निकाल चुका है, तब उन्होंने दिखाया कि अचेतन में भी वह अपराधी भाव जब तक किसी न किसी हद तक क़ायम है, तब तक इस तरह का मूल्य चुकाना ही पड़ता रहेगा...

"पूनम के बारे में अब तुम्हारे दिल का भाव कैसा है?—" स्वामीजी का प्रश्न था, और क्या जवाब दे, शंकर ठीक नहीं कर पाया।

"क्या पूनम पर, अन्दर ही अन्दर, अभी तक गुस्सा बाक़ी है, कि आख़िर तक वह तुम्हारे रास्ते पर नहीं चल सकी...तुम्हें उसने छोड़ दिया...मनोहरलाल से विवाह कर लिया?"—स्वामीजी ही फिर कुछ देर बाद बोले।

शंकर सन्न-सा रह गया, और साथ ही अप्रतिभ भी हो उठा।

किन्तु उन्होंने ही तब उसे आश्वस्त भी किया: "कोई बात नहीं। इसका भी कारण अपनी माँ के प्रति क़ायम तुम्हारा बचपन का क्रोध है।...जब तक वह पूरी तरह दूर नहीं हो जाता, तब तक यह भी किसी न किसी हद तक बना ही रहेगा।"

पूतना वाले उस प्रतीकात्मक चित्र द्वारा अपनी माँ के ख़िलाफ़ गुस्सा निकाले शंकर को कई हफ़्ते हो चुके थे—कि बन्द कोठरी में काफ़ी देर तक उसके चुप पड़े रहने के बाद स्वामीजी कह उठे: "एक बार फिर तो देख जाओ, माँ वाले उस पूरे चित्र को।"

उसने देखना शुरू किया, लेकिन सारा का सारा चित्र स्मृति में घूम जाने पर भी कोई ख़ास भाव नहीं आया माँ के विरुद्ध: माँ के एक स्तन से अपना मुँह हटा कर नन्हें किरन का उसकी ओर ताक उठना...उसके मुँह के एक कोने से सफ़ेद दूध की पतली-सी धार का वह निकलना!...फिर, किसी वक्त उसके द्वारा किरन का गला दबा दिये जाने पर उसके गले से निकलने वाली चीख़, और विकृत-सी उसकी वे चेष्टाएँ...जिसके बाद, भागकर कोने में जा खड़े हुए शंकर पर उसकी माँ की वह कड़ी मार...

सारे चित्र देख गया वह एक-एक करके; कहीं भी अटका नहीं, कहीं भी किसी दबे-पड़े भाव का पता नहीं लगा...मानों सारा ही प्रसंग पूरी तरह सहज हो चुका था उसके लिए...

जिसके बाद कुछ देर तक एक सन्नाटा बना रहा उस बन्द कोठरी में।

स्वामीजी ने भी कुछ नहीं कहा उस बीच, और उसका भी मस्तिष्क जैसे शून्य हो गया था...

अचानक उसे लगा, उसके बायें गाल में कुछ हरकत हो उठी है; उस गाल को उसने इस तरह ऊपर की ओर सिकोड़ा, जैसे वहाँ आ-बैठी किसी मक्खी को उड़ाने की कोशिश कर रहा हो।

पर गाल पर न कोई मक्खी ही आ बैठी थी, और न कुछ और ही था वहाँ।

तभी उसका बायाँ हाथ तेजी से उठकर बायें गाल पर आ पड़ा—जैसे वहाँ कुछ हुआ हो...

और वह सिहर उठा।

"देखो...देखो..." उसके ऊपर झुके हुए स्वामीजी कह रहे थे।

कुछ देर के लिए फिर सब बन्द हो गया—दिमाग़ में फिर वही शून्य, जैसा का तैसा...

झुके हुए स्वामीजी भी शायद फिर धीरे-धीरे सीधे हो कर बैठ गये।

कुछ वक़्त और बीता।

"यह—अम्माँ नहीं है !" बेहद सहमे स्वर में वह अचानक कह उठा। उसके मस्तिष्क में उसकी माँ की एक मूर्ति पल-भर के लिए मानों कौंध गयी थी—जो उसकी माँ होते हुए भी उसकी वह माँ नहीं थी।

उसका मस्तिष्क फिर शून्य हो गया।

"यह अम्माँ नहीं है—" उसके ऊपर फिर झुक-आये स्वामीजी अब कह रहे थे। "खोलो-खोलो...देखो...देखो...देखो—"

अचानक शंकर को लगा, जैसे उसका वह गाल झन्न-सा कर उठा है।

उसे ख़याल आया, उसका बायाँ हाथ अभी तक उसी गाल पर रखा हुआ था जहाँ कुछ देर पहले वह जा पड़ा था।

फिर उसका वह गाल गरम हो उठा...मानो जलने ही लग गया।

और फिर वह सुन्न पड़ गया...सर्वथा चेतनाशून्य।

और—कुछ देर बाद—चीख़ना चाहते हुए भी वह चीख़ नहीं पाया :

"तमा-ा-ा-चा-ा-ा—"

लेकिन, तमाचा मारने वाली माँ की कोई तस्वीर नहीं आयी उसके सामने... न उस रोज़ ही, न बाद के कई दिनों तक...

कई दिन बीत गये उस अँधेरी बन्द कोठरी में चुपचाप ही उसे पड़े रहते . न कोई चित्र आया, न कोई भाव ही।...सिर्फ़ उस गाल पर बार-बार उसका हाथ चला जाता, जब वहाँ ऊपर की ओर कुछ हरकत मालूम होती—इस बार किसी मक्खी को उड़ाने के लिए नहीं, बल्कि उसके सुन्न हो गये बोध को दूर करने के लिए...

और, बाहर भी, उन कुछ दिनों तक वह जैसे कुछ खोया-खोया-सा रहा; अंधेरी बन्द कोठरी वाला, गाल का वह सुन्न होने वाला बोध, कभी-कभी वहाँ भी हो उठता, और अचानक उसका हाथ अपने गाल पर चला जाता—जो तब, न सुन्न ही लगता, न दूसरा ही कोई अन्तर वहाँ जान पड़ता।

उन कुछ दिनों तक स्वामीजी भी बराबर चुप ही बैठे रहे उसके सामने उस बन्द कोठरी में। और शंकर का यह अस्वस्ति-बोध उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया—कि अकारण वह स्वामीजी का वक़्त बरबाद कर रहा है।

एक दिन स्वामीजी उसके लेटते ही कह उठे :

"देखो तो—तुम्हारी माँ...तुम्हारी माँ नहीं है।...देखो-देखो—"

कुछ देर तक शंकर ने कोशिश भी की माँ के उस चित्र को स्मृति में लाने की, जिसकी एक झलक ही पल-भर के लिए उसके सामने कौंधकर उस दिन ग़ायब हो गयी थी—उस चित्र को जो उसकी माँ का होकर भी उसका नहीं था।

"यह तुम्हारी मां नहीं है...तुम्हारी माँ नहीं है...तुम्हारी मां नहीं है..." बीच-बीच में स्वामीजी उसे याद दिलाने के लिए बढ़ावा दे रहे थे...

"दांत—" अचानक शंकर कह उठा। और फिर उसके मुंह के अन्दर उसके जबड़े इस तरह जल्दी-जल्दी चलने लगे जैसे मुंह से कुछ पकड़ने की कोशिश कर रहे हों।

फिर वह मां का दूध चूसने लग गया किसी वक़्त, अपने नन्हे-नन्हे ओठों से... जिसके बाद अचानक उसने अपने नन्हे-से दाँत की बारीक नोक जैसे भोंक दी—कच्च से।

और उसी दम तेज़ी से उठकर उसका हाथ बायें गाल पर जा पड़ा—जो अचानक ही मां के तमाचे से झनझना उठा था।

और—वह फिर गुमसुम हो गया उस रोज़ के बाक़ी सारे वक्त के लिए...

कई दिन लग गये उस भूले हुए चित्र को धीरे-धीरे पूरी तरह सामने लाने में।...किस तरह उस नन्हे से शिशु के मसूड़ों में कुलबुलाहट होनी शुरू हुई थी पहले...फिर कब उन मसूड़ों के अन्दर से कहीं कोई नोक-सी निकली जान पड़ी थी जिसे दूध पीते वक्त उसने उस मुलायम जगह में कच-से भोंक देने में असीम और सर्वथा नये ही प्रकार के सुख का अनुभव किया था।

और, भौंचक्का-सा, वह देखता ही रह गया था उस माँ के चेहरे की ओर, जो दूसरे ही क्षण उसकी माँ का वह चेहरा नहीं रह गया था...

"हां-हां...देखो—कच्च से भोंक दिया दांत..." स्वामीजी कहते चले जा रहे थे, "देखो तो—कैसा अच्छा लग रहा है...कच्च से भोंक दिया—"

जिसके बाद, कितने दिनों तक, उस अंधेरी बन्द कोठरी में ये दोनों ही चित्र बिलकुल अलग-अलग चलते रहे : कभी सिर्फ़ माँ का वह चेहरा जो

अब उसकी माँ का नहीं किसी दूसरे का चेहरा बन गया था, और जिसे उसकी गोद में सन्न-सा पड़ा वह नन्हा शिशु सिर्फ़ ताकता ही रह गया था; और अभी, नयी निकली उस दंतुली की नोक को—दूध पीते-पीते—अचानक कच से भोंक देने का वह सर्वथा नवीन परम सुख...

भय—भय—भय।

भय से ही आक्रान्त रहा था उसका सम्पूर्ण शैशव, और बाद का भी सारा जीवन, किन्तु उसके स्रोत को स्मृति से बाहर निकाल फेंक उसने हमेशा ही अपने को प्रवंचित किया था, तरह-तरह के बहानों से अपने को 'बड़ा' बनाता आया था, लेकिन उस बनावटी बड़प्पन में ज़रा-सी दरार होते ही जो 'छोटापन' प्रकट होता दीखता था उसे भी फिर छिपाने के लिए न जाने क्या-क्या कलाबाज़ियाँ करता आ रहा था उसका चेतन मन...और फिर भी उस भय में मानो अन्दर ही अन्दर आतंकित और पराजित हो रहा आता था।

पेयेछि आमि भयहीन प्रेम पेयेछि—

भयहीन प्रेम। कितनी अद्भुत है उसकी कल्पना तक !

क्या आशय था भयहीन प्रेम का ? क्या था उसका संकेत ?

जहाँ-जहाँ आसक्ति है वहीं-वहीं, उसके साथ-साथ, भय है—स्वामीजी दिखाते चल रहे थे अब उसे। बच्चे की जिस-जिस इच्छा पर, सुख की उसकी कामना पर, कोई प्रचण्ड आघात पड़ा, वहीं-वह इच्छा भय-जनित दमन का शिकार हो गयी और दुःख देने वाली बन गयी, जिसे बाद को—बड़ों के भय ने, समाज के भय ने, 'सुपरईगो' ने कुत्सित, बुरा, पाप बना डाला।

"छोटा बच्चा अपनी माँ का दूध पाता है, इसमें क्या कोई पाप है ?...यह क्या बुरा है ?...नन्हे-से बच्चे ने दाँत निकलने पर अगर काट लिया—तो क्या उसके मन में चोट पहुँचाने की इच्छा थी ? क्या वह जानता तक था कि उसकी यह क्रिया किसी दूसरे के लिये कितनी कष्टकर हो सकती है ?"

फिर, स्वामीजी ने ही यह भी दिखाया कि जिस तरह दाँत से काटने की उसकी इच्छा स्वाभाविक और सही थी उसी तरह उसकी माँ के लिए उस बेहद नरम स्थान पर अचानक दाँत का गड़ा दिया जाना भी अत्यन्त पीड़ाजनक था—जिसके कारण ही उस नन्हे और अबोध शिशु के गाल पर उनका तमाचा इतने ज़ोर से, और अनायास ही, जा पड़ा...

"दोनों का ही गुस्सा सही था," स्वामीजी ने उसे दिखाया, "तुम्हारा सुख छिन जाने पर तुम्हारा गुस्सा...और तुम्हारी माँ का स्तन कट जाने पर उसका गुस्सा।...छोटा बच्चा माँ की तकलीफ़ नहीं समझ सका था...लेकिन अब तो,

अपने उस भय की जड़ तक पहुँच जाने के बाद, अपने दमित क्रोध से छुटकारा पा लेने पर, माँ की पीड़ा को भी तुम देख और समझ सकोगे।...फिर, धीरे-धीरे, इन पिछले बंधनों की जकड़ से छुटकारा पाकर, पुरानी भाव-ग्रन्थियों को खोलकर, प्रौढ़त्व प्राप्त कर सकोगे...अपने बच्चेपन से छुट्टी ले सकोगे...अपने को भी तृप्त कर सकोगे, दूसरों को भी तृप्त कर सकोगे—"

फिर एक बार वह बोले : "देखो न—माँ होना कितना कठिन है। माँ-बाप बनना कितना बड़ा उत्तरदायित्व है।...माता-पिता बनते ही अपना सुख-दुःख छोड़, बच्चे के साथ एक हो जाना है;...जब तक बच्चा एकान्त रूप से उन्हीं पर निर्भर है तब तक वह उनके लिए एक थाती की तरह है; उसका सारा भावी जीवन उन्हीं के बनाये बनेगा, उन्हीं के बिगाड़े बिगड़ेगा।..."

शंकर तब तक अतीत के उस चित्र के प्रति बहुत-कुछ सहज हो चुका था, और अपनी माँ की उस पीड़ा को किसी सीमा तक समझ पाया था। उसने तब खुद ही प्रतिवाद-सा किया :

"लेकिन स्वामीजी...उस तरह...ऐसी कोमल जगह पर...अचानक दाँत की नोक गड़ा दिये जाने से, क्या कोई भी वैसा किये बिना रह सकती थी?... वह तो बिना सोचे-समझे ही, एक सहज प्रतिक्रिया-वश, वैसा कर बैठी। फिर... वह भी क्या जान सकती थी कि उसकी उस सहज प्रतिक्रिया का उसके बच्चे के भावी जीवन पर इतना गहरा असर पड़ जा सकता है?"

"ठीक कहते हो।" स्वामीजी बोले।"...सोच-विचारकर तो कोई माँ-बाप बनते नहीं हैं, इसीलिए इस तरह की कोई तैयारी नहीं होती। केवल प्रतिक्रिया में रहते हैं..."

"लेकिन सोच-समझकर अगर माता-पिता बनना है," कुछ देर रुके रहकर उन्होंने फिर कहना शुरू किया, "तो बहुत ही सावधान रहना होगा...बच्चे का मंगल किसमें है, यही देखकर पद-पद पर आगे बढ़ना होगा।...मगर होता क्या है शंकर, कि माँ-बाप भी अपने माँ-बाप के उसी तरह के अत्याचारों के शिकार हुए रहते हैं, और उनके माँ-बाप अपने माँ-बाप के अत्याचारों के। एक अभेद्य चक्र एक चल पड़ा है, और सभी फिर अपने बच्चों के प्रति अपने अतीत की पुनरावृत्ति करते चलते हैं।...यह चक्र कटे, सच्चे माता-पिता बनें, बच्चे के प्रति अपना धर्म निभायें...तो माता-पिता द्वारा इस तरह 'भूतग्रस्त' जैसा व्यवहार न हो पाये...बच्चे को, उसकी अबोध अवस्था में, इतने प्रचण्ड आघात उस सीमा तक न लग पायें...उसका अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ विकास हो—"

और शंकर के सामने तब स्वामीजी का ही वह चित्र घूम गया जब, बहुत पहले, चित्त-विश्लेपण विज्ञान के अपने प्रयोग-काल में, अपने किसी प्राक्तन शिष्य का उपचार करते समय उन्होंने उसके सामने यह जानते हुए भी अपना कान बढ़ा

दिया था कि एक दमित द्वेष भाव के कारण वह अनजाने ही, लोहे की कान-खोदनी से उनका कान कुरेदते वक़्त, उन्हें भारी चोट पहुँचा दे सकता है ।

क्या यही नहीं है एक ऐसे व्यक्ति का चित्र, जो भयहीन प्रेम दे सकता है ?

...पेयेछि, आमि भयहीन प्रेम पेयेछि ।

आगे-आगे स्वामीजी जा रहे थे : कंधों पर गेरुआ चादर, नीचे गेरुआ सन्यासी परिधान; ऊँचा कद, हाथ में लाठी, सिर के बाल बहुत बारीक और सब जगह एक समान छटे हुए, आँखों पर सोने की कमानी वाली ऐनक; खेतों के बीच की ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर अपने लम्बे-लम्बे डग भरते...

पीछे-पीछे सुशीला, जो खेतों के बीच वाली मेड़ पर चलते वक्त उनके पीछे हो जाती थी, और मेंड छोड़ किसी सपाट मैदान में पहुँच जाने पर तेजी से आगे बढ़ स्वामीजी की बगल में आ जाती थी...

और सबसे पीछे शंकर ।

शाम का टहलने का वक्त था स्वामीजी का : निकट के सन्थालों वाले गाँव के दो-चार घरों के सामने रुककर, चार-पाँच साल के सन्थाल बच्चों में से किसी के पेट और किसी के कन्धे पर अपनी लाठी छुला उसे खिल-खिल करके हँसाते, किसी सन्थाल वृद्धा से उसकी कुशल-क्षेम पूछते, किसी नवयुवक या नवयुवती से उसके काम-काज की खबर लेते, किसी वृद्ध की समस्या का समाधान बताते, इसी वक्त स्वामीजी बारी-बारी से उस गाँव के किसी न किसी हिस्से के कुछ घरों के सामने रुकते निकल जाया करते थे, और फिर खेतों के रास्ते किसी मैदान की ओर टहलते बढ़ जाते थे ।

गाँव के नज़दीक बच्चे खेल रहे होते, जो उन्हें देखते ही अपना खेल छोड़ चुपचाप जहाँ के तहाँ रुक जाते...कोई-कोई उनकी ओर ताक मुसकरा भी उठता...

रास्ते में पड़ा कोई कुत्ता स्वामीजी के आने की आहट पा पहले तो उठकर अपने पिछले पाँवों को पीछे की ओर पूरी तरह तान अँगड़ाई लेता, फिर धीरे-धीरे रास्ते से हट जाता...

खूँटी से बँधे गाय-भैंसें, खड़े-खड़े या बैठे-बैठे, उसी तरह जुगाली करते चले जाते; सिर्फ उनमें से किसी-किसी का मुँह स्वामीजी की ओर उठ जाता, और फिर देर तक उठा ही रह जाता—अपनी भावशून्य-सी आँखों को लिए ।

पोखर की कीचड़ में लथपथ दो-चार सुअर उन्हें कुछ देर तक सीधे देखते रहते...और फिर तेज़ी से किसी तरफ़ भाग खड़े होते...

मुर्ग-मुर्गियों और उनके नन्हे-नन्हे चूज़ों में खलबली और भगदड़ मच-

जाती...

सन्थालों के उस साफ़-सुथरे गाँव का अपना नियमित मुआइना करने के बाद स्वामीजी खेतों के रास्ते बढ़े चले जा रहे थे उस रोज़ भी : हाथ में लाठी, गेरुआ परिधान, ऊँचा क़द, बारीक़ छंटे बालों वाला नंगा सिर, आँखों में सोने की कमानी की ऐनक...लम्बे-लम्बे डग रखते—

पच्छिम में डूबता सूरज उनकी पीठ के पीछे था।

पीछे-पीछे सुशीला थी, और उसके पीछे शंकर।

अचानक उसे ख़याल आया : कितना बड़ा अन्तर हो सकता है—एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच भी, भले ही वे एक ही मानव-जाति के हों।...फिर, किसी सन्थाल और सुशीला या शंकर के बीच जहाँ बहुत ज्यादा अन्तर नहीं है—हालांकि संस्कृति और सभ्यता के माने हुए पैमाने से नापने पर किसी अपढ़ सन्थाल और शंकर के बीच ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ समझा जाएगा—वहाँ शंकर और स्वामीजी के बीच का अन्तर इतना बड़ा, कि कोई हिसाब नहीं। स्वामीजी के लिए भी किसी अपढ़ सन्थाल और शंकर के बीच शायद ही कुछ ज्यादा फ़र्क़ हो...और, उनमें से एक-एक का दिल और दिमाग़ उनके लिए हस्तामलकवत है।

मगर खुद स्वामीजी ?...शंकर तक क्या उनके अन्दर की गहराई की थोड़ी-सी भी थाह पा सका है अभी तक ?...क्या कभी भी पा सकेगा ?

सहसा ही उसे लगा कि सृष्टि के एक छोर पर जहाँ स्वामीजी हैं...वहाँ उसके दूसरे छोर पर हैं बाक़ी सभी जीव—जिनमें शंकर, किसी अपढ़ सन्थाल, या कीचड़ से लथपथ सुअर के बीच कुछ ज्यादा फ़र्क़ नहीं है।

मन ही मन उसका सारा अस्तित्व सामने चलती उस दिव्य विभूति के चरणों में झुकता ही चला गया...

ग्यारह

एक दिन शंकर ने प्रस्ताव रखा : "हफ़्ते में एक दिन आपको छुट्टी मिलनी चाहिए, स्वामीजी...आपको तो बिलकुल आराम ही नहीं मिलता !"

स्वामीजी मुसकराकर रह गए।

कुछ दिन बाद उसने फिर अपना यह प्रस्ताव दोहराया।

तब स्वामीजी ने कहा, कि औरों से भी बात करके यह देखें : क्या सब लोग इसके लिए तैयार हैं ?

"मगर स्वामीजी—" शकर ने आग्रह किया, "आपके स्वास्थ्य का भी तो खयाल रखना होगा..."

"सो तो ठीक कहते हो," स्वामीजी कुछ गभीर होकर बोले, "लेकिन—"

पर यह वाक्य उस 'लेकिन' के आगे नही बढ़ा।

आखिर शकर ने सभी लोगों से बात की, और अपने प्रस्ताव के प्रति खास तौर से उन्हें ही उदासीन पाया जो सबसे ज्यादा दिनों से स्वामीजी का वक्त लेते आ रहे थे। जितना ताज्जुब हुआ उसे उतनी ही खीझ भी। क्या स्वामीजी से इतना पाते चले जाने के बाद भी वे इस हद तक निर्मम हो जा सकते हैं...उन्हीं के प्रति ?

अन्त मे उसने अपने से ही शुरुआत कर डाली—इतवार के दिन अपने काम से स्वामीजी को छुट्टी देकर...

जाड़े और गरमी के पाँच-छ. महीने आश्रम मे बिताने के बाद, बरसात शुरू होते ही, स्वामीजी फिर सरिया (हजारीबाग रोड़) लौट आये थे, और उनके साथ-साथ गौरी-दि और शकर-सुशीला भी। और जुलाई या अगस्त मे उनके मित्र रूपचन्द भी आ पहुँचे थे, जो तब से अभी तक मौजूद थे। बीच बीच मे दो-चार हफ्ते, या महीने दो महीने के लिए कोई और भी आते-जाते रहे थे, और स्वामीजी को दम मारने की भी फुरसत नहीं मिलती थी।

बरसात बीतते-बीतते जब दुर्गा-पूजा की छुट्टियाँ आयी तब तो आनन्द कुटी वाली वह कोठी ही नही, उसके बगीचे के एक किनारे बनी तीन चार कोठरियाँ भी ठसाठस भर गयीं। गौरी-दि जरूर जा चुकी थी ! लेकिन उनकी जगह आ गयी थी सुव्रता-दि और कमल-दि, और एक दिन राँची से चिन्मयी भी आ पहुँची—अपने पति सतीनाथ और तीन-चार साल की कन्या छन्दा के साथ। उस कोठी की प्रमुख इमारत मे स्वामीजी वाले कमरे को छोड बाकी सभी कमरे पूरी तरह भर गये।

सभी के साथ अवश्य अँधेरी बन्द कोठरी वाली वह प्रक्रिया नही चल रही थी : धीरेंद्र जी, गोपाल-दा और करुणा केवल स्वामीजी के टहलते समय, या शाम के खाने के पहले, उनसे बात कर अपनी व्यक्तिगत या पारिवारिक उलझनों को सुलझाते थे। दूसरी ओर, चिन्मयी और सतीनाथ अलग से स्वामीजी के समय पर शायद ही कभी अपना कोई दावा पेश करते थे; स्वामीजी के भोजन के समय, या दो-चार मिनट के अन्य किसी छोटे से अन्तराल मे ही, उनका सामीप्य

पा वे सन्तुष्ट हो जाते थे...

फिर भी स्वामीजी को वट वृक्ष के नीचे वाली उस छोटी-सी कच्ची कुटिया की अँधेरी बन्द कोठरी में पाँच-पाँच लोगों के साथ अलग-अलग एक-एक घंटा या उससे भी ज्यादा वक्त रोज़ बिताना होता था, और तब भी सबके लिए वक्त नहीं निकल पाता था हमेशा। इसलिए, कुछ लोगों को हफ्ते में तीन या चार दिन ही दिये जाते थे, और यह निर्णय स्वामीजी ही करते थे कि किसकी आवश्यकता प्रतिदिन की है, और किसका काम एक दिन छोड़कर होने पर भी चल सकता है।

शंकर ने तब एक दिन छोड़कर ही अपने 'काम' की बात स्वयं अपनी ओर से स्वामीजी के सामने रख दी, हालाँकि मन-ही-मन उसे यही आशा थी कि उसकी आवश्यकता तो वह प्रतिदिन की ही बतायेंगे।

शुरू में स्वामीजी सिर्फ मुसकरा कर रह गये थे, लेकिन एक दिन जब उन्होंने ही 'आपरेशन थियेटर' में जाने से कुछ पहले उसे बुलवाकर पूछा, कि क्या वह उस रोज़ अपना वक्त खुशी-खुशी किसी दूसरे के लिए छोड़ दे सकता है, तो बाहर से स्वीकृति-सूचक सिर हिला देने पर भी उसका दिल जैसे अंदर ही अंदर बैठ गया।

"या फिर—" उसके दिल के भाव को ताड़ तभी स्वामीजी ने दूसरा प्रस्ताव रखा, "रविवार को ही तुम्हारा काम हो जाय—?"

"नहीं स्वामीजी—" शंकर ने ज़ोर देकर ही पूरा इनकार कर डाला इस बार, और मन ही मन अपनी कमज़ोरी पर लज्जित हो उठा।...रविवार का दिन तो वह और भी नहीं ले सकता था, जब कि उसी की कोशिशों से, अन्त में, हफ्ते में एक उस दिन की स्वामी जी को पूरी छुट्टी मिलने लग गयी थी; बल्कि उस मामले में भी उलटे उसे ही स्वामी जी से शिकायत थी कि कभी-कभी किसी की "बहुत बड़ी जरूरत" बताकर वह एक डेढ़ घंटे के लिए उस दिन भी उस कोठरी में जाकर बन्द हो जाते थे...

छोटा नागपुर का यह पहाड़ी इलाक़ा बड़ा ही मनोरम था और काफ़ी बरसात होने पर भी पानी कहीं जमने नही पाता था। स्वामीजी के लिये बड़ी अनुकूल आबहवा थी: न नमी थी और न ज्यादा गरमी। अकसर ही ठंडी-ठंडी हवा बहती रहती थी, और शायद ही कभी स्वामीजी के सिर पर पंखा झलने की जरूरत पड़ी हो।

कभी-कभी, मौसम साफ़ रहने पर, स्वामीजी किसी तरफ़ बाहर टहलने के लिए निकल जाते शाम के वक्त, और उनके पीछे-पीछे वे लोग भी: शंकर,

रूपचन्द, गुनीना...और कभी-कभी मुन्ना-दि भी। मुन्ना-दि वाले दिन स्वामीजी ज़रूर ज़्यादा दूर नहीं जाते थे, और तब अक्सर शंकर और रूपचन्द तेज़ क़दम बढ़ाते कहीं अलग टहलने के लिए निकल पड़ते।

शाम के वक़्त टहलने के लिए निकलने पर शंकर अक्सर रेल लाइन के किनारे-किनारे आनन्द कुटी से पश्चिम की ओर जाता था जिधर डेढ़ दो मील चलने पर ही बराकर नदी का रेल वाला पुल आता था। वहाँ पहुँच कर बरसात के दिनों में घड़घड़-घड़घड़ करती प्रचण्ड वेग से बहती उस पहाड़ी नदी का दृश्य वह देर तक खड़ा-खड़ा देखता, जो कितनी ही चट्टानों और शिला खण्डों से टकराती न सिर्फ़ दूर-दूर तक अपना शोर पहुँचाती रहती थी बल्कि उन स्थानों से उछलने वाले दूध के झागों-जैसे पानी का भी बड़ा ही आकर्षक दृश्य उपस्थित करती थी।

पिछले साल जब शंकर कलकत्ते से आया ही आया था तब जाड़ा शुरू हो रहा था और बरसात बीत चुकी थी। नदी में पानी तब काफ़ी कम हो गया था, लेकिन चट्टानों और शिला-खण्डों से टकराकर पानी का उछलना और शोर जारी था।

किन्तु वहाँ पहुँचते ही बड़ी तीव्र इच्छा होती थी रेल के उस पुल को पार करने की। तीव्र इच्छा भी और भय भी। पुल के जिन 'स्लीपरों' या काठ के तख़्तों पर होकर रेल की दोनों पटरियाँ आगे बढ़ गयी थीं उनके बीच-बीच में जो ख़ाली जगह छूटी हुई थी उसके नीचे था सिर्फ़ नदी का भयावह प्रवाह। पुल को पार करते वक़्त एक-एक स्लीपर पर होकर कूदते हुए आगे बढ़ना होता।

उस बार पहले-पहल जब शंकर उस पुल तक पहुँचा था तब इस ओर खड़ा ही रह गया था काफ़ी देर तक। उस बीच, उस पार के किसी गाँव से आने-जाने वाले दो-चार राहगीरों को उन स्लीपरों पर बेधड़क क़दम बढ़ाते देखा था उसने, और हरदम उसे यही डर बना रहता था कि कब कोई कदम ग़लत पड़ा, और वह राहगीर उस पुल पर से नीचे गिरा...

कई बार टहलने के लिए वहाँ आकर भी वह उस पुल को पार करने की हिम्मत नहीं कर पाया था।

उस बार आश्रम में यहाँ लौटने के बाद, दो-एक महीने तक, शंकर को इधर टहलने के लिए आने का मौक़ा ही नहीं मिल पाया—ख़ास तौर से बरसात की ही वजह से—लेकिन जिस दिन अब वह फिर इधर के लिए चल पड़ा था पहले-पहल, तब उसके मन में सबसे बड़ा हौसला यही था कि उस पुल को पार करने का इस बार वह ज़रूर प्रयोग करेगा, अँधेरी बन्द कोठरी में अपने भयों की मोटी-मोटी परतों को वह जिस हद तक उलट-पुलट चुका था तब तक, क्या उसके बाद भी वह यह साहस नहीं कर पायेगा अब ?

पहले तो उसने किसी को साथ लेकर ही उस दिन वहाँ तक टहलकर जाने की बात सोच रखी थी—बिलकुल अकेले जैसे फिर भी वह उस प्रयोग के लिए पूरा साहस नहीं जुटा पा रहा था—लेकिन बाद को इस 'कमज़ोरी' पर भी उसने विजय पा ली थी, और अकेला ही निकल पड़ा था।

आश्चर्य, कितनी आसानी से वह एक-एक स्लीपर पर पाँव रखता आगे बढ़ता चला गया था, बिलकुल पहले ही प्रयोग में...और कुछ दूर तक आगे बढ़ जाने के बाद, आत्म-विश्वास काफ़ी बढ़ जाने पर, दो स्लीपरों के बीच वाली ख़ाली जगह के नीचे बहती नदी पर आख़िर उसने अपनी नज़र डाल ही ली थी !

थोड़ी घबड़ाहट ज़रूर मालूम हुई थी—क्षण-भर के लिये ऐसा भी लगा था कि उसके पाँव कहीं लड़खड़ा तो नहीं जायेंगे—लेकिन फिर वह आगे बढ़ता ही चला गया था, और डेढ़-दो सौ गज़ लम्बे पुल को पार कर ही डाला था।... कितनी बड़ी विजय थी अपने बद्धमूल भय पर—यह बात उससे ज्यादा और कौन जान सकता था ?

रूपचन्द के आ जाने पर जब उनके साथ पहलेपहल उस ओर टहलने के लिए वह चल पड़ा तब रास्ते में उन्हें इसी प्रसंग के सिलसिले में 1930 के आन्दोलन वाला अपना वह पुराना अनुभव भी सुना डाला जब कि बांदा में वह आतंकवादी गोपाल भाई के जाल में फँस गया था और उनके साथ टहलने के लिए निकलकर केन नदी के ऐसे ही पुल पर उसे उनके पीछे-पीछे कुछ दूर तक उन स्लीपरों पर होकर चलने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा था, और किस तरह हर क़दम पर लड़खड़ाकर नदी में गिर पड़ने के डर से आतंकित रहा था।

"मगर—फिर भी उन गोपाल भाई के पीछे-पीछे बढ़ते क्यों चले गये थे... इतना बड़ा ख़तरा लेकर ?" रूपचन्द ने पूछा।

"शर्म की वजह से—" शंकर बोला। "ऐतिहासिक दांडी-यात्रा के उनासी लोगों में से ही एक होकर भी, जो अपनी जान को हथेली पर लेकर अंग्रेज़ी सरकार से लड़ने के लिए निकले थे...क्या आतंकवादी गोपाल भाई के सामने हिम्मत के किसी प्रदर्शन में अपने को डरपोक ज़ाहिर होने दे सकता था ?"

... ...

रूपचन्द कलकत्ते होकर आये थे, और शंकर ने सुशीला के भाई के घर से अपना एक ट्रंक साथ लेते आने के लिए उन्हें लिख दिया था, जिसमें उन लोगों के जाड़े के कुछ कपड़े थे। लेकिन रेल गाड़ी के डब्बे में से कई अदद सामान उतर चुकने के बाद भी जब अपना ट्रंक शंकर को नहीं दिखाई दिया तो उसने उन्हें याद दिलायी; कहीं साथ लाकर भी वह उसे भूले तो नहीं जा रहे हैं !

लेकिन उसकी उस बात को मानो अनसुनी कर उन्होंने कुली से सामान उठाने

के लिये बढ़ा।

फिर, शंकर के चेहरे की ओर शरारत-भरी एक नये ही क़िस्म की मुस्कराहट के साथ देखते हुए, वह उठे :

"वे दिन लद गये भाई उदयजी, जब हम दूसरों का बोझ अपने कंधों पर ढोया करते थे।...देखिये न, अपना ही सामान क्या कुछ कम है—कि किसी दूसरे के सामान की फिक्र अपने सिर पर लादे फिरता ?"

...कोई आठ साल पहले जब शंकर बरानगर में अपनी समस्या लेकर पहले-पहल स्वामीजी की शरण में पहुँचा था तब रूपचन्द भी उसी के कारण उनके सम्पर्क में आये थे। लेकिन तीन-चार साल तक उनका यह सम्पर्क बहुत कुछ अप्रत्यक्ष और दूर का ही बना रहा था; तभी वह उनके पास जाते थे जब शंकर कलकत्ते आता था, और ख़ुद ज्यादातर चुप ही रहते थे।...फिर, एक बार, एक घटना घटी थी, जिसके कारण स्वामीजी के प्रति वह कुछ अधिक आकृष्ट हुए, और कलकत्ता छोड़ जब बम्बई रहने लगे, तब तक उनका यह सम्पर्क काफ़ी प्रगाढ़ हो चुका था। बम्बई से भी अब वह कभी-कभी कुछ हफ़्तों या महीने दो महीने के लिए स्वामीजी के पास आकर रह जाते थे, और धीरे-धीरे प्रायः उसी तरह उन्हें आत्म-समर्पण कर चुके थे जिस तरह शंकर कर चुका था।

उनमें परिवर्तन हुआ है, उनके जीवन की कुछ बड़ी समस्याएँ सुलझी हैं—इसका आभास शंकर को उनकी चिट्ठियों से समय-समय पर ज़रूर मिलता रहा था, लेकिन अब उसने प्रत्यक्ष जो-कुछ देखा वह उसकी दूर से दूर की कल्पना से भी परे था। दो दृष्टियों से : एक, शंकर के मँगाने पर भी उसका ट्रंक न लाना, जब कि अपना इतना सारा सामान लाने के लिए उन्हें अतिरिक्त भाड़ा देकर उसे तुलाना ही पड़ा होगा; दूसरे, अपना ख़ुद का भी इतना सारा सामान—जब कि पहले वह कितनी सादगी से रहते थे और अपने आराम और सुख-सुविधा की ओर उनका ध्यान जाता ही नहीं था। उनके घर में शंकर ने आराम और शौक़ीनी की जो भी चीज़ें देखी थीं वे सब या तो उनकी पत्नी की निजी चीज़ें थीं या उन्हीं की फ़रमाइश पर लायी गयी। रूपचन्द को उन सबसे हमेशा चिढ़ ही रहती थी।...मगर अब, शंकर देख रहा था, उनके सामान में एक बहुत बड़ा और आलीशान ट्रंक था, 'डकबैक' का नया और बड़ा 'होल्डाल,' दो-तीन 'बास्केट,' 'थर्मोफ़्लास्क,' वग़ैरा, वग़ैरा...

"...अब हम अपनी क़द्र करना सीख रहे हैं उदयजी—" चलते-चलते वह फिर एक बार कह उठे थे—एक चौड़ी मुसकराहट अपने चेहरे पर लाकर शंकर की ओर ताकते हुए।

यह पहला मौक़ा था कि रूपचन्द द्वारा शंकर की उपेक्षा की गयी थी; उसकी

एक साधारण-सी माँग को, एक तरह से जान-बूझकर ही, ठुकरा दिया गया था—जब कि उसके मित्रों में एक वही थे जिनसे इस तरह के व्यवहार की उसे ज़रा भी आशंका नहीं थी।...जब भी वह कलकत्ते जाता था, हमेशा उन्हें प्लेट-फ़ार्म पर अपने इंतज़ार में खड़ा पाता, और डब्बे के रुकते ही अपने लम्बे-चौड़े चेहरे पर पूरी तरह फैली उसी चिर-परिचित मुसकान के साथ इस तपाक के साथ उससे मिलते कि शंकर ख़ुद अपनी निगाह में भी अचानक कुछ अधिक महत्वपूर्ण और वज़नी हो उठता था। जब तक वह कलकत्ते रहता था—चाहे देवव्रत पाण्डेय के पास बड़ा बाज़ार के उनके छः मंज़िले कमरे में, चाहे किसी दूसरी जगह—सवेरे छः बजे तक रूपचन्द भी आ पहुँचते और शंकर के उस दिन के प्रोग्राम के साथ इस तरह अपने प्रोग्राम का तालमेल बिठा लेते कि उसके ख़ाली वक़्त में बराबर उसके साथ बने रहते: एक साथ खाते-पीते, एक साथ जगह-जगह की सैर करते फिरते, एक साथ किसी पार्क में बैठ तरह-तरह के विषयों पर गंभीर चर्चा करते। शंकर को अपने लिए कुछ भी न करना पड़ता कलकत्ते पहुँच जाने पर; उसकी सारी फ़िक्र और सारे बोझ अपने ऊपर लेकर रूपचन्द उसे बिलकुल हलका कर देते...

और शंकर अपने भी इस परिवर्तन पर दंग था, कि अपनी माँग के इस तरह ठुकरा दिये जाने से उसके स्वाभिमान पर कोई ख़ास चोट नहीं पड़ी इस बार; उलटे उसे खुशी ही हुई—कि मिथ्या आदर्शवाद के माया-पाश से आख़िर रूपचन्द भी छुटकारा पा रहे थे स्वामीजी की कृपा से, अपनी दबायी गयी इच्छाओं को वह भी खुलकर छूट दे पा रहे थे।

"उधर कहाँ बढ़े जा रहे हैं...उदयजी?" रूपचन्द ने पीछे से आवाज़ लगायी, "रास्ता इधर से है—"

शंकर को पता ही नहीं लग पाया था कि कब बाक़ी साथियों को छोड़, अपनी ही मौज में डूबा, पगडंडी छोड़ दाहिनी ओर के शाल के जंगल की ओर वह बढ़ चला था जो काफ़ी दूर से उसे निमंत्रण-सा दे रहा था।

रविवार का छुट्टी वाला दिन था, और आनन्द कुटी में ठहरे लोगों की एक टोली 'पिकनिक' के लिए बराकर नदी के उस स्थल की ओर निकल पड़ी थी जिधर का उसका पथरीला तट ही नहीं, वहाँ तक पहुँचने का जंगली और पहाड़ी रास्ता भी, बड़ा ही सुहावना था। कुछ दिन पहले, बरसात ख़त्म होने पर, रवि-वार की ही एक छुट्टी के दिन शंकर और रूपचन्द सुबह टहलते-टहलते उधर जा निकले थे, और तभी यह फ़ैसला हो चुका था कि सर्दियाँ शुरू होने पर एक दिन वहाँ 'पिकनिक' के लिए आया जाय...

दुर्गा-पूजा की कलकत्ते की छुट्टियाँ ख़त्म हो चुकी थीं, और 'चेंजरों'—हवा बदलने के लिए आने वाले बंगाली परिवारों—की भीड़भाड़ छँट चुकी थी। आनन्द कुटी की भी भीड़ कम हो गयी थी : शंकर-सुशीला, और सुव्रता-दि के सिवा रह गये थे सिर्फ़ रूपचन्द, और नन्दू भी—जिसने 'पूजा' की छुट्टियों के बाद एक महीने की और छुट्टी बढ़वा ली थी।

आनन्द कुटी में सिर्फ़ स्वामीजी और सुव्रता-दि को छोड़ वे सब 'पिकनिक' पर निकल पड़े थे—साथ में दोपहर के खाने का सामान लेकर।

नवम्बर का महीना था और गुलाबी जाड़ा शुरू हो चुका था। क़रीब दस बजे ये लोग निकले थे—पर ये काफ़ी ठोस नाश्ता करके—और इतमीनान के साथ, कभी तेज़ और कभी धीमी रफ़्तार से चलते, यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते कोई बारह बज चुके थे। बराकर नदी का वह स्थल दस-पन्द्रह मिनट की ही दूरी पर रह गया था, और चट्टानों से उसके प्रवाह के टकराने की आवाज़ सुनाई देने लग गयी थी।

"उधर कहाँ बढ़े जा रहे हैं ?" रूपचन्द की आवाज़ शंकर के कानों में पड़ी, लेकिन उसकी उपेक्षा कर वह उस साल-वन की ओर बढ़ता ही चला गया।

फिर, कुछ देर बाद अपने क़दम रोक, उन लोगों की ओर मुँह फेर उसने भी आवाज़ दी :

"अभी जल्दी क्या है वहाँ पहुँचने की ?...ज़रा, इस जंगल में घूमा जाय न।"

और, उन सबका इन्तज़ार करने के लिए जंगल के इसी किनारे पर रुक गया।

लेकिन उसके क़दम जैसे रुकने को तैयार ही नहीं थे। जब तक वे सब भी, धीरे-धीरे, शाही चाल से चलते, वहाँ तक नहीं आ पहुँचे, किनारे वाले वृक्षों में से दो-चार के इर्द-गिर्द वह चक्कर लगा आया।...मन-ही-मन अपनी एक अधूरी कविता की एक पंक्ति गुनगुनाने लगा वह, जो स्वामीजी की शरण में आने के बाद लिखी गयी उसकी पहली और आख़िरी कविता थी :

सुलझी-सुलझायी थी वीणा,
जतनों से उलझाना सीखा...

"क्या उलझा रहे हैं ?" रूपचन्द ने उसके नज़दीक आते-आते कुछ दूर से ही पूछा—जब वह उन लोगों को सुना-सुनाकर और भी ऊँचे स्वर में उसे गा उठा :

जतनों-ों-ों से उलझा-ा-ा ना सीखा-ा-ा—

उनका जवाब देने की जगह, एक नाटकीय मुद्रा में, तरह-तरह से घूमा-फिरा

कर वह उस पंक्ति के अलग-अलग हिस्सों को, उलट-पुलटकर, नये-नये स्वरों में गाता, और साथ ही साथ उस जंगल के अन्दर बढ़ता चला गया...

"उधर कहाँ जा रहे हो—" तब सुशीला ने कुछ दूर से चिल्ला कर कहा, "जंगल में भटक नहीं जाओगे ?"

"सुलझी-सुलझाई थी-ी-ी-ी..."

शंकर ने अपना एक स्वर-तरंग उसकी ओर भी उछाल दिया, और कुछ घने पेड़ों के बीच जाकर उन सबकी निगाह से ओझल हो गया।

कुछ देर तक उसे सुशीला और नन्तु के बीच होने वाली बातचीत थोड़ी-बहुत सुनाई देती रही : वे दोनों उस जंगल के उस किनारे पर ही शायद थकान मिटाने के लिए तब तक एक चट्टान पर बैठ गये थे, जबकि रूपचन्द, शंकर के ही पीछे-पीछे, उस जंगल के अन्दर दाख़िल हो चुके थे...

नीचे ऊँची-ऊँची जंगली घास थी, जिसके बीच-बीच में काँटों वाली छोटी-छोटी झाड़ियाँ, और ऊपर ऊँचे-ऊँचे पेड़ : कोई बहुत ही पतले, मगर फिर भी असाधारण रूप से ऊँचे, और इसलिए जो बेतुके-से दिखाई दे रहे थे—दुबली-पतली टाँगों और बाँहों वाले बीमार बच्चों की तरह; कोई बहुत ही मोटे तने वाले और चौड़े-चौड़े हरे पत्तों से भर-पूर।...पहले तो शंकर काफ़ी तेज चाल से उन पेड़ों के बग़ल-बग़ल से रास्ता बनाता अन्दर की ओर घुसता चला गया, लेकिन कुछ देर बाद उसके क़दम ढीले पड़ गये, जब कि अपने चारों ओर एक ज़बर्दस्त सन्नाटे का उसे अचानक ही बोध हुआ। तरह-तरह के पक्षियों की अनर्गल और असम्बद्ध आवाज़ें बढ़ती ही चली जा रही थीं अन्दर की ओर बढ़ने के साथ-साथ, लेकिन वह ठोस और वज़नी सन्नाटा मानो और भी ठोस, और भी वज़नी होता जा रहा था...

अचानक एक दहशत-सी मालूम हुई उसे।

घबड़ा कर उसने अपने क़दम पीछे की ओर मोड़ लिये।

फिर, बहुत ही ऊँची आवाज़ में गा उठा :

सुलझी-सुलझाई थी बीणा-ा-ा-ा...

और—अपनी उस दहशत को उसने उस तान में डुबा देना चाहा।

नहीं—रास्ता वह नहीं भूला था।...पेड़ों की छाया काफ़ी घनी होने पर भी ज़मीन पर कहीं-कहीं धूप के जो चितकबरे धब्बे पड़ रहे थे उनसे दिशा-ज्ञान में कोई कठिनाई नहीं हुई, कुछ क़दम और आगे बढ़ने पर जंगल का घनापन कुछ हलका पड़ चला, और उसे इतमीनान हो गया कि कुछ ही फ़ासले पर वह मैदान है जहाँ वे सब लोग उसका इंतज़ार कर रहे होंगे...

एक बार फिर वह, पहले से भी ज्यादा ऊँचे स्वर में, गा उठा :

जतनों से उलझा-ा-ा-ा ना-ा-ा सीखा-ा-ा...

और एक प्रचण्ड उन्माद का ज्वार सहसा ही उसके अन्दर की गहराइयों से उठा...

तभी उसने रूपचन्द की आवाज़ अपने काफ़ी करीब सुनी :

"कहाँ हैं आप...उदयजी ?"

"आइये...आइये..." तपाक के साथ शंकर ने उनका स्वागत किया, और अब उन्हें भी साथ ले, एक बार फिर जंगल के अन्दर कदम बढ़ा दिये...

"क्या लाइनें हैं...जो आप गा रहे थे ?" रूपचन्द ने कुछ देर बाद पूछा।

"एक ही तो लाइन है—"शंकर ने कहा। "स्वामीजी के पास आने पर शुरू में जब पहले-पहल यह आविष्कार किया था कि समस्या ख़ुद की ही गढ़ी हुई है...नहीं तो, रास्ता बिलकुल ही सीधा और साफ़ है...तभी एक दिन यह लाइन बन गयी थी, और इसमें और लाइनें जोड़कर जब कविता पूरी करनी चाही...तो कर नहीं सका; अचानक ख़याल आया कि यह तो पूरी ही कविता है—सिर्फ़ एक पंक्ति वाली कविता : सुलझी-सुलझायी थी वीणा, जतनों से उलझाना सीखा।...आप ही बताइये, इसमें और कुछ भी जोड़ा जा सकता है क्या ?"

लेकिन उनके किसी भी जवाब का इंतज़ार किये बिना वह दूसरे ही क्षण नज़दीक के एक पेड़ पर तेज़ी के साथ चढ़कर उसकी एक मोटी शाखा पर जा बैठा, और वहीं बैठे-बैठे, टाँगों को हिला-हिला कर ज़ोर से गा उठा :

जतनों से...(हाँ-हाँ—)
जतनों से...(कितनी मेहनत की थी !)
उलझाना-ना-न सीखा—

"आपका यह नक़्शा तो पहले कभी नहीं देखा था उदयजी—" नीचे खड़े रूपचन्द आख़िर बोले।

शंकर धम से कूद पड़ा—उनके ठीक सामने ही नीचे।

"देखते कहाँ से भाई···यह तो बिलकुल ही नया नक़्शा है—" और, ज़ोर से हँस पड़ा।

अचानक उसे पिछले दिन का, बन्द कोठरी वाला वह चित्र याद आ गया, जिसके बाद भी उसकी ऐसी ही हँसी फूट निकली थी स्वामीजी के सामने।

रूपचन्द भौचक्के-से उसकी ओर देख रहे थे।

"चलिये, अब लौटा जाय," शंकर ने उनके कंधे पर ज़ोर से हाथ मारते हुए कहा, "वे लोग परेशान हो रहे होंगे।"

और—रास्ते में उसने रूपचन्द को अपनी इस हँसी से याद आ गये कल वाले उस चित्र की बात सुनानी शुरू कर डाली .

पहले उसे बड़े ज़ोर की हँसी आयी थी—उस बन्द कोठरी में काफ़ी देर तक

चुपचाप ही स्वामीजी के सामने लेटे-लेटे—साल-भर से चलने वाली उस प्रक्रिया में पहली बार। फिर, एकबारगी ही, एक शिशु-सुलभ उल्लास के साथ चिल्ला उठा था: पेशाब।

"किसका पेशाब?" स्वामीजी ने पूछा।

"मेरा पेशाब—" उसने हँसते-हँसते ही जवाब दिया था, "नानाजी की थाली की ओर बहा जा रहा है..."

धीरे-धीरे पूरा ही चित्र स्पष्ट हो उठा:

नानाजी ने उसे जबर्दस्ती बुलवा भेजा था, और रसोईघर में जिस आसन पर वह खाना खाने के लिए बैठे हुए थे—उसके सामने ही उसे भी एक छोटे से आसन पर खाना खाने के लिए बैठने को मजबूर हो जाना पड़ा था।...उसका दम तभी सूख गया था जब नानाजी के पास उसे ले जाने के लिए कोई आया था—और वह अपनी माँ की टाँगों से लिपट गया था।...पहले उसकी माँ ने भी उसे रोकने की कोशिश की, लेकिन आख़ीर में हार गयीं...

और—कोई डेढ़-दो साल का नन्हा-सा शंकर अन्दर ही अन्दर दम-सा घोटे नानाजी के सामने बैठा हुआ था; और अचानक ही नानाजी अपने आसन पर से च्—च्—च्—च्—च्—च्...करते उठ खड़े हुए, और शंकर का पेशाब धीरे-धीरे बहता उनकी थाली के नीचे तक जा पहुँचा।

बड़े ही ज़ोर से हँस रहा था शंकर अब स्वामीजी के सामने...ठीक उसी तरह, जिस तरह नानाजी का अट्टहास होता था कभी-कभी...

नानाजी का वह घबड़ाया हुआ, बुरी तरह विकृत हो उठा, चेहरा उसकी आँखों पर अक्स था—जबकि हाथ हिला-हिलाकर वह शोर मचा रहे थे:

"देख तो...क्या कर डाला इस बदमाश ने?...सारी थाली ख़राब कर दी।...हटा इसे—"

...नानाजी के सामने बैठे-बैठे, डर के मारे, कब नन्हें-से शंकर का पेशाब निकल पड़ा था और उसकी पतली-सी धार बहती उनकी थाली तक जा पहुँची थी, उसे पता ही नहीं चल पाया था...

कितने प्रचण्ड उल्लास का था वह नन्हा-सा क्षण: उसके नानाजी की वह अत्यन्त हास्योत्पादक मुद्रा और भावभंगी...

किस तरह अपने परम पराक्रमी नानाजी का एक बिलकुल ही नया असहाय रूप देख रहा था वह...और किस तरह उनकी उस परम अप्रिय जकड़ से छुटकारा पा गया था वह अनायास ही...कोई दौड़ा हुआ आया था रसोईघर में—उसके नानाजी की पुकार सुन: "ले जा इस बदमाश को यहाँ से...बदतमीज़ कहीं का—"

और शंकर ठहाका मारकर हँस रहा था स्वामीजी के सामने लेटा-लेटा—अपनी कब्र की दबी पड़ी वह हँसी, जिसका उसे पता ही नहीं था।

अगले दिन अँधेरी बंद कोठरी में घुसने के बाद कुछ देर तो शंकर चुप बैठा रहा, जिसके बाद अचानक पिछले दिन के पिकनिक का चित्र उसके सामने घूम गया : जंगल में उसका ज़ोर-शोर से अपनी कविता की उस पंक्ति का गाना ...पेड़ पर तेज़ी से बन्दर की तरह चढ़ जाना और फिर एकाएक रूपचन्द के सामने धम से कूदकर आ खड़ा होना...जंगल से बाहर आने पर नदी के नज़दीक पहुँचते-पहुँचते उसका बढ़ता हुआ शोर...फिर उसकी उछलती-कूदती गरजती धारा...जगह-जगह ऊपर उठी चट्टानों या शिलाखण्डों से टकराकर उछलती-गिरती और फेन उगलती जल-राशि...नदी के दोनों किनारों पर बड़े-बड़े और छोटे-छोटे शिला खण्ड..

उन सभी ने नदी में देर तक स्नान किया था—उसकी पथरीली धारा में कुछ दूर तक अन्दर घुसकर, जब कि उन शिलाओं के कारण क़दम-क़दम पर पानी की गहराई बढ़ती-घटती रही थी, फिर कुछ देर पानी से बाहर की साफ़ चट्टानों पर बैठकर अपने गीले बदन सुखाये थे, और फिर—जब बदन में हलकी-हलकी गरमी आ चली थी और पेट में भूख की ज्वाला प्रचण्ड पड़ चली थी, निकट के एक घने शाल वृक्ष की छाया में एक साफ़ और सपाट चट्टान पर बैठकर साथ लाया हुआ खाना खाया था।

...यह सभी कुछ सिलसिलेवार सुनाता चला गया वह स्वामीजी को, जिसके बाद, प्रसंग पूरा हो चुकने पर, कुछ देर के लिए उसका चित्त-पट शून्य-सा पड़ा रहा—कोई भी दूसरा चित्र वहाँ उभरता नहीं दिखाई दिया, न हाल का ही, न बचपन का ही···

स्वामीजी ने भी अपना मौन भंग नहीं किया।

अचानक ही फिर, किसी वक़्त, शंकर के दोनों हाथ उसके कानों पर जा पहुँचे, और वह चीख उठा : "पत्थर...कंकड़-पत्थर की बौछार—"

"पत्थर...कंकड़ पत्थर की बौछार—" स्वामी जी ने भी उसके पीछे-पीछे दोहराया, और उसके ऊपर थोड़ा झुकते हुए पूछा, "कैसे पत्थर ?"

"...कानों में—" कहते-कहते शंकर सिहर उठा।

"हाँ—हाँ...कानों में...तुम्हारे कानों में..." स्वामीजी ने फिर दोहराया।

"...कानों पर पड़ रहे हैं...कंकड़-पत्थर...बौछार हो रही है—" वह अब

भी अपने दोनों हाथों से दोनों कानों को कसकर दवाये हुए था—मानो पत्थरों की किसी बौछार से उन्हें बचा रहा हो...

"देखो...देखो—" स्वामीजी उसे बढ़ावा दिये जा रहे थे।

शंकर कुछ देर के लिए बिलकुल चुप हो गया; धीरे-धीरे अपने कानों पर उसके हाथों का दबाव भी ढीला पड़ चला...

"देखो...देखो—" किसी वक्त फिर उसे स्वामीजी की आवाज़ सुनाई दी, और उसी दम उसकी बन्द आँखों के सामने एक चेहरा उतर आया: उसके नानाजी का चेहरा, जिसके बीचोंबीच—उनकी काली-स्याह दाढ़ी-मूँछ के बीच —उनके हिलते हुए होंठ...

होंठ हिल रहे थे, और शंकर के कानों की ओर पत्थरों की जो बौछार चली आ रही थी कुछ देर पहले, वे उन हिलते होंठों के बीच से निकलते शब्द थे—बेहद कर्कश, कठोर और कड़कड़ाती आवाज़ में कहे जाते शब्द...

फिर, धीरे-धीरे, सारी तस्वीर साफ़ हुई। कमरे के दरवाज़े के अन्दर खड़े थे उसके नानाजी; उससे बाहर, देहली के उस ओर खड़े थे उसके बड़े मामा; और दरवाजे की चौखट से लगी, बाहर की दीवाल से चिपटी, खड़ी थीं उसकी माँ जिनके गोद में वह था—कोई छः-सात महीने का।

नन्हे-से शंकर की आँखें फटी की फटी रह गयी थीं—न जाने कितनी देर तक। उसके बड़े मामा चुपचाप, सिर नीचा किये, अपने उग्र पिता के उन शब्द-बाणों को सहते चले गये थे, बिना एक भी शब्द मुँह से निकाले। और कुछ देर बाद जब शंकर ने अपनी माँ की ओर सिर फेरकर ताका था तो उन्हें बुरी तरह सहमा पाया था...

बारह

Twinkle twinkle little star
How I wonder what you are
up above the world so high
like a diamond in the sky...

लड़कपन में पढ़ी एक अंग्रेज़ी कविता थी, जो अनायास शंकर की जबान पर आ गयी थी—सूरज डूब जाने के बाद आकाश में एक तारे के अचानक दिखाई दे जाने पर :

जगमग : जगमग झिलमिलाते,
ऐ सितारे !
क्या पता तुम हो क्या ?
इतनी ऊँचाई पर इस दुनिया से, आसमान में
किसी हीरे की नाईं...

शंकर एकटक उसकी ओर निहारता रहा, और धीरे धीरे उस तारे की चमक बढ़ती गयी...

अचानक ही उसके दिल में कहीं दूर से एक उदासी उतर आयी।

एक चेहरा उसकी आँखों से बहुत दूर एक पल के लिए झलक कर गायब हो गया।

अजनी का चेहरा, उसके प्यारे और गहरे दोस्त अंजनीकुमार का चेहरा, जो आज न जाने कहाँ की जेल में बन्द था—आज भी, जबकि दूसरा महायुद्ध ख़त्म हो चुका है और 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के सिलसिले में गिरफ़्तार उसके और सभी साथी छूट चुके हैं...

धीरे-धीरे, आसमान के जगमग-जगमग झिलमिलाते उस तारे के साथ जैसे अजनी घुलमिल गया, और एक गहरी टीस के साथ शंकर गुनगुना उठा :

Twinkle twinkle little star
How I wonder where you are
How you are...

जगमग जगमग झिलमिलाते
ऐ सितारे
क्या पता तुम हो कहाँ ?
तुम हो कैसे ?

उसका दिल बहुत ही भारी हो गया।

धीरे-धीरे न जाने कब वह तारा उसकी अन्दर की आँखों के आगे से गायब हो गया, और उसकी जगह रह गयी सिर्फ़ एक हलकी-सी टीस—

और, उस अंग्रेज़ी कविता की सिर्फ़ दूसरी पंक्ति को ही बदल-बदलकर एक दर्द के साथ उसी की आवृत्ति करता चला गया वह कुछ देर तक :

How I wonder where you are
How you are—

Where you are ?...
How you are ?...

क्या पता तुम हो कहाँ—
तुम हो कैसे—
तुम हो कहाँ ?
तुम हो कैसे ?

...1942 का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन गांधीजी के नेतृत्व में चलाई जाने वाली आज़ादी की लड़ाइयों में आख़िरी थी और शंकर की ज़िन्दगी में इस तरह की पहली लड़ाई जिसमें उसने हिस्सा नहीं लिया। वह कलकत्ते में था जिस दिन उस लड़ाई का ऐलान हुआ था, और अगले दिन, 9 अगस्त को, सारे हिन्दुस्तान में कांग्रेस के सभी नेता-कार्यकर्ता जेलों में बन्द कर दिये गये थे—सिवा उन थोड़े से लोगों के, जो 'अंडर-ग्राउंड' रहकर यानी छिपे-छिपे, आन्दोलन का संचालन करने का फ़ैसला कर चुके थे।

स्वामीजी के सम्पर्क में आने के बाद से न केवल गांधीजी के नेतृत्व में शंकर की आस्था जाती रही थी, बल्कि धीरे-धीरे कब वह रूसी क्रान्ति और सोवियत कम्युनिस्ट व्यवस्था का समर्थक बन गया था, वह ठीक-ठीक जान ही नहीं पाया था। खुद उसको इसका पूरा पता तो तब जाकर लगा था जब दूसरे महायुद्ध में जर्मनी द्वारा रूस पर हमला कर दिये जाने पर उसने अपनी सारी सहानुभूति रूस के साथ पायी थी, जहाँ कि पहले—जब तक महायुद्ध अंग्रेज़ों और जर्मनों के बीच था—उसकी सारी सहानुभूति अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ और जर्मनी के पक्ष में थी...

शंकर उन दिनों पटने की 'जागृति' में ही था, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी दिलचस्पी बेहद बढ़ चुकी थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अपने व्यापक अध्ययन के आधार पर भी उसकी यह राय पक्की होती गयी थी कि सोवियत रूस को पूंजीवादी-साम्राज्यवादी ताक़तों ने जितना कमज़ोर मान रखा था उतना कमजोर वह नहीं था; हिन्दुस्तान के भी राजनीतिक क्षेत्रों में जब रूस की पराजय को निश्चित-सा मान लिया गया था उस समय भी शंकर का दृढ़ विश्वास था कि दूर तक पीछे हटते जाकर भी रूसी सेनाएँ आख़ीर में लेनिनग्राद, मास्को और स्तालिनग्राद को जोड़ने वाली आख़िरी पंक्ति पर डटी रहेंगी और जर्मन फ़ौजों को ज़बर्दस्त शिकस्त देंगी। और इस तरह की भविष्यवाणियाँ वह अपने अग्रलेखों में 1941 के अन्त तक करता चला गया था जबकि उसने 'जागृति' छोड़ी...

अगस्त 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के पहले, जुलाई में ही, अंजनी के साथ शंकर की बनारस में इस मामले में खुलकर और विस्तार से बात हुई

दी।...जापानी फौजें तब तक दक्षिण-पूर्व एशिया से ब्रिटिश और फ्रांसीसी सत्ता को निर्मूल कर बर्मा पर अधिकार कर चुकी थीं और भारत की पूर्वोत्तरीय सीमा पर उनके हमले का खतरा बढ़ता जा रहा था। महायुद्ध छिड़ने पर जो सुभाष बोस छिपकर जर्मनी जा पहुँचे थे वह अब जापान से हाथ मिला एक आज़ाद हिन्द सरकार की स्थापना कर चुके थे और जापान द्वारा क़ैद किये गये भारतीय सैनिकों को ले उन्होंने अपने नेतृत्व में एक आज़ाद हिन्द फ़ौज तैयार कर डाली थी।...वर्धा में तभी-तब कांग्रेस कार्यसमिति की जो बैठक हुई थी उसकी भीतरी ख़बरें काशी विद्यापीठ के जानकार उच्चस्तरीय सूत्रों द्वारा शंकर को तभी-तब बनारस आने पर मिली थीं। उनके अनुसार, गांधीजी, सरदार वल्लभभाई, राजेन्द्र बाबू, राजगोपालाचारी जैसे प्रमुख नेताओं का पूरा विश्वास था कि स्तालिनग्राद का पतन होते ही—जिसकी असम्भावना के बारे में उन्हें रत्तीभर भी संदेह नहीं था—जापानी सेनाएँ भारत पर हमला बोल देंगी, और ब्रिटिश-अमरीकी फ़ौजें उनका मुकाबला करने की जगह हिन्दुस्तान को छोड़ उल्टे दम भाग खड़ी होंगी, क्योंकि ऐसा न करने पर ईरान की राह जर्मन फ़ौजें भी पीछे से भारत की ओर बढ़ उन्हें दबोच लेंगी और उनके भाग निकलने का रास्ता ही बन्द कर देंगी...

यों स्तालिनग्राद की लड़ाई तब भी ज़ोरों पर थी, और अजनी भी शंकर के साथ इस बात पर बहुत-कुछ सहमत था कि यूरोप में अन्त में जर्मनी की ही हार होने जा रही है। किन्तु सुभाष बोस की बहादुरी और गहरी देशभक्ति के प्रति उसका प्रबल आकर्षण था और शंकर की इस बात से वह किसी प्रकार भी सहमत नहीं हो पाता कि सुभाष बोस की आज़ाद हिन्द फ़ौज को सामने रखकर भारत पर हमला करने वाली जापानी फौजें सिर्फ़ अपने मतलब के लिए ही उन्हें इस्तेमाल करेंगी और काम निकल जाने पर दूध की मक्खी की तरह उन्हें निकाल फेंकेंगी।

"इतने बेवकूफ़ तो नहीं हैं सुभाष बोस—" उसी दम अजनी ने प्रतिवाद किया था और कांग्रेसी नेताओं के स्वर में स्वर मिलाकर उन्हीं की दी हुई दलील दोहरा दी थी, कि अंग्रेज़ी शासन के खिलाफ़ जिस तरह अब तक हम लड़ते आ रहे हैं उससे ज़्यादा ही ज़ोरदार ढंग से तब जापानी आधिपत्य के खिलाफ़ लड़ सकेंगे...

यह बात जुलाई महीने की है, और अगस्त में छिड़ने वाले कांग्रेस के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की न कोई स्पष्ट और मूर्त रूपरेखा तब उन लोगों के सामने थी, और न यही ठीक था कि वह कब छिड़ेगा, और इसलिए यह प्रसंग उन दोनों के बीच उठा तक नहीं था कि इस बार आन्दोलन छिड़ने पर उनका अपना रुख़ क्या होगा—हालांकि शंकर के मन में यह बात शुरू से ही साफ़ थी कि इस बार

के किसी ऐसे आन्दोलन में वह हिस्सा नहीं लेगा; सिर्फ इसीलिए नहीं कि देश की आज़ादी की लड़ाई के लिए व्यक्तिगत रूप से अब उसका पहला-जैसा आग्रह नहीं रह गया था, बल्कि इसलिए भी कि काफ़ी बड़ी उम्र में विवाह करके अपनी पत्नी और बच्चे की ज़िम्मेदारी ले चुकने के बाद वह उन्हें मंझधार में नहीं छोड़ दे सकता था...

फिर भी जब उसने 9 अगस्त, 1942 को ही आन्दोलन के अचानक छिड़ जाने से देशव्यापी गिरफ़्तारियों और प्रचण्ड दमनचक्र के चल निकलने की ख़बर अख़बारों में पढ़ी, उसका दिल अपने उन दोस्तों की ओर तेज़ी से खिंच गया जो 1930 और 1932 के आन्दोलनों में उसके साथ थे।

तीन-चार दिन के अन्दर ही कलकत्ते का अपना सारा काम किसी तरह जल्दी-जल्दी पूरा कर वह बनारस के लिए रवाना हो जाने को था, लेकिन उन 'तीन-चार दिनों' के बीच तो सारे देश पर से एक तूफ़ान ही गुज़र चुका था। कांग्रेस के बड़े-छोटे नेता ही नहीं, अदना से अदना कार्यकर्त्ता तक 9 अगस्त को ही, या उसके बाद वाले दो दिनों के अन्दर, गिरफ़्तार कर लिए गये थे, लेकिन 'अण्डरग्राउंड' रहकर छिपे छिपे बग़ावत फैलाने वालों के कारनामे गजब ढा रहे थे। अख़बारों पर ज़रूर ज़बर्दस्त 'सेंसर' (रोकथाम) बिठा दिया गया था, लेकिन अफ़वाहों का बाज़ार गरम था, जिनके बल पर बहुतों को यक़ीन हो गया था कि कम से कम उत्तर भारत में अंग्रेज़ी सरकार क़रीब-क़रीब ठप पड़ चुकी है और सिर्फ़ फ़ौज के बल वह मुल्क पर कब्ज़ा किये हुए है। स्टेशन जाकर दर्याफ़्त करने पर जब पता चला कि कलकत्ते से पश्चिम के लिए कोई भी गाड़ी नहीं छूट रही है तब तो उन अफ़वाहों पर यकीन न करने की और भी कोई वजह नहीं रह गयी।

काफ़ी दिन शंकर को रुके रहना पड़ गया था कलकत्ते में, और ज्यों ही पता चला कि चौबीस घंटों में सिर्फ़ एक गाड़ी मुग़लसराय तक जायेगी तो वह उसी से चल देने के लिए स्टेशन जा पहुँचा। उस दिन तो वह उस गाड़ी में किसी तरह भी जगह नहीं पा सका लेकिन दूसरे दिन की गाड़ी भी कहीं उसी तरह बिना उसे लिये न चली जाय, इस ख़याल से उसने वह रात और अगला दिन सैंकड़ों मुसाफ़िरों की भीड़ में मुसाफ़िरखाने में ही बिताया। भारत के उत्तर-पूरबी सीमान्त पर जापानी हमले के ख़तरे की वजह से वैसे भी एक लम्बे अरसे से कलकत्ते से ज़बर्दस्त भगदड़ जारी थी।...और अगले दिन की गाड़ी में किसी तरह सवार हो, बारह-तेरह घंटे का सफ़र पच्चीस-छब्बीस घंटे में पूरा कर, बिना कुछ खाये-पिये, अगस्त की सख़्त उमस वाली गरमी में दिन रात पसीने बहाता, अपने ट्रंक पर बिस्तर रख उसी के ऊपर बैठा-बैठा, जब आख़िर वह मुग़लसराय जा ही पहुँचा था तो उसकी जान में जान आयी थी। मुग़लसराय

से सौभाग्य से उसी वक्त उसे बनारस वाली गाड़ी मिल गयी, और बनारस स्टेशन से इक्के पर सवार हो जब विद्यापीठ तक पहुँचा तो वहाँ पुलिस का पहरा देख पहले तो बिलकुल ही हताश हो गया। मगर बाद को, जगह-जगह भटकने-भटकाने उसे जब इस बात का सुराग मिला कि सभी परिचितों में एकमात्र अजनी ही बचा हुआ है, जो 'अण्डरग्राउण्ड' है और छिपे-छिपे वहाँ के आन्दोलन का सूत्र-संचालन कर रहा है, तब उस यात्रा की उसकी यह पूरी तपस्या ही जैसे पल-भर में सार्थक हो उठी...

अजनी भी उसे देखते ही पुलक खिल उठा था, और इस तरह उसे अपनी सारी योजनाएँ विस्तार से बताने लगा था जैसे शंकर के उनमें शामिल होने के बारे में उसे कोई शक ही न हो। और शंकर की उसी दम हिम्मत नहीं हुई थी उसका दिल तोड़ देने की।

मगर एक रात जब फुरसत से उन दोनों के बीच बात होने का मौका आ गया था—कई दिनों तक उसकी सारी गुप्त कार्रवाइयों से परिचित होते रहने के बाद—तब अजनी कुछ देर के लिए तो बुरी तरह खिसिया गया कि उसने अपने सारे रहस्य उसे बता डाले, बिना पहले से यह इतमीनान किये कि वह उसके साथ आन्दोलन में है या नहीं।

लेकिन कुछ देर में ही वह आश्वस्त हो गया था। शंकर में उसकी गहरी आस्था थी, और वह अच्छी तरह जानता था कि आन्दोलन की सफलता में उसके शंकर भैया का विश्वास हो या न हो, वह स्वयं उसकी विफलता के कारण नहीं बन सकते और—उससे भी बड़ा भरोसा यह कि अपनी वजह से वह कम-से-कम अजनी का तो बाल तक बाँका नहीं होने दे सकते, चाहे इसके लिए उन्हें अपने प्राणों की भी बाजी लगानी पड़ जाय...

बड़ी रात तक उस रोज गहराई के साथ बातें हुई थी उन दोनों के बीच—अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के बारे में। शंकर के थोड़े-से ही तर्कों से वह इस बात पर अब उससे सहमत हो गया था कि स्तालिनग्राद के मोरचे पर जर्मनी को रूस का जो सख्त मुकाबला करना पड़ रहा था, और बाकी मोरचों पर भी जर्मन फौजों की नाजुक हालत को देखते, इसमें अब शक की गुंजाइश नहीं थी कि आखिर में हार जर्मनी की ही होगी—खास तौर से जब कि कड़े से कड़े हवाई हमलों के बावजूद वह ब्रिटेन को भी नहीं झुका पाया था और न उस पर सीधी चढ़ाई करने की ही हिम्मत कर सका था...

"तब 'भारत छोड़ो' का गांधीजी का यह आन्दोलन भी क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का गलत अन्दाज करके नहीं छेड़ा गया है?" शंकर ने फिर उससे सीधा सवाल किया था। "क्या इस आन्दोलन के पीछे यही मान्यता नहीं छिपी

है कि यूरोप में रूस की हार और जर्मनी की जीत होने जा रही है ?"

"मगर भैया—अंजनी ने किसी हद तक झुंझलाते हुए जवाब दिया, "यूरोप की लड़ाई के साथ तो हमारा कोई सीधा वास्ता है नहीं !...अगर वहाँ जर्मनी की हार हुई भी, तो अभी इसमें काफ़ी वक्त लगेगा; तब तक जापान इधर के मोरचे पर भला क्यों रुका रहेगा ?...हमें तो अपने क़दम दक्षिण-पूर्व एशिया की लड़ाई को सामने रखकर ही ठीक करने हैं...और इधर भी क्या आपको अब इसमें कोई शक़ है, कि जापान जल्द ही बर्मा से आगे बढ़कर आसाम के रास्ते इधर टूट पड़ेगा ?"

"और तब—यहाँ जमी ब्रिटिश-अमरीकी फौजें आप-से-आप मैदान छोड़ भाग खड़ी होंगी," शंकर ने कटाक्षपूर्ण स्वर में पलटकर कहा, "और जापानियों की छत्रछाया में एक बार फिर से कांग्रेस में गांधी-सुभाष बोस मिलन होगा—नयी रामायण का भरत-मिलाप—और फिर वे दोनों भारतीय नेता एक संयुक्त अपील करेंगे कि 'जापानियो, भारत छोड़ो—' और भोले-भाले जापानी हमारा देश हमीं को सौंप वापस लौट जायेंगे !...क्यों ? यही है न तुम लोगों का स्वप्न ?"

"नहीं—ठीक, इसी तरह सब-कुछ जरूर नहीं होगा," अंजनी ने ठिठकते स्वर से सफ़ाई देनी शुरू की, लेकिन तब शंकर ने ही उसे रोक दिया : "यह सब तो मैंने मजाक में कहा अंजनी, और इसका मतलब यह नहीं है कि इस तरह का स्वप्न देखने और उसी के बल क़दम उठाने के मैं खुद ख़िलाफ़ हूँ।...एक दुश्मन को अगर दूसरे दुश्मन की मदद से भी खदेड़ दिया जा सकता हो तो यह भी एक क़दम आगे ही बढ़ना होगा ।...मगर सवाल तो तब का है जब जापानी फौजें हमारी मदद के लिए और अंग्रेज़ों को यहाँ से खदेड़ देने के लिए इधर हमला ही न करें...और तब तक रुकी रहें जब तक स्तालिनग्राद की लड़ाई का इधर या उधर निपटारा न हो जाय।"

"क्यों ?...जापानी फ़ौजें इतनी बड़ी बेवकूफ़ी क्यों करेंगी ?" अंजनी ने शंकर को अधीरतापूर्वक टोका। "क्या वे उस वक्त का इन्तजार करेंगी जब कि हिन्दुस्तान में हिस्सा बँटाने के लिए जर्मन फौजें, स्तालिनग्राद की नाकाबन्दी अगर उन्होंने तोड़ दी, ईरान के रास्ते हमारे पश्चिमी सीमान्त पर आ धमकें ? ...या—अगर जर्मन फ़ौजों को ही स्तालिनग्राद से हटना पड़ा—तब भी तो जापानियों का फ़ायदा इसी में है न, कि स्तालिनग्राद की जिच से फ़ायदा उठा वे ब्रिटिश-अमरीकी फ़ौजों को खदेड़ हिन्दुस्तान पर कब्जा करने की कोशिश करें !... स्तालिनग्राद में रूस की जीत हो, या जर्मनी की—जापान को तो दोनों ही सूरतों में फ़ायदा रहेगा !...इसके अलावा, इस नाज़ुक घड़ी में जर्मनी भी तो जापान को, पीछे से, अपनी ही मदद करते और अपने असल दुश्मन अंग्रेजों को

कमज़ोर करते देख, उनका गुडगुडार ही होगा..."

"लेकिन अगर अंग्रेज़ और अमरीकी फ़ौजों से लड़े बिना ही हिन्दुस्तान पर कब्ज़ा कर लेने का मौक़ा जापान को मिल जाए—?" शंकर ने पूरे ध्यान से अजनी की दलील सुनने के बाद अपना यह जवाबी काट उसके सामने रखा जो पिछले कई दिनों के सोच-विचार के बाद उसके दिल में जमकर बैठ चुका था, और विस्तार से उसे यह समझाने की कोशिश की कि भारत के पूर्वी सीमान्त से मलाया बर्मा तक के दक्षिण-पूर्वी एशिया के विशाल भू भाग पर कब्ज़ा कर लेने में जापान अपेक्षाकृत जितनी आसानी से सफल हो सका है उसके मुकाबले हिन्दुस्तान का मोरचा उसके लिए रणनीति की दृष्टि से बहुत ज्यादा महंगा पड़ेगा—अगर ब्रिटिश-अमरीकी फ़ौजों का उसे कस कर मुकाबला करना पड़ा। इस मोरचे पर ब्रिटिश-अमरीकी तैयारी कहीं ज्यादा ज़बर्दस्त है, और चीन पर जब तक जापानी कब्ज़ा पूरा नहीं हो जाता—जिसके तब तक कोई लक्षण नहीं थे—तब तक हिन्दुस्तान के मोरचे पर अपनी फ़ौजों और युद्ध-सामग्री को खपाना उसके लिए न सिर्फ़ बहुत ही मँहगा बल्कि गैरज़रूरी सौदा साबित होगा।... अगर आख़िरकार स्तालिनग्राद के मोरचे पर जर्मन फ़ौजों को लेने के देने ही पड़ गये, और रूस को वहाँ शिकस्त देकर ईरान की ओर बढ़ने के उनके हौसले पस्त हो गए तो—शंकर ने दलील दी—कोई वजह नहीं, कि अंग्रेज़ी-अमरीकी ताकत घटने के बजाय हिन्दुस्तान में और भी ज्यादा न बढ़ती जाय, और चीन के बाद भारत में एक और भी बड़ा यह दूसरा मोरचा खोलना जापान के लिए तब तो किसी तरह भी फायदेमन्द नहीं होगा। बल्कि उसकी बुद्धिमानी तो इसी में है कि वह सीमान्त पर डटा सिर्फ़ पैंतरेबाज़ी करता रहे, और तब तक हिन्दुस्तान पर हमला करने की न सोचे जब तक कि जर्मन फ़ौजें स्तालिनग्राद में रूस को शिकस्त दे—जिसके आसार दिन पर दिन दूर होते जा रहे थे—ईरान की राह ख़ुद ही हिन्दुस्तान की ओर बढ़ने की न सोचने लगें। अगर जर्मनी रूस को हराकर ईरान की राह हिन्दुस्तान की ओर बढ़ता है तो ब्रिटिश-अमरीकी फ़ौजों को ताबड़तोड़ सारा हिन्दुस्तान ख़ाली कर देने के लिए मजबूर हो जाना पड़ेगा, क्योंकि उस हालत में वे जर्मन और जापानी फ़ौजों द्वारा पश्चिम और पूरब से घेरे जाने की जगह इस चूहेदानी में फँसने से पहले ही निकल भागने में अपनी ख़ैरियत देखेंगी। जापान तब तेज़ी के साथ इस रिक्त स्थान में, बिना किसी प्रतिरोध के घुस जा सकता है, और जर्मन फ़ौजों के ईरान पार करने से पहले ही सारा हिन्दुस्तान उसके हाथ आ जा सकता है। इस रणनीति का दूसरा फ़ायदा यह है—शंकर ने दिखाया—कि अगर रूस में जर्मनी की दाल नहीं गली, तो हिन्दुस्तान में एक नया और बेहद ख़तरनाक दाँव खेलने से वह बेदाग़ बच जा सकता है...

कुछ देर के लिए तो एक सकते-से में आ गया था अंजनी, जबकि इन सारी दलीलों में से छन-छनाकर उसका यह पहलू उसे नजर आया—कि जब तक स्तालिनग्राद के मोरचे का फैसला नहीं होता, तब तक जापानी फौजें भारत की पूर्वोत्तरीय सीमा पर कोरी पैंतरेबाजी ही करती रह जा सकती हैं, और गांधी-जी द्वारा छेड़े गये उस 'भारत छोड़ो' आन्दोलन को ऐन वक्त पर जापान की तरफ़ से कोई मदद मिल ही नहीं पायेगी—जिसकी आशा वे लोग कब से किये हुए थे, और जिस ओर वह शंकर के साथ होने वाली उस बातचीत में शुरू से ही इशारा करता आ रहा था।

फिर, काफ़ी देर की चुप्पी को जब अंजनी ने ही तोड़ा था, तो सिर्फ़ यह कहते हुए—कि रात बहुत हो गयी है, अब सोया जाय।...और अंजनी पर उसकी उस आख़िरी बात का ठीक क्या असर पड़ा, यह खुद उसके मुंह से सुनने का मौक़ा पाये बिना ही शंकर को भी अपने बिछौने पर जाने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा था, और नींद आने के पहले देर तक वह उमस वाली उस तेज़ गरमी से भी ज्यादा अपनी उस लाचारी में छटपटाता रहा था...

अगले दिन जब शंकर उठा तब तक अंजनी कहीं बाहर निकल जा चुका था; उसकी पत्नी माला से जब उसने जानना चाहा था कि क्या वह आज भी इतनी जल्द अपने 'उसी काम' पर निकल गया, तो सिर्फ एक फीकी खिसियायी सी हँसी अपने चेहरे पर लाकर वह इतना ही बोली : "और क्या किसी काम में अब मन लग पायेगा उनका भैयाजी ?"

...बनारस की औरंगाबाद कहलाने वाली एक घनी बस्ती के अन्दर कितने ही टेढ़े-मेढ़े रास्तों में होकर एक 'अण्डरग्राउण्ड वर्कर' (गुप्त कार्यकर्त्ता) शंकर को उस दुमंजिला मकान में ले गया था जहाँ विद्यापीठ का अपना क्वार्टर छोड़ अंजनी सपरिवार आकर रहने लगा था 'अण्डरग्राउण्ड' हो जाने के बाद; वह कार्यकर्त्ता उस मकान के ही इर्दगिर्द किसी काम से घूम रहा था कि उसने शंकर को पड़ोस के घर के मालिक से अंजनी के बारे में दर्याफ़्त करते सुना। निराश हो शंकर अपना इक्का वापस घुमाने को ही था कि वह कार्यकर्त्ता उसकी ओर बढ़ आया था, और न जाने किस जादू के बल भांप गया था कि वह शत्रु-शिविर का खुफ़िया नहीं, मित्र है।

रात का अँधेरा हो चला था जब शंकर उस मकान में दाख़िल हुआ था, और अंजनी की पत्नी माला और उनकी बेटी नन्दिनी को वहाँ देख उसे वैसा ही लगा था जैसे रेगिस्तान में कब से भटके को पानी का चश्मा दिखाई दे गया हो।

माला और नन्दिनी के चेहरे भी उसे देख खिल उठे थे। लेकिन कुछ देर बाद जब शंकर ने जानना चाहा था कि अंजनी कहाँ है, माला का चेहरा पल भर में ही बुझ गया था...

उस रात तो अंजनी सारी रात ही कहीं बाहर बिताने के बाद सुबह की रोशनी होने से थोड़ा ही पहले घर पहुँचा था; और आधी रात तक उसका इन्तजार करने के बाद आखिर शंकर को सो ही जाना पड़ा था। ग्यारह-बारह साल की हो चुकी नन्दिनी पहले ही सो गयी थी, पर माना शंकर को उस बीच की सारी बातें बताती रही थी, जितनी कि वह समझ पाती थी। "पढ़ी-लिखी तो हूँ नहीं भैयाजी...कितने लोग चुपके-चुपके आते हैं और देर तक न जाने क्या-क्या फुसफुस करते रहते हैं इनके साथ...ज्यादा बात तो अंग्रेजी में ही होती है और मेरे पल्ले पड़ती भी नहीं।...,इतना जानती हूँ कि मुग़लसराय के रेल कारख़ाने में काफ़ी नुकसान कराया है इन लोगों ने मिलकर, और अभी भी न जाने वहाँ और क्या क्या बिगाड़ करने की सलाह कर रहे हैं। कब से पूरब की गाड़ियाँ बिलकुल बन्द थीं ...शायद कल से ही तो एक-दो गाड़ी आने-जाने लगी है..."

और तब जैसे अचानक ही उसे ख़याल आया हो—कुछ ताज्जुब के ही साथ पूछ उठी : "आप तो कलकत्ते से आ रहे हैं न, भैयाजी ?...रेल चल रही है?"

तब शंकर ने थोड़े में उसे अपना क़िस्सा बताया था, जिसे बाद को, अंजनी से मुलाक़ात हो जाने पर, विस्तार के साथ उसे भी सुनाया . किस तरह कई दिनों तक उसे कलकत्ते में ही लटके रहना पड़ा था जब हावड़ा से पच्छिम की एक भी गाड़ी नहीं रह गयी थी, और किस तरह उसका दिल बराबर इधर ही लगा रहा था और हर रोज ख़बर लेने के लिए स्टेशन जाकर उसे निराश हो लौट जाना पड़ता था।

फिर उसने हावड़ा स्टेशन से मुग़लसराय तक, रास्ते में जो कुछ देखा था, उन्हें बताया था :

दोपहर से पहले ही उनकी गाड़ी हावड़ा स्टेशन से रवाना हुई थी, पर कुछ दूर जाकर ही रुक गयी। बिहार और पूर्वी यू. पी. में रेल की पटरियों और टेलिग्राफ के तारों के व्यापक रूप से उखाड़े और काटे जाने की अफ़वाहें तो अगस्त से ही गरम होनी शुरू हो गयी थीं कलकत्ते में, और पग-पग पर अब उनकी सचाई का प्रमाण मिलता चल रहा था।—पता चला कि एक 'पाइलट' इंजिन, जिसमें मशीनगनों से लैस गोरे सैनिक मौजूद थे, उनकी गाड़ी के आगे आगे चल रहा था, और जिन स्टेशनों के बीच तार सम्पर्क नहीं रह गया था उन तक का रास्ता साफ़ है या नहीं इसकी तसल्ली कर आने के बाद ही वह लौट कर गाड़ी को अपने पीछे-पीछे आने की इजाज़त देता था...

बीच-बीच में घण्टे घण्टे दो दो घण्टे तक रुकती गाड़ी बंगाल वाले हिस्से में भी इतने धीरे-धीरे चली थी कि विध्वस्त इलाके तक पहुँचने से पहले ही रात हो गई। फिर जिस स्टेशन पर गाड़ी के घन्टों तक खड़े रहने के बाद आख़िर सुबह की धुँधली रोशनी दिखाई दी थी, वहाँ का आसपास का दृश्य कुछ देर

है एक आन्तरिक विवशता, अथवा एक अज्ञात बंधन, जो अचेतन में दबी पड़ी किसी प्रचण्ड शक्ति की प्रेरणा से, बड़ी-बड़ी बातों के नाम पर, दरअसल अपने को ही दण्ड देना चाहती है, नष्ट कर डालना..."

Twinkle twinkle little star
जगमग जगमग झिलमिलाते
ऐ सितारे...

शंकर गुनगुना रहा था, और अंजनी का चेहरा, जो उसकी आँखों से बहुत दूर कहीं एक पल के लिए कौंधकर ग़ायब हो गया था, एक गहरी उदासी उसके अन्दर छोड़ गया था।

How I wonder where you are?
How you are?—

क्या पता तुम क्या हो?—
तुम हो कहाँ, तुम हो कैसे?

दुर्गा-पूजा की छुट्टियों के बाद आनन्द कुटी की भीड़ छँट चुकी थी, और स्वामीजी और सुव्रता-दि को छोड़ सिर्फ़ सुशीला, शंकर और रूपचन्द ही रह गये थे वहाँ। नवम्बर का महीना था और शरद ऋतु का बिना चाँद वाला आकाश धीरे-धीरे तारों ही तारों से भर गया था...

धीरे-धीरे वह पहला तारा उन सबकी भीड़ में खो गया।

और शंकर भी खो गया धीरे धीरे उमड़ उठी स्मृतियों की भीड़ में—अपनी कोठरी से बाहर एक कुरसी पर पीठ टेके बैठा-बैठा...

साल-भर से ऊपर हो रहा था उसे अपने मित्रों तथा अन्य प्रियजनों की दुनिया को भूल अपने अन्दर की एक नयी ही दुनिया में भटकते और ठोकरें खाते—कि शोभाराम ने ठीक ऐसे वक्त वहाँ पहुँचकर, जब कि शंकर खुद भी किसी तरह एक राह पर आकर लग पाया था, उस पिछली दुनिया की याद फिर एक बार ताज़ा कर दी।

...उसके मित्रों में से अब तक सभी छूट चुके थे : शोभाराम, मनोहरलाल, विद्याभूषण; और हाल ही में, हज़ारीबाग़ जेल से छूटकर डा० उदयप्रताप सिंह भी, पटने जाते हुए, एक रात आनन्द कुटी में ठहरे थे, और उन पुरानी स्मृतियों को एक ठेस पहुँचा गये थे...

लेकिन अंजनी अभी जेल में ही बन्द था।

अंजनी को छोड़ उसके सभी मित्र आन्दोलन शुरू होते ही गिरफ़्तार कर लिये गए थे—बिना कोई ख़तरनाक कार्रवाई किये ही। लेकिन अंजनी छिपे-छिपे

महीनों तक तोड़फोड़ की ही नहीं, और भी कितनी ही ख़तरनाक से ख़तरनाक कार्रवाइयों में लगा रहा था—यह उसे बाद को माला से पता चला था। और जब वह आख़िर पकड़ लिया गया था तब, जैसा कि सुना गया था, उसे तरह-तरह की यातनाएँ दी गयी थीं...

और अब भी—जब कि लड़ाई ख़त्म हो चुकी थी, और 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के सिलसिले में गिरफ़्तार लोगों की तरह एक से आम रिहाई हो गयी थी, अजनी जेल में ही सड़ रहा था, और क़रीब एक साल से तो माला से भी, जो कभी-कभी जेल में उससे मुलाक़ात करने जाती थी, उसका कोई हाल नहीं मालूम हो पाया था। दरअसल शंकर ख़ुद ही, बाक़ी सबों के साथ-साथ उसे भी, इस बीच, भूला रहा था...

एक गहरी टीस उठी उसके दिल में, और टिमटिम टिमटिम करते उस तारे के पीछे अजनी के उस खो गये चेहरे को खोजता वह फिर एक बार अतीत में डूब गया।

...अगस्त 1942 में आन्दोलन शुरू हुआ था, और नवम्बर या दिसम्बर में अजनी दिल्ली में पकड़ा गया था, जब कि शंकर सितम्बर में उससे आख़िरी विदा ले अपनी माँ और बड़े मामा के पास अपने दीवी-कस्बे में रमा और साहित्य-साधना में जुटा हुआ था। माला की चिट्ठी से उसे बहुत ही संक्षिप्त यह सूचना भर मिली थी, जिसे पाने के बाद से शंकर के दिल में कभी भी पूरी शान्ति नहीं रह पायी : अगस्त के अन्त में बनारस में वह अजनी का जो रूप देख आया था, उससे ज़रा भी शक नहीं रह गया था कि अगर वह कभी पकड़ा गया तो फिर उसकी ख़ैर नहीं...

चिट्ठी-पत्री के ज़रिये इस तरह की बात पूछना या लिखना भी उन दिनों कम ख़तरनाक नहीं था। माला जहाँ भी क्यों न हो, उसकी चिट्ठियाँ सेंसर होती ही होंगी। और, उसके बड़े मामा को भी, जो एक देसी रियासत के एक ऊँचे अफ़सर थे, वह किसी ख़तरे में नहीं डालना चाहता था। इस तरह, अजनी की गिरफ़्तारी और उसके बाद की ख़बरें पाने का उसे तब तक कोई मौक़ा नहीं मिल सका जब तक कि सुशीला की पढ़ाई के सिलसिले में वे लोग ख़ुद ही बनारस नहीं आये।

काशी विद्यापीठ के अध्यापकों के परिवारों को तब तक सरकार ने उनके क्वार्टरों में रहने की इजाज़त दे दी थी, और गिरफ़्तार अध्यापकों के परिवारों के भरण-पोषण के लिए विद्यापीठ की ओर से कुछ व्यवस्था भी हो गयी थी : फलस्वरूप, अपनी बेटी नन्दिनी और उससे छोटे दो लड़कों के साथ, जिनमें से सबसे छोटा काफ़ी बीमार था, माला तब वहीं थी।

...अजनी दिल्ली में गिरफ़्तार हुआ था, लेकिन तब बनारस की ही जेल में था। महीने में एक बार माला उससे मुलाक़ात भी करती रही थी; परिवार के

लोगों के अलावा और किसी को मिलने की इजाज़त नहीं थी। लेकिन मुलाक़ात के वक्त क्या अंजनी उसे वता सकता था कि उसके साथ जेल में कैसा सलूक़ हो रहा था :

कितनी ही उड़ती हुई ख़बरें शुरू से ही वनारस आती रही थीं—वनारस जेल में अंजनी का तवादला होने से पहले—कि उसे भी, 'अण्डरग्राउण्ड' काम करते हुए गिरफ्तार होने वाले अन्य लोगों की ही भाँति, पकड़े जाने के वाद हफ़्तों तक तरह तरह की अमानुपिक यातनाएँ दी गयी थीं—उसके संगी-साथियों के नाम-धाम और उनकी कारसाज़ियों का सुराग़ पाने के लिए...

"विलकुल ही वदल गये हैं वह, भैयाजी—" माला ने शंकर को पहले दिन ही रोते-रोते वताया था, तव तक की अपनी मुलाक़ातों का हवाला देते हुए; "न मुझे देखकर एक वार भी मुसकराये...न यही लगा कि मिलकर कुछ खुशी हुई है। न नन्दिनी का हालचाल पूछा, न शोभन और वीमार मुन्ना का ही।...वरावर ही जैसे अपने अन्दर खोये रहते हैं मुलाक़ात के उन दस-पन्द्रह मिनट...और जव वक्त पूरा हो जाता है तो विना कुछ कहे, विना एक वार भी मेरी ओर ताके, झट से उठ कर लौट पड़ते हैं अन्दर की ओर—"

और टप-टप माला की आँखों से वूँदें टपकने लग गयी थीं।

कुछ देर शंकर और सुशीला सन्न-से वैठे रह गये थे।

सात-आठ महीने हो चुके थे तव उसे गिरफ़्तार हुए, लेकिन उसके ख़िलाफ़ शायद कोई ऐसे सवूत सरकार को नहीं मिल पाये थे कि किसी संगीन जुर्म में उसे फँसा सकती और मुक़दमा चला पाती। भारत रक्षा क़ानून के अन्तर्गत ही वह गिरफ़्तार हुआ था, और तव तक भी स्थिति वही थी। वस यही एक भरोसा था—फिर कभी उसे अपने वीच वापस पाने का, फाँसी की सज़ा से उसके वचे रह जाने का...

फिर, दो-तीन महीने वाद ही, सितम्वर 1943 में, एक रोज़ शाम को विद्यापीठ से उसके पास ख़वर आयी थी कि अंजनी को देखना हो तो उसी दम वह वनारस छावनी के स्टेशन पर पहुँच जाये : वनारस जेल से किसी तरह विद्यापीठ में यह वात पहुँचा दी गयी थी कि उसका तवादला किसी दूसरे शहर को हो रहा है और अमुक गाड़ी से उसे ले जाया जा रहा है।

तीसरे पहर से ही घनघोर वर्षा हो रही थी, और शंकर के वीमार वच्चे रंजन की हालत उस दिन ख़ास तौर से एक ख़तरनाक मोड़ लेती जान पड़ रही थी। इच्छा सुशीला की भी वहुत थी, मगर उस हालत में वच्चे को छोड़ माँ-वाप दोनों भला कैसे जा सकते थे।

शंकर उसी वक्त वेतहाशा दौड़ा गया था—छाते के वावजूद पानी में पूरी तरह शरावोर होता; प्लेटफ़ार्म पर काफ़ी देर तक भटकने के वाद आख़िर

'रिफ्रेशमेंट रूम में उसे एक पुलिसमैन की झलक दिखाई दे गयी...और फिर माला की भी। उसी दम वह अन्दर दाखिल हो गया।

बिलकुल पहली नजर में कहाँ ठीक पहचान पाया था वह उस दिन अंजनी को। एक साल से ज्यादा नहीं हुआ था उसी बनारस में उससे विदा लिये, लेकिन जैसे आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई दिया उसे उस दिन के उस अजनी में—जब आखिर उसकी एक झेंपी-सी मुसकराहट के पीछे उसी पुराने अजनी की एक क्षीण झलक पा सी...

एक पुलिस दारोगा और दो-तीन कांस्टेबुल उसके आसपास थे, लेकिन उनका व्यवहार भद्रतापूर्ण था। मानो उन सबकी अन्दरूनी सहानुभूति कुछ ही देर में प्राप्त कर चुका था अजनी। बीवी-बच्चों से मिलने की पूरी आजादी दे रखी थी उन्होंने उसे; कुछ दूर ही दूर रहते हुए सिर्फ इतनी नजर रखे हुए थे मानो, कि वह कहीं भागने न पाये। न हाथों में हथकड़ी थी, न पाँवों में डण्डा-बेड़ी। और, जल्दी-जल्दी में जो कुछ खिलाने के लिए माला लायी थी, उस पर कोई रोकटोक नहीं लगायी थी। रिफ्रेशमेंट रूम के मैनेजर ने भी, जिसके साथ अंजनी का बरसों का परिचय था—विद्यापीठ से बराबर आते-जाते रहने के नाते—उन सबके सामने 'ट्रे' में चाय का सरजाम कर रखा था, और पुलिस दारोगा और कास्टेबुल भी खाने-पीने में अंजनी के साथ हिस्सा बँटा रहे थे ..

फिर, मकर को देख, जब अजनी उस फीकी, खिसियाई-सी मुसकान को लिये उठ खड़ा हुआ था, और सहमता हुआ मकर धीरे-धीरे आगे बढ़ गया था उसकी ओर, तब भी पुलिस वालों ने कोई बाधा नहीं दी थी—जब अजनी ने एक धीमे, कुण्ठित से स्वर में "भैया—" कहकर उसे सम्बोधित कर यह जतला दिया था कि यह उसके परिवार का ही अग है...

बात खास कुछ भी नहीं हो पायी थी। अजनी पर शुरू से लेकर तब तक क्या बीती, यह न पूछा ही जा सकता था, न इसका जवाब ही मिलने को था। लेकिन बिना इशारे वाले इशारों से मकर के लिए यह समझना बाकी नहीं रह गया था कि उसकी बाबत भयकर से भयकर भी जो अफ़वाहें सुनी गयी थीं वे सही थीं...

आखिर उसकी गाड़ी के रवाना हो जाने के बाद माला और बच्चों को विद्यापीठ पहुँचा जब मकर घर लौटा था तो जितना उसका दिल भारी था उतने ही भारी पाँव थे—हालांकि वह अपने बीमार बच्चे को उस दिन काफी संगीन हालत में छोड़कर आया था।...उसे अचरज हुआ था कि उसे वह एक तरह से भूला ही रहा उस बीच।

...सुशीला ने अवश्य नहीं, लेकिन मकर की माँ ने उसे रोकना चाहा था स्टेशन जाने से; घनघोर वृष्टि हो रही थी, और घर पर सख्त बीमार बच्चा। पर शायद इससे भी बड़ा कारण दूसरा था, जिसे मुँह पर लाने का साहस वह

नहीं कर पाई थीं, लेकिन शंकर जानता था।

अंजनी के घर वालों के अलावा किसी भी दूसरे के लिए उससे मुलाक़ात करने के लिए जाना कुछ कम ख़तरनाक नहीं था, ख़ास तौर से शंकर जैसे किसी ऐसे अन्तरंग मित्र के लिए जिसका कुछ वर्ष पहले तक का इतिहास स्वाधीनता-संग्राम के साथ एकान्त रूप से गुँथा हुआ था। यह बात शंकर खुद तो जानता ही था, उसकी माँ भी जानती थीं। लेकिन अपने उस भय को अपने बेटे के सामने खुल्लमखुल्ला रखने का साहस उनमें भी नहीं था।

और, कुछ दिन बाद, जब एक रोज़ सहसा शंकर को सी० आई० डी० (सरकारी गुप्तचर विभाग) के बिना वर्दी वाले दो दीर्घकाय कर्मचारियों ने रास्ते में ही रोक लिया तब उसे भी इसमें सन्देह नहीं रह गया था कि अंजनी से उस दिन हुई उसकी मुलाक़ात ही उसका कारण थी, हालांकि बाद को बात ग़लत निकली...

वैद्यजी की दवा लेकर शंकर गोदौलिया का मोड़ साइकिल पर पार कर रहा था कि उसे लगा, उसके पीछे-पीछे आने वाले दो साइकिल सवार अचानक उसके दायें-बायें आ गये हैं और ज़रा आगे बढ़ जाने के बाद उसकी ओर मुंह मोड़ घूर-घूरकर देख रहे हैं।

पहले तो उसका दिल धड़क उठा, लेकिन फिर वह सँभल गया। उस दिन स्टेशन जाकर जो ख़तरा उसने मोल लिया था उसके प्रतिकूल परिणाम के लिए एक तरह से वह तभी से तैयार था; बल्कि, अंजनी से मिलकर लौटने के बाद अन्दर ही अन्दर जैसे वह किसी हद तक वांछनीय भी हो उठा था।...अपने सभी पुराने साथियों में अकेला वही था जो इस बार के सत्याग्रह संग्राम से अछूता ही रह गया था, और इसकी ग्लानि और लज्जा उस दिन ख़ास तौर से गहरी हो उठी थी—बीमार बच्चे की चिन्ता के बावजूद।

उस दिन भी, उन दोनों आदमियों को अपनी ओर बार-बार घूरते देख, सबसे बड़ा जो डर सामने आया था वह भी यही, कि बच्चे की दवा घर पहुँचाये बिना ही अगर उसे धर पकड़ा गया तो?...अगर घर वालों को ख़बर देने का भी मौक़ा नहीं दिया गया?

उन दोनों में से एक साइकिल सवार ने अपनी गति धीमी करके, आख़िर, अपनी साइकिल उसकी साइकिल के ठीक बग़ल में लाकर, उससे रुकने के लिए कहा। शंकर ने भी अपने चेहरे को अधिक से अधिक सहज-स्वाभाविक रखते हुए, इशारे ही इशारे में उससे जानना चाहा, कि बात क्या है—और साथ ही, सड़क के एक किनारे होकर, साइकिल से उतर पड़ा।

उसी दम वे दोनों भी उसके अग़ल-बग़ल अपनी अपनी साइकिल से उतर आ खड़े हुए।

"अंजनीकुमार को जानते हैं ?"

"ज़रूर !...बहुत अच्छी तरह !...मेरा सबसे गहरा दोस्त है वह !"

दोनों ही अजनबी एक-दूसरे की ओर चुपके-चुपके ताक उठे—किसी हद तक हैरत के साथ। शायद उनका ख़याल था कि यह शख़्स अजनीकुमार के साथ अपने परिचय की बात से साफ़ इनकार कर जायेगा।

"मगर आप लोग ?...आपको इससे मतलब ?" शंकर ने ही अब उलटा प्रश्न किया—यह जानते हुए भी कि वे दरअसल कौन हैं और किस मतलब से उसका रास्ता रोक खड़े हो गये हैं।

उन्होंने भी साफ़ ही साफ़ बताया : वे सी० आई० डी० के कर्मचारी हैं।

फिर शंकर के पूर्व-इतिहास पर प्रश्न किये गए, और शंकर उनका जवाब देता गया।

"अंजनीकुमार के साथ कब से दोस्ती हुई ?"

"1932 के सत्याग्रह आन्दोलन से। हम दोनों लखनऊ में एक साथ सूबा कांग्रेस कमेटी की ओर से अण्डरग्राउण्ड रहकर काम करते थे..."

पल दो पल के लिए फिर उन दोनों के चेहरों पर अचरज का-सा भाव दिखाई दिया, जिसके बाद उनमें से एक पूछ बैठा : "इस बार आपने अपने दोस्तों का साथ नहीं दिया ?...या—बाहर रहकर अभी तक हम लोगों को चकमा देते आ रहे हैं ?"

अपने को बचाने के लिए उसे कभी इस तरह की स्थिति का सामना करना पड़ेगा—यह शंकर ने पहले कभी नहीं सोचा था ! अपने पुराने साथियों का साथ न दे सकने की ग्लानि जब-तब उसके दिल में यों ही एक कांटे की तरह कसक उठती थी; इन सीधे सवालों के जवाब में अपने को कायर स्वीकार करना तो और भी लज्जाजनक था।

आख़िर, असली वजह बताकर ही उस लज्जाजनक स्थिति से उसने छुटकारा पाया . "इस बार के आन्दोलन में मेरा विश्वास नहीं था !"

"क्यों ?...क्या आप कम्युनिस्टों के साथ हैं ?"

"नहीं !" शंकर को इसमें इनकार करते भी देर नहीं लगी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की गिरगिट-नीति के वह सख़्त ख़िलाफ़ था जिसने महायुद्ध शुरू होने के पहले तो सोवियत-जर्मन मैत्री का समर्थन करके युद्ध शुरू होने पर ब्रिटिश सरकार की मुख़ालफ़त की थी, लेकिन सोवियत रूस पर जर्मन आक्रमण होते ही जो ब्रिटिश सरकार की भारत-नीति का समर्थन करने लगी थी। थोड़े-से थोड़े शब्दों में उसने अपने इन विचारों को उन दोनों के सामने रख दिया।

जिसके बाद, फिर वह अन्दर ही अन्दर अपने ऊपर झुंझला उठा—कि इस तरह भी तो उसने आख़िर अंजनी और अपने बाक़ी साथियों की नीति का

विरोध ही कर डाला, और इस दलील को एक तरह से आत्मरक्षा का हथियार बना लिया...

"मगर आप लोगों को अगर मुझ पर किसी तरह का शक है...तो मुझे आप गिरफ्तार कर सकते हैं," इतना सब कह डालने के बाद, इस लज्जाबोध को काटने के लिए ही आख़िर वह कह बैठा। "...सिर्फ़ इतनी मेहरबानी करें तो तहेदिल से शुक्रिया अदा करूँगा, कि मुझे यह दवा घर पहुँचा आने दें," उसने दवा की शीशी थैले से निकालकर दिखाई, "और घर तक मेरे साथ-साथ चलने की तकलीफ़ गवारा करें..."

और—बिना उनके जवाब का इंतज़ार किये अपनी साइकिल आगे की ओर घुमा ली। उन दोनों ने भी उसका रास्ता छोड़ दिया।

कुछ दूर तक ज़रूर शंकर के अग़ल-बग़ल वे दोनों भी साइकिलों पर उसके साथ-साथ आगे बढ़ते गये—जिसके बाद धीरे-धीरे किसी वक्त उनकी साइकिलें उसकी साइकिल के पीछे हो गयीं। फिर एक बार जब उसने पीछे मुड़कर ताका तो पाया कि वह अकेला था।

अवश्य उन लोगों ने उसका स्थानीय पता-वता पहले ही नोट कर लिया था; शंकर को लगा, कि उसके साथ-साथ न जा, उस पर शायद भरोसा करके उन्होंने कुछ देर बाद ही उसके घर पहुँचने का फ़ैसला किया होगा, शायद उसके बच्चे की बीमारी की वजह से उस पर रहम करके।

लेकिन शंकर सारे दिन इंतजार ही करता रह गया, वे लोग नहीं आये।... और तब उसे ख़याल आया कि उन्होंने अपनी पूछताछ के सिलसिले में विद्यापीठ के जिन फ़रार अध्यापक अष्ठानाजी के बारे में भी उससे कुछ प्रश्न किये थे—जिन्हें शंकर ने पिछले साल अंजनी के साथ 'अण्डरग्राउण्ड' काम करते देखा था—दरअसल उन्हीं के शक में वह उस रोज़ गोदौलिया पर उसके पीछे लग गये थे, किसी हद तक शंकर के साथ उनके हुलिये का मेल देखकर।

... ...

स्वामीजी द्वारा मिली जिस दृष्टि के फलस्वरूप शंकर ने 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन छिड़ने पर बनारस में अंजनी के साथ कुछ दिन रह जाने पर भी भावावेश में बहकर उसमें स्वयं भाग लेने से अपने को रोक लिया था उसके बावजूद एक काँटा उसके दिल में कहीं चुभा-सा रह ही गया था जो अंजनी की हर ख़बर पर कसकता रहा था किसी न किसी हद तक : उसके साथ-साथ ख़ुद भी आन्दोलन में शरीक न होने की एक ग्लानि-सी, एक अवसाद सा, एक अनुशोचना।

उस भावावेश को जिस 'यथार्थवादी' दृष्टिकोण और युक्ति तथा तर्क के सहारे उसने उस दिन बलपूर्वक दबा दिया था उसके पीछे एक भय भी शंकर के

अन्दर किसी न किसी सीमा तक बना हुआ था—यह क्या वह जानता नहीं था? अच्छी तरह जानता था। और, अन्त में, अजनी को उस मार्ग से विमुख रखने के उसके सारे प्रयत्न जब विफल हो गये थे तब श्रद्धा-मिश्रित विस्मय के स्वर में अपनी उस 'कमजोरी' को भी उसके सामने खुले दिल से प्रकट करते हुए वह उससे पूछ उठा था: "तुम्हें जरा भी डर नहीं लगता न, अजनी...कि आतंकवादियों-जैसी इस तरह की कार्रवाइयां करते हुए पकड़े जाने के बाद तुम्हें पुलिस क्या-क्या यातनाएँ देगी?...अहिंसात्मक युद्ध की बात दूसरी थी, लेकिन इस तरह के काम के अंजाम के लिए मैं अपने अन्दर तो एक अजीब ही डर सा डर पाता हूँ—"

"डर सभी को होता है भैया—" अजनी ने कुछ देर चुप रह जाने के बाद ही उसे जवाब दिया था; "उस तरफ ध्यान जाने ही नहीं देना..."

मगर शंकर का ध्यान बार-बार उसी ओर चला जाता था—इस तरह की कार्रवाइयों में भाग लेने की बात को क्षण-भर के लिए भी मन में स्थान देने पर...

हालांकि एक दिन था जब भावावेग की प्रबलता ने उसे भी, उस दिन के अजनी की ही भाँति, पुलिस की हर तरह की यातनाओं के लिए तैयार कर डाला था—जब नमक सत्याग्रह यानी ऐतिहासिक डांडी-यात्रा में साबरमती आश्रम से गांधीजी के पीछे-पीछे चल पड़ा था।...धरासाणा के सरकारी नमक गोदाम पर छापा मारने के लिए गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद जब कांग्रेस अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू की अपील पर देश के विभिन्न भागों से सत्याग्रहियों की टोलियाँ वहाँ जाने लगी थीं, और गोरी घुड़सवार पुलिस के डण्डों की बौछार और उनके घोड़ों की टापों के नीचे कुचले जाने वाले सत्याग्रहियों के टूटे और फटे सिरों से वहाँ की धरती रोज लाल होती चली गयी थी, तब भी शंकर ने हिम्मत कर डाली थी पंजाब के अपने तत्कालीन कर्मक्षेत्र से सत्याग्रहियों की एक टोली लेकर वहाँ के लिए रवाना हो जाने की—हालांकि वहाँ उनके पहुँचने से पहले ही वर्षा के कारण वह सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया था।...और बाद को तो, हवालात में पुलिस के दारोगा से कड़ी से कड़ी मार भी खायी थी, और जेल में तरह-तरह की सख्तियों के अलावा आठ दिन तक अनशन की कठोर यातना झेली थी।

पर एक यातना थी जिसकी बाबत अखबार में पढ़कर वह अन्दर ही अन्दर बुरी तरह सिहर उठा था, नमक-सत्याग्रह वाले युग में। किसी सत्याग्रही के एक विशेष मर्मस्थल पर चोट करके उसे एक ऐसी यातना दी गयी थी जिससे वह बेहोश हो गया था...और तब से उसी एक यातना का चित्र उसे दहला देता था: अगर उसके साथ भी 'वही' किया गया तो?... बेहोश हो जाने वाली बात का नहीं, डर था 'उस' विशिष्ट प्रकार की यातना-पद्धति का!

...और—अंजनी से जब उस दिन डर लगने वाला वह प्रश्न कर डाला था शंकर ने, तब भी उसका ध्यान विशेष रूप से उसी यातना-पद्धति की ओर था...

और, आश्चर्य—अपने नाना के प्रसंग में एक बार जो चित्र धीरे-धीरे अंधेरी बन्द कोठरी में स्वामीजी के सामने लेटे-लेटे उसके सामने पूरी तरह उद्‌घाटित हुआ था वह हुबहू वही था : नानाजी ने डेढ़-दो साल के उस नन्हे-से शिशु के उसी मर्मस्थल पर तो चोट पहुँचाकर उसे वह यातना दी थी जिसके बाद वह बेहोश ही हो गया था शायद !...वह पूरा चित्र उसकी चेतना में पूरी तरह उद्‌घाटित हो जाने के बाद किस तरह और कितने दिनों तक उस बन्द कोठरी में वह चीख़ा-चिल्लाया और तड़पा था, फिर किस तरह धीरे-धीरे नानाजी से बदला लेकर अन्त में उसने उस यातना और यंत्रणा की पिछली जकड़ से छुटकारा पाया था...जिसके बाद ही उस विशिष्ट प्रकार की यातना के उस विशिष्ट भय से भी वह छुटकारा पा सका था : वह यातना भी अन्य सभी प्रकार की यातनाओं जैसी बनकर रह गयी थी तब से उसके लिए; फिर कभी भी तो उसका चित्र उसके दिल को उस तरह नहीं दहला पाया था...

Twinkle twinkle little star...
जगमग जगमग झिलमिलाते
ऐ सितारे...

अंजनी, पता नहीं, कहाँ था अब, कैसा था, कब छूटेगा जेल से...या छूटेगा ही नहीं कभी—शंकर की आँखें अचानक गीली हो उठीं...

पता नहीं, किस-किस तरह की यातनाओं और यंत्रणाओं में से गुजरना पड़ा है उसे...गुजरना पड़ रहा है शायद अब भी !

"डर सभी को होता है भैया—" शंकर के उस प्रश्न पर अंजनी ने उसे जवाब दिया था, "लेकिन उस तरफ़ ध्यान जाने ही नहीं देता !"

1942 के उस गुप्त आन्दोलन में अंजनी को गले तक डूबा देख जब शंकर बनारस से उस बार लौटा था तो एक ही बात रह-रहकर उसे बेचैन करती रही थी, कि यह भी उसके 1930 के अन्तरंग सत्याग्रही साथी खड़गबहादुर सिंह की नाईं अपनी जान देने पर ही तुला हुआ है। उस वक्त फिर उसे स्वामीजी की वह बात याद आयी थी कि इस तरह के लोग किसी आन्तरिक विवशता के कारण ही, अचेतन में दबी पड़ी किसी प्रचण्ड शक्ति की प्रेरणा से, दरअसल अपने को दण्ड देना चाहते हैं—किसी अज्ञात अपराध-बोध के फलस्वरूप...

लेकिन तब कहाँ शंकर खुद भी उस हद तक क़ायल था स्वामीजी की उस बात का ?

और अब ?

शरदकालीन निर्मल आकाश में उगे उस तारे में अपने अजनी को ही छवि देख अब जो उदासी धीरे-धीरे उसके अन्दर बढ़ती आयी, उसके बाद उसके सम्पूर्ण हृदय से बस एक ही मूक कातर प्रार्थना तो तारा-खचित उस जगमगाते आकाश की ओर उठती चली गयी थी : जल्द से जल्द जेल से छूटकर तुम भी आ जाओ अजनी, और मेरी ही तरह इस बन्द कोठरी में प्रवेश कर अपनी उन मानसिक ग्रन्थियों से छुटकारा पाने का स्वर्ण-अवसर पा सको, जो मुझे मिला है...और सुशीला को—

तेरह

"अपने पिछले जन्मदिन पर तुमने क्या कहा था...याद है ?" स्वामीजी ने एक ऐसे स्वर में पूछा जिसके लिए शंकर बिलकुल तैयार नहीं था।

रात का वक्त था, तेज़ जाड़ों के दिन। स्वामीजी के पास आने के बाद शंकर का यह दूसरा जन्म-दिन था, पर जब सारा दिन बीत गया और बार-बार तय करके भी स्वामीजी को उसकी याद दिला आशीर्वाद माँगने के लिए वह उनके पास नहीं जा सका तो रात को सोने के लिए उनके उठने से पहले आख़िर उनके पास जा ही पहुँचा, और जब सुव्रता-दि और सुशीला उनके सोने वाले कमरे में उनका बिस्तर ठीक करने के लिए बैठक वाले उनके कमरे से उठकर चली गयीं, तो धीरे से जाकर स्वामीजी के चरणों के निकट बैठ गया।

बरामदे में मन्दी करके रखी हुई लालटेन से उस कमरे के फ़र्श के एक हिस्से पर, और स्वामीजी की आराम कुरसी के पीछे की दीवाल पर, पड़ती धुँधली-सी रोशनी में उन्होंने शंकर को पहचान लिया, हालाँकि इस वक्त वह उनके पास कभी नहीं जाता था।

"कुछ कहना है ?" उठ पड़ने के लिए तैयार स्वामीजी अपने सहज स्निग्ध स्वर में पूछ उठे।

शंकर को एकाएक बड़ा ही संकोच हुआ—सारा दिन बीत जाने पर अब अपने जन्मदिन की बात कहते।

विश्वास नहीं कर पाया था वह।...फिर कुछ देर वह खड़ा ही रह गया था—यह जानने के लिए कि एक दिन के वास्ते उसे घर ले जाने के लिए उसे क्या प्रस्ताव रखना चाहिए। वह दूकानदार, लेकिन, उसकी ओर से सर्वथा उदासीन हो अपने काम में लग गया था, और कुछ देर बाद जब शंकर की ओर उसका ध्यान फिर गया था तो पूछ उठा था: "कुछ और चाहिए?"

"नहीं—" हड़बड़ाकर शंकर बोल उठा, और जब तक फिर कुछ कह पाता, वह दूकानदार ही शायद उसका असमंजस भाँप, बोला:

"ले जाइये...हमें इसकी अब कोई जरूरत नहीं है—"

मानो विश्व-विजय करके लौटा था शंकर स्वामीजी के पास, लेकिन फिर भी जैसे पूरी तरह भरोसा नहीं कर पाया था अपने उस कृतित्व पर। कृतित्व इस बात का नहीं कि उसे वह अख़बार इतनी आसानी से मिल गया, बल्कि इस बात का—कि उसने अप्रिय से अप्रिय परिस्थितियों का खुद ही मुक़ाबला किया, जबकि पहले वह हमेशा ही उनसे बचता और भागता आया था...

स्वामीजी ने उसे शाबाशी भी दी थी उस दिन, पर साथ ही, उनके यह पूछने पर वह चकित ही नहीं लज्जित भी हो उठा था, कि दर-दर की ठोकरें खाने की जगह उसने अख़बार दे जाने वाले से ही इस काम में मदद क्यों नहीं ली: कम-से-कम इस बात का तो उससे पता चल ही जा सकता था कि 'स्टेट्समैन' के उसके ग्राहक सरिया में कौन-कौन हैं।

...मगर अब! क्या स्वामी जी की दृष्टि में अचानक ही कुछ भी मूल्य नहीं रह गया उसके उस कृतित्व का? या, उसी प्रकार की, उसकी दूसरी भी कुछ सफलताओं का?

पर अपनी सफ़ाई में कुछ भी कहने की उसकी इच्छा नहीं हुई: आहत-अभिमान की कड़वी घूँट अपने गले में लिए वह निश्चल बैठा रह गया उनके सामने।

"रात को सोने से पहले...देखते हो—दिन-भर में क्या-क्या भाव आये, किसके साथ कैसा व्यवहार किया...भावों में बहते ही गये, या सजग और सावधान रहकर काम किया—?" स्वामीजी फिर कह उठे थे—वैसे ही निर्मम, कठोर, बल्कि अपमानजनक तक लगने वाले स्वर में।

इस सीधे प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य होकर उसे अपना मुँह आख़िर खोलना ही पड़ गया:

"हर रोज तो नहीं देखता...कभी-कभी भूल जाता हूँ—"

"खाना खाना भी कभी भूल जाते हो?..." इस बार एक ऐसा प्रहार हुआ जिससे शंकर बुरी तरह तिलमिला उठा।

फिर उन्होंने पूछा:

"आज दोपहर को माली ने हाट चलने के लिए तुमसे कहा था?"

"हाट के दिन तो उनके साथ मैं खुद ही हमेशा जाता हूँ स्वामीजी," इस तरह अपराधी के कठघरे में खड़े किये जाने के घोर अपमान की मर्मव्यथा से उसका गला रूँध-सा गया, "...लेकिन आज तो यह तभी आ पहुँचा जब खाने के बाद आराम करने के लिए मैं लेटा ही था—"

"सुव्रता को विशेष कारणवश आज हाट से कुछ चीजें जल्दी मँगानी थीं..." उसके स्वर की उपेक्षा कर स्वामीजी बोले, "तुम नहीं गये—इससे उसे कितना कष्ट हुआ, तुम्हें मालूम है ?"

दोपहर के खाने के बाद कुछ देर के लिए लेटने का शंकर का अभ्यास बहुत पुराना था, अपने बड़े मामाजी से ही लिया हुआ...और यह कई बार देख चुका था कि अगर खाकर लेटे बिना कभी किसी जरूरी काम पर बाहर जाना पड़ जाता था तो सारे दिन सिर में हलका-हलका दर्द बना रहता था।

बहुत थोड़े शब्दों में यह बात उसने उनके सामने अब रखी, हालाँकि एक ऐसे मामले में इस तरह सफ़ाई देना भी उसे कम लज्जाजनक और अपमानजनक नहीं लग रहा था।

"किसी स्वस्थ आदमी को खाने के बाद लेटने की जरूरत तभी पड़ती है... जब जरूरत से ज्यादा खा ले—"

सिर पर हथौड़े की चोट जैसा लगा स्वामीजी का यह कठोर वाक्य, और आगे कोई भी सफ़ाई देना बेकार समझ वहाँ से उठ जाने के लिए वह कोई बहाना खोजने ही लगा था, कि खुद स्वामीजी ही आराम कुरसी पर से उठकर खड़े होते हुए बोले :

"अब जाओ—सोने का वक्त हुआ।...सारी बातों पर विचार करना—फिर कल बातें होंगी..."

रात के दो बज रहे थे जब शंकर ने टॉर्च जला कर तकिये के नीचे रखी घड़ी में वक्त देखा। नौ बजने को थे जब वह अपनी कोठरी में लौटकर तख्त पर बिछे बिस्तर पर आ बैठा था...और तब से अब तक क़रीब क़रीब उसी तरह बैठा रहा था।

तेज जाड़े के दिन थे, और बगल की बाकी सभी कोठरियाँ खाली थीं : 'पूजा' की छुट्टियों में आयी भीड़ तो पहले ही छँट चुकी थी; इधर रूपचन्द भी, जो उसकी बग़ल की कोठरी में ही रहते थे, जा चुके थे।...और भीड़भाड़ के दिनों में जब से सुशीला भी मुख्य इमारत में ही रहने चली गयी थी, तब से अभी तक वहीं थी। शंकर बिलकुल ही अकेला था इस ओर की उन सारी कोठरियों के बीच, और उसे बड़ी राहत मिली कि स्वामीजी द्वारा अपमानित अपने चेहरे को उसे

किसी से छिपाने के लिए कुछ करना नहीं पड़ेगा...

घंटे पर घंटे बीतते चले गये उसे एक ही मुद्रा में तख़्त पर दीवाल से पीठ टिकाकर बैठे, और तेज़ ठंड महसूस होने पर कब उसने कम्बल को धीरे-धीरे बदन पर लपेट लिया था, इसकी भी उसे कोई याद नहीं थी...

स्वामीजी के उठ जाने पर पहले तो वह बिलकुल ही पस्त और मरी चाल से बाहर निकलकर आँगन में आया था, जिसके बाद अचानक उसके क़दम तेज़ हो उठे थे, और बग़ीचे को पारकर अपनी कोठरी तक पहुँचते-पहुँचते उस सर्दी में भी जैसे उसके बदन का सारा ख़ून खौलने लग गया था। और, अपनी कोठरी में घुसकर अन्दर से दरवाज़ा बन्द कर लेने के बाद जब वह तख़्त पर बैठ दीवाल के सहारे टिक गया था, तब एक बहुत ही गहरी साँस निकली थी उसकी सारी छाती को ख़ाली करती हुई, और उस शून्य में ही वह अचानक ज़ोर से कह उठा था :

"अब मैं एक दिन भी यहाँ और नहीं रह सकता।"

सबसे ज्यादा तिलमिलाहट उसे स्वामीजी के इस इशारे से हुई थी कि वह ज़रूरत से ज्यादा खाता है और इसीलिए उसे खाने के बाद आराम की ज़रूरत पड़ती है।...साल-भर से ज्यादा हो गया था उसे अपने खाने-पीने का भी बोझ स्वामीजी पर डालते—और सिर्फ़ अपना ही नहीं बल्कि सुशीला का भी।... मगर अपने इस संकोच की बात क्या बिलकुल शुरू में ही उसने उनके सामने नहीं रखी थी, और तब क्या उन्होंने ही उसे उस मामले में निश्चिन्त नहीं कर दिया था?...

और फिर भी स्वामीजी उसके दिल के इस मर्मस्थल पर चोट करने से बाज़ नहीं आये!

फिर, इधर कुछ महीनों से तो, चित्त के अधिकाधिक स्वस्थ होते चले जाने पर, कुछ लेख वग़ैरा भी उसने लिखने शुरू कर दिये थे जिनसे समय-समय पर कलकत्ता-बनारस-पटना की पत्र-पत्रिकाओं से पारिश्रमिक के रूप में कुछ रुपये भी मिले थे : कुछ ज्यादा ज़रूर नहीं, फिर भी दस या पन्द्रह रुपया प्रति लेख के हिसाब से पिछले दो-तीन महीनों में उसने बीस-पच्चीस रुपये मासिक तक कमा लिये थे—और वह सारी रक़म हाट से तरकारी वग़ैरा लाने पर ही ख़र्च की थी ..

नहीं—इस घोर अपमान के बाद वह एक दिन भी और नहीं ठहर सकता यहाँ...

देर तक फिर वह तरह-तरह की उधेड़-बुन में लगा रहा, कि कहाँ के लिए कल ही यहाँ से चल दे : कलकत्ते के लिये, जहाँ सन्तराम की मदद से फिर किसी काम की तलाश करे?...या पटने के लिए, जहाँ विद्याभूषण जेल से छूटकर आ

चुके थे और फिर से उनका नाम 'जागृति' के सम्पादक के रूप में प्रकाशित होने लगा था ?...या, पहले सीधा बनारस जाय जहाँ अजनी भी अब शायद जल्द ही जेल से छूटकर आने वाला था—और जहाँ, कम से कम शोभाराम तो थे ही...?

मगर—?

जाने से पहले स्वामीजी का सामना भी अब कैसे कर पायेगा वह ?

तब क्या—सुबह होने से पहले ही यहाँ से नहीं चल दे सकता वह, बिना किसी को कुछ बतायें; सिर्फ एक चिट्ठी लिखकर छोड़ जाय, और इसी दम यहाँ से स्टेशन के लिए चल पड़े, और वहाँ से जिधर की भी गाड़ी सबसे पहले मिल जाय उसी से चल दे ?...

पर इस निश्चय को भी क्रिया-रूप देने के पहले कितने ही मिनट पसोपेश में बीतते चले गए : इतने तेज जाड़े में पूरे सामान बिना वह रेल का भी सफ़र कैसे कर पायेगा : सारा सामान लेकर खुद ही आधे मील का रास्ता भी कैसे पार कर पायेगा : फिर—आखिरी रुकावट यह, कि इस तरह अकेले यहाँ से भाग निकलने पर वह सुशीला का बोझ तो स्वामीजी पर ही डाल जाएगा, जिसका उसे कोई अधिकार नहीं।

सुशीला वाली इस रुकावट से तब अचानक ही उसका ध्यान इस ओर गया, कि अगर कल, स्वामीजी से साफ़-साफ़ दिल की बात कहकर ही वह गया, तब भी सुशीला की राय तो उसे लेनी ही होगी।...क्या वह भी उसके साथ इसी दम चल देने को तैयार होगी ?

और इस खयाल के आते ही सहसा एक दंश-सा महसूस किया उसने अपने अन्दर कहीं बहुत ही गहराई में : सुशीला के प्रति तो स्वामीजी के रुख में कोई भी फ़र्क नहीं देख पाया है वह इधर, और वह भी जिस तरह दिन पर दिन स्वामीजी ही स्वामीजी मय होती आयी है, उसके बाद क्या वह उससे किसी सहानुभूति या समर्थन की आशा कर सकता है इस मामले में ?...क्या वह उसके साथ यहाँ से चल देने को तैयार होगी ?...क्या वह भी, सब-कुछ सुनने के बाद, यह मान सकेगी कि स्वामीजी के पास अब एक दिन भी और रह सकना उसके लिये उचित नहीं है, संभव नहीं है ?

जैसा का तैसा बैठा ही रह गया वह और कुछ देर, और तभी उसे खयाल आया—सुशीला के प्रति स्वामीजी के भी पक्षपात के ही इस प्रसंग में—कि पिछले कुछ महीनों में, खास तौर से तभी से जब से अपनी कठोरतम भावग्रन्थि से उसे छुटकारा मिला है, उसके प्रति स्वामीजी विशेष रूप से रुष्ट और कठोर हो उठे हैं कभी-कभी, जितने और किसी के प्रति नहीं हुए हैं...

एक-एक कर कितने ही प्रसंग उसके सामने आने लग गये, जिनमें सबसे

अधिक अपमानजनक वह था जब कि शान्त-दि कलकत्ते से शाम की किसी गाड़ी से आ पहुँची थीं, वही शान्त-दि जिनकी कविता के 'पेयेछि, आमि भयहीन प्रेम पेयेछि'—पद ने उनके प्रति एक अद्भुत श्रद्धापूर्ण भाव उसके अन्दर उत्पन्न कर रखा था।

...शाम का वक्त था, जाड़ों के दिन। टहलने के बाद स्वामीजी दक्खिन वाले कमरे में आराम कुरसी पर बैठे थे, और संयोगवश अकेला शंकर ही उनके पास था। अचानक सुव्रता-दि के साथ-साथ वही शान्त-दि कमरे में घुस आयीं, और स्वामीजी पर दृष्टि पड़ते ही उनके चेहरे पर एक अलौकिक-सी आभा, दक्खिन के खुले द्वार की राह कमरे में आती सूर्यास्त की लाली में, और भी उज्वल रूप में खिल उठी। फिर, एक टूटी लता की नाईं तेज़ी से वह स्वामीजी के चरणों पर लोट गयीं।

अवाक शंकर अपनी जगह बैठा देखता ही रह गया था...और बाद को एक-एक क्षण कितना लम्बा होता चला गया था।

"क्या यह इस तरह पड़ी ही रहेंगी...स्वामीजी के चरणों पर सिर रखे?" धीरे-धीरे शंकर के अन्दर एक अजीब-सी हलचल शुरू हो गयी—"आख़िर कब तक...?"

और, यह देख भी वह चकित ही नहीं, किसी सीमा तक आतंकित-सा भी होता चला गया था—कि शान्त-दि के कमरे में दाख़िल होने पर, उनके चेहरे के उस परम उल्लास के अभिनन्दन स्वरूप स्वामीजी के भी शान्त, स्निग्ध चेहरे पर हलकी-सी जो मुसकान कुछ क्षण के लिए उसे दिखाई दे गयी थी, उसकी जगह अब, शान्त-दि के उनके चरणों पर गिरते ही, एक बिलकुल ही नयी कान्ति फूट उठी थी, उनकी आँखें बन्द हो गयी थीं, एक युग-से लगने वाले उन कुछ मिनटों तक लगातार वह आराम-कुरसी पर सीधे और सर्वथा निश्चल बैठे रहे थे—एक प्रकार से समाधिस्थ जैसी ही स्थिति में, जिस रूप में कुछ वर्ष पूर्व शंकर आश्रम में उन्हें देख बुरी तरह घबड़ा उठा था। अन्तर एक ही था इस बार : तब उनकी अपलक आँखें शून्य की ओर ताक रही थीं; अब वे एक सहज शान्तिपूर्ण मुद्रा में मुँदी हुई थीं...

बार-बार शंकर ने अपनी दृष्टि उधर से हटा लेनी चाही, लेकिन हटा नहीं पाया।

फिर, सहसा ही स्वामीजी की उस निश्चल काया में हलका-सा एक स्पंदन हुआ था, धीरे से उनके चक्षु-पट खुल चले थे, और एक असीम करुणा-सागर-सा लहरा उठा था उनकी उन अध-खुली-सी आँखों में...और उनके ओठों पर भी वैसा ही एक करुणा-प्लुत स्मित धीरे-धीरे न जाने किन गहराइयों से उतर आया था...

दूसरे ही क्षण शंकर का ध्यान जब फिर शान्त-दि की ओर गया था, उसने
या था कि उनका सिर स्वामीजी के चरणों से धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठ
हा है और अपने दोनों हाथों के सम्पुट में बड़े ही कोमल यत्न के साथ स्वामीजी
: दोनों चरणों को समेट धीरे-धीरे वह अपने उन हाथों को अपने मस्तक से
कर सिर के ऊर्ध्व भाग तक इस तरह फेर रही हैं मानो उनके किसी अमूर्त
ाशीर्वाद के चन्दन का लेप ही लगा रही हों...

अपने अन्दर कुछ देर के लिए खो-सा गया था शंकर, इस अद्भुत और
वैसा नवीन और अकल्पित दृश्य-जनित अनुभव से, जिस बीच स्वामीजी के साथ,
ीरे-धीरे, बँगला में शान्त-दि की जो बातें होने लगी थीं, वे मानो उसकी चेतना
ो ऊपर ही ऊपर से छूकर निकल गयी थीं...

कि सहसा स्वामीजी के ये शब्द उसके कानों में पड़े :

"इस समय तुम्हारा यहाँ बैठे रहना क्या आवश्यक है शंकर ?...शान्त को
पनी बातें कहनी हैं न ?"

बात शायद साधारण स्वर में ही कही गयी थी, पर शंकर को लगा था, जैसे
उस पर वज्र-प्रहार किया गया हो।

वह उसी दम उठ खड़ा हुआ, और दरवाज़े से बाहर निकलते-निकलते उसने
ुना और सुना :

"ऐसे समय...किसी तीसरे व्यक्ति का बैठे रहना ठीक नहीं है न—?"

शंकर पर मानो घड़ों पानी पड़ गया था...

तभी जाकर उसे यह ख़याल आया था कि शान्त-दि जिस समय स्वामीजी
के चरणों पर लोट गयी थीं तभी सुव्रता-दि, जो उनके साथ-साथ उस दरवाज़े तक
आयी थीं, वहीं से वापस लौट गयी थीं...और यह भी, कि उस बीच और कोई
भी उस ओर नहीं आया था।

कितना अपमानित महसूस किया था उस दिन शंकर ने, ख़ास तौर से शान्त-
दि के सामने तो कई दिन तक वह आँखें उठाकर सीधा ताक नहीं सका था...
और स्वामीजी के पास भी अगले दिन सुबह जब उस अँधेरी कोठरी में दाख़िल
हुआ था तो एक बहुत बड़ी मजबूरी में, और बिना उनकी ओर ताके, जल्द से
जल्द, ज़मीन पर दरी बिछा आँखें मूँद लेट गया था।

...बात अब तक काफ़ी पुरानी पड़ चुकी थी, मगर, याद आते ही, एक
बार फिर वह बुरी तरह तिलमिला उठा।

एक अजीब-सी बेबसी से उसकी आँखों में आँसू उमड़ आये।...आख़िर क्यों
इतने बदल गये हैं स्वामीजी उसके प्रति, क्यों इतने निष्ठुर और निर्मम हो उठे
हैं ?...

और, ज़रूरत से ज़्यादा खाने की वजह से लेटने वाली बात पर उनकी वह

फ़ब्ती एक बार फिर उसके दिल के अन्दर विंधे काँटे की तरह ही कसक उठी।

वह उठ खड़ा हुआ, और उस छोटी-सी ही कोठरी में अपने तख़्त से बची तंग जगह में बेचैनी के साथ दो-चार क़दम इधर और दो-चार क़दम उधर चक्कर काट फिर तख़्त पर ही वापस आकर, इस बार, तकिये पर औंधा मुँह करके पड़ गया, और धीरे-धीरे वह तकिया गीला होता चला गया...

लेकिन नहीं—अब उसने अचानक ही आविष्कार किया—स्वामीजी को छोड़कर, इस तरह, उनके पास से भागकर नहीं जा सकता वह।

और—धीरे-धीरे—उसके अन्दर यह निश्चय दृढ़ होता चला गया कि कल जब वह बन्द कोठरी में जाकर उनके सामने लेटेगा, तब अपने अतीत के उन चित्रों में न जा, कल वाली उस घटना पर अपने मन की सारी प्रतिक्रिया खुल कर उनके सामने रख देगा : अपना सारा क्रोध, आहत-अभिमान, अपनी सारी लज्जा-ग्लानि...कि किस तरह, इस अपमानजनक स्थिति में, वह उनके पास अब और नहीं रहना चाहता...

आगामी कल के उस दृश्य का मानो 'रिहर्सल' करते-करते फिर अचानक उसका सारा क्रोध सिर्फ़ रुलाई ही रुलाई के रूप में फूट निकला—उसके अन्दर की न जाने किन अतल गहराइयों से...और काफ़ी देर बाद जब उसके आँसुओं का पूरा भण्डार ख़ाली हो गया, तब उस अँधेरी ही कोठरी में पूरी आँखें खोल कुछ देर तक चुपचाप पड़ा रह गया...जिसके बाद, एक झटके के साथ उसने महसूस किया : क्या बिलकुल एकतरफ़ा ही फ़ैसला नहीं कर डाला है उसने—स्वामीजी के बारे में, और उनके खिलाफ़?...क्या स्वामीजी सचमुच ही उसकी ओर से विमुख हो चले हैं इधर?...क्या सचमुच उसके प्रति निष्ठुर और निर्मम हो उठे हैं वह?

कहीं यह सब भी उसकी शैशवकालीन उन्हीं भाव-ग्रन्थियों की करामात तो नहीं है जिनके कारण वह जीवन-भर मामूली से मामूली भी अप्रिय परिस्थिति से और छोटी से छोटी भी कटु आलोचना से बचता और घबड़ाता रहा और जिनकी वजह से ही अपनी किसी भी ग़लती का दिखाया जाना उसके लिए बर-दाश्त से बाहर होता रहा?

अचानक उसे याद आया, कुछ ही दिन पहले तो स्वामीजी उसकी कोई ग़लती दिखाने के साथ ही साथ पूछ उठे थे : "कोई ग़लती दिखाये जाने पर... अब तो...पहले की तरह उतना बुरा नहीं लगता?"

शंकर ने फ़ौरन ही जवाब जरूर दे डाला था : जी नहीं; पर उस वक़्त भी वह जानता था कि बात पूरी तरह सही नहीं थी। ग़लती दिखाये जाने पर बुरा अब भी उसे लग जाता था, पर स्वामीजी द्वारा दिखाये जाने पर, थोड़ी ही देर

बाद यह मनन आया करता था, और फिर दिन को वह समझाने की कोशिश करता था कि स्वामी जी उसे अपमानित करने की नीयत से नहीं, उसे ठीक रास्ते पर ले जाने के लिए ही उसकी ग़लती दिखाते हैं, दरअसल उसके बचपन को ही काटने के लिए...

बचपन।

रात भी तो स्वामीजी ने बात इसी से शुरू की थी न?...कि—कब तक अभी बच्चे ही बने रहना चाहते हो?

"बचपन की जकड़ से काफ़ी हद तक छुटकारा मिल जाने के बाद भी... उससे चिपटे रहना चाहते थे न?...इसीलिए कुछ झटके देना ज़रूरी हो गया—" स्वामीजी कह रहे थे, और अवाक् शंकर उनके सामने बैठा सुन रहा था।

अगले दिन की ही बात है—जब पिछली रात की सारी बातें उसने, बिना कुछ भी छिपाये, उनके सामने उगल डाली थीं, और स्वामीजी निर्विकार भाव से उन्हें सुनते चले गये थे...

फिर उन्होंने उपर्युक्त शब्द कहे, और शंकर ठीक-ठीक समझ नहीं पाया, उनका क्या मतलब है।

"कैसे, स्वामीजी?" अन्त में उसने विमूढ़-से स्वर में पूछा।

"कैसे?" स्वामी जी ने सहसा स्निग्ध हो उठी दृष्टि से उसकी ओर ताकते हुए कहा। और, उसकी ही कही एक-एक बात का हवाला दे-देकर दिखाना शुरू किया कि अपनी इस प्रचण्ड और मूल भाव-ग्रन्थि से काफ़ी हद तक छुटकारा पा जाने के बाद भी किस तरह वह अपने इसी शैशव से चिपटे रहता आया है, मानो उससे बिछुड़ने से ही उसे कोई ख़तरा दिखाई दे रहा हो...

शंकर कुछ नहीं समझा।

तब स्वामीजी ने उन घटनाओं को एक-एक करके लिया जिन्हें शंकर ने अपने प्रति स्वामीजी की कठोरता के प्रमाण-स्वरूप ख़ुद ही कुछ देर पहले पेश किया था—रात की अपनी पूरी प्रतिक्रिया और क्रमिक विचारधारा का ब्यौरा उनके सामने रखते हुए...

...'पूजा' की छुट्टियों में जब यहाँ काफ़ी भीड़ बढ़ गयी थी, और बाहर वाली उन छोटी-छोटी कोठरियों में से भी एक-एक में दो-दो, तीन-तीन तक लोगों के रहने की व्यवस्था की गयी थी तब शंकर के एकान्त में तो ख़लल पड़ा ही था, कई ऐसे लोगों के साथ रहने की लाचारी भी उसे बन गई थी जिनके बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तरों में काफ़ी बड़ा अन्तर उसे लगा था। स्वामीजी के सामने

अवश्य अपनी उन असुविधाओं और अप्रियताओं की बात वह नहीं रख सकता था : न सिर्फ़ इसलिए कि उनकी दृष्टि में वे सभी समान थे, वल्कि इसलिए भी कि भीड़ का वढ़ना शुरू होने से पहले उसे ही बुलाकर एक दिन उन्होंने इस सम्वंध में उसकी ख़ास ज़िम्मेदारी की ओर ध्यान खींचते हुए उसे विशेष वड़प्पन दिया था और कहा था कि सबसे ज्यादा वक़्त से वही वहाँ पर है, और इस नाते नये आने वाले सभी लोगों का उसे ही ख़ास तौर से ख़याल रखना है।

स्वामीजी द्वारा दिये गये उस वड़प्पन पर उसे किसी न किसी हद तक गर्व भी हुआ था उस वक़्त, लेकिन सब समय क्या वह अपनी असुविधाओं और अप्रियताओं से ऊपर उठ पाता था ?...कितने मौक़े आते थे जब उसके लिए सन्तुलन क़ायम रख सकना कठिन हो जाता था। वलपूर्वक ही अपने ऊपर रोक लगाकर वह अन्दर के भावों को वाहर प्रकट करने से रोक पाता था।

आख़िर एक वार स्वामीजी के दरवार में एक शिकायत लेकर उसे जाना ही पड़ गया था।...

नहाने के लिए कुएँ पर जाने से पहले जब वह अपने कपड़े और तेल-सावुन वग़ैरा लेने अपनी कोठरी में गया था, तो देखा कि तेल की शीशी ग़ायब है।... पहले तो उसे ख़याल हुआ कि शायद पिछले दिन वह खुद ही नहाने के वाद उसे कुएँ पर छोड़ आया हो। उसने कुएँ के आसपास उसे खोजा, फिर माली से पूछा, और, उसके वाद, काफ़ी हिचकते हुए, रूपचन्द से। मगर कुछ भी पता नहीं चल पाया, कि वह शीशी गयी कहाँ।

दो या तीन दिन वाद वही शीशी जब अचानक उसे उन लोगों की उस तीसरी कोठरी में दिखाई दे गयी जिसमें इधर गोपाल दा और पंचानन घोष ठहरे हुए थे तब जितना उसे आश्चर्य हुआ उतना ही क्षोभ भी।...ज़रूर यह काम पंचानन घोष नाम के नवागन्तुक वंगाली नौजवान का है—उसे उसी दम यक़ीन हो गया; गोपाल-दा के वारे में वह अच्छी तरह जानता था कि उन्हें अगर ज़रूरत पड़ती भी—हालांकि आश्रमवासियों की ज़रूरतों को पूरा करते रहने में उलटे उन्हीं को परम तृप्ति मिलती थी, यह वह वर्षों से देखता आया था—तो उससे कहे विना वह न तो तेल की शीशी उठाते ही, और न उसे फिर अपनी कोठरी में ले जाकर इतमीनान से रख लेते...

आख़िर वात सही भी निकली। विना कुछ कहे शंकर ने अगले दिन पंचानन घोष के नहाने के वक़्त पर नज़र रखी, और आख़िर उसे ही अपनी शीशी लिये कुएँ पर जाते देख लिया।

जब से वह लड़का आया था, उसके गँवारू तौर-तरीक़ों और असंस्कृत आचरण के कारण शंकर उसके विरुद्ध अन्दर ही अन्दर एक प्रतिकूल भाव ढोता आ रहा था। अब तो वह क्षोभ पराकाष्ठा पर जा पहुँचा, हालांकि उसने उसे

उसके सामने ज़ाहिर नहीं होने दिया। एक बार इच्छा हुई कि उनके सामने ही जाकर, अत्यन्त भद्र भाव से, उस शीशी को उठा लाये, लेकिन वह रुक गया...

स्वामीजी के पास इस तरह की शिकायत लेकर आने का उसका यह पहला मौक़ा था, और बड़े पसोपेश के बाद ही वह गया था। जितनी असुविधा तेल की उस शीशी को लेकर थी उससे भी ज़्यादा डर उसे यह बना रहने लगा था कि यहाँ मुसाफ़िर-सी भी उसकी सम्पत्ति में से कब कौन-सी अचानक लापता हो जाय।

स्वामीजी ने चुपचाप उसकी सारी बात सुन ली थी, जिसके बाद कुछ देर तक शंकर उनके रुख़ का कुछ भी अन्दाज़ नहीं कर पाया था। फिर, आख़ीर में, सिर्फ़ इतना कहकर उन्होंने उसे विदा कर दिया था कि इन छोटे-छोटे मामलों को क्या उसे ख़ुद ही नहीं सुलझा लेना चाहिए—अब?

शंकर न तो कुछ प्रतिवाद ही कर पाया था, और न सन्तुष्ट ही होकर लौटा था उनके पास से। मन ही मन अपने ऊपर, या कहा जाय, स्वामीजी पर ही, क्षुब्ध भी हुआ था, कि जो समस्या उसकी अपनी खड़ी की हुई नहीं है, जिसका सीधा सम्बन्ध स्वामीजी, अर्थात् उनके पास आने वालों से है उसके समाधान की भी ज़िम्मेदारी वह उसी पर डालना चाहते हैं, जब कि उसके पास पचानन से ख़ुद निपटने का कोई सीधा रास्ता नहीं है...

उस दिन का जमा वह क्षोभ भी पिछली रात शंकर को फिर से एक बार बुरी तरह मथ गया था, और उसकी सारी बातें सुन लेने पर अब सबसे पहले उसी का हवाला देते हुए स्वामीजी बोले

"देखो न—किस तरह तुमको स्वामीजी के ही ख़िलाफ़ सारी शिकायत हो गयी थी उस प्रसंग में...जब कि स्वामीजी तुम्हें अप्रिय लगने वाली परिस्थिति का ख़ुद मुक़ाबला करने के लिए आगे बढ़ाना चाहते थे।...तुम्हें तो पहले ही सजेशन दिया जा चुका था—जब बाहर से आने वालों की ज़िम्मेदारी सँभालने के लिए कहा गया था, ताकि स्वामीजी का बोझ कुछ हलका रहे।..."

शंकर के मुँह से कोई भी जवाब नहीं निकल सका। इस तरह तो उसने तब देखा नहीं था उस प्रसंग को।

उसके बाद इसी तरह की दो-चार और छोटी-मोटी शिकायतों का हवाला देकर, उसकी बाबत भी उसकी एकांगी दृष्टि उसके सामने स्पष्ट कर डालने के बाद, शान्तिदि के यहाँ आने वाले दिन की उस घटना का ज़िक्र किया स्वामीजी ने, जिसमें, उसका आरोप था, स्वामीजी ने उसके सामने ही उसके व्यवहार की कड़ी टीका कर उसके स्वाभिमान को भारी चोट पहुँचायी थी।

"हाँ, उस बार तुम्हें एक झटका देकर ज़रूर देखना चाहा था..." स्वामीजी बोले, "कि अब तुम वस्तुस्थिति को स्वीकार करने, और उसे स्वयं न देख

पाने पर उसके दिखाये जाने के लिए किसी हद तक तैयार हो रहे हो।...कड़ी टीका भी स्वामीजी ने नहीं की थी, न स्वाभिमान पर चोट पहुँचाना ही उद्देश्य था।...तुम्हें वैसा 'छोटेपन' के बंधन के कारण लगा था।...मगर उस बंधन को काटने का वक्त अब आ गया था न ?"

फिर, किसी हद तक उसे उलझन में ही पड़े देख, उन्होंने और भी स्पष्टीकरण किया :

"क्या थी उस समय की वस्तुस्थिति—ठीक से देखने की कोशिश करो तो।...शान्त कितने लम्बे वक़्त के बाद आयी थी। कितनी उमंग रही होगी दिल में—स्वामीजी के सामने कितना-कुछ उड़ेल डालने की।...किस भाव से उसने प्रणाम किया—तुमने देखा ही था।...पूरा एकान्त पाने की कितनी तीव्र इच्छा रही होगी उसके मन में ?...फिर भी क्या तुम्हारा ध्यान उस ओर जा पाया ?...जाना चाहिए था न, अगर अपने से बाहर निकलकर देख पाते।...जब तुम ख़ुद नहीं देख पाये, तब स्वामीजी को दिखाने की ज़रूरत महसूस हुई—सिर्फ़ शान्त के ही ख़याल से नहीं, तुम्हारे लिए भी।...याद है, क्या शब्द कहे गये थे तुम से, और कैसे स्वर में ?"

चाहने पर भी शंकर भूल नहीं पाया था उन शब्दों को, पर उसे आश्चर्य हुआ जब स्वामी जी ने उन्हें क़रीब-क़रीब ज्यों का त्यों दोहरा दिया :

"यही कहा था न—कि तुम्हारा इस समय यहाँ रहना क्या आवश्यक है ?...शान्त कुछ कहना चाहेगी न—अपनी बातें ?...फिर, जब तुम उठकर जाने लगे थे, तब तुम्हारे चेहरे पर हुई प्रतिक्रिया को देख इतना और कहना ज़रूरी हो गया था कि—किसी तीसरे का ऐसे समय रहना ठीक नहीं है न ?...क्या यह कोई कड़ी टीका थी ?...क्या इसे टीका भी कहना उचित होगा ? केवल वस्तुस्थिति की ओर तुम्हारा ध्यान खींचा गया था—सरल रूप में और सहज स्वर में।...फिर भी तुम्हारे स्वाभिमान पर चोट लग गयी।...क्यों ? क्या इसमें स्वामीजी का दोष था ?"

"जी नहीं—" तुरन्त ही शंकर ने प्रतिवाद किया।

"जल्दबाज़ी में कुछ मत कहो—" स्वामीजी ने उसे एक तरह से बीच में ही रोक दिया। "पूरी बात ठीक से समझने की कोशिश करो, कि दिल में अन्दर तक जम जाये।...तुमको चोट लगी, क्योंकि स्वामीजी के प्रति श्रद्धा का अभाव था—"

जी नहीं—शंकर ने उसी दम फिर प्रतिवाद करना चाहा, पर ज़ोर लगाकर अपने को रोक लिया...जिसकी वजह से स्वामीजी के कुछ अगले शब्द उसके कानों में जाकर भी उस तक नहीं पहुँच सके। जब वह प्रकृतिस्थ हुआ तब उसने सुना, वह आगे कह रहे थे :

"...अब तो एक वर्ष से ऊपर हो गया तुम्हे बराबर स्वामीजी के पास रहते। क्या तुमने कभी देखा, कि तुम्हारी या किसी और की सच्ची जरूरत का खयाल नही रखा गया?...स्वामीजी के पास जो आता है उसकी वास्तविक जरूरत ही देखी जाती है, उसके हित में जब जो होता है वही किया जाता है। ...जब तक तुम्हारा शैशव का बंधन तीव्र था तब तक तुम्हारा बाल भी बांका न होने पाये और जिसे तुम स्वाभिमान कहते हो उस पर ज़रा भी आँच न आने दी जाये—इसका कितना खयाल रखा गया? इसके अगणित प्रसग हैं, जिन्हें अगर याद करके देखो, तो 'स्वाभिमान' पर लगी वह चोट एक भाव-विलास मात्र रह जाए।...'स्वाभिमान' की आड मे जिसे अब तक पोसते आये थे वह किसी प्रौढ़ व्यक्ति का कोई स्वस्थ भाव था, या निष्पीड़ित, पददलित, आहत शिशु का एक प्रतिरक्षा-कवच, सो भी काँच का बना, जो ज़रा-सी ठेस लगते ही चूर-चूर हो जाय?"

शकर के दात-विक्षत अहंकार पर धीरे-धीरे शीतल मलहम लगता चला, और जिस बेबसी मे वह स्वामीजी के प्रति मन ही मन घोर अन्याय कर बैठा था वह ऐसी आत्मग्लानि मे बदल चली जिसे प्रकट करना भी अब कम लज्जा-जनक नही लग रहा था।

लेकिन उसके प्रकट किये बिना भी स्वामीजी उसके उस भाव को जैसे पूरी तरह भांप गये, उस ओर से भी उसे सावधान करते हुए उन्होने आगे कहा :

"अब समय आ गया है कि कोरी भावुकता मे बहकर, अपने को धोखा देने का, मिथ्या आत्मग्लानि और पश्चात्ताप द्वारा अपने सत्य से भागने का, पलायन का रास्ता छोड सको।...हर कार्य के मूल कारण को देख अपने शैशवजनित 'छोटेपन' से छुटकारा पाओ, जो ही पद-पद पर 'स्वाभिमान' की आड़ में अपने मिथ्या और कृत्रिम एक ऐसे 'बडप्पन' को हरदम बचाते रहने की कोशिश करता रहता है जिसे बचाया नही जा सकता, बल्कि जिसे बचाकर रखने की कोशिश ही धोखा और असत्य है।...स्वामीजी की हलकी से हलकी टीका भी अगर सहन नही कर सकोगे...तो बाहर तो कितनी-कुछ, कडी से कड़ी, टीकाओं और आलोचनाओ का...कडी से कडी चोटों का सामना करने के अवसर आते ही रहेगे न?...उनका सामना करना है, या उनसे डरकर भागना है—बिलकुल छोटे बच्चे की तरह?"

"जी—सामना करना है," शकर के अवरुद्ध कण्ठ से किसी तरह ये शब्द निकल पाये...

कुछ देर सन्नाटा रहा, जिसके बाद स्वामीजी ने कहा :

"स्वामीजी माँ की गोद बने हुए थे न, इतने दिनो से?...सब तरफ से

निश्चिन्त होकर इस गोद में आ दुबके थे।...भयभीत असहाय शिशु को माँ की गोद छोड़ और कहाँ से रक्षा मिल सकती है?...याद है, कलकत्ते से जब सवा साल पहले आये थे तब क्या हालत थी तुम्हारी?...सुशीला के पीछे-पीछे इस तरह आ रहे थे जिस तरह बाहर निकलने पर कोई बच्चा अपनी माँ की उँगली छोड़ ज़रा भी दूर नहीं जाना चाहता।...फिर, तब से बराबर ही, स्वामीजी की उँगली पकड़कर रहे...स्वामीजी तुम्हारी बचपन की माँ की गोद हो उठे। स्वामीजी ने भी तब माँ की गोद खोल दी, भयभीत शिशु को आश्वस्त किया, आश्रय दिया।...लेकिन जो माँ अपने बच्चे को हमेशा गोद में बिठाये रखेगी, उससे बड़ा शत्रु उस बच्चे का और कौन होगा?...शैशव-जनित भय का ज़ोर जब तक ज्यादा था तब तक तुम्हें जिस आश्रय की नितान्त आवश्यकता थी वह दिया ही गया...किन्तु और कब तक उसे लेना चाहोगे?...कब तक बच्चे बने रहना चाहोगे—जब कि तुमने स्वयं एक साल में अपनी वास्तविक उम्र का हो जाने की इच्छा प्रकट की थी?"

कब-के प्यासे के लिए मीठे रस की धार-सी अब लग रही थी शंकर को स्वामीजी की यह वाणी, और उसका हृदय सिंचित होता चला जा रहा था...

तभी स्वामीजी फिर कह उठे:

"अच्छा—सबसे आख़िरी घटना ही अब लो।...कल जब माली ने तुमसे हाट चलने के लिए कहा, तब तुमने क्या जवाब दिया था, और मन के अन्दर क्या भाव था—याद है?"

शंकर को लगा, पिछली रात वाले उसी प्रसंग के स्वामीजी द्वारा फिर उठा दिये जाने से, जैसे उसके अन्दर एकबारगी ही फिर एक तनाव-सा आ गया है। लेकिन उसने बलपूर्वक उस ओर से अपने को खींचा और, इस नयी पृष्ठभूमि में, स्वामीजी की बात को ठीक से हृदयंगम करने का एक नया उत्साह अपने अन्दर लाने की, अन्दर गहरे घुसकर अपने को देखने की, कोशिश करते हुए, ख़ुश्क हो उठे गले से ही, धीरे-धीरे कहना शुरू किया:

"जी—अपनी असुविधा की ही बात थी मन में। ...खाकर लेटने के अभ्यास वाली बात कही थी, जिसकी वजह से सिर में दर्द हो जाने का डर था।... दृष्टि केवल अपनी सुविधा पर थी स्वामीजी...सुव्रता-दि की कोई ख़ास ज़रूरत हो सकती है, यह बात मन में आयी ही नहीं थी—"

"ठीक कहा—" स्वामीजी तब बोले, "दूसरे की ज़रूरत की ओर ध्यान न जाना ही बच्चे की सिफ़त है...यही बच्चा बने रहने का लक्षण है।"

फिर उन्होंने दिखाना शुरू किया कि—अव्वल तो, ऐसी आदत डालना ही ग़लत है जिसमें बाधा पड़ने पर दिन-भर सिर में दर्द बना रहे; दूसरे, अगर अपना

काम समझा जाता, वल्कि सचमुच ही कोई अपना काम आ पड़ता, तो क्या मुँह मोड़ लेते ?...क्या जिन्दगी में कभी ऐसे मौक़े नहीं आए जब बिना आराम किये ही किसी जरूरी काम के लिए उसी दम वाहर निकल जाना पड़ा हो ?

दोनों ही दलीलें अकाट्य थीं । भला इनकार कैसे किया जा सकता था !

कुछ देर एक अस्वस्तिकर चुप्पी रही, जिसके बाद स्वामीजी सहसा पूछ उठे :

"रात को सोने से पहले आध घण्टा रोज अपने को देखने का, दिन-भर के अपने व्यवहार को, कार्य-कारण परम्परा को एक वार देख जाने का काम अब फिर से शुरू करना है न ?"

शकर अत्यन्त संकुचित हो उठा ।

"पहले तो देखा ही करता था स्वामीजी...इधर ही कुछ दिन से छूट गया था," उसने कहा । "अब रोज..."

"छूट गया था—या छोड दिया गया था ?" स्वामीजी ने गम्भीर स्वर में बीच में ही टोका ।

इशारा किधर था, शकर समझ गया । कब से तो उन सबको स्वामीजी दिखाते आ रहे थे कि इस तरह की भाषा ही ग़लत है : बिना इच्छा के कुछ नहीं छूटता, जान-बूझकर ही छोड दिया जाता है—क्योंकि वह स्वीकार नहीं हुआ है, अपना नही हुआ है, अरुचिकर और अप्रिय बना हुआ है...

शकर ने उसी दम, इस बार सदा से कहीं अधिक दृढ़ता के साथ, मन ही मन निश्चय किया कि इस साधना को अब नियमित रूप से निभायेगा—अपने दिन-भर के व्यवहार का सिंहावलोकन करने, अपने अन्दर छिपे पड़े शत्रु को खोजते रहने, हर कार्य या भाव के पीछे की कार्य-कारण परम्परा को एक वार देख जाने की जरूरत अब आज जब इस तरह उसकी पकड़ में आ गयी है तब इसे प्रिय बनाकर ही दम लेगा वह, हालाकि कोई भी दृढ निश्चय या, दूसरे शब्दो में, 'प्रतिज्ञा' करते अब भी अन्दर ही अन्दर उसे डर महसूस हो रहा था ।

उत्साह का नया ही ज्वार आया था शकर के अन्दर उसके बाद से, और उसकी पूरी जीवन-चर्या बिना किसी प्रयास के ही नियमित और सहज हो गयी थी । दिल हलका था, दूसरों के प्रिय-अप्रिय पर, सुविधा-असुविधा पर, मानो आप-से-आप नजर जाने लगी थी, और आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह स्वावलम्बी बनने के लिए लिखने-पढ़ने के काम में भी वह कहीं अधिक तत्पर और नियमित हो उठा था ।

पिछले दो-तीन महीनों में—मन की स्थिति काफ़ी सुधर जाने के बाद से—'पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख-कहानियाँ लिखकर पन्द्रह-बीस रुपये मासिक तक वह कमाने लग गया था, और परिचित क्षेत्रों से आयी माँगों को अगर वह मन लगाकर पूरा करता तो पचास रुपये महीने तक की औसत आमदनी कर सकना उसके लिए मुशकिल नहीं था।...अब उसने पूरा मनोयोग देना शुरू कर दिया इस ओर, और इधर पिछले दस-बारह दिनों में ही चार लेख-कहानियाँ वह 'पत्र-पत्रिकाओं को भेज चुका था। अब उसे पूरा भरोसा था कि पचास-साठ रुपये महीने वह स्वामीजी के पास रहते हुए भी इस तरह कमाता रह सकता है और अपने अन्दरूनी काम के सिलसिले में अगर बरसों भी उसे और सुशीला को स्वामीजी के पास रहना पड़े तो कम से कम अपना आर्थिक बोझ तो वे उन पर नहीं ही डालेंगे...

अगले दिन यही बात उसने स्वामीजी के सामने रख भी दी जब प्रसंगवश यह चर्चा चल पड़ी।

और तब एक नया वज्रपात हुआ।

"लेकिन—अब तो बाहर जाकर जीवन को फिर से शुरू करना है न ?" स्वामीजी बोले।

शंकर को लगा, जैसे उसके नीचे से ज़मीन ही खिसक गयी हो।...कहाँ वह यह उम्मीद किये बैठा था कि पिछले दस-बारह दिन के कृतित्व पर वह स्वामीजी की शाबाशी पायेगा—ख़ास तौर से भविष्य में अपने और सुशीला के ख़र्च के मामले में स्वावलम्बी हो सकने की अपनी नयी क्षमता के मामले में, और कहाँ स्वामीजी उसे अपने पास से ही हटाने की बात कर रहे हैं।

"मगर—" आख़िर किसी हद तक अपने को सम्भालते हुए, अपनी समझ में तो रामबाण-जैसी अचूक दलील ही उसने पेश की, "अभी तो मेरे अचेतन का कितना सारा काम बाक़ी पड़ा है स्वामीजी..."

"सो तो ठीक है—" स्वामीजी ने धीरे-धीरे सम्मतिसूचक सिर हिलाया। "लेकिन...उसकी बड़ी जड़ तो निकल ही गयी है न अब !...जिस मूल भावग्रन्थि के कारण भाव ने बुद्धि को पूरी तरह जकड़ रखा था, उसके ढीले पड़ जाने से बुद्धि अब काम करने लायक़ हो रही है। उससे भी तो अब काम लेना है न ?"

"मगर स्वामीजी—" शंकर ने प्रतिवाद किया, "अगर आपके पास रहते हुए बुद्धि से काम लेने का अभ्यास करूँ तो ज्यादा फ़ायदा नहीं होगा ?"

"ज़रूर होगा—" स्वामीजी ने तुरन्त ही मान लिया। लेकिन फिर, थोड़ा रुककर, बोले : "बात यह है, कि बहुत लम्बे वक़्त तक लगातार स्वामीजी के पास रहने से आत्म-निर्भरता लाने में बाद को कठिनाई होगी—भाव पर बुद्धि को

प्रधानता दे सकने के क्षेत्र में भी, और आर्थिक दृष्टि से भी।...चालीस की उम्र हो रही है अब तुम्हारी; बाहर रहते हुए जितने अवसर मिलेंगे, और साथ ही साथ जितनी बाधाएँ मिलेंगी...उतनी यहाँ के आश्रम-जीवन में कहाँ है ?... घबड़ाओ नहीं।...स्वामीजी तुम्हें भगा नहीं रहे हैं। मगर अब, जब कि बाहर जाकर फिर से अपने पाँवों पर खड़े होने योग्य शक्ति आ गयी है तब उसे भी तो पूरा मौका देना है, संकीर्ण सीमा में रहते हुए उसे कुण्ठित नहीं होने देना है।"

बड़ी कड़वी घूँट थी शंकर के लिए, लेकिन स्वामीजी की वाणी में कुछ ऐसा था जो उसे स्पष्ट रूप से न सिर्फ यह बता रहा था कि यह उनका पक्का फैसला है उसके बारे में, बल्कि यह भी कि उसी का दूरव्यापी हित उनके सामने है।

किसी हद तक जब इस कड़वी घूँट को गले उतारने में वह सफल हो चुका तब जाकर ही स्वामीजी ने इतनी बात और कही कि उसके अचेतन के काम में भी एक तरह से अब गतिरोध आता जा रहा है, जिसके नमूने के तौर पर कुछ-समय पहले की उसकी उस स्मृति के उद्घाटन का हवाला दिया जिसमें उसके नानाजी को थाली तक उसका पेशाब पहुँचने पर वह बुरी तरह घबड़ा गये थे, और उस छोटे-से बच्चे को अन्दर ही अन्दर कितनी जबर्दस्त खुशी हुई थी।

"बड़ी सुन्दर स्मृति बाहर निकली उस रोज," स्वामीजी अब बोले, "लेकिन इन तरह के छोटे-छोटे और हलके प्रसंगों की स्मृति का उद्घाटन होना ही यह दिखा रहा है कि कुछ और बड़ी-बड़ी आतकप्रद स्मृतियाँ उनकी आड़ में दबी पड़ी हैं जिनको बाहर लाने के लिए बाहरी दुनिया का घात-प्रतिघात अब जरूरी हो गया है।...घबड़ाते क्यों हो—स्वामीजी तो कहीं गये नहीं हैं; जब-जब आवश्यकता पड़ेगी, आते ही रहोगे।...जाओ—जीविका के लिए कोई स्थायी काम अब खोज लो, और समय-समय पर कुछ हफ्तों के लिए, जब भी अवसर मिले, आते रहना।...अचेतन की बाक़ी दबी पड़ी स्मृतियाँ भी इसी तरह, ज्यादा आसानी से और जल्दी, उमड़कर सामने आ पायेंगी।...यों भी, कोई आज ही तुम चले नहीं जा रहे हो, जो स्मृति-शृंखला इस समय निकल रही है उसे तो आठ-दस दिन के अन्दर पूरा निकाल ही डालना है—"

चौदह

कई दिन से शंकर की तबीयत कुछ ऐसी ही थी। कुछ सर्दी-जुकाम का असर; कुछ मन का भारीपन—एक बिना मतलब की उदासी, जो यों ही बीच-बीच में दिल पर छा जाया करती थी।...कालेज स्ट्रीट-हरिसन रोड के चौराहे पर ट्राम से उतर मरी हुई चाल से धीरे-धीरे वह चला जा रहा था अपने दफ़्तर की ओर, आसपास की चहलपहल से बेख़बर-सा—सड़क की सारी भागदौड़, हल-चल, शोर-गुल में एक ज़ंग-खाया पुरानापन महसूस करता।

चौराहे को पार कर, बायीं ओर मुड़, सड़क की दायीं ओर की पटरी पर वह चलने लगा उसी मरी हुई चाल से—आँखों में वही कुतूहलहीन निरुद्देश्य दृष्टि लिये।

"जय हिन्द...जय हिन्द...जयहिन्द—" छोटे-छोटे बच्चों के एक झुण्ड का समवेत स्वर सहसा दाहिनी ओर से कानों में पहुँचा, पर कोई विशेष कुतूहल नहीं पैदा हुआ उसके अन्दर। हर कोई तो आज गली-गली, कूचे-कूचे, घर-घर में, बिना मतलब चिल्लाता रहता है यह नारा।

फिर भी—केवल अपने अवसाद से ही कुछ देर को मानो राहत पाता-सा, कुतूहल न होते हुए भी मानो कुतूहलजनक कुछ पाने की खोज में, निगाह दाहिनी ओर चली गयी। स्कूल था—छोटे बच्चों का स्कूल। बरामदे में उनका अच्छा-ख़ासा एक झुण्ड जमा था और अपनी बाँहें उठा-उठाकर वे सारे बच्चे बीच-बीच में चिल्ला उठते थे: "जय हिन्द...जय हिन्द...जय हिन्द !" चेहरों पर कुतूहल था, आह्लाद था, किसी हद तक जोश भी। और, सबके सब, सामने की ओर ताक रहे थे—दूर, सड़क-पार, किसी दृश्य की ओर।

बच्चों के उस अकृत्रिम भाव-प्रदर्शन ने शंकर के मन में थोड़ा कुतूहल जगाया—सिर्फ़ इतना, कि चलना रोके बिना उसने गरदन दाहिनी ओर से बायीं ओर मोड़ उनकी समवेत दृष्टि का अनुसरण करते हुए उधर देखा।

उधर था फ़ायर ब्रिगेड का डीपो। सामने एक ट्रक तभी आकर रुका था जिसमें से सिपाही उतर रहे थे। एक 'गोरा' अफ़सर सामने खड़ा था।

चलते-चलते ही शंकर ने इतना सब देखा।

कुतूहलहीन, जीवनहीन, मुर्दनी वाली उसकी वह धीमी चाल यह ख़याल आने के बाद भी कुछ क्षण तक जारी रही कि कल से फ़ायर-ब्रिगेड वालों की हड़ताल चल रही है और शायद उसी सिलसिले में कोई कार्रवाई होगी यह। लेकिन कुछ ही क्षण तक। अचानक एक झटका-सा लगा अन्दर से, और फ़ायर-ब्रिगेड के डीपो की ओर आँखें गड़ा वह वहीं रुक गया।

और-भी बहुत-कुछ दिखाई दिया तब उसे। कुछ डटकर ही वह खड़ा हो गया—मानो वही खडे रहने की ड्यूटी दी गयी हो—और देखने लगा, अच्छी तरह से, जमकर। लाल पगड़ी वाले सफ़ेदपोश सिपाही-बिहार यू० पी० के रहे होंगे, और बाकी थे गुरखे—हवाई हमलों से बचने के लिए उन्ही दिनो ईजाद लोहे की टोपियां अपनी खोपड़ियों पर जमाये...

धीरे-धीरे शंकर ने महसूस किया, दिल के अन्दर एक गरमी-सी आ चली है—घृणा की, क्रोध की गरमी, कि बस चले तो कछुए की पीठ-सी उन लोहे की टोपियों पर दनादन-दनादन लाठियों, मुद्गरों, हथौड़ों की ऐसी चोटें करे कि टोपियो के नीचे की वे खोपड़ियाँ भुरता हो जायें...

कुछ महीने पहले, फ़रवरी के महीने में जो जन-विद्रोह हुआ था इसी कलकत्ते मे, उसमे गुरखों की काली करतूतों के खिलाफ ही जनता को सबसे ज्यादा शिकायत रही थी, जिसके चलते कलकत्ते की गुरखा बिरादरी को आम जनता के हाथो बहुत-कुछ भुगतना पड़ा था। एक किस्सा तो इस फ़ायर-ब्रिगेड डिपो के ही बारे में सुना गया था उन दिनों, जहाँ गोरी पलटन के साथ-साथ गुरखा पलटन भी ठहरायी गयी थी। रात का वक्त था, कहते हैं, एक गुरखा चाय की तलाश मे सामने वाली गली की एक चाय की दूकान मे घुसा। लेकिन फिर वह वापस नहीं लौटा। सुना, दूकानवाले ने उसके घुसते ही दरवाजा अन्दर से बन्द करके एक कनस्तर खौलता पानी उसके ऊपर डाल दिया और आनन-फानन कुछ लोगो ने मिलकर उसकी लाश न जाने कहाँ गायब कर दी।

पता नही, कहाँ तक ठीक था यह किस्सा; पर जैसा माहौल था उन दिनों, कुछ भी हो जा सकता था।

...अचानक किसी चमकती सफेद चीज ने शकर की निगाह को ऊपर की ओर खीचा—डीपो के दोतल्ले की ओर। सफेद-बुर्राक पोशाक में एक मोटी, ठिगनी, बदशक्ल-सी औरत आ खडी हुई थी बरामदे में—एकदम लाल-लाल। गोरी औरत—काले हिन्दुस्तानियों पर शासन करने वाली बिरादरी की। चेहरे पर शिक्षित बुद्धिमती महिला होने का कोई ऐसा चिन्ह नही था जिसके बल ही वह नीचे के राह-चलतों का थोड़ा-बहुत सम्मान प्राप्त करने की शायद अधिकारिणी बन सकती।

क्या उस औरत के मुकाबले उन छोटे-छोटे बच्चों का बौद्धिक स्तर रच मात्र भी उपेक्षणीय था—शकर के मन मे सवाल उठा—जो सडक के इस ओर अपने स्कूल के बरामदे मे खडे उन सिपाहियो को चिढाने की गरज से ज़ोर-ज़ोर से नारे लगा रहे थे और अपनी एक-एक भावभगी से यह जताने की कोशिश कर रहे थे कि तुम्हारी इन लाल-लाल पगडियों, कछुए-सी लोहे की टोपियो, और गोरी अफ़सरी भ्रू-भगिमा से अब हम जरा भी नही डरते?

बच्चों के उस भाव-प्रदर्शन में जहाँ एक अकृत्रिम स्वाभाविकता थी, एक अदम्य कुतूहल था, वहाँ उस गोलमटोल, फूली-फूली-सी, लाल-लाल औरत के चेहरे पर कुछ भी तो नहीं था, मामूली से मामूली कोई कुतूहल तक नहीं। मानो अभी सोकर उठी हो, अँगड़ाई लेकर वाहर निकली हो—यह देखने के लिए कि उधर क्या हो रहा है, उसकी ऊब मिटाने लायक़ वहाँ कुछ है या नहीं। नीचे झुककर उसने उन सिपाहियों पर एक नज़र डाली, ड्यूटी वदले जाने की कार्रवाई देखी, और फिर, उधर से पीठ फेर, अन्दर की ओर चल दी—वहाँ जाकर शायद फिर विछौने या आराम कुरसी पर पसर जाने के लिए, फिर अँगड़ाई पर अँगड़ाई लेने के लिए...

आग-सी लग गयी शंकर के वदन में।

आसपास उसने नज़र घुमायी, और देखा—सभी अपनी-अपनी फ़िक्र में अपने-अपने रास्ते वढ़े चले जा रहे हैं।

और, एक गहरी साँस अन्दर से वाहर निकाल, आख़िर, वह भी चल दिया।

उसकी चाल, लेकिन, वदल चुकी थी। मुर्दनी जाती रही थी। कछुए-सी टोपियों के नीचे छिपी वे अदृश्य खोपड़ियाँ उसकी आँखों के आगे नाच-नाच उठती थीं, एक अजीव-सी हलचल पैदा कर जाती थीं उसके अन्दर...

दफ़्तर में कसकर काम किया उसने उस दिन। कई दिनों से जो पिछड़े काम और भी पिछड़ते चले जा रहे थे, उन सवको पूरा कर डाला एक ही वार कलम हाथ में ले लेने के वाद। चाय पी, सिगरेट पी—एक, दो, तीन,...

और, जव लौटा—तो और दिनों के मुक़ाबले कहीं ज्यादा फुरती थी मन में, और वदन में भी...

घर पहुँचने पर, अंजलि और विनोद के साथ चाय पीने के वाद उनके कमरे में बैठा उस रोज़ की वह घटना एक नये ही जोश के साथ उन्हें सुना रहा था वह, कि मंसूर नाम का वह मुसलमान वंगाली नौजवान आ पहुंचा जो अंजलि के ही दफ़्तर में उसके नीचे काम करता था और कभी-कभी उन लोगों के यहाँ चला आया करता था। उम्र में अंजलि से तीन-चार साल छोटा था और उसे दीदी कह कर सम्वोधित करता था। पूर्वी वंगाल का रहने वाला था; कलकत्ते में नौजवानों के 'मेस' कहलाने वाले किसी होटल में रहता था। घर का सवसे छोटा और लाडला लड़का था, और शायद अंजलि में अपनी माँ या वड़ी वहन की ही कोई छवि पा गया था। विनोद और शंकर भी उसे स्नेह की दृष्टि से देखने लगे थे।

अक्सर ही वह, अंजलि के वार-वार झिड़कने पर भी, खाने की कोई चीज़ साथ लेकर आता था—कभी कोई मिठाई या नमकीन, कभी केक-पेस्ट्री, कभी मेवे ही। "तुम्हारे पास आकर, तुम्हारे हाथ का वना इतना लज़ीज़ खाना नहीं

था जाता मैं—इतनी बार ?"—अंजलि की हर बार की झिड़की के जवाब में अपनी पूर्व-बंगीय भाषा में मुसकराता वह जवाब देता; और विनोद जब सांध्य-गोष्ठी के लिए अपने किसी मित्र के घर की ओर चल देता, और शंकर भी अपने तिमंज़िले वाले कमरे में जाने के लिये उठ खड़ा होता, तब भी मयूर बैठा ही रह जाता और अपनी दीदी के पीछे-पीछे, जिसे घर का भी बहुत-सा काम करना होता था, एक कमरे से दूसरे में घूमता रहता। और या—विनोद-अंजलि के दो महीने के बच्चे 'खोकन' को कभी गोद में लेकर, और कभी उसके लेटे रहने पर उसके ऊपर झुककर, उसके साथ बच्चों की बोली में बँगला में न जाने क्या-क्या बातें करता चला जाता देर तक।

उस दिन भी मयूर कुछ मिठाइयाँ लेकर ही आया था, और फिर से एक बार जब चाय बनायी गयी और उसकी मिठाइयों के साथ साथ विनोद की माँ की गरम-गरम पकौड़ियाँ भी आने लग गयीं, काफ़ी देर पसोपेश में पड़े रहकर आख़िर शंकर मयूर से पूछ ही बैठा कि उस 'इंटरव्यू' का नतीजा क्या अभी तक नहीं जाना जा सका जो कि, मयूर की ही एक जान-पहचान की वजह से शंकर ने, कुछ दिन पहले, बंगाल के सरकारी सूचना विभाग के एक अधिकारी को हिन्दी अनुवादक के एक रिक्त पद के लिए दी थी ?

"हरामी का बच्चा है साला," पराजय की अपनी झेंप को छिपाने के लिए मयूर अब दूर के अपने रिश्तेदार उस अधिकारी को गालियाँ देने पर उतर आया, "ठीक-ठीक जवाब ही नहीं देता।"

आज पहले-पहल उस ओर से पूरी तरह निराश हो जाने पर भी शंकर को साथ ही साथ एक निवृत्ति-सी भी महसूस हुई !...जिन्दगी में पहले-पहल किसी सरकारी पद के लिए उसने दर्ख़ास्त दी थी, और सो भी बंगाल की अंग्रेज़परस्त उस सरकार के किसी दफ़्तर में जो राष्ट्रीय स्वाधीनता की विरोधी थी और जिसने इस महायुद्ध में बराबर अंग्रेज़ों का साथ दिया था। फिर भी वह उस अधिकारी से मिलने गया था। हालाँकि वह सरकारी अफ़सर, स्पष्ट ही मयूर का लिहाज़ कर, काफ़ी शराफ़त से पेश आया था, लेकिन शंकर की योग्यता और अनुभवों के बारे में क़ायल हो जाने के बाद भी उसकी राजनीतिक पृष्ठभूमि और उसके राजनीतिक विचारों को जानना उसने ज़रूरी समझा था, और शंकर ने भी अपनी बाबत उसे अँधेरे में नहीं रहने दिया था।

यों—पिछले डेढ़-दो महीने से शंकर आर्थिक दृष्टि से बहुत-कुछ स्वावलम्बी हो चला था। दिसम्बर 1945 के अन्त में उसके कलकत्ते पहुँचते ही विनोद ख़ुशी से उछल पड़ा था जब उसे पता चला कि स्वामी जी के पास निरन्तर रहने की शंकर की आवश्यकता अब पूरी हो चुकी है, और यह कि वह काम की ही तलाश में यहाँ आया है।

...महायुद्ध के कारण जहाँ एक ओर कुछ प्रकार के उद्योग-व्यवसायों को जबर्दस्त चोट पड़ी थी वहाँ युद्ध-सामग्री की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने वाले उद्योग-व्यवसायों को भारी बढ़ावा भी मिला था। विनोद की विज्ञापन एजेंसी पर महायुद्ध के आरंभ में तो कोई बुरा असर नहीं पड़ा था, लेकिन जब से कलकत्ते पर जापानी हमले की संभावना शुरू हुई थी तब से उसकी एजेंसी पर संकट आ गया था; कलकत्ते के कितने ही छोटे मोटे उद्योग और व्यवसाय चौपट हो गये थे, कलकत्ता ख़ाली होने लगा था और प्रायः इसी प्रकार के ग्राहकों के बल चलने वाली विनोद की एजेंसी की एक तरह से बधिया ही बैठ गयी थी। फिर, दूसरी चोट उस पर तब पड़ी जब उसकी एजेंसी के पार्टनर ने अलग होकर एक छोटे-से युद्ध-उद्योग में अपने किसी दूसरे मित्र के साथ साझेदारी कर ली।

लेकिन अब युद्ध समाप्त हो चुका था, और विनोद के अन्दर अपनी एजेंसी को एक बार फिर से खड़ा करने का हौसला पैदा हो गया था। पिछले कुछ साल के अन्दर धीरे-धीरे वह सिकुड़-सिमटकर इतनी छोटी रह गयी थी कि न अब उसका अलग दफ़्तर था, न कोई कर्मचारी। यहाँ तक कि सेंट्रल एवेन्यू स्थित अपने पैतृक (अवश्य किराये के ही) फ़्लैट को भी छोड़ उसे श्यामबाज़ार में अंजलि के एक बंगाली रिश्तेदार की बहुत पुरानी और टूटी-फूटी-सी हवेली में, जो बहुत ही मामूली किराये पर मिल गयी थी, अपनी गृहस्थी को भी ले जाना पड़ा था—और अपनी एजेंसी को भी। और अंजलि को भी गृहस्थी की नाव पार लगाने के लिए महायुद्ध के ही सिलसिले में शुरू किये गये एक सरकारी दफ़्तर में काम करने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा था।

एजेंसी के काम को अब फिर से आगे बढ़ाने का फ़ैसला कर लेने पर विनोद ने, अंजलि की सलाह से, इस बार न एक भी कर्मचारी बहाल किया और न दफ़्तर के लिए अलग कमरा किसी केन्द्रीय स्थान में लिया। इसकी कमी वे लोग अपने अध्यवसाय से पूरा कर रहे थे : विनोद शहर में घूम-घूमकर नये सम्पर्क स्थापित करने में अपना पूरा दिन ख़र्च करता, और अंजलि सुबह-शाम के ख़ाली वक़्त में उसके दफ़्तर को सँभालती। मगर दोनों के दोनों बुरी तरह थक जाते थे, और ख़त-किताबत वाला उनका दफ़्तरी काम इधर पिछड़ने लग गया था।

शंकर को पाकर उनकी इस समस्या का आसानी से समाधान हो गया। सुशीला अभी आश्रम में ही रहने वाली थी, और शंकर अकेला था। अगर उसे अपनी पसन्द का कोई काम कलकत्ते में मिल भी गया तब भी अपने ख़ाली वक़्त में वह उनकी एजेंसी का काफ़ी बोझ हलका कर दे सकेगा।

उन लोगों की मदद करने में शंकर को खुशी ही हुई, लेकिन साथ ही साथ अपनी पृथक जीविका की खोज में भी वह जोश के साथ जुटा रहा।

सन्तराम की मासिक पत्रिका 'चंचला' की इधर काफ़ी तरक्की हुई थी, और

उमे अब इतने विज्ञापन मिलने लग गये थे कि थोड़ा-बहुत मुनाफ़ा भी हो चला था ! झिझकते-झिझकते उन्होंने शंकर के सामने पहले सिर्फ़ 'प्रूफ-रीडिंग' वाले काम को देख लेने का प्रस्ताव रखा जिसे वह एक दैनिक पत्र के किसी उप-सम्पादक को पचास रुपये मासिक देते हुए कराते थे; फिर, दो महीने बाद, लेखों, कहानियों, कविताओं को सम्पादित करने का काम भी उसके सुपुर्द करके एक सौ रुपया मासिक उसे देने लग गये, जिसने शंकर को बहुत-कुछ निश्चिन्त कर दिया। इतनी आमदनी से, खींच-तान कर, किसी तरह उसका काम चल ही जाता था, और दूसरी ओर फ़ायदा यह था कि उस छोटी-सी पत्रिका का काम करने के लिए उसे महीने मे दो-ढाई हफ्ते से ज्यादा दफ़्तर जाने की जरूरत नही थी। इस तरह, हर महीने ही, हफ़्ते डेढ़ हफ़्ते के लिए वह स्वामीजी के पास आश्रम रह आता था जो कलकत्ते से बहुत ज्यादा दूर नही था और जहाँ पहुँचने पर अचेतन की उसकी स्मृति-शृंखला की कुछ और कड़ियों के उधड़ने के साथ साथ बौद्धिक स्तर पर अपने को देखने की प्रक्रिया भी कुछ आगे बढ़ती चल रही थी।

शंकर हर बार यह देख ताज्जुब में पड़ जाता—स्वामीजी के पास आश्रम पहुँचकर—कि घृणा, द्वेष और क्रोध का अक्षय-सा भंडार अब तक भी दबा ही पड़ा हुआ था उसके अन्दर की गहराइयों मे...पिछले साल उसका उतना जबर्दस्त सफ़ाया कर चुकने के बाद भी वह अभी तक उससे छुट्टी क्यों नही पा सका है ..?

"जितना निकलता चल रहा है...उसे बाहर निकालते चलो—" स्वामीजी ने उसकी अधीरता को देख उसे जवाब दिया था..."और साथ ही साथ बाहर की दुनिया में...अपने रोजमर्रा के संघर्ष में जो टक्करें लगती चलती हैं उन पर पूरी नजर रखो...अतीत की उन घटनाओं के साथ उनकी कार्य-कारण परम्परा को ठीक बिठाते चलो।...धीरे-धीरे सब-कुछ ठीक हो जायेगा—"

उस दिन का वह अनुभव अपने ढंग का पहला अनुभव था उसका—जब फ़ायर ब्रिगेड के डीपो के सामने वाली उस घटना ने उसके तन-बदन मे आग-सी लगा दी थी, घृणा-द्वेष-क्रोध की आँधी उठा दी थी उसके अन्दर, और अन्त में जाकर उलटे उसके अन्तस्तल को शीतल और सन्तुलित करने मे सहायक सिद्ध हुई थी, उसके अवसाद को घटाने मे मददगार साबित हुई थी। घृणा-द्वेष-क्रोध जैसे कलुषित समझे जाने वाले निषिद्ध भावों को खुलकर छूट देने की बात उसके दिल ने अचेतन में दबी पड़ी स्मृतियों के ही सिलसिले में तब तक स्वीकार की थी, बाहरी दुनिया के सन्दर्भ मे भी उनकी इस प्रकार की स्वस्थ परिणति हो

सकती है—यह वह कहाँ पहले जानता था ?

यों, बौद्धिक स्तर पर, घृणा या द्वेष के महत्त्व को अवश्य उसने कुछ साल पहले तभी से आन्तरिकता के साथ स्वीकार करना शुरू कर दिया था जब जर्मन-रूसी युद्ध के सिलसिले में शत्रु देश के प्रति घोर घृणा उत्पन्न करने वाले स्तालिन के किसी वक्तव्य के प्रसंग में स्वामीजी के सामने बात चल निकलने पर, गांधीवादी अपनी पिछली विचारधारा के ही कुछ बचे-खुचे अंशों के प्रभाव में, शंकर ने स्तालिन की कुछ नुकताचीनी की थी, और स्वामीजी ने स्तालिन का समर्थन किया था। युद्ध युद्ध है, और वह जीतने के लिए ही लड़ा जाता है—स्वामीजी ने दलील दी थी। युद्ध में जीत के लिए जरूरी है सैनिकों के अन्दर जोश पैदा करना, अपने देश के प्रति प्रेम और शत्रु देश के प्रति घृणा के भावों को अधिक से अधिक बढ़ावा देना। घृणा और विद्वेष जगाकर ही सैनिकों में जोश पैदा किया जा सकता है, उन्हें क्रोध के चरम शिखर तक पहुँचाया जा सकता है...

1942 के 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन में शंकर ने प्रत्यक्ष रूप से भले ही भाग न लिया हो, उस आन्दोलन को उसने भले ही समयानुकूल न माना हो, किन्तु उसके चलते समूचे देश में अंग्रेजी शासन के ख़िलाफ़ जो ज़बर्दस्त घृणा पैदा हो गयी थी और फलस्वरूप कुछ समय तक हिंसा और तोड़फोड़ की जो कार्रवाइयाँ हुई थीं उन्होंने उसके अन्दर भी अंग्रेज-विद्वेष की सुलगती आग को उभाड़ा ही था। और—अभी कुछ महीने पहले, फ़रवरी 1946 में, कलकत्ते में उसकी आँखों के सामने जो प्रचण्ड जन-विद्रोह हुआ था उसने भी उसे भारी सन्तोष दिया था।

...बनारस से शोभाराम कलकत्ते आये थे कुछ दिनों के लिए, और अपने किसी धनी सम्बन्धी के यहाँ ठहरे थे। एक दिन उन्हीं की गाड़ी में शोभाराम के साथ शंकर भी सैर करने के लिए डायमण्ड हार्बर गया था और लौटते-लौटते अँधेरा हो गया था। धरमतल्ला स्ट्रीट वाले केन्द्रीय कलकत्ता स्थित उनके मकान तक पहुँचते-पहुंचते पता चला कि कोई बहुत संगीन मामला हो गया है शहर में कहीं...तेजी के साथ सारी दूकानें बन्द होती चली गयीं...ट्राम-बसें सड़कों पर से, देखते ही देखते, ग़ायब हो गयीं...मोटर-टैक्सी-रिक्शा भी कभी ही कभी, छिटपुट रूप में, दिखाई पड़े—मानो तेज़ी से दौड़कर वे भी अपनी माँद में जा दुबकने के लिए बेताब हों...

शोभाराम और उनके मेजबान दोनों ने ही रात के लिए शंकर को वहीं रोकने की बहुत कोशिश की, लेकिन शंकर नहीं रुका। श्यामबाज़ार में विनोद और अंजलि तो उसका इंतज़ार करेंगे ही, लेकिन उन दिनों अंजलि के बच्चा होने के सिलसिले में सुशीला भी आश्रम से आयी हुई थी; उसे तो बेहद फ़िक्र हो

जायेगी, जब तक शंकर घर नहीं पहुँचेगा।...

लेकिन सभी बड़े रास्ते तब तक वीरान हो चुके थे, और कुछ नहीं कहा जा सकता था कि कहाँ, किस जगह, किस तरह की संगीन स्थिति का मुकाबला करना पड़ जाय। शोभाराम के मेज़बान ने, जो कलकत्ते के पुराने बाशिन्दा थे, तब उसके साथ अपना एक लठियल जवान कर दिया—मिर्ज़ापुरी पहलवान—जो कलकत्ते के प्रायः हर गली-कूचे से परिचित था। धरमतल्ला स्ट्रीट से लेकर ठेठ श्यामबाज़ार तक हर बड़े रास्ते से बचता जिन चक्करदार गली-कूचों में होकर वह उसे ले गया उनकी वजह से पाँच-छः मील का सीधा रास्ता बढ़ कर सात-आठ मील हो गया, लेकिन चार-चार, पाँच-पाँच या कभी-कभी आठ-आठ, दस-दस तक लोगों के जो झुंड इन गलियों में जगह-जगह खड़े मिले, उनसे बहुत-कुछ जानकारी भी मिलती चली गयी।

यों, 'दंगा-फसाद' के मूल कारण की बाबत अलग-अलग लोगों से अलग-अलग बयान सुनने को मिले, लेकिन इसमें शक नहीं रह गया कि जो आग उस शाम अचानक भड़क उठी थी वह अंग्रेज़ों के ही खिलाफ थी, और सबसे ज़्यादा दहशत चौरंगी के आसपास के इलाके में रहने वाले अंग्रेज़ों या एंग्लो-इंडियन लोगों के ही दिलों में थी, जिनमें से एक भी कहीं घर से बाहर नहीं दिखाई दिया था 'हंगामे' की ख़बर फैलने के कुछ ही देर बाद से।

किसी का कहना था कि सेंट्रल एवेन्यू पर किसी अंग्रेज़ ने अपनी मोटर से सात-आठ साल के किसी बंगाली लड़के को दबा दिया था, जिसके बाद कुछ नौजवानों ने उस गाड़ी को किसी तरह रोक़ उसके पेट्रोल में दियासलाई की जलती सलाई फेंक आग लगा दी थी।...किसी के अनुसार उस अंग्रेज़ की उसी दम हत्या करके उसे घसीट सड़क के किनारे के एक 'मैन-होल' को खोल उसमें डाल दिया गया था...किसी के अनुसार उस गाड़ी से उसे निकलने ही नहीं दिया गया था, उसी में भुनकर वह ख़त्म हो गया था...

अगले कई दिन तक कलकत्ते की ज़िन्दगी में एक तूफ़ान चलता रहा था... बात-बात पर हड़ताल···दूकान-पाट बन्द···ट्राम-बसों का चलना किसी वारदात की वजह से अचानक ही बीच में रुक जाता। शंकर को अपने दफ्तर तक का सफर श्यामबाज़ार से बड़ाबाज़ार तक पैदल ही करना पड़ता, और रास्ते में जहाँ-तहाँ वह देखता, कोई ख़ाली ट्राम खड़ी धू-धू जल रही है।

...1942 में पहले-पहल इस तरह के दृश्य देखे थे शंकर ने—इसी कलकत्ते में, जब कि 9 अगस्त को 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में 'करो या मरो—' की गांधीजी की पुकार पर, सारे नेताओं के पहले ही दिन गिरफ्तार कर लिए जाने के बावजूद, देश-भर में जन-विद्रोह भड़क उठा था, और पश्चिम की सारी रेल-गाड़ियों के बन्द हो जाने की वजह से शंकर को कुछ दिन तक कलकत्ते में ही अटके

रह जाना पड़ा था। तब भी वह विनोद-अंजलि के पास ही ठहरा हुआ था।... देशभक्ति के नाम पर प्राण तक दे देने के एक विवशता-जनित जिस आग्रह ने 1930 में उसे दांडी-यात्रा में शामिल होने के लिए प्रेरित किया था उसका मोह स्वामीजी की छत्रछाया में आने पर काफ़ी पहले ही कट जा चुका था, और 1942 के उस आन्दोलन के प्रति वैसे भी वह आकृष्ट नहीं हुआ था—उसकी विफलता को सुनिश्चित मानते हुए।...फिर भी, गाड़ियों के रुक जाने की वजह से और कलकत्ता शहर में भी होती रहने वाली छिटपुट कार्रवाइयों के चलते उन दिनों जो समाँ वहाँ उसे दिखाई दिया था उससे रह-रहकर उसके अन्दर एक जोश ज़ोर मार उठता, विनोद-अंजलि की चेतावनियों की उपेक्षा कर वह बाहर निकल पड़ता, और जिधर भी कोई सनसनी नज़र आती उधर ही चल देता। कितनी बार, उन कुछ ही दिनों के बीच, अन्य यात्रियों के साथ खुद भी उसे अपनी ट्राम छोड़ उतर-उतर जाना पड़ता, और फिर, बाक़ी सबों की तरह उस रुकी ट्राम से दूर खड़े हो उसके जलाये जाने के अभूतपूर्व दृश्य को देख पुलकित हो उठता।... ट्राम की पीठ वाला जो डण्डा ऊपर के बिजली के तार को छूता चलता था उसकी रस्सी खींच कोई नौजवान चलती ट्राम को बीच में ही रोक देता और उसी ट्राम में से कुछ नौजवान शोर मचाकर बाक़ी सभी यात्रियों को उतर जाने का सिग-नल देते : जिसके बाद कुछ लड़के सेफ्टी रेज़र के ब्लेड से फ़र्स्ट क्लास वाले डिब्बे की गद्दियों को चीर उनमें दियासलाई जला आग लगा देते...

और—जब पुलिस को दूर से आते देखते, तो वे सभी लड़के, और उनके पीछे-पीछे वे यात्री और अन्य तमाशबीन भी, सड़क के अग़ल-बग़ल की गलियों में दौड़ कर जा छिपते...

कुछ लड़के अवश्य पुलिस के आने पर भी डटे रहते थे, जो अपने को गिरफ़्तार करा देते : शंकर के अन्दर तब 1930 और 1932 के आन्दोलनों में खुद शामिल होने की याद उमड़ आती, और एक ज्वार-सा उठता उसके अन्दर, कि उन बहादुर लड़कों के साथ-साथ खुद को भी वह पुलिस के हवाले कर दे...

लेकिन कलकत्ते में तब जापानी हमले का मुक़ाबला करने की ज़बर्दस्त तैयारी थी, और ब्रिटिश-अमरीकी फ़ौजों का वह बहुत बड़ा अड्डा बन चुका था। 1942 वाला वह विद्रोह, इसलिए, कलकत्ते में ज़्यादा ज़ोर नहीं पकड़ पाया, और शंकर भी, पच्छिम के लिए पहली गाड़ी का चलना शुरू होते ही, बनारस के लिए रवाना हो गया था...

मगर इस बार का यह जन-विद्रोह बिलकुल ही भिन्न परिस्थितियों में भड़का था। यों भी वह बिलकुल दूसरे ही क़िस्म का था। फिर यह, सिर्फ़ कलकत्ते तक ही सीमित था, और देश की किसी भी राजनीतिक पार्टी की प्रेरणा उसके पीछे नहीं थी, कांग्रेस का तो उसमें कोई अप्रत्यक्ष भी हाथ नहीं था। स्पष्ट ही

यह एक जन-विद्रोह था जो सचमुच आप-से-आप भड़क उठा था—देश की सहसा जाग्रत हो उठी राजनीतिक चेतना के परिणामस्वरूप। इसकी सबसे बड़ी और अभूतपूर्व विशेषता यह थी कि अंग्रेज का डर, गोरे चमड़े का आतंक, यहाँ तक कि गोरी फ़ौज वाला हौआ भी जैसे पलक मारते कलकत्ते के नौजवानों के ही नहीं, बच्चों तक के दिल-दिमाग से गायब हो गया था...

कई दिन तक चला था फरवरी 1946 का वह जन-विद्रोह। बाहर निकलने पर कभी-कभी शंकर को अचानक दिखाई पड़ता—कुछ नौजवान, जिनके गिरोह में दस-बारह साल के बच्चे तक दिखाई देते, तेज़ी से कुछ ड्रमों को बगल की किसी गली से लुढ़काते सड़क के बीचोंबीच ले आये हैं, और फिर जल्दी-जल्दी एक के बाद एक, इस तरह उन्हें एक कतार में जमा दिया है कि हर गाड़ी को वहाँ आकर रुकना ही पड़ेगा। कुछ ही क्षणों बाद एक ओर से पुलिस या फ़ौज की कोई गाड़ी आती दिखाई देती, जिसे वहीं रुक जाना पड़ता। कुछ गोरे और हिन्दुस्तानी—अफ़सर और सिपाही—उतर पड़ते, गुस्से से लाल-पीले होते इधर-उधर नज़र दौड़ाते, फिर उन ड्रमों को वहाँ से एक ओर हटा गाड़ी के लिए रास्ता बनाते। तब तक, न जाने कैसे और कहाँ से कोई पटाखा-सा छूटता जो उस गाड़ी पर ही जाकर फटता।...अगले कुछ ही क्षणों में गाड़ी धू-धू करके जलने लग जाती।... बौखलाए अफ़सर और सिपाही—ख़ास तौर से गोरा-अफ़सर—हाथ-पाँव पटकते, चिल्लाते-चीख़ते, इधर-उधर दौड़ते नज़र आते; कुछ तो बगल-बगल की गलियों में भी बन्दूकें ताने कुछ दूरी तक एक दौड़ लगा आते, लेकिन कहीं कोई नज़र न आता; नज़र अगर आते तो सिर्फ़ राह-चलते कुछ ऐसे लोग, जिनकी ओर सिर्फ़ आँखें तरेर कर ही वे अफ़सर-सिपाही रह जाते: उन्हें छेड़कर कोई नया हंगामा खड़ा करने के बजाय वे फिर वहाँ से पैदल ही किसी ओर रफ़ू-चक्कर हो जाने में अपनी ख़ैरियत देखते...

किसी तमाशबीन के तौर पर ही यह सब देखते हुए भी शंकर के ख़ून की गरमी और तेज़ी ऐसे मौकों पर काफ़ी बढ़ जाती; लेकिन उसके सामने अपनी शैशव-कालीन जकड़ से पूरा छुटकारा पा जाने और जीवन-संग्राम में भिड़कर अपनी जीवनी शक्ति को स्फुटित करने का जो ध्येय अब स्पष्ट हो चुका था उसके कारण इस तरह की कार्रवाइयों में प्रत्यक्ष भाग लेने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था, स्वामीजी के आदेश से आज वह जीविका की तलाश में कलकत्ते आया हुआ था, *और जल्द-से-जल्द न सिर्फ़ पूर्णतया स्वावलम्बी बन जाने की दिशा में प्रयत्नशील* था, बल्कि अपनी भौतिक इच्छाओं, आशाओं और आकांक्षाओं को भी तृप्त करके अपने को सार्थक कर दिखाने की लगन थी।...

फ़ौज और पुलिस की गश्ती गाड़ियों की भाग-दौड़ और हर बड़े चौराहे पर फ़ौजी दस्तों के तैनात कर दिये जाने के बाद जब आख़िर फिर से कलकत्ते में

अपेक्षाकृत 'शान्ति' लौट आयी, उसके बाद भी हफ़्तों तक किसी 'सिवीलियन' गोरे को चौरंगी-पार्कस्ट्रीट जैसे इलाक़ों तक में, जो कि उनके गढ़ थे, बिना हिफ़ाज़ती इन्तज़ाम के, और खुल्लमखुल्ला, घूमते नहीं देखा जा सकता था।...बल्कि, एक बार तो शंकर तक को अपने पक्ष की एक ज़्यादती खल गई थी जब उसने सियालदा से बस में बैठ जाने के बाद पाया कि वह बस चलने का नाम ही नहीं लेती, क्योंकि—कुछ देर बाद ही वह जान पाया—उसमें एक वृद्ध अंग्रेज़ दम्पती बैठे पाये गये थे, और बाक़ी यात्रियों ने बस को तब तक शोर मचा-मचा कर चलने से रोक रखा था जब तक कि वे 'गोरे' उतार नहीं दिए जाते। ड्राइवर और कण्डक्टर ने भी कुछ देर तक यात्रियों के साथ हुज्जत की, लेकिन आख़िर बस तभी चलने दी गयी जबकि सिर झुकाये हुए उस आतंकग्रस्त गोरे दम्पती को चुपचाप उस बस पर से उतर जाना पड़ा।...क्या इन बूढ़ों पर भी रहम नहीं करेंगे हम लोग—शंकर ने बीच में पड़कर बार-बार कहना चाहा था, लेकिन कह नहीं पाया। घृणा का, द्वेष का, क्षोभ का जो ज्वार उठ खड़ा हुआ था जनता के दिल में, वह क्या अकारण था?...अंग्रेज़ों ने क्या कम पीसा और दुहा था हिन्दुस्तान के लोगों को? बदला लेने की आग के भड़क उठने पर अगर आज दया-माया सभी को उन्होंने तिलांजलि दे दी है तो गेहूँ के साथ घुन को तो पिसना ही होगा...

लेकिन परम ओजस्वितापूर्ण जो एक चित्र—फ़रवरी के उस जन-विद्रोह का—शंकर के दिल पर अभी तक पूरी तरह और गहराई के साथ अक्स रह गया था वह तो नौ-दस साल के उस ज़रा-से किशोर बंगाली लड़के का था जिसे शंकर ने एक दिन एक ऐसी हरकत करते देखा था जिसकी उसके सामने कोई मिसाल नहीं थी...

श्यामबाज़ार के पाँच रास्तों वाले चक्कर को कार्नवालिस स्ट्रीट की तरफ़ से पार करके सीधे उत्तर की ओर शंकर सड़क की बायीं पटरी पर धीरे-धीरे चला जा रहा था। उस चक्कर के बीच बने ट्राफ़िक के टापू पर बन्दूकें या पिस्तौल लिए दो-तीन गोरे फ़ौजी अफ़सर थे, और कई गुरखे सिपाही। उस टापू से काफ़ी दूर से भी गुज़रते हुए, रोज़ की ही तरह, उस दिन भी शंकर अंदर ही अंदर किसी हद तक सहमा रहा था, हालांकि अपनी निर्भीकता का मानो प्रमाण देने के लिए उसने बीच-बीच में दो-चार बार उस ओर सीधी नज़र उठा ताक भी लिया था।...और उस चक्कर को पार कर आने के बाद अनजाने ही जब उसके अन्दर से राहत की एक हल्की साँस निकल पड़ी थी तब अन्दर-ही-अन्दर कम शर्मिन्दा नहीं हुआ था अपनी बुज़दिली पर।

पटरियों को छोड़ सड़क पर राहगीरों का चलना मना था; सड़क की दोनों ही पटरियों के किनारे, थोड़े-थोड़े फ़ासले पर, गुरखे या गोरे फ़ौजी बन्दूक या

पिस्तौल लिए खड़े थे, और हर राहगीर पर उनकी निगाह थी।

सभी लोगों की तरह शंकर भी पटरी पर ही चला आ रहा था। अच्छा जरूर नहीं लगता था, इस तरह का वह फौजी नियंत्रण। मगर वीरता के दर्प के प्रदर्शन में भी कोई तुक नहीं थी।

फिर भी, किसी गोरे फौजी को देख जब-जब उसे अपने अन्दर हल्की-सी एक दहशत का पता चलता, प्रतिक्रिया स्वरूप वह बाहर से कुछ तन जाता। तब वह अपने ही सामने मानो अपनी निर्भीकता किसी हद तक सिद्ध करने के लिए, सड़क के उस पार की दाहिनी ओर वाली लम्बी और बड़ी इमारत की दूसरी मंजिल के बरामदे में से झांकते उन गोरे सिपाहियों की ओर एक नजर डाल ही लेता जिनकी एक टुकड़ी उस इमारत को दखल करके उसमें बिठा दी गयी थी।

कई दिन हो चुके थे उस 'दंगे' को शान्त हुए। कई दिन से कहीं कोई वारदात सुनने को नहीं मिली थी। लेकिन फौजी नियंत्रण अभी भी कड़ा था।... सड़क की दोनों पटरियों पर राहगीरों की आमद-रफ्त फिर पहले जैसी हो चुकी थी, और सबसे बड़ी बात जो शंकर के अन्दर हैरत पैदा करती थी वह यह कि सभी राहगीर जैसे उस फौजी बल-प्रदर्शन की ओर से तटस्थ थे, किसी के भी चेहरे पर डर या आतंक का कोई भाव नहीं था, मानो गोरी चमड़ी वाले उन सन्तरियों और उनकी पिस्तौलों और बन्दूकों का उनके लिए कोई महत्त्व ही न रह गया हो...

इन्हीं सब बातों में मशगूल-सा शंकर इस ओर की पटरी पर आगे की ओर धीरे-धीरे बढ़ा जा रहा था, कि अचानक उसका ध्यान अपने आगे-आगे चलते, नौ-दस साल के उस बंगाली लड़के की ओर गया। अकेला ही था वह, और शायद यहीं आसपास कहीं रहता होगा। आधी बांहों की एक कमीज़ और हाफ-पैंट पहने था, और उसकी निगाह कभी पटरी पर खड़े किसी सन्तरी की ओर जाती, कभी सड़क पार उस दुमंजिला इमारत के बरामदे से झांकते फौजी गोरों की ओर।

अचानक शंकर ने देखा, वह लड़का चलते-चलते पास खड़े गोरे सन्तरी के पास जाकर रुक गया है। शंकर भी ज़रा रुका—उस लड़के का मतलब भांपने के लिए। दो-चार पल वहीं खड़े रहकर उस लड़के ने उस सन्तरी का मानो सिर से पांव तक मुलाहज़ा किया, और ताज्जुब के साथ शंकर ने देखा—उस गोरे ने उस लड़के की ओर से नजर हटा सड़क की ओर मुंह फेर लिया है।

मगर वह लड़का भी एक ही था। गोरे सन्तरी की बग़ल में होकर, उस पटरी को छोड़ वह सड़क पर उतर गया, फिर उसके किनारे-किनारे कदम रखता—उस सन्तरी के चेहरे की ओर अपना सिर उठा उसे घूरता—धीरे-धीरे आगे बढ़ फिर अपनी पटरी पर वापस आ गया।

गोरा सन्तरी जैसा का तैसा खड़ा रहा—किसी लैम्प-पोस्ट की तरह सीधा

तना। न उसने उस लड़के को सड़क पर उतरने से रोका, न अपने सामने होकर उस तरह धृष्टतापूर्वक क़दम बढ़ाते चलने से।

शंकर दंग रह गया था दोनों ही बातों से : उस लड़के की वह अति सहज निर्भीकता, और उस गोरे सन्तरी की निःस्पृह तटस्थता—मानो वह भी बर्रों के छत्ते में अकारण हाथ न डालने की क़सम खा चुका हो।

दूसरे महायुद्ध में विजयी होकर भी अंग्रेज़ अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर पिट चुके थे। महायुद्ध के दौरान एक ज़माना आया था जब ब्रिटेन को अपने प्राणों के लाले पड़ गये थे, और आत्मरक्षा के लिए उसे अमरीका के पास एक तरह से अपने को बंधक रखने के लिए ही बाध्य हो जाना पड़ा था।...आख़िर जब उसकी जीत हुई तब तक महायुद्ध में उसकी भूमिका बहुत कुछ गौण हो गयी थी : सोवियत रूस में जब जर्मनी की पराजय ध्रुव निश्चित हो उठी, सिर्फ़ तब जाकर अमरीकी-ब्रिटिश फ़ौजों ने पश्चिम से जर्मन शक्ति पर आक्रमण किया, और जब अन्त में पूरब और पच्छिम दोनों ओर के आक्रमणों के सामने जर्मनी को आत्म-समर्पण करने के लिए विवश हो जाना पड़ा तब तक विजेता राष्ट्रों में शक्ति के गढ़ बन चुके थे सोवियत रूस और अमरीका।

अंग्रेज़ों की सारी हेकड़ी गुम हो चुकी थी—महायुद्ध का अन्त हो चुकने पर। यहाँ तक कि ख़ुद उन्हीं के देश में, घोर संकट काल का उनका सबसे बड़ा नेता और त्राता चर्चिल, युद्धोत्तर चुनावों में हरा दिया गया था, और यथार्थवादी राजनीति के आने वाले युग का सामना करने के लिए अंग्रेज़ों को बाध्य हो जाना पड़ा।

1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में गिरफ़्तार लोगों को अब तक छोड़ा जा चुका था, और यह समझ लिया गया था कि इस देश को अब और अधिक काल तक अपना गुलाम बनाकर रख सकना दिन पर दिन असंभव होता जायेगा। ब्रिटेन के नये मंत्रिमण्डल ने अपना एक उच्चस्तरीय प्रतिनिधि मण्डल भारतीय नेताओं के साथ सन्धि-वार्त्ता के लिए भारत भेजा जिसने अपने लिए अनुकूलतम शर्तों पर सत्ता-हस्तान्तरण की कोशिश के लिये विभिन्न दलों के नेताओं से बात की। जिन प्रान्तों में युद्ध छिड़ने पर कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़े दे दिये थे वहाँ फिर से चुनाव कराये गये, और कांग्रेस फिर से उन प्रान्तों में अत्यधिक बहुमत से विजयी होकर सत्तारूढ़ हुई। सन्धि-वार्त्ता अब केन्द्रीय सत्ता को लेकर शुरू हुई थी...

कांग्रेस की शक्ति 1942 के आन्दोलन के दबा दिये जाने पर तब तक बहुत-कुछ क्षीण हो चुकी थी, लेकिन उसके नेता अंग्रेज़ों की शक्ति के ह्रास से बेख़बर

नहीं थे। वे पूरी सत्ता से कम पर राजी होने को तैयार नहीं थे, लेकिन दूसरी ओर जिन्ना के नेतृत्व में मुसलिम लीग की देश-विभाजन की माँग तीव्र होती जा रही थी। हालाँकि देश की आज़ादी की लड़ाई से जिन्ना और मुसलिम लीग का कोई वास्ता नहीं रहा था, फिर भी ब्रिटिश सरकार ने, स्वभावतः, उन्हें काफ़ी से ज्यादा ही महत्त्व दिया। नतीजा यह हुआ कि संधि-वार्त्ता विफल हुई और प्रतिनिधि मण्डल को वापस लौट जाना पड़ा।

दूसरी ओर, महायुद्ध का अन्त होने के साथ ही साथ एक बहुत बड़ी दुर्घटना यह हुई कि भारत की पूर्वोत्तरीय सीमा पर डटे जापानियों ने भारतीय युद्ध-बन्दियों को लेकर जिस आज़ाद हिन्द फ़ौज के गठन के लिए सुविधाएँ दी थीं उसके नेता सुभाष बोस, जिन्हें 'नेताजी' कहकर पुकारा जाने लगा था, एक हवाई दुर्घटना में मारे गये। सारे देश में उनके लिए शोक की जबर्दस्त लहर फैल गयी, और, 'आजाद हिन्द फौज' के अफ़सरों और सैनिकों को गिरफ़्तार करके जब अंग्रेजों ने दिल्ली के लाल किले में उन पर फ़ौजी मुकदमा चलाया तो नेताजी सुभाष बोस और आज़ाद हिन्द फौज की बहादुरी का सारे देश में जयजयकार होने लगा, उन सभी बन्दियों की रिहाई के लिए हर ओर से आवाज बुलन्द होने लगी। अंग्रेजी सरकार को घबड़ाहट हुई, और लाल किले में चलने वाले फ़ौजी मुकदमे को उसे आखिर एक ऐसे खुले मुकदमे की शक्ल देनी पड़ी जिसमें देश के बड़े से बड़े वकीलों ने आजाद हिन्द फौज वाले बन्दियों की ओर से बहस की। कांग्रेस ने इस मौके से पूरा फ़ायदा उठाया और अपने अन्यतम वकील भूलाभाई देसाई के नेतृत्व में कांग्रेसी वकीलों को इस मुकदमे की पैरवी के लिए तैनात किया। यहाँ तक कि जवाहरलाल नेहरू भी, प्रतीक-स्वरूप, फौजी अदालत में बैरिस्टर वाली अपनी पोशाक पहनकर जा खड़े हुये।

'आज़ाद हिन्द फ़ौज़' ने अगर अपने सिपहसालार सुभाष को 'नेताजी' की उपाधि से विभूषित किया था, तो 'नेताजी' ने भी आजाद हिन्द फौज को फौजी अभिवादन का एक नया नारा दिया था : जय हिन्द। यह नारा भारत स्थित सभी सम्प्रदायों और जातियों को उनके भेदभाव से ऊपर उठाने के लिए था—उन्हें एक करने के लिए।

जवाहरलाल नेहरू ने, परम राजनीतिक विचक्षणता के साथ, इस नारे को समूची भारतीय जनता के नये नारे के रूप में ग्रहण कर, नेताजी के प्रति उमड़ उठी जनसाधारण की अगाध भक्ति में अपना योगदान दे स्वयं भी उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की।

'नेताजी की जय,' 'जय हिन्द'—के नारों से समूचे भारत का आकाश गूँजने लगा, और जनवरी 1946 में सुभाष बोस का जन्मदिन सारे देश में अभूतपूर्व उत्साह के साथ मनाया गया। कलकत्ते में तो वैसा महापर्व पहले कभी देखने

में नहीं आया था।

प्रवल जन-मत के सामने झुककर जब ब्रिटिश सरकार को आजाद हिन्द फ़ौज के सभी अफ़सरों और सैनिकों को, फ़ौजी अदालत द्वारा दोपी करार दिये जाने के वावजूद, रिहा करने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा, तव तो सारे देश में इस जीत की खुशी की एक आँधी ही आ गयी, और 'नेताजी' के तीन प्रमुख सहायकों—शाह नवाज़ ख़ाँ, ढिल्लन और सेहगल—का देश के प्रमुख नगरों में ऐसा स्वागत किया, जैसा कांग्रेस के वड़े से वड़े नेता—गांधी और जवाहरलाल नेहरू तक का—पहले कभी कहीं नहीं किया गया था। कलकत्ते का यह स्वागत समारोह तो वहाँ की पिछली सभी सीमाओं को पार कर गया था।

उधर भारतीय फ़ौज में भी विद्रोह के लक्षण दिखाई देने लग गये थे। उसी फ़रवरी 1946 में, जबकि कलकत्ते में वह जन-विद्रोह आप-से-आप भड़क उठा था, वम्वई में भी, एक ज़वर्दस्त 'उपद्रव' हुआ। नौसेना के भारतीय सैनिकों ने, गोरे नौसैनिकों के प्रति किये जाने वाले पक्षपात के विरोध में वहाँ विद्रोह कर दिया था जिसके समर्थन में सारे वम्वई शहर में ज़वर्दस्त हड़ताल चली, विराट प्रदर्शन हुए। कितनी ही सरकारी इमारतों में आग लगा दी गयी, कितनी सरकारी सम्पत्ति फूँक डाली गयी। पुलिस ने गोलियाँ चलायीं और सैकड़ों लोग मारे गये। अगर सरदार पटेल की मध्यस्थता को स्वीकार करने के लिए अंग्रेज़ी सरकार वाध्य न हुई होती तो पता नहीं विद्रोह की वह आग भी कहाँ तक पहुँचती।

शंकर के अन्दर भी एक आग-सी कभी-कभी अचानक धधक उठती थी—घृणा की, द्वेप की आग...

लेकिन सवा साल तक स्वामीजी के पास उस अँधेरी वन्द कोठरी में घृणा और द्वेप के अपने जिन आदि स्रोतों की भीषण झाँकियाँ वह पा चुका था वे दिन-भर की अपनी रोज़मर्रा की हरक़तों की ओर उसे वहुत-कुछ चौकन्ना रखती थीं और हर रात सोने से पहले विस्तर पर कुछ देर आँखें वन्द करके वैठ जाने पर वह उस दिन की दुनिया के सूत्र को उस अतीत की दुनिया के धागे से जोड़ देता था।...किस तरह वह यह देख अक्सर ही दंग रह जाता था कि उस दिन के उसके भावावेग—घृणा, द्वेप और राग-विराग—उस अतीत के ही भीपण और निरुद्ध भावों की प्रतिक्रिया थे जो अत्यन्त प्रवल वेग के साथ वाहर आकर भी अभी तक किन्हीं न किन्हीं परतों के वीच दवे रह गये थे, और अव वाहर की हलकी-सी चिनगारी से फिर भड़क उठते थे।

उस रात को, सेंट्रल एवेन्यू पर फ़ायर व्रिगेड के डीपो के सामने खड़े वच्चों के प्रचण्ड उत्साह के वाद उस डीपो के सामने आ खड़ी जीप में से उतरने वाले

गोरों और गुरखों, और फिर उस डीपो के दो-मंजिले पर बरामदे में आ खड़ी हुई उस गँवार, फूहड़ और आत्म-केंद्रित 'गोरी' औरत के खिलाफ भी, अपने अन्दर उसने जिस घृणा और विद्वेष का सचार होता पाया था, वह भी अन्त में सुदूर बचपन के चित्रों में किसी समय मिलकर धीरे-धीरे एकाकार हो गया...

लेकिन उस दिन तक भी शंकर को यह कहाँ पता था कि कुछ ही दिन बाद उस कलकत्ते शहर में घृणा और द्वेष की जो प्रचण्ड आग लगने वाली है वह उसके भी अन्दर और बाहर कितना-कुछ उलटने-पलटने जा रही है।

पन्द्रह

अल्लाहो अकबर—

कायदे आज़म जिन्दाबाद—

लड़कर लेंगे पाकिस्तान—

ज़ोर-ज़ोर से नारे लगाते, हाथों में लाठियाँ, बल्लम, सोंटे घुमाते या उछालते, तरह-तरह की ऊँचाइयों वाले छोटे-बड़े काले झंडों को फहराते, जिनमें से हरएक पर सफ़ेद तिरछा दूज का चाँद और कुछ सितारे चमक रहे थे, चार-चार, छः-छः, आठ-आठ की लाइनों में बूढ़े, अर्ध-वयस्क और नौजवान मुसलमान हल्ला करते, शोर मचाते, सड़क के दोनों ओर खड़े तमाशबीन हिन्दुओं को सख्त नजर से तरेरते और उनकी खिल्ली उड़ाते आगे बढ़े चले जा रहे थे...और कब से खड़ा शंकर देखता रहा था। पर जुलूस खत्म होता ही नहीं था...

16 अगस्त, 1946 का मुसलिम लीग का 'डाइरेक्ट ऐक्शन डे' था; मुसलिम लीगी सरकार ने सूबे-भर में छुट्टी कर दी थी। अंग्रेज़ी सरकार के साथ भारतीय नेताओं की सत्ता-हस्तान्तरण के लिए जो बातचीत चल रही थी उसमें कांग्रेसी नेताओं का रुख जैसे-जैसे नरम होता गया था वैसे-वैसे मुसलिम लीग के कर्णधार कायदे-आज़म जिन्ना तनते चले गये थे और आखिर उन्होंने हिन्दुस्तान-भर के मुसलमानों को अंग्रेज़ों के खिलाफ पहली और आखिरी लड़ाई के लिए कमर कस आगे बढ़ आने के लिए ललकारा—और अंग्रेज़ों और हिन्दुओं को यह दिखा देने के लिए कि अगर हिन्दुस्तान को स्वराज दिया गया तो यहाँ

के मुसलमान खून की नदियाँ बहा देंगे, लेकिन मुल्क का बँटवारा कराये बिना दम नहीं लेंगे।

आम हिन्दू जनता ही नहीं, उनके या कांग्रेस के नेताओं ने भी इसे क़ायदे-आज़म की कोरी धमकी के सिवा कुछ नहीं समझा था। यों भी, कम ही लोग होंगे जिन्होंने कल्पना तक की हो कि कलकत्ता जैसे विराट नगर में, जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों की ही बहुत बड़ी आबादी थी, मुसलिम लीग के नेता खून की होली के लिए कोई बढ़ावा देने की हिम्मत करेंगे : क्योंकि इतना तो वे भी बख़ूबी जानते होंगे कि खून की वह होली एकतरफ़ा नहीं रहेगी। पुलिस जरूर लीग सरकार के हाथ में थी, लेकिन उसमें हिन्दुओं की भी तादाद कम नहीं थी और, फौज का इस्तेमाल होने की नौबत आ जाने पर, उससे तो एकतरफ़ा कार्रवाई की उम्मीद वह नहीं ही कर सकती थी।

कम से कम कलकत्ते के हिन्दू मतावलम्बी राजनीतिक नेताओं के दिमाग़ में तो जिन्ना साहब की धमकी के कार्यान्वित होने की संभावना पल भर के लिए भी नहीं आ सकी थी...

ओर-छोर हीन उस जुलूस की विशालता और उसमें शामिल होने वाले मुसलमानों के तेवर और हथियारों को देख ज़रूर धीरे-धीरे एक दहशत-सी पैदा होनी शुरू हुई उन लोगों के दिल में जिन्होंने श्यामबाज़ार से लेकर चौरंगी के मैदान तक जाने वाले उस जुलूस को अपनी आँखों देखा। लेकिन फिर वे सब तमाशबीन धीरे-धीरे अपने घरों को या काम पर लौट गये—एक तरह से लापर-वाही के ही साथ, क्योंकि आख़िर तो तब भी वे एक संगठित सभ्य सरकार की छत्रछाया में थे और जान या माल पर किसी बड़े खतरे की बात वे सोच तक नहीं सकते थे।

शंकर भी धीरे-धीरे, लेकिन सुस्त-सी चाल से, बड़ी सड़क के किनारे से अपनी गली में और फिर अपने मकान में वापस लौट आया।

मुसलिम लीगी सरकार ने सरकारी छुट्टी कर दी थी उस दिन दफ़्तरों में, और अंजलि घर पर ही थी। शंकर भी दोपहर बाद ही बड़ाबाज़ार स्थित अपने दफ़्तर जाया करता था। खाते-पीते उस दिन डेढ़-दो बज गये, और तब तक विनोद भी घूम-घामकर अपने काम पर से 'लंच' के लिए लौट आया था। सबने एक साथ ही खाना खाया। और जब इतनी देर हो ही चुकी थी तो शंकर ने उस दिन के लिए दफ़्तर जाना मौक़ूफ़ ही रखा—ख़ास तौर से जब कि विनोद ने बताया कि उसे रास्ते में न कोई ट्राम मिली, न बस, और बड़ी मुश्किल से एक रिक्शा करके वह बड़ी सड़क छोड़ कई गलियों का चक्कर लगा घर तक पहुँच पाया था।

एक बार शंकर की इच्छा हुई भी कि पैदल ही वह अपने दफ़्तर के लिए

चल पड़े; या फिर, चौरंगी के सामने वाले मैदान के लिए ही—जहाँ कि मुसल-मानों की वह मीटिंग हो रही होगी, और जरा देखें तो, कि 'लड़ कर लेंगे पाकिस्तान' का शोर मचाने वाले, जुलूम और मीटिंग करके, किस तरह पाकिस्तान लेने जा रहे हैं।

कुछ देर तक वह पसोपेश में ही पड़ा रहा, खास तौर से अंजलि और विनोद दोनों के ही मना करने पर। "रंग-ढंग कुछ अच्छे नहीं दिखाई देते मुझे तो दादा," अंजलि ने अपने दफ्तर मे पिछले कुछ दिन से अपने मुसलमान सहयोगियों के बीच चलने वाली कानाफूसियों और उनके एकाएक बदल चले रुख का हवाला देते हुए कहा, और फिर यह भी बताया कि मंसूर भी उसे आगाह कर चुका है कि वह होशियारी से रहे क्योंकि, उसका ख्याल था, कोई बड़ी बात हो जा सकती है 16 अगस्त के दिन, या उसके बाद ही...

विनोद ने भी पहले तो शंकर की ही तरह अंजलि की बातों को कुछ ज्यादा वजन नही देना चाहा, पर मकान की छत पर से बड़ी सड़क का जितना हिस्सा दिखाई देता था उसे घंटे डेढ़ घंटे तक ताकते रहने के बाद—जब तक कि वह जुलूस उस पर से गुजरता रहा—उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड रही थीं, और तब शंकर और अंजलि दोनों ही ठठाकर हंस पड़े...

लेकिन—

कोई तीन साढ़े तीन बजे पड़ोस की हवेली से, जो अंजलि के रिश्ते के एक ममेरे भाई की थी, कोई दौडता-हाँफता विनोद के कमरे में आया, और जल्दी-जल्दी, हाँफते-हाँफते, मानो एक ही साँस में कहता चला गया—कि धरमतल्ला स्ट्रीट पर लूट-मार शुरू हो गई है...कि सारी दूकानें धडाधड़ बन्द होती जा रही हैं...कि मैदान वाली मीटिंग से लौटती भीड़ ने कई दूकानें लूट उनमे आग लगा दी है, कई हिन्दुओं को बल्लमों और छुरों के बल मौत के घाट उतार दिया गया है...

अंजलि का चेहरा उसी दम सफेद पड़ गया।

शंकर और विनोद दोनों को ही वह खबर फिर भी अतिरंजित ही मालूम हुई। "बहुत हुआ होगा...तो गुंडों के किसी गिरोह ने मौक़े से बेजा फायदा उठा कर दो-चार दूकानों पर लूट-खसोट की होगी...हो सकता है, किसी को चाकू भी मार दिया हो...लेकिन दिन-दहाडे खुले-आम दूकान पर दूकान थोड़े ही लूट ली जा सकती हैं?...आखिर पुलिस तो है—?"

मगर तभी नीचे गली में कुछ दौडते-भागते क़दमों की भारी आहट सुनाई दी, और खिड़की में से झाँकने पर उन लोगों ने देखा—बड़ी सड़क की तरफ से कई नौजवान तेजी से गली में आ घुसे हैं और दो-दो, चार-चार के झुंडों में इकट्ठे हो इशारेबाजियाँ कर रहे हैं।

"क्या हुआ, शोभन-दा ?" पड़ोस की से हवेली से अंजलि के उन ममेरे भाई को भी तभी बाहर गली में निकल आया देख विनोद ने ऊपर से ही पूछा।

"पता नहीं...कहते हैं कार्नवालिस स्ट्रीट तक लोग आ पहुँचे हैं... और—"

"कहते हैं—क्या, मैं खुद अपनी आँखों देख दौड़ा आ रहा हूँ—" तभी एक नौजवान बंगाली ने शोभन-दा की बात काटी, और फिर विनोद की ओर ऊपर को मुँह उठा ऊँची आवाज़ में बोला : "रूपवाणी सिनेमा पर पत्थर फेंके जा रहे थे...सामने की तीन-चार दूकानें जल रही थीं...सारी दूकानें पटापट बन्द होती जा रही हैं—" और उन लोगों को छोड़, इस ख़बर को गली के और भी अन्दर तक पहुँचाने के लिए वह फिर एक दौड़ लगा गया।

अंजलि की सारी अनुनय-विनय की उपेक्षा कर उसी दम विनोद और शंकर दोनों ही घर की सीढ़ियों से घड़ाघड़ उतरते नीचे गली में, और फिर बड़ी सड़क पर आ गये। देखा, दो-दो चार-चार करके कितने ही लोग, कुतूहल-आशंका-घबड़ाहट-भय, तरह-तरह के भावों को छिपाते या प्रकट करते जहाँ-तहाँ खड़े फुसफुस-फुसफुस बातें कर रहे हैं, या थोड़ा-थोड़ा रुकते उसी ओर बढ़ते जा रहे हैं जिधर से लूटपाट और आगज़नी की ख़बरें आ रही हैं।

कुछ लोग ऐसे भी थे जो विनोद और शंकर की ही भाँति तेज़ी से क़दम बढ़ाते उस ओर छूटे चले जा रहे थे—श्यामबाज़ार के पाँच-माथा वाले बड़े चक्कर की तरफ़, और फिर उसके बाद कार्नवालिस स्ट्रीट पर। रास्ते में न एक भी बस कहीं चलती नज़र आयी, न एक भी ट्राम।

रास्ते की दूकानें खटाखट, देखते ही देखते, बन्द होती चली जा रही थीं; कुछ दूकानदार अपनी दूकान आधी खुली और आधी बन्द रखकर बाहर निकल दक्खिन की ओर आँखें गड़ाये खड़े थे—जिधर ही कुछ घंटों पहले जुलूस गया था और जिधर से ही लूटपाट वग़ैरह की ख़बरें तेज़ी से बढ़ती चली आ रही थीं।

और, बड़ी सड़क से जितनी भी गलियाँ बायीं या दाहिनी ओर निकली थीं उनके मुँह पर नौजवानों के झुंड खड़े थे, जिनमें से कितनों के ही चेहरों पर उत्तेजना की लाली थी।

श्यामबाज़ार ट्राम डीपो तक पहुँचते-पहुँचते विनोद और शंकर के पावों की गति ढीली पड़ गयी। दूर पर कई जगह से काला-काला धुआँ ऊपर आकाश की ओर उठता दिखाई देने लग गया था; सड़क पर चलते लोगों की चहल-पहल भी अब तक क़रीब-क़रीब बिलकुल ही रुक गयी थी। दक्खिन की ओर बढ़ने वाले अब बहुत थोड़े लोग रह गये थे जो भी, विनोद शंकर की ही तरह, रुक-रुककर और टोह-सी लेते-लेते आगे बढ़ रहे थे। ज्यादातर अब उधर से इस ओर ही

लोग आ रहे थे—तेज़ी से कदम बढ़ाते, या भागते-दौड़ते।

आख़िर एक ज़ोर का हल्ला आया दक्खिन की तरफ़ से, और जो लोग भी बड़ी सड़क पर थे, एक दौड़ लगा आसपास की गलियों में जा घुसे।

शंकर और विनोद भी।

शंकर का दिल तेज़ी से धड़कने लग गया।

फिर वह हल्ला धीरे-धीरे शांत हो गया। दो-चार मिनट बाद उनमें से कुछ लोग फिर सड़क पर आ पहुँचे।

यों, इधर के सारे मुहल्ले हिन्दुओं के ही थे; कोई ज़्यादा बड़ा ख़तरा जान नहीं पड़ता था। लेकिन दक्खिन की ओर से आने वाले लोगों की ज़बानी जो ख़बरें मिलती गयी थीं उनके अनुसार मुसलमानों का एक बहुत बड़ा काफ़िला—कई हज़ार का—रास्ते की दूकानों को लूटता-पाटता, आग लगाता, धरमतल्ला के बाद बऊबाज़ार, फिर वहाँ से कालेज स्ट्रीट होता कार्नवालिस स्ट्रीट पहुँच चुका था, और उनके कुछ अग्रिम दस्ते हाथीबागान मार्केट को लूटकर उसे जला रहे थे। रूपवाणी सिनेमा के आसपास ज़रूर तब तक कोई घटना नहीं घटी थी—जैसी कि उन्हें पहले ख़बर मिली थी—लेकिन वहाँ तक पहुँचने के बाद शंकर और विनोद और आगे नहीं बढ़ पाये, वहीं से कुछ दूर पर हाथी बागान मार्केट की तरफ़ से धुआँ ही नहीं, कहीं-कहीं से आग की लाल-लाल लपटें भी उठती दिखाई देने लग गयीं।

तब तक इधर के रास्ते की सारी ही दूकानें बन्द हो चुकी थीं। और, लौटते वक़्त शंकर-विनोद ने देखा, वह सारा रास्ता ही वीरान बन चुका था, सिर्फ़ सड़क के दायें-बायें, गलियों के मोड़ों पर, आठ-आठ दस-दस के झुंडों में खड़े लोग बातें कर रहे थे।

विनोद के घर वाली गली के मोड़ पर ही एक छोटी-सी मसजिद थी, और बड़ी सड़क के उस पार की एक गली मुसलमानों की एक छोटी-सी आबादी की ओर चली गयी थी। इस वक़्त उस ओर सब सुनसान था, इधर की इस मसजिद के अन्दर भी सपाट सन्नाटा। काफ़ी पहले ही उसका दरवाज़ा अन्दर से बन्द हो चुका था।

कितने ख़ौफ़नाक और दिल दहलाने वाले थे—युग-युग-से बीतने वाले वे कुछ दिन—जब कि कलकत्ते में न कहीं कोई क़ानून रह गया था न कोई व्यवस्था। कहीं पुलिस नहीं दिखाई देती थी, कहीं कोई शासन नहीं। उन कुछ ही दिनों के अन्दर कितने लाख नर-नारी, बूढ़े और बच्चे, मौत के घाट उतार दिये गये थे, कभी कोई हिसाब नहीं लगाया जा सका। बाद को जब पहले-पहल

अख़बार पढ़ने को मिला था तब की एक बात ही शंकर बाद को कभी नहीं भूल सका : गोरों के सुप्रसिद्ध अख़बार 'स्टेट्समैन' के अग्रलेख का शीर्षक: 'दि ग्रेट कैलकटा किलिंग' (कलकत्ते का विराट नरमेध) !

हाँ, नरमेध छोड़ उसे और कुछ नहीं कहा जा सकता था। कसकर और जमकर दो पक्षों के बीच लड़ाइयाँ बहुत ही कम और कहीं ही कहीं हुई थीं; जिन्हें भी जहाँ असहाय, कमज़ोर, निहत्था पाया गया था घास-पात की तरह काट दिया गया था : पूरे के पूरे किसी झुण्ड को, और इक्का-दुक्का जो जहाँ सामने आ पड़ा उसे भी। सारा कलकत्ता सैकड़ों छोटे-बड़े शत्रु-शिविरों में रातोंरात बँट गया था, जिनके बीच ये 'बॉर्डरलैंड' अथवा सीमान्तवर्ती क्षेत्र। 'नोमैन्सलैण्ड' भी उन्हें कहा जा सकता था—यानी ऐसे अंचल जहाँ कोई भी आदमी नहीं दिखाई पड़ता था—क्योंकि वे होती थीं दो शत्रु-शिविरों के बीच पड़ने वाली जगहें। कभी-कभी इन्हीं अंचलों में जमकर कुछ छोटी-मोटी लड़ाइयाँ हुई थीं : ठीक लड़ाइयाँ भी नहीं, क्योंकि दोनों पक्ष आमने-सामने खुलकर शायद ही कभी देर तक लड़े हों। एक पक्ष जब कुछ अधिक प्रबल हो उठता था तब अचानक ही वह उस क्षेत्र पर हमला बोल देता था और कुछ दूर तक बढ़कर कुछ दूकानों या मकानों में आग लगा देता, दो-चार या आठ-दस जो नर-नारी, बूढ़े-बच्चे हाथ लग जाते उनका सफ़ाया कर, जल्द से जल्द फिर अपनी माँद में जा छिपता।

अवश्य पहली रात—जब कि मुसलमानों की पूरी तैयारी थी और हिन्दू बहुत-कुछ बेख़बर, और जब कि सुहरावर्दी की मुसलिम लीगी सरकार या तो 'घर फूंक तमाशा देख' वाली नीति को अपनाये हुए थी और या सिर्फ़ वहीं और तभी क़दम उठाने का पक्का इरादा किये बैठी थी जहाँ से और जब मुसलमानों के पिट जाने, कमज़ोर पड़ जाने या घिर जाने की ख़बर मिलती थी—कुछ मुहल्ले, या सड़कें या गलियाँ तो कुल की कुल साफ़ कर दी गयी थीं : वहाँ की कुल हिन्दू दूकानें लूट ली गयी थीं, सारे हिन्दू मकानों के लोग क़त्ल कर दिये गये थे, दूकानों और मकानों को आग लगा दी गयी थी। ऐसी जगहों पर कहीं-कहीं हिन्दुओं ने किसी हद तक संगठित होकर थोड़ा-बहुत प्रतिरोध भी किया था, पर थोड़ी ही देर तक। उस तरह के प्रतिरोधों की सिर्फ़ अफ़वाहें ही काफ़ी दिन तक कलकत्ते के हिन्दुओं को रोमांचित करती रही थीं; उनकी सही ख़बर जानने का कोई भी ज़रिया नहीं रह गया था।

लेकिन सबसे अधिक क्रूर, निर्मम और सामूहिक हत्याएँ तो उन अंचलों या मुहल्लों में हुई थीं जो प्रधानत: एक ही सम्प्रदाय के लोगों से बसे थे पर जिनके बीच दूसरे सम्प्रदाय के लोगों के मकान छोटे-बड़े टापुओं की तरह जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े थे। इन टापुओं का एक भी बाशिंदा—चाहे वह नौजवान हो या बूढ़ा, बच्चा हो या औरत—शायद ही बच पाया हो। अगर पहली रात को ही उनका पूरा

मफ़ाया नहीं हो गया—किसी लापरवाही की वजह से, या जानकारी के अभाव में—तो अगले दो-तीन दिन तक चूहेदानी में फँसे चूहे की तरह वहाँ का एक-एक प्राणी हलक में अपनी जान लिए उस घड़ी तक दुबका पड़ा रहा जब तक कि उसका भी आखिरी वक़्त नहीं आ पहुँचा। इस तरह के अंचलों में जहाँ-जहाँ भी हिन्दू फँस गये थे, उनमें से किसी के बचने का सवाल उठ ही नहीं सकता था—क्योंकि बिना सरकारी मदद के उन्हें कोई भी नहीं उबार सकता था। और सरकारी मदद, शुरू के कुछ दिनों के दौरान, सिर्फ़ उन्हीं इलाक़ों में पहुँची थी जहाँ हिन्दुओं के मुहल्लों में कुछ ज्यादा तादाद में मुसलमान कहीं फँस गये थे। आम चर्चा थी कि सूबे के चीफ़ मिनिस्टर शहीद सुहरावर्दी साहब, जो 16 अगस्त 1946 के 'डाइरेक्ट ऐक्शन डे' से पहले तक ही नहीं, बाद को भी, अपनी असाम्प्रदायिकता और तटस्थता की घोषणा करते कभी नहीं थके, ख़ुद सारी रात लालबाज़ार वाले पुलिस हेडक्वार्टर में अपनी कुरसी लगाये बैठे रहे थे, और उनकी ज़बान से तभी कोई हुक्म जारी होता जब उन्हीं के किसी हम-बिरादर का कोई एस० ओ० एस० उन तक जा पहुँचता।

लेकिन हिन्दुओं ने भी फिर कोई कसर नहीं उठा रखी थी कस कर बदला लेने में। पहली रात भले ही वे अचानक और बेख़बर हमले के शिकार हो गये हों, लेकिन फिर तो रातों रात उनकी भी तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं—न जाने कैसे और किन तरकीबों से।

शकर ने पाया कि वह भी रातों रात एक कट्टर हिन्दू के रूप में बदल जाने के लिए बाध्य हो उठा है।

...हिन्दू-मुसलिम दंगे उसने पहले भी होते देखे थे, लेकिन लड़कपन पार भी नहीं हो पाया था कि गांधीजी ने हिन्दू-मुसलिम एकता की जो नयी राजनीतिक चेतना उत्पन्न की थी उससे वह भी पूरी तरह प्रभावित होता चला गया था। उस तरह के दंगों में, अन्य राष्ट्रवादियों की ही भाँति, उसका भी प्रयत्न साम्प्रदायिकता की आग को बुझाने के लिए ही होता था, और जब से कानपुर के प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता गणेशशंकर विद्यार्थी ने 1931 के वहाँ के ज़बर्दस्त साम्प्रदायिक दंगे में मुसलमानों को हिन्दुओं के चंगुल से बचाने की कोशिश में अपने प्राणों की आहुति दे दी थी तब से तो सम्प्रदायवाद-विरोधी वह जोश उसके अन्दर और भी ज़ोरदार हो गया था।...फिर, बनारस का वह दिल दहलाने वाला ज़बर्दस्त दंगा, जिसमें शान्ति स्थापित करने के प्रयत्नों में शंकर भी अपनी जान को हथेली पर लिये दंगाग्रस्त इलाक़ों में निकल पड़ा था। आठ साल पहले की ही तो बात थी: प्रान्तीय स्वराज्य लागू होने पर यू० पी० में कांग्रेसी सरकार कायम हो चुकी थी और शंकर काशी विद्यापीठ में अजनीकुमार के पास ठहरा हुआ था—कि अचानक ख़बर मिली कि शहर में हिन्दू-मुसलिम दंगा भड़क उठा है। उसी

दम नगर कांग्रेस कमेटी की ओर से शान्ति स्थापना के लिए शान्ति-जुलूस संगठित किये गये, और विद्यापीठ के अध्यापकों और छात्रों के साथ-साथ शंकर भी उनमें शामिल हो शहर की उन बस्तियों में दिन-रात घूमता रहा जहाँ मुसलमानों की जान पर ख़तरा था। कितना जोश था उन सभी लोगों के अन्दर, और दो-दो, चार-चार की टुकड़ियों में भी जब वे बिलकुल निहत्थे उन गलियों में शान्ति का सन्देश देते घूमे थे, हर वक़्त इस बात का डर लगा रहा था कि कब कोई मुसलमान पीछे से छुरा भोंक दे।

शंकर के दिल के किसी कोने में भी हिन्दूपन की कोई बू नहीं थी उस दिन, और उसने देखा था कि कांग्रेसी सरकार से बनारस के हिन्दुओं को भले ही शिकायत रही हो, मुसलमानों को किसी तरह की भी शिकायत का मौक़ा नहीं मिलने पाया था। बनारस के प्रमुख नेता सम्पूर्णानन्द, जो कांग्रेसी मंत्रिमण्डल के एक सदस्य भी थे, उसी दिन लखनऊ से बनारस आ पहुँचे थे और चौक की कोतवाली के सामने कुरसी डाल सारी रात वहीं बैठे-बैठे पुलिस के अफ़सरों को हुक्म देते रहे थे। और, मुसलमानों के अन्दर भरोसा पैदा करने के लिए, कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रवादियों और पुलिस वालों का जो जुलूस उस पहली रात ही मुस्लिम-बहुल टोलों में निकाला गया था उसमें आगे-आगे चल रहे थे खुद सम्पूर्णानन्द।

शंकर को उन दिनों कितना गर्व था सूबे की राष्ट्रवादी और सम्प्रदायवाद-विरोधी कांग्रेसी सरकार पर, कांग्रेस के स्थानीय नेताओं और कार्यकर्त्ताओं पर, काशी विद्यापीठ पर और अपने अन्य मित्रों पर, जो जान हथेली पर लिये ख़तरनाक से ख़तरनाक मुहल्लों में निहत्थे घूमे थे—अक्सर तो बिना पुलिस के किसी संरक्षण के। कितनी बार शंकर को लगा था कि उसे भी शायद अपनी जान गंवानी पड़ेगी—ठीक उसी तरह जिस तरह कि सन 31 में कानपुर में गणेशशंकर विद्यार्थी मुसलमानों को बचाते-बचाते शहीद हो गये थे।...कितनी रात हो जाती थी शंकर और अंजनीकुमार को, या शंकर और शोभाराम को, बिलकुल सुनसान पड़ी सड़कों और गलियों में होकर विद्यापीठ या कमच्छा वापस पहुँचते, और हर बार घर लौटने पर लगता था कि एक बार फिर मौत के मुँह से वे सही-सलामत लौट आये हैं।

लेकिन फिर भी एक ज़बर्दस्त नशा था, एक प्रचण्ड उल्लास, कि देश के लिए वे कुछ कर पा रहे हैं, सम्प्रदायवाद की आग को फैलने से रोकने के लिए ख़ुद ही उसकी ज्वाला में अपने प्राणों को होम देने के लिए तैयार हैं।

लेकिन 16 अगस्त, 1946 की कलकत्ते की वह रात एक बिलकुल ही नये ढंग का अँधेरा लेकर आयी शंकर के जीवन में : रातों-रात उसने उसे एक पक्के राष्ट्रवादी से कट्टर हिन्दू बना डाला, बन जाने के लिए बाध्य कर दिया।

यह काली भयावनी रात।

कोई नहीं जानता था कि कलकत्ते में उस वक़्त कहाँ क्या हो रहा है, उन लोगों के मुहल्ले में ही कहाँ क्या हो रहा है, उनकी उस गली के बाद वाली बड़ी सड़क के उस पार क्या हो रहा है...

नीचे का बाहर वाला दरवाज़ा अन्दर से अच्छी तरह बन्द कर लिया गया था क्योंकि उसी के बाद कुछ क़दम पर वह मसजिद थी, हालांकि सबसे ऊपर की छत पर से उसके अन्दर का जो हिस्सा दिखाई देता था वहाँ भी घुप्पघुप अँधेरा क़ायम था रात होने के बाद से ही। गली बिलकुल सुनसान हो गयी थी साँझ होते-होते, और उसके बाद वाला श्यामबाज़ार का वह बड़ा रास्ता भी। ट्रामों और बसों की जो आवाज़ आधी रात तक कानों में गूँजती रहा करती थी मसान जैसे सन्नाटे में बदल गयी थी शाम से ही...

उनका यह मकान एक तरह से 'बॉर्डर लैंड' या 'नोमैन्स लैंड' के इस छोर पर था, जिसके पीछे कितनी ही टेढ़ी-मेढ़ी गलियों वाले हिन्दुओं के वे सारे मुहल्ले एक के बाद एक फैले हुए थे—पूरब में श्यामबाज़ार के इस छोर से लेकर पच्छिम में बाग़बाज़ार और चितपुर रोड तक, और इस अंचल की सारी कारंवाई का प्रमुख केंद्र बन गया था चितपुर रोड और बाग़बाज़ार के आस-पास का इलाक़ा जहाँ बीच-बीच में मुसलमानों की कुछ बस्तियाँ टापुओं के रूप में थीं। हिन्दुओं के इस अंचल के साथ विनोद के इस मकान का सम्पर्क भी तभी क़ायम रह सकता था जब कि नीचे के दरवाज़े से बाहर निकलकर बायीं ओर की किसी गली में पहुँचा जाता।

लेकिन उस दरवाज़े से कुछ ही क़दम पर वह मसजिद थी, और कोई नहीं जानता था कि वहाँ उन लोगों पर हमला करने की क्या-क्या योजनाएँ बनायी जा रही हों। यों वह मसजिद हिन्दुओं के ही मुहल्ले के सीमान्त पर थी, लेकिन सामने वाली बड़ी सड़क दूर-दूर तक खाली पड़ी थी और उसके उस पार कुछ ही दूर पर पूरब और उत्तर-पूरब में मुसलमानों की कुछ बस्तियाँ थीं जिनकी आबादी के बारे में सिर्फ़ अटकलें ही लगायी जा सकी थीं, क्योंकि इसका ठीक-ठीक हिसाब रखने की ज़रूरत पहले कभी शायद ही उनमें से किसी ने महसूस की थी। यह भी ठीक पता नहीं था कि उन मुसलमान बस्तियों के पीछे की ओर और भी मुसलमान बस्तियाँ थीं या नहीं, और उस ओर कुल मिलाकर हिन्दुओं की ताक़त कितनी थी...

अँधेरा हो ही पाया था, कि अंजलि के रिश्ते के ममेरे भाई शोभन-दा की आवाज़ कानों में पड़ी। अंजलि उसके पास ही बैठी हुई थी, तिमंज़िले पर शकर वाले कमरे में, और विनोद तभी एक बार फिर गली की ओर मुँडेर पर से छत के नीचे की ओर झाँककर दूर-दूर तक का उधर का हाल-चाल देखने गया हुआ

था।

शोभन-दा की आवाज़ उस छत पर कहाँ से आ पहुँची ?

कमरे से बाहर आकर शंकर ने इधर-उधर जो नज़र दौड़ायी, तो पच्छिम वाली उस दीवाल पर वह जा रुकी, जो उनके और शोभन-दा के मकानों के बीच थी। उसी दीवार के उस पार शोभन-दा का सिर दिखाई दिया।

उसी दम शंकर ने विनोद को आवाज़ दी, और अंजलि को भी। और, दौड़ते-भागते से वे तीनों ही उस दीवाल के नीचे जा खड़े हुए।

शोभन-दा के हवेलीनुमा तिमंज़िले मकान के पिछवाड़े का दरवाज़ा उस मुहल्ले की एक तंग गली में खुलता था जो श्यामबाज़ार-बाग़बाज़ार के उस विराट अंचल की ही गलियों और सड़कों के जाल का एक हिस्सा थी। शोभन-दा छत पर की उस दीवाल के उस पार एक ऊँचे स्टूल पर खड़े थे, और विनोद को उन्होंने न्यौता दिया कि वे सब लोग, मय ज़रूरी क़ीमती सामान के, घण्टे दो घण्टे के अन्दर उस दीवाल को फाँद उस हवेली में दाख़िल हो जायें।...कुछ देर तक सलाह-मशविरा चलता रहा; विनोद ने इस मकान के निचले तल्ले में रहने वाले मुखर्जी-परिवार की बात उठायी : कोई पचास साल की उम्र के गृह-स्वामी के अलावा उनकी पत्नी और दो बड़ी-छोटी लड़कियाँ। उन सबको असहाय छोड़ विनोद सिर्फ़ अपने लोगों को लेकर ही कैसे उधर आ सकता था—उसने अपनी कठिनाई की बात रखी—जबकि इस घर का बाहर वाला दरवाज़ा तोड़ दिये जाने पर हमले का पहला मुक़ाबला मुखर्जी-परिवार को ही नीचे करना पड़ेगा।

शोभन-दा को कुछ क्षण लगे सोचने-विचारने में, जिसके बाद, इस मकान में रहने वाले सभी प्राणियों को उन्होंने अपनी हवेली में आश्रय देने का न्यौता दे डाला।

दोतल्ले वाले विनोद के कमरे से तब उन दोनों ने मिलकर एक छोटी मेज़ निकाली जिसे ऊपर छत पर ले जाकर उस दीवाल से लगा कर रख दिया गया, फिर उसके ऊपर एक स्टूल। और, अंजलि और विनोद की माँ को, एक-एक करके, इधर से ठेल-ठालकर, दीवाल के उस पार उतारने का एक रिहर्सल कर देखा गया।

फिर, मुखर्जी परिवार को ख़बर देने विनोद नीचे गया, जिस बीच शंकर अंजलि की और विनोद की माँ की मदद करने में लगा रहा—उनके क़ीमती समझे जाने वाले सामान को जल्दी दो-तीन सन्दूक़ों में बन्द कराने में।

कुछ देर बाद जब विनोद नीचे से लौटा, तो यह ख़बर लेकर कि मुखर्जी मशाय ने तुरन्त मकान छोड़ने की जगह यह सुझाव दिया है कि पहले तो हर तरह की वह सब ज़रूरी कारंवाई कर ली जाये कि सदर दरवाज़े को बाहर से

खोला ही न जा सके; और फिर, कीमती सामान को ऊपर की छत याने शंकर के कमरे में पहुँचा दिया जाय। उनकी राय थी कि मकान को फौरन न खाली कर नीचे से ऊपर की मंजिल तक जगह-जगह हर तरह की रुकावटें खड़ी की जायें, और घर को तभी छोड़ा जाय, जब दुश्मन बाहर का दरवाजा तोड़ने में कामयाब हो जाय...

मुखर्जी मशाय, विनोद और शंकर, उसके बाद, नीचे के सदर दरवाजे को, जो यों काफी मजबूत और पुख्ता था, और भी अभेद्य बनाने के काम में जुट गये : कुछ भारी-भारी सामान खींच-खींचकर दरवाजे के इस ओर उससे सटा कर रखा जाने लगा—पहले एक भारी मेज; फिर, उसके ऊपर और नीचे, बड़े बड़े सन्दूक, जिन्हें, मुखर्जी मशाय की गृहिणी की सलाह से उनके बच्चों ने पत्थर के कोयलों से भर दिया।

नीचे-ऊपर की दोनों ही गृहस्थियों में तब बाकी लोग लग गये अपने कीमती सामानों को छोटे-छोटे सन्दूकों, गठरियों और पोटलियों में समेटने में, और फिर उन्हें ऊपर शंकर वाले कमरे तक पहुँचाने में।

बीच-बीच में विनोद या शंकर, कभी दोतल्ले वाले कमरे की खिड़की से और कभी ऊपर की छत की मुँडेर पर से, गली की ओर देर तक नजर गड़ाये और कान लगाये इस बात की टोह लेते—कि उधर किस ओर और कितनी दूर पर किस तरह की आवाजें उठ रही हैं और वे इस ओर बढ़ती जान पड़ रही हैं या नहीं...

रह-रहकर ऊपर की दीवाल के उस पार से शोभन-दा की आवाज कानों में पड़ती : "की करछो तोमरा ? ताडाताडि चले एशो ना—"...जल्दी करो, जल्दी करो—तुम लोग क्या कर रहे हो अब तक ?

अंजलि ने तब तक अपना सारा सामान छोड़ दिया था—सिवा थोड़े-से गहनों के, जिन्हें उसने एक छोटे 'पर्स' में डाल लिया था। बार-बार वह ऊपर दौड़ आती, मय उस पर्स के, और शंकर की मिन्नत करती कि विनोद की माँ को समझा-बुझाकर राजी करे कि ज्यादा सामान की फिक्र न कर वह ऊपर चली आयें...बल्कि, कम से कम उन्हें तो उस पार उतार ही दिया जाय : भारी बदन है, ताकत भी कम...जल्दी-जल्दी भागना पड़ा तो सबसे ज्यादा देर और मुश्किल उन्हीं को लेकर होगी।

लेकिन विनोद की माँ अपने दिवंगत पतिदेव की बीसों साल की गृहस्थी की एक-एक चीज की माया-ममता से ऐसी बँधी थीं कि एक चीज भी पीछे छोड़ना उन्हें बुरी तरह खल रहा था...

... ...

लेकिन सारी रात बीत गयी, उनकी गली पर किसी भी हमले की नौबत

नहीं आ पायी। पूरब के आसमान में जब तारों की रोशनी धुंधली पड़ चली और सवेरा होता जान पड़ा, धीरे-धीरे उन लोगों की आँखें झप चलीं, और जो जहाँ था वहीं ढुलक पड़ा—एक ऐसी काल-रात्रि के आतंक से छुटकारा पा, जिसकी याद क्या ज़िन्दगी-भर भूली जा सकेगी ?

अगले तीन-चार दिन शंकर की ज़िन्दगी के शायद सबसे ज्यादा तूफ़ानी दिन थे, हालांकि उसकी आँखों के सामने कोई तूफ़ान नहीं था। गली की ओर का उनके मकान का वह सदर दरवाज़ा उस दौरान बराबर ही बन्द रहा; वह भारी मेज और उसके ऊपर-नीचे बड़े-बड़े सन्दूक़ों में भरे पत्थर के कोयले अपनी जगह बदस्तूर क़ायम रहे उस बीच...लेकिन शंकर का ज्यादा वक्त इस मकान में नहीं, शोभन-दा की हवेली में उनकी नीचे वाली बैठक में बीता, जहाँ पहुँचने के लिए ऊपर की छत वाली उस दीवार को फांदना उसके और विनोद के लिए एक आम-सी बात हो गयी।

शुरुआत उस पहली रात को ही हो गयी थी। आधी रात से भी ज्यादा गुज़र जाने के बाद जब अपने मकान के सामने वाली गली में कोई हलचल नहीं दिखाई दी तब विनोद को इधर ही छोड़ शंकर उस दीवार को फांद शोभन-दा के साथ उनकी हवेली की नीचे वाली उस बैठक में जा पहुँचा था और घंटा डेढ़ घंटा वहीं बैठा उन तूफ़ानी वारदातों की ख़बरें सुनता रहा था जो शोभन-दा के पास दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह मिनट पर पहुँचती रही थीं। उनकी हवेली के पिछवाड़े की गली वाला दरवाज़ा सारी रात खुला रहा था, और उनके परिचित कितने ही वृद्ध, प्रौढ़ और नवयुवक सारी रात उनकी बैठक में भीड़ किये रहे थे। सिगरेट पर सिगरेट फुँकती रही थी, चाय के प्याले पर प्याले ख़ाली होते रहे थे, और 'हिन्दुस्तानी' दरबानों और नौकरों को लाठियों, बल्लमों और अन्य शस्त्रास्त्रों से लैस रखा गया था। दो बन्दूकें शोभन-दा और उनके साले प्रकाश बाबू के लाइ-सेंस पर उन लोगों के यहां पहले से ही थीं; उन्हें भी भरकर तैयार रखा गया था, हालांकि प्रकाश बाबू के हाथ में जब एक बार शोभन-दा ने एक बन्दूक़ ज़बर-दस्ती थमा दी थी तो ना-ना करते प्रकाश बाबू के हाथ बुरी तरह कांपने लग गये थे।

प्रकाश बाबू शोभन-दा से तीन-चार साल छोटे थे—शंकर और शोभन-दा क़रीब एक ही उम्र के थे, चालीस के आसपास—लेकिन उस रात ही नहीं, उस पूरे तूफ़ान के ही दौरान, उनकी हुलिया देखने लायक़ थी। जैसे-जैसे ख़बरें आती गयी थीं उस पहली रात, प्रकाश बाबू का चेहरा सफ़ेद पड़ता चला गया था और, हालांकि उनकी उस हवेली पर कहीं से कोई ख़तरा नहीं था, उन्हें इस बात की तसल्ली करा सकना किसी के लिए भी मुमकिन नहीं रह गया था।

...शाम होते-होते मुहल्ले-मुहल्ले में, पाड़े-पाड़े में, नौजवानों के दल के दल

न जाने कैसे आप-से-आप संगठित होते चले गये थे किसी न किसी दलपति के मातहत, और शंख-ध्वनि ने खतरे की घंटी का रूप ले लिया था। प्रायः सभी बंगाली हिन्दुओं के घरों में देवाराधना के लिए शंख-ध्वनि का नियम तब तक भी चालू था और सूर्यास्त के समय कलकत्ते के विभिन्न घरों में उठने वाली जो शंख-ध्वनि नगर के अनवरत कोलाहल में जहाँ पहले बहुत-कुछ अव्यक्त ही रह जाती थी वह उस रात से शुरू होने वाली नीरव संध्याओं को ही मुखरित नहीं करने लग गयी, बल्कि सारी रात ही जहाँ-तहाँ से उसकी ध्वनि अचानक कानों को बेध जाती और शोभन-दा की उस बैठक में जमी सन्त्रस्त गोष्ठी के दिलों को दहला देती।

"किधर से आयी यह आवाज़?" कोई कह उठता, और सभी के कान थोड़ी देर के लिए उस ओर हो जाते। दो-एक संगी-साथी उठकर पिछवाड़े की उस गली में एक चक्कर भी लगा आते, और जब यह रिपोर्ट मिलती कि ख़तरे की कोई बात नहीं थी—सिर्फ़ अपना जोश दिखाने, या लोगों को होशियार करने, या अपने डर को छिपाने के लिए ही किसी ने किसी घर से शंख-ध्वनि की थी—तो सबके सब फिर से निश्चिन्त हो जाते और बीच में ही रुक जाने वाली बात-चीत फिर शुरू कर देते।

उस पहली रात को उन लोगों के उस हिन्दू-प्रधान अंचल में सिर्फ़ प्रतिरक्षात्मक कार्रवाइयों में ही लगे रहे थे सब लोग—कहीं दूर से आकर हमला करने वाली मुसलमानों की किसी संगठित शक्ति का सामना करने की तैयारियों में; और उस अंचल के केवल सीमान्तों पर छोटे-बड़े दलों का पहरा रहा जहाँ हमलावरों के साथ मुठभेड़ की संभावना थी। लेकिन कहीं कुछ नहीं हुआ, उनके उस अंचल पर किसी ने कोई हमला नहीं किया।...उन लोगों को सिर्फ़ शहर के दूसरे अंचलों की बाबत तरह-तरह की ख़बरें रात-भर सुनने को मिलती रहीं—उन छोटे-मोटे दलों के बीच रातोंरात कायम हो उठे किसी अलक्षित सम्पर्क-सूत्र के माध्यम से—कि किन-किन ऐसे अंचलों में, जहाँ मुसलमानों और हिन्दुओं के मुहल्ले अगल-बगल थे, कैसी-कैसी लड़ाइयाँ हुई...कि जिन मुहल्लों में हिन्दुओं के घर थोड़े ही थे, किस तरह रात होते-होते एक-एक हिन्दू मौत के घाट उतार दिया गया, सब बूढ़ों, औरतों और बच्चों के—और कितने ही घरों का सामान लूटकर उनमें आग दी गयी...कि पार्क सर्कस, कालाबागान, कोलूटोला जैसे मुसलिम क्षेत्रों में एक भी हिन्दू ज़िन्दा नहीं रहा...

एक-एक ख़बर उन लोगों तक पहुँचती, और भय, आतंक, क्रोध, घृणा की एक लहर उनके चेहरों पर छोड़ जाती; जो नौजवान भागता-दौड़ता ऐसी कोई ख़बर सुना जाता, वह साथ ही ख़ुद भी अपनी मुट्ठियाँ कसता और दाँत पीसता यह ऐलान कर जाता : प्रतिशोध हम भी लेंगे, बदला हम भी लेंगे, हम भी अपने

मुहल्लों में एक भी मुसलमान को ज़िन्दा नहीं छोड़ेंगे—चाहे वह बूढ़ा हो, औरत हो, या बच्चा...

शंकर का दिल अन्दर तक दहल उठता। मुसलमानों की नृशंसता की जो ख़बरें सुनने को मिलती गयी थीं उनसे ज़रूर उसका ख़ून भी गरम होता चला गया था और मन-ही-मन उसका भी यह निश्चय पक्का होता गया था कि नौबत आ जाने पर वह भी इस मुक़ाबले में पीछे नहीं रहेगा : मुसलमानों ने जब बीच का कोई रास्ता छोड़ा ही नहीं है, असाम्प्रदायिकता के कट्टर-से-कट्टर हिमायती को भी मुसलमानों या हिन्दुओं में से किसी एक शिविर को चुन लेने के लिए जब बाध्य कर दिया गया है, तो किसी के लिए तटस्थ रह जाने का तो अब सवाल ही नहीं उठता...

लेकिन ?...निहत्थे बूढ़ों, औरतों और मासूम बच्चों का क़त्ल !...क्या इसका भी वह समर्थन कर सकता है—भले ही मुसलमानों ने खुद वैसा किया हो ?

"यह लड़ाई है दादा...लड़ाई !" बहस छिड़ जाने पर कोई नौजवान शंकर पर तब बरस पड़ता। "लड़कर लेंगे पाकिस्तान—का नारा लगाने वालों का अगर यही इरादा है कि या तो हर हिन्दू का ख़तना करके उसे मुसलमान बनायेंगे ...नहीं तो हमारे बूढ़ों, औरतों और बच्चों को भी नहीं बख़्शेंगे...तो हमें भी ईंट का जवाब पत्थर से देना पड़ेगा...हमें भी दिखा देना होगा हमेशा के लिए कि बंगाली हिन्दू की भी नसों में पानी नहीं ख़ून बहता है...वह भी भड़काये जाने पर किसी भी मुसलमान से बड़ा हैवान बन जा सकता है..."

"मगर किसी नन्हे-से बच्चे की हत्या करके—" दबी ज़बान किसी के मुंह से निकलता, कि उसी दम एक साथ कई ओर से उस पर बौछारें शुरू हो जातीं : "सांप का बच्चा भी बाद को बढ़कर उतना ही ज़हरीला सांप बनेगा दादा... दया-माया को अब ताक पर उठाकर रख दीजिये—"

और शोभन-दा की उस बैठक में एक नये ढंग का सन्नाटा छा जाता...

सचमुच ही फिर, अगले दिन से, उनके अपने अंचल की भी जो ख़बरें धीरे-धीरे उन लोगों तक पहुँचने लगीं उनसे साफ़ हो चला कि उन नवयुवकों की वे प्रतिशोधात्मक उक्तियां निरी धमकियाँ नहीं थीं, उनके अंचल में भी सचमुच वही सब होता चल रहा था।...धीरे-धीरे, अगले तीन-चार दिन के अन्दर, उस विराट अंचल के किसी भी घर में शायद एक भी मुसलमान बाक़ी नहीं बचा : सुहरा-वर्दी सरकार की पुलिस की हिफ़ाज़त में जिन-जिनको उस अंचल से पहली रात से ही हटाना शुरू कर दिया गया था उनके अलावा भी कितने ही घर बाक़ी बचे रह गये थे, और उनमें से एक-एक घर का किस तरह सफ़ाया कर डाला गया, इसकी दर्दनाक, शर्मनाक और लोमहर्षक विस्तृत कहानियां उन लोगों को रोज़ ही

सुनने को मिलती चली गयी।

शुरू के तीन-चार या इनसे भी कुछ ज्यादा दिनों तक पूरा गुण्डा राज रहा कलकत्ते में, और जब मुस्लिम लीगी सरकार को आख़िर पता चला कि बावजूद उसके पक्षपातपूर्ण रवैये के, मुसलमानों की ही कुल मिलाकर ज्यादा जानें गयी हैं, तो उसे फौज का सहारा लेने के लिए मजबूर होना पड़ा—जिसके बाद कितने हफ़्तों तक मार्शल-ला और कर्फ़्यू लगा रहा, शंकर को ठीक याद नहीं। याद सिर्फ़ इतना है कि कम-से-कम हिन्दुओं ने इससे राहत की ही साँस ली थी, क्योंकि अपने बल पर भले ही उन्होंने हमले या मुक़ाबला करने में, और बाद को तो सचमुच ही ईंट का जवाब पत्थर से देने में कोई कसर न उठा रखी हो, लेकिन जहाँ तक सम्पत्ति का सवाल था, मुसलमानों के मुक़ाबले हिन्दुओं की क्षति कहीं ज्यादा बड़े पैमाने पर हुई थी। व्यवसाय-वाणिज्य के क्षेत्र में मुसलमानों के मुक़ाबले हिन्दू कहीं ज्यादा आगे बढ़े हुए थे, और उनके कारबार चौपट कर दिये गये थे : कारखानों और दूकानों की लूट-खसोट ही नहीं की गयी थी, उसके बाद उन्हें फूँक भी दिया गया था। चीफ़ मिनिस्टर सुहरावर्दी और उनकी सरकार के दूसरे मिनिस्टरों और ऊँचे अफ़सरों की बाबत यह आम शिकायत जगह-जगह से सुनने को मिली कि बड़े से बड़े हिन्दू व्यवसायी या उद्योगपति के टेलीफ़ोन पाकर उनकी मदद के लिए न पुलिस को जाने दिया गया न फ़ायर-ब्रिगेड वालों को, और न ही पुलिस के हिन्दू अधिकारियों से 'क़ानून और व्यवस्था' क़ायम रखने के काम में मदद ली गयी। जब तक मार्शल-ला नहीं लागू किया गया, कलकत्ते के हिन्दू सरकारी कर्मचारियों को कहीं भी ड्यूटी पर नहीं भेजा गया; 'क़ानून और व्यवस्था' क़ायम रखने की सारी जिम्मेदारी मुसलिम कर्मचारियों पर ही छोड़ रखी गयी...

विनोद के यहाँ तो तब कोई रेडियो नहीं था, लेकिन मार्शल-ला और कर्फ़्यू लगाये जाने की ख़बर जिस रात शोभन-दा के रेडियो पर उन्हें मिली उसके बाद विनोद और शंकर को अपनी छत की मुँडेर पर से झाँकते वक्त जब पहले-पहल बड़े रास्ते पर फ़ौजी गाड़ियों के गुज़रने की आवाज़ सुनाई दी, और उनमें से किसी-किसी को तो अपनी गली के ठीक मोड़ तक, बल्कि मस्जिद के दरवाज़े तक भी आकर, उधर के मकानों की छतों की ओर बन्दूकें या मशीनगनें साधते देखा, मुँडेर से उसी दम अपना सिर नीचा कर लेने के लिए मजबूर होते हुए भी उन सबकी नसों का सर्द हो चुका ख़ून एक बार फिर स्वाभाविक गति से बहने लगा था : रात को निश्चिन्त होकर सो सकने की कल्पना ने उन्हें कितनी ज़बर्दस्त राहत दी थी। जिस गोरी फौज के लिए कलकत्ता वासियों के दिल में कुछ महीने

पहले तक घृणा और विद्वेष के सिवा और कोई भाव नहीं था, उसी को देख कलकत्ते के हिन्दुओं की जान में जान आयी थी उस रात : फ़ौज की तरफ़ से ऐलान हो चुका था कि कर्फ़्यू के दौरान जिस किसी को घर से बाहर पाया जायेगा, या छत पर से झाँकते भी, उसी पर गोली चला दी जायेगी।

फिर, धीरे-धीरे, स्थिति के काबू में आ जाने पर, दो-दो, तीन-तीन घंटे के लिए सुबह के वक़्त कर्फ़्यू में छूट दी जाने लगी—जिस दौरान फ़ौजी गश्त और भी तेज रही...

लेकिन प्रतिशोध की जो आग लोगों के दिलों में सुलग रही थी उसने अब छुरेबाज़ी की शक्ल अख़्तियार कर ली—ख़ास तौर से सीमान्त क्षेत्रों में। कर्फ़्यू से छूट के घंटों में होने वाली छिटपुट छुरेबाज़ी की घटनाएं अक्सर ही सुनने को मिलतीं : ज्यों ही किसी सड़क से फ़ौजी गाड़ी गुज़र जाती, गलियों में जा छिपा कोई नौजवान इशारा करता, और कब कौन किधर से आकर किसी राह चलते की पीठ में छुरा भोंक तेज़ी से कहीं जा छिपता, किसी को पता भी न चल पाता...

कर्फ़्यू से दो घंटे के लिए मिलने वाली छूट के पहले दिन—उस प्रलय-काण्ड के बाद पहले-पहल—जब शंकर और विनोद अपने मकान के सदर दरवाजे को खोल बाहर सड़क तक गये और फिर और भी आगे बढ़कर श्यामबाजार के 'पाँचमाथा' मोड़ तक, तब उन्हें लगा मानो युगों बाद बाहर की दुनिया में आकर जैसे किसी भूत-नगरी में कदम रख रहे हों। बहुत ही कम लोग थे उस 'पांच-माथा' मोड़ के भी इर्दगिर्द—जहाँ लोगों के कंधे से कंधे छिला करते थे। सारे रास्ते दो-चार दूकानें ही खुली या अधखुली दिखाई दीं : जो भी लोग नजर आये, सहमे-सहमे और दौड़ते-भागते, जल्दी-जल्दी कुछ सौदा खरीद उलटे पाँवों घर लौट जाने के लिए उतावले, बेहद चौकन्ने, और ज़बान को मानो तालू से चिपकाये। कोई किसी से बात नहीं करना चाहता था, कोई किसी की ओर ताकना नहीं चाहता था...

अण्डे, रोटी, मक्खन, दूध, वगैरह की तलाश में उस पहले दिन जब शंकर और विनोद घर से निकलने को तैयार हुए थे तब अंजलि ने विनोद की एक धोती शंकर के हाथ में थमाते हुए कहा था : "पाजामा छोड़ यह धोती पहन-कर ही अब बाहर निकलें, दादा।...कौन जाने, कोई हिन्दू बंगाली ही आपको मुसलमान समझ..."

उस दिन से शंकर का सदा का पाजामा महीनों तक छूटा रहा। कुछ धोतियाँ तो बाद को उसने ख़रीद भी लीं, और किसी हिन्दू की ही छुरेबाज़ी का शिकार हो जाने के डर ने पाजामा पहनकर कहीं बाहर आना-जाना उसके लिए असंभव बना दिया। बंगाली हिन्दू तब तक भी धोती ही पहनने के आदी थे घर से बाहर...या फिर पैंट पहनने के। पाजामा मुसलमान पहनते थे...

धीरे-धीरे लोग घरों से बाहर निकलने लग गये; कारखानों, दूकानों, दफ्तरों में काम शुरू हो चला; ट्राम, बसें और रिक्शे सड़कों पर दिखाई देने लग गये; फिर वे दिन भी आ ही पहुँचे जब कर्फ्यू बिलकुल उठा लिया गया।...फिर भी कितने हफ्तों तक ट्रामों और बसों में सशस्त्र पुलिस साथ चलती, और जब वे मुसलिम इलाकों में होकर गुजरतीं तो अन्दर बैठे हिन्दू मुसाफिरों की छाती धड़कने लग जाती। रिक्शे तो और भी कितने हफ्तों तक मुसलमान इलाकों में होकर नहीं जाते थे।

और—छुरेबाज़ी की घटनाएँ तो महीनों बाद तक अखबारों में रोज पढ़ने को मिलती रहीं।

शंकर ने छुरेबाज़ी के शिकार एक नौजवान की लाश पहले-पहल कर्फ्यू वाले ज़माने की शुरुआत में एक दिन सुबह देखी थी जब वह श्यामबाजार के पाँच माथा मोड़ के इस ओर की एक गली के सामने होकर बड़ी सड़क पर चला जा रहा था। कुछ दूर से उसे सामने फुटपाथ पर एक आदमी मुँह के बल औंधा पड़ा दिखाई दिया जिसका सिर सड़क की बगल वाली नाली की ओर लटका हुआ था। उसे लगा, रात को शराब के नशे में चूर कोई यहाँ गिर पड़ा होगा।...सूरज तब तक नहीं निकला था, और सड़क की बत्तियाँ बुझने पर भी रोशनी कम ही थी, और नज़दीक पहुँचने पर ही वह समझ पाया कि वह किसी नौजवान की लाश है —छुरेबाज़ी के शिकार किसी हिन्दू नौजवान की। पीठ पर की सफेद कमीज खून से तर थी...और उस ओर से उसी दम आँखें हटा तब शंकर, दो-एक दूसरे राह-गीरों की ही तरह, पीछे लौट तेज़ी से सड़क की दूसरी पटरी पर जा पहुँचा था...

कितने किस्से रोज ही सुनने को मिलते रहे थे। मुसलिम मुहल्लों के पास से गुजरने वाले किसी हिन्दू को किस तरह अचानक मौत के घाट उतार दिया गया, उनके अपने हिन्दू अंचल में भी किस तरह कब किसी मुसलमान पर, जो किसी भारी ज़रूरत में पड़कर और पुलिस की निगरानी पर भरोसा कर उधर निकला था, उस पाड़े के 'दलपति' के इशारे पर तीन-चार नौजवानों द्वारा अचानक हमला कर दिया गया : सबसे पहले उसका मुँह बन्द कर दिया गया था ताकि उससे हलकी-सी भी कोई आवाज़ न निकलने पाये, फिर उसकी हत्या करके, जल्दी-जल्दी घसीट, नज़दीक के एक 'मैन-होल' को खोल उसमें डाल ढक्कन बन्द कर दिया गया—जिसके बाद उसी दल के दस-दस, बारह-बारह साल के कुछ लड़कों ने बालटियों में भर-भरकर पानी ला, आनन-फानन सड़क पर पड़े खून के धब्बों को धो-पोंछ डाला...

शोभन-दा के माले प्रकाश बाबू का चेहरा हर ऐसी खबर पर धुले हुए रूमाल की नाईं सफ़ेद पड़ जाता—हफ्तों गुज़र जाने के बाद भी। न उन्होंने

अपनी आँखों से कोई वारदात होते देखी थी किसी दिन, न कोई ख़ौफ़नाक आवाज़ ही सुनी थी उस सारे दौरान, लेकिन एक बार भी वह अपने घर से बाहर नहीं निकले—आसपास दूर-दूर तक किसी ख़तरे का कोई आसार न रह जाने के बाद भी।

शंकर, विनोद, शोभन-दा वग़ैरह जिस इलाके में थे वहाँ, ठीक उनके पाड़े में, कोई भी वारदात नहीं हुई थी उस समूचे नरमेध के दौरान; सिर्फ़ एकाध बार अपने मकान की छत पर से उन लोगों ने कुछ दूर पर उत्तर वाले खाल (नहर) के उस पार की सड़क पर, जिसके एक ओर 'हिन्दुस्तानी' (यानी यू० पी०-बिहार के) मजदूरों की बस्तियाँ थीं और दूसरी ओर मुसलमानों की आबादी, कुछ शोरगुल और हल्ला-गुल्ला सुना था। और दो-चार बार कुछ लोगों को उस सड़क पर भागते-दौड़ते भी देखा था। लेकिन उससे ज्यादा और कुछ भी नहीं।... हाँ, एक बार उन्हीं बस्तियों की तरफ़ से शाम होते-होते आग की लपटें उठती दिखाई दी थीं, और फिर देर तक आसमान में धुआँ ही धुआँ छा गया था...

बाक़ी सारे वक़्त ही—उस समूचे हत्याकाण्ड के दौरान—उन लोगों के मकान के सामने वाली गली ही नहीं, उसके बाद वाली बड़ी सड़क भी, जिसका एक हिस्सा उस छत पर से नजर आता था और जिस पर से 16 अगस्त को उन्होंने 'लड़ कर लेंगे पाकिस्तान' वाला वह भारी जुलूस गुज़रते देखा था, बिल-कुल वीरान पड़ी रही थी, और दूर-दूर तक जिधर भी निगाह जाती थी, न कोई आदमी दिखाई देता था न कोई जानवर।

और जब भी वे लोग, दिन को या रात को, अपनी छत की मुंडेर पर से उस ओर ताकते, उनका ध्यान हर बार ही कुछ गज़ के फ़ासले पर खड़ी उस मस्जिद पर अटक जाता जिसका गली वाला छोटा सा दरवाज़ा उन्हें एक बार भी खुलता नहीं दिखाई दिया था। कई दिन तक तो उसमें कोई रोशनी तक नज़र नहीं आयी थी, और उसकी छत पर, या उसके नीचे वाले आँगन के उस छोटे से हिस्से में जो वहाँ से दिखाई पड़ता था, न किसी आदमी की शक्ल दिखाई दी थी न परछाई। कुछ आदमी उसमें थे जरूर—यह साफ़ था। कभी-कभी कोयले के चूल्हे के जलाये जाने पर उसका धुआँ कुछ देर तक उसके आँगन से चक्कर काटता ऊपर को उठता रहता, और कभी-कभी एलूमिनियम के बरतनों के माँजे जाने की कर्कश खड़खड़ सुनाई दे जाती। और जब से कुछ घंटों के लिए कर्फ़्यू उठा लिया जाने लगा था तभी—पहले-पहल गली में निकलकर सड़क की ओर जाते-जाते—मसजिद के उस दरवाज़े का सिर्फ़ एक पल्ला उन्होंने धीरे-धीरे खुलता देखा था, और उसमें से निकलकर अध पकी दाढ़ी वाले एक मियाँ को जल्दी-जल्दी लेकिन सहमते कदमों से गली में उतर उस बड़ी सड़क की ओर

बढ़ते, जिन पर बराबर ही फौजी गाड़ियों की गश्त जारी थी...

फिर भी उस जमाने का एक दृश्य था जो उन लोगों के दिल और दिमाग पर हमेशा के लिए अंकित रह गया : यह था चितपुर रोड के किनारे के पार्क-नुमा एक चौकोर छोटे-से मैदान में कोई तीन-चार सौ लाशों का एक ऊँचा ढेर, जिसकी बाबत शोभन-दा वाली बैठक में वे लोग उस नरमेध के शुरू होने के दो या तीन दिन बाद से ही सुनते चले आ रहे थे। कर्फ्यू में कुछ ढील होने पर जब वे लोग, और भी सैकड़ों तमाशबीनों की तरह, घटनास्थल को देखने पहुँचे तब तक उस कत्लेआम को आठ-दस दिन हो चुके थे; उन लाशों की सड़ी दुर्गन्ध चितपुर रोड तक पहुँचने से पहले ही काफ़ी दूर से उनके दिमाग में समाने लग गयी थी। रास्ते में जगह-जगह स्वयंसेवक मिले जो उधर जाने वाले सभी राहगीरों के रूमालों या कपड़ों पर यूकेलिपटस का तेल डालते गये, और अपने अपने रूमालों को नाक से लगाये जब वे लोग उस जगह तक पहुँचे तब तक बाहर वाली वह दुर्गंध यूकेलिपटस वाली रूमाल की तेज गन्ध को भी भेद उनके मग़ज़ में अन्दर तक घुसती चली गयी। रूमाल में थोड़ी देर तक के लिए भी नाक को गड़ाये रखना यों ही यूकेलिपटस की उस कड़ी गन्ध के कारण असम्भव-सा हो चला था, लेकिन पल-भर के लिए भी नाक को उससे बाहर रखना और भी मुश्किल था...

शोभन-दा के एक मित्र के साथ, जिनका मकान घटनास्थल से डेढ़ दो सौ गज की दूरी पर ही था, वहाँ गये थे वे लोग, और उस 'जगह' के सामने से बहुत तेज़ी के साथ, जल्दी-जल्दी सिर्फ एक नज़र उस ओर डाल, आगे बढ़ गये, उनके मकान की तिमंजिला इमारत की छत पर से ही उन्होंने ठीक तरह से उस नज़ारे को देखा था जो सड़क के उस पार बायीं ओर वहाँ से काफ़ी फ़ासले पर था। शुरू-शुरू में तो वहाँ वे लाशें दिखाई ही नहीं पड़ी। मटमैले रंग का जैसे कोई बहुत बड़ा फर्श उस सारी जगह के ऊपर फैला दिया गया हो, इस तरह छाए हुए थे लाशों के उस ढेर पर गिद्ध ही गिद्ध। हज़ारों गिद्धों की वह जमात...जिन्होंने अपने नीचे कहीं इंच-भर भी जगह खाली नहीं छोड़ी थी। उनके नीचे का किसी लाश का ज़रा-सा हिस्सा सिर्फ तभी अचानक कुछ नज़र आ जाता जब कोई गिद्ध वहाँ की हड्डी के ऊपर का सब-कुछ साफ़ कर डालने के बाद अपने डैनों को उठा अपनी जगह कुछ बदलता ..

शोभन-दा के वह मित्र उन लोगों को उस रात की उस घटना के बारे में बता रहे थे जिसके कितने ही वर्णन वे लोग शोभन-दा की बैठक में घटना के अगले दिन से ही सुनते आये थे। इस मैदान के पीछे के एक मकान की बाबत इस 'पाड़े' के 'दलपति' को खबर मिली कि वहाँ बाहर से तो ताला झूल रहा है, लेकिन उसकी एक खिड़की में किसी का झाँकता सिर देखा गया है।...

जाँच-पड़ताल के बाद पाया गया कि किसी मुसलमान का ही घर था, और बाहर के ताले को देख यह समझ लिया गया था कि उसके बाशिन्दे पहले ही भाग चुके हैं। अब जो शक हुआ, तो छानबीन की गयी, और अनुमान किया गया कि उस मकान के अन्दर बहुत बड़ी तादाद में मुसलमान जमा हैं जिन्हें किसी पूर्व-योजना के मुताबिक़ उस मकान में उस पाड़े के हिन्दुओं पर हमला करने की नीयत से हथियारों से लैस रख छोड़ा गया है...और यह भी कि वे बाहर से किसी इशारे के इन्तज़ार में हैं जिसके मिलते ही रातों रात उस मकान से बाहर निकल हमला बोल देंगे—जिसके बाद, योजना के मुताबिक, मुसलिम लीगी सरकार की पुलिस आकर उन्हें वहाँ से सही-सलामत निकाल ले जायेगी।

"बात सही भी निकली," शोभन-दा के वह मित्र अब बता रहे थे, "छानबीन करने पर पता चला कि कोई दो-तीन सौ गुंडे वहाँ जमा करके रखे गये थे।...आख़िर पाड़े के हिन्दू नौजवानों के एक बड़े दल ने उनमें से एक-एक का सफ़ाया कर डाला..."

"क्या औरतें और बच्चे भ‍ थे इस घर में?" सहमी-सी आवाज़ में शंकर ने शोभन-दा के उन मित्र से पूछा।

"औरतें और बच्चे भी थे...और लड़ने के लिए तैयार हथियारबन्द मर्द भी," किसी हद तक गरमी के साथ ही उन्होंने ज़वाब दिया, "मगर किसी का कोई भी हथियार उनकी मदद नहीं कर सका...इसका मौक़ा ही किसी को नहीं दिया गया।...चूहेदानी में फँसे चूहों की तरह एक-एक हरामी को दोनों बांह ऊपर उठाये बाहर आने को मजबूर किया गया...और एक-एक को मौत के घाट उतार दिया गया..."

काफ़ी देर तक सन्नाटा छाया रहा उस छत पर उन लोगों के बीच, और शंकर कुछ देर एकटक सड़क के उस पार उस मैदान की ओर आँखें गड़ाये रहा...

तरा-ऊपर और अग़ल-बग़ल लाशें ही लाशें पड़ी हुई थीं उस समूचे मैदान पर, मगर नज़र एक भी नहीं आती थी। सिर्फ़ गिद्ध ही गिद्ध बिछे हुए थे उस लम्बे-चौड़े ऊँचे ढेर पर...

नीचे उन मित्र की बैठक में आकर फिर उन लोगों ने चाय पी, जिसे शंकर को सिर्फ़ भद्रता के ख़्याल से पीना पड़ा...

घर लौटने पर शंकर सारे दिन अपने कमरे से बाहर नहीं निकला उस रोज़।...कई रात तक वह ठीक से सो भी नहीं पाया : रह-रहकर वह जग पड़ता किसी दुःस्वप्न की ऐसी दुनिया से जहाँ की भूलभुलैया में उसे कहीं भी टिकने की जगह नहीं मिल रही थी...

और वह पाता, कि टेबुलफ़ैन की हवा के बावजूद वह पसीने-पसीने हो

चुका था।

कुछ दिन बाद उसी चितपुर वाले मकान के हत्याकाण्ड में मुखिया की भूमिका निभाने वाले, या किसी दूसरे युवक की बाबत, जिसने एक सौ हत्याएँ करने की शपथ ली थी—यह खबर सुनने को मिली कि उसके घर वालों ने उसे किसी मित्र के छः मंजिले फ्लैट के कमरे में बन्द कर रखा था क्योंकि वह पागल हो गया था और दिन-रात 'ख़ून-ख़ून' ही चिल्लाता रहता था...और, न जाने और भी क्या-क्या बकता रहता था।...उसके घर वालों को सबसे बड़ी चिन्ता यही थी कि उसकी आवाज़ कहीं बाहर दुश्मनों के किसी जासूस तक न पहुँच जाय जिससे कि उसका भेद खुल जाए और उसके साथ साथ और भी कितने ही लोग पकड़ लिये जायें...

तीसरे पहर धरमतल्ला स्ट्रीट पर दवाइयों की किसी दूकान से कुछ खरीद कर शकर सड़क पर उतरा ही था कि सामने मंसूर खड़ा दिखाई दिया। एक क्षण के लिए शंकर ठिठका, लेकिन दूसरे ही क्षण मंसूर ने आगे बढ़कर दादा-दादा कहते हुए उसे बाँहों में भर लिया।

कई महीने बीत चुके थे कलकत्ते के उस साम्प्रदायिक नरमेध को, लेकिन शकर पहली बार किसी मुसलमान से मिल रहा था।

"दीदी की क्या खबर है?...दफ़्तर कब से आना शुरू करेंगी...अब तो कोई खतरा नहीं रह गया है।...आप सब लोग ठीक हैं न?...खोकामणि कैसा है? ...विनोद-दा?...बहुत फ़िक्र रही मुझे आप सबकी—लेकिन कोई सूरत नहीं थी कुछ भी पता लगाने की..." एक के बाद एक प्रश्नों की झड़ी लगा दी मंसूर ने, और शकर ने ताज्जुब के साथ देखा, कि घृणा-द्वेषपूर्ण उन काले दिनों की हलकी-सी भी कोई छाया नहीं थी उसके हाव-भाव में।

धीरे-धीरे शकर भी सहज-स्वाभाविक हो गया उसके साथ।

फिर, उसने भी घर का सारा कुशल-समाचार उसे बताया, और यह देख ताज्जुब में रह गया कि उन सबको सही-सलामत जान उसका चेहरा सचमुच ही खुशी से खिल उठा है।

शकर को भी ख़ुशी हुई, मंसूर को सही-सलामत पाकर। "तुम लोग तो... तुम्हारे यहाँ के लोग...सभी सही-सलामत रहे न?" उसने भी तब पूछ ही लिया।

"चलिये, आपको चाय पिलाऊँ—" अचानक मंसूर ने उसकी बाँह में बाँह डाल उसे खींचते हुए कहा। और शकर इनकार नहीं कर सका।

धरमतल्ला की बड़ी सड़क तब तक क़रीब-क़रीब पहले की ही नाईं चालू

हो चुकी थी : हिन्दू-मुसलमान सभी उस पर वेझिझक आते-जाते दिखाई देने लगे थे। लेकिन कुछ क़दम आगे बढ़ने पर जब मंसूर उसे लिये दक्खिन की एक चौड़ी गली में घुस गया और कुछ दूर बढ़ने पर शंकर को अहसास हुआ कि वह निखालिस मुस्लिम बाजार है...दोनों ओर मुसलमानों की दूकानें...और यह कि एक-के-बाद-एक कितनी ही निगाहें उसकी ओर उठने लगी हैं, तो उसके अन्दर तक एक सनसनी दौड़ गयी...

अचानक उसका ध्यान इस ओर गया कि वह धोती पहने हुआ था। और मंसूर का भी ध्यान तभी शायद पहले-पहल इस बात की ओर जा पाया—लोगों की उन निगाहों को उस तरह शंकर की ओर उठते देखकर...

"धोती पहनना आपने तभी से शुरू कर दिया है शायद ?" धीरे से मंसूर ने उससे प्रश्न किया, किसी हद तक सकपकाते हुए, और शायद शंकर के ही दिल की दहशत को किसी हद तक भाँपकर वातावरण को सहज बनाये रखने की नीयत से भी...

जैसे-जैसे शंकर आगे बढ़ता गया, उसकी दहशत भी बढ़ती गयी, और आख़िर जब मंसूर उसे लिये-लिये उस चौड़ी गली के एक रेस्तराँ में घुसकर एक ख़ाली मेज तक पहुँच उसके पास वाली कुरसियों पर उसके साथ जा बैठा तब तो शंकर का दम जैसे सूख ही चला। अच्छी-ख़ासी भीड़ थी उस दूकान में, लेकिन कुल के कुल मुसलमान !

सन 30 के आन्दोलन में क्रान्तिकारी गोपाल भाई के साथ टहलने जाकर बांदा में केन नदी के पुल के बीचों बीच एक खंभे पर जब शंकर को भी उनके साथ-साथ जा बैठने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा था, और दूसरी ओर से रेलगाड़ी की घड़बड़ाहट सुनाई दी थी, तब जिस तरह उसे सिर्फ़ इसलिए अपनी नियति को स्वीकार कर लेने के लिए बाध्य हो जाना पड़ा था कि उनके सामने अपने को कायर दिखलाना उसके लिए असंभव था, उसी तरह आज भी, ख़तरे के बढ़ते संकेतों के बावजूद, सिर्फ़ इसलिए वह मंसूर के साथ मुसलमानों के उस गढ़ में घुसता चला आया था कि न तो मौत के डर को उसके सामने प्रकट होने दे सकता था और न यही जाहिर होने दे सकता था कि उसकी नेकनीयती पर उसे भरोसा नहीं है।

लेकिन मंसूर की नेकनीयती के बावजूद, अगर कोई सिरफिरा मुसलमान अपने गढ़ में अचानक आ फँसे उस धोतीधारी हिन्दू को पा पीछे से उसकी पीठ में छुरा भोंक देता, तो क्या उसे कोई रोक सकता था ?

हँस-हँसकर क्या-क्या बातें करता चला गया मंसूर, शंकर को कुछ भी पता नहीं। उसके शब्द उसके कानों में ज़रूर जाते रहे, लेकिन उसने क्या-क्या कहा, कुछ भी उसके पल्ले नहीं पड़ा। दो-चार घूंट में ही तेज़ गरम चाय अपने गले में

किसी तरह उतार उसने तो अपना प्याला खाली कर दिया, लेकिन मंसूर का प्याला जैसे खाली ही नहीं होना चाहता था।

अचानक मसूर का ध्यान उसके खाली प्याले की ओर गया, और लपाक से उसने 'ब्वाय' को आवाज दी—उसके लिए एक प्याला और लाने के लिए। बड़ी मुश्किल से शंकर उसे क़ायल कर पाया कि दूसरा प्याला वह नहीं लेगा...

लौटकर आखिर जब वे दोनों फिर धरमतल्ला स्ट्रीट में वापस आये, तो शंकर का सिर बुरी तरह झनझना रहा था। और उसे लगा, जैसे उसे एक सौ दो या तीन डिगरी का बुख़ार हो।

सोलह

तीन चार हफ़्ते बीत चुके थे कलकत्ते के उस नरमेध के बाद। सड़कों पर ट्राम-बस-रिक्शे चलने लगे थे, और दूसरी भी कई बातों में जीवन थोड़ा-बहुत सामान्य हो चला था। हिन्दू अपने इलाकों में और मुसलमान अपने इलाकों में आज़ादी से घूमने-फिरने और अपने-अपने काम पर जाने लगे थे, और जिन्हें दूसरे इलाकों में होकर जाना पड़ता था वे ट्रामों या बसों में सशस्त्र पुलिस की हिफ़ाज़त में सफर करने की थोड़ी-बहुत हिम्मत करने लग गये थे। डाक-तार व्यवस्था भी फिर से चालू हो गयी थी...

लेकिन न अंजलि ने अभी तक अपने सरकारी काम पर जाना शुरू किया था और न विनोद ही अपनी विज्ञापन एजेंसी के काम में मन लगा पा रहा था।

शंकर के अन्दर भी बहुत-कुछ जैसे उखड़ और टूट गया था इस बीच।... कितनी ही रातों को देर तक जगे रहकर उसने बाहर की ध्वंस-लीला के साथ अपने अन्दर की सुदूर अतीत वाली ध्वंस-लीला का धागा जोड़ा था, जिसके बाद कभी तो थोड़ी-बहुत शान्ति पायी थी, पर कभी-कभी पहले से भी कहीं ज़्यादा बेचैन हो उठा था। न जाने कैसे-कैसे भावों का आलोड़न, मन्थन और ताण्डव चला था उसके दिल के अन्दर—जो कभी-कभी तो उसे बुरी तरह झकझोर गया था।

दो-एक दिन पहले ही बड़ाबाजार स्थित अपने दफ़्तर जाकर वह सन्तराम और उनके परिवार की कुशल-क्षेम लेकर और घंटों तक उनके इलाक़े के उनके अनुभवों को सुनकर लौटा था जिनसे उसके दिल की हलचल और भी बढ़ गयी थी।

घर लौटने पर उसे बम्बई से अपने मित्र रूपचन्द का पत्र मिला था जिसमें उन्होंने कलकत्ते के उस हत्याकाण्ड की बाबत एक 'स्केच' लिखकर भेजने की ताकीद की थी।

आज सुबह से ही शंकर रूपचन्द के लिए कोई 'स्केच' लिखने का इरादा कर काग़ज़-क़लम लेकर बैठा, लेकिन लिख एक लाइन भी नहीं पाया। दिल और दिमाग़ में तस्वीरों की एक ऐसी आंधी उठ खड़ी हुई कि न वह उनको कोई तर-तीब बिठा सका, न उनके लिए कोई उपयुक्त भूमिका ही तैयार कर पाया...

और इससे भी बड़ी मुशकिल यह हुई कि पिछले आठ-दस दिन से, जबकि बाहर की ध्वंस-लीला के उस परिवेश से मन थोड़ा-बहुत उबरने लगा था, उसके अन्दर की दुनिया में अचानक ही एक भूचाल आ गया था, और एक बार फिर वह सोते-जागते हर वक़्त मानो अतीत की दुनिया में ही रम चला था...

आख़िर, जब वह कुछ भी नहीं लिख सका, एक नये ही ढंग के जोश की एक बाढ़-सी आयी उसके दिल में, और लेटर पैड लेकर वह रूपचन्द को एक चिट्ठी लिखने बैठ गया—ऐसी भावुकतापूर्ण चिट्ठी जैसी पहले कभी लिखने की वह कल्पना तक नहीं कर सकता था :

"मेरे प्यारे दोस्त,

"तुम्हारा ख़त कल मिला। और आज ही जवाब लिखने बैठ गया। इसकी वजह है।

"मन के एक क्राइसिस में होकर गुज़र रहा हूँ। क्राइसिस क्या है यह बहुत-कुछ मालूम है, और इसका उपाय स्वामीजी के पास है यह भी जानता हूँ। पर न स्वामीजी को अभी फ़ुरसत है, और न अभी मेरा ही वक़्त आया है।

"यों साल-भर पहले की और आज की हालत में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है। साल-भर पहले इतनी बड़ी क्राइसिस आने पर मैं अपने पांवों पर खड़ा ही नहीं रह सकता था। पर आज वह बात नहीं है : जब तक स्वामीजी के पास जाने की इजाज़त न मिले तब तक बाहरी दुनिया के साथ अपने ताल्लुक़ात ठीक रखते हुए, बेहद जरूरी काम पूरे करते हुए, लड़ाई जारी रखने का पूरा भरोसा अपने ऊपर हो गया है। फिर भी, क्राइसिस तो आयी ही है और वह कोई नयी नहीं है; सिर्फ़ बीच-बीच में तेज और संगीन हो उठती है—इतना ही। और, इस क्राइसिस के साथ लड़कर जिस वक़्त ज़रा सिर उठा सका था, कि तुम्हारा यह ख़त मिला।

"—कितनी तड़प है दिल में प्यार पाने और देने की। और कितनी शर्तें आप-से-आप बन गई हैं जिनके अन्दर रहते हुए ही प्यार पाया या दिया जा सकता है। मेरा मतलब किसी सामाजिक बंधन में नहीं मन के बंधन से है, मन की शर्तों से। प्यार पाने और देने के लिए दोनों ओर से एक-समान आग्रह चाहिए, एक-जैसी बेचैनी, एक-जैसा उतावलापन।

"मज़ा यह है कि जब सुशीला प्यार देना और लेना चाहती थी तब मेरे दिल का दरिया सूख गया था, अब जब मेरे दरिया में पानी आया, वह बेचारी ख़ुद रेगिस्तान बनी स्वामीजी के पास पानी की तलाश में है।

"और इस तरह मेरे दिल की प्यास मुझे बेचैन कर रही है; और सुशीला इसे बुझाये—यह अभी कुछ वक्त तक मुमकिन नहीं दिखाई देता।

"जब-जब, स्वामीजी की कृपा से प्राप्त अपने पुरुषार्थ के बल, किसी हद तक इस प्यास को जीत पाता हूँ और बाहरी चीज़ों को लेकर काम चलाना चाहता हूँ—लिखाई-पढ़ाई, राजनीति, गपशप—तब-तब बेचैनी ढीली पड़ जाती है। पर जब वह फिर तेज़ हो उठती है तब ये सारी बाहरी बातें, जिनसे दिल को भरता रहता हूँ और जो तब काफ़ी ठोस भी जान पड़ती हैं, एकदम बेकार हो जाती हैं और दिल के अन्दर शून्यता ही शून्यता छा जाती है। और तब उस शून्य हृदय में जो हाहाकार उठता है उसे मिटाने के लिए, उस सूनी जगह को भरने के लिए, एक अच्छी-ख़ासी बारिश की ज़रूरत साफ़ दिखाई देती है।

"कल से इसी शून्यता के हाहाकार का मज़ा ले रहा था। आज इस वक्त जब किसी तरह कुछ होश में आया और कागज़-कलम लेकर बैठा कि लिखकर ही बादलों को न्योता दूँ, तब वह भी नहीं हो पाया और दो साल के बच्चे की शक्ल में अपनी माँ की वही गोद पाने के लिए तड़प उठा। इस अधेड़ उम्र में तो सुशीला ही वह जगह ले सकती है। अचानक ही सुशीला के लिए दिल में मुहब्बत का सोता उमड़ उठा और चाहा कि उसे एक प्रेम पत्र लिख डालूँ—अपने जीवन का पहला प्रेमपत्र। शुरू करूँ इस तरह : 'प्रियतमे, सचमुच जीवन में पहली बार आज पूरे हृदय से तुम्हें इस सम्बोधन के सम्पूर्ण अर्थ में प्रियतमे लिखने को जी चाह रहा है। तुम्हीं तो आज मेरे लिए सबसे अधिक प्रिय हो...'

"पर, धीरे-धीरे, कल्पना का यह पत्र कल्पना में ही समाप्त हो गया। क्या पता, सुशीला के मन की स्थिति इस समय कैसी है और अपनी इस समय की स्थिति में लिखा गया मेरा यह पत्र उसके लिए अनुकूल पड़ेगा या प्रतिकूल!

"और इसी बीच तुम्हारा यह ख़त मिला, और मुझे लगा कि बादलों का एक टुकड़ा आसमान से आकर एक हलकी-सी बारिश कर गया है।

"मेरे दोस्त, कितने ही गहरे दोस्तों में एक तुम्हीं हो जो आज तक मेरे नज़दीक हो। कौन है और जिसे मैं आज निस्संकोच इस तरह का पत्र लिख सकता

था ? कौन मुझे समझ सकेगा आज ? बाक़ी सभी तो बहुत दूर पड़ गये हैं आज के इस उदयशंकर से। मेरे दिल के अन्दर सैंतीस-अड़तीस साल पुराना डेढ़-दो साल का जो शंकर कभी-कभी अचानक हाहाकार कर उठता है उसकी वेदना मेरे बाक़ी दोस्तों में कौन समझ पायेगा भला ?—समझ पाना तो दूर, कौन उस पर विश्वास करेगा ?...मेरे दोस्तों में एक तुम्हीं तो हो जो खुद भी अपने उस पुराने इतिहास के खंडहरों को साफ़ करने में लगे हो, अपने बचपन की उस भूख को, उस वक्त के उस हाहाकार को सुनने-समझने के लिए उतावले हो।

"आज एक तुम्हीं मेरे दोस्त हो भाई !

"कलकत्ते में जो-कुछ हुआ उसका 'स्केच' संभव हुआ तो फिर कभी। अभी इतना ही कह दूं कि यहाँ जो कुछ हुआ उससे दिल की हसरतें मिटीं नहीं।...क्या गरम वातावरण था, कैसा जबर्दस्त भय और आतंक ! अपने को देखने में बड़ी मदद मिली।..."

—यह पहला मौक़ा था कि रूपचन्द को, भावुकता की उस बिलकुल ही नये प्रकार की बाढ़ में बहकर, 'आप' की जगह 'तुम' से सम्बोधित किया था उसने।...पत्र लिख डालने के बाद एक बार यह ख़याल भी आया ही, कि या तो उस पत्र को भेजे ही नहीं, या उसे दोबारा लिखे, और 'तुम' को बदलकर फिर से 'आप' ही कर डाले। लेकिन न वह उस पत्र को ही फिर रोक सका, न उसे दोबारा ही लिख सका। 'तुम' को फिर से 'आप' करने के साथ-साथ फिर उसे शायद बहुत-कुछ बदल देना पड़ता; जिस सहज भावुकता से वह पत्र ओत-प्रोत था उसके साथ मानो, 'आप' सम्बोधन फिर खप ही न पाता।

...आनन्द कुटी से पिछले साल के जाड़ों में जब स्वामीजी और सुशीला को हज़ारीबाग़ रोड में ही छोड़ शंकर काम की तलाश में वहाँ से कलकत्ते के लिए रवाना हुआ था तब तीन-चार दिन के लिए पहले बनारस चला गया था, और कलकत्ता पहुँचने से पहले एक दिन के लिए रास्ते में आश्रम में रुक गया था जहाँ तब तक स्वामीजी और सुशीला पहुँच चुके थे। और वहाँ से कलकत्ते लौटते ही उसे सुशीला का एक घोर भावुकतापूर्ण पत्र मिला था, और उसी की पीठ पर स्वामीजी के हाथ का लिखा एक नोट:

"शंकर,

"तुम्हारे चले जाने के बाद से ही सुशीला की बुरी हालत रही—ख़ास कर शाम को तो हद से बाहर हो गयी। रोते-रोते आँखें सूज गयीं। हज़ारीबाग़ रोड में ही तो तुमसे कहा था—इस बार तुमसे अलग सुशीला को आश्रम लाने की इच्छा नहीं थी—जहाँ तक जल्द हो सके दोनों एक साथ रहने की कोशिश करो; फ़िलहाल आश्रम में नहीं चल सकेगा।

"यदि ज़रूरत महसूस हुई तो पांच-छः दिनों के बाद उसे एक बार तुम्हारे

पास भेज दिया जायेगा।"

शाहर ने पहले स्वामीजी वाला यह नोट ही पढ़ा, और एक साथ ही उसके अन्दर जहाँ एक ओर उल्लास, आनन्द और हर्षातिरेक का ज्वार-सा उठ खड़ा हुआ, वहाँ दूसरी ओर वह कुछ घबड़ा भी उठा था : जब तक सुशीला अपने दमित भाव-चक्र की जकड़ से काफ़ी हद तक छुटकारा नहीं पा जाती तब तक क्या वह उसे सँभाल पायेगा ?

फिर, अभी तो वह खुद ही विनोद-अंजलि के ऊपर बोझ बनकर रहने को था—जब तक कि उसे अपने लिए कोई काम नहीं मिल जाता।...सुशीला को अभी वह अपने पास कैसे लाकर रख सकता था ?

फिर उसने सुशीला का पत्र पढ़ा :

"तुम इस बार कैसा भारी दिल लेकर कलकत्ते गये ? तुम मुझसे क्या चाहते थे ? तुमने क्या चाहा था जो तुम नहीं पा सके ? मेरा मन बिलकुल ही उचटा हुआ है तब से, सिर्फ़ तुम्हारा ही वह चेहरा आँखों के सामने घूम रहा है। कितनी बार ही तो तुम मुझे छोड़कर कहीं गये हो, लेकिन पहले तो कभी इस तरह नहीं गये थे ! क्या तुम मुझे भी कलकत्ते साथ ले जाना चाहते थे ? लेकिन एक बार भी तो तुमने मुँह खोलकर यह नहीं कहा। क्या मुझ पर अपना ज़ोर नहीं समझा ? किसलिए ? मुझे कोई प्यार नहीं करता ? ऐसा तुम कैसे मान बैठे ? जाने से पहले तुमने सभी ज़रूरी काम किये, लेकिन मानो मशीन की तरह—बिना किसी उत्साह के, मानो तुम्हारे अन्दर ऐसा कुछ खाली हो गया हो जिसे कुछ भी देकर भरा नहीं जा सकता।

"सुबह मैंने तुमसे लालटेन जला देने के लिए कहा, और भी दो-एक काम में तुमसे मदद ली। सभी कुछ तुमने किया, न ज़रा भी हीला-हवाला किया, न थोड़ी भी खीझ दिखाई। लेकिन फिर भी जैसे अन्दर कुछ दबाये रहे।...किसलिए ? तुम्हें क्या हो गया ? क्यों ऐसा हुआ ?

"कल सारी कोठरी में तुमने किस तरह तमाम चीज़ें जहाँ-तहाँ बेतरतीब फैला रखी थीं ! और आज वह सब एकदम ही सूना-सूना हो उठा है।...सिर्फ़ एक दिन के लिए आकर तुम यह क्या उलट-पुलट कर गये, मेरे मन के कोने में कहीं छिपी किस व्यथा को इस तरह जगा गये—कि रह-रहकर सिर्फ़ यही टीस दिल में उठ रही है : उफ़, कितनी बड़ी कोई आशा लेकर तुम आये थे, लेकिन तुम निराश ही चले गये।...सुबह नाश्ता तुम्हें दिया। तुमने खाया भी। लेकिन—किस चाव से मैंने यह बनाया था, क्या तुमने कुछ भी जाना ? कितने अनमने होकर तुमने जल्दी-जल्दी खाया और उठ गये। सिर्फ़ खाना था, इसलिए खाया न ?

"कितने अरसे के बाद आज तुम मुझे रुला रहे हो ! मुझे सिर्फ़ यही रोना आ

रहा है : प्यार के कितने भूखे हो तुम...पर प्यार नहीं मिलता।"

खुशी का, उल्लास का एक ज्वार उठ खड़ा हुआ था शंकर के दिल में सुशीला की वह चिट्ठी पढ़कर, और उसी दम वह स्वामीजी को, और उसे भी, चिट्ठियां लिखकर जल्दी-जल्दी 'पोस्ट' कर आया था, कि कहीं स्वामीजी सुशीला को कलकत्ता भेज न दें। उन दोनों को ही उसने यक़ीन दिलाया कि उसका चित्त पूरी तरह स्वस्थ था, कि सुशीला के लिए उसके दिल में अगर कोई ख़ास तड़प उस दिन आश्रम में उठी भी होगी तो अब वह पूरी तरह क़ाबू में आ चुकी थी, और यह कि दरअसल वह अतीत की ही किसी स्मृति के आलोड़न का परिणाम रही होगी। उसने स्वामीजी को आश्वासन दिया कि जब तक सुशीला की अन्दरूनी ज़रूरत पूरी नहीं होती, जब तक वह भी अपने 'अतीत' से इस हद तक छुटकारा नहीं पा जाती कि 'वर्तमान' का दायित्व सँभालने लायक़ हो जाए, तब तक वह उनके बिना अच्छी तरह निभा ले सकेगा—"ख़ास तौर से जब कि आपके चरणों में रहकर इस बार मैं पहले-पहल जीवन-संघर्ष को स्वस्थतापूर्वक झेलने योग्य बन सका हूँ।" और अन्त में, स्वामीजी और सुशीला दोनों के ही सामने, विनोद की आर्थिक स्थिति भी कुछ विस्तार से स्पष्ट की—जिसका संकेत यही था कि जब तक वह खुद स्वावलम्बी नहीं हो जाता तब तक सुशीला का भी बोझ कैसे उन लोगों पर डाल सकता है ?

...सन्तराम की 'चंचला' में 'पार्ट-टाइम' प्रूफ़रीडर का काम करते हुए शंकर को जब अगले महीने से ही पचास रुपये मासिक मिलने लग गये थे, तब से उसने पच्चीस रुपये सुशीला के पास भेजना शुरू कर दिया था और बाक़ी पच्चीस अंजलि की गृहस्थी में देना। फिर, लेखों और कहानियों से होने वाली आमदनी में से भी दो-चार रुपये मासिक ही अपने जेब खर्च के लिए रख वह बाक़ी सारी रक़म विनोद को देता चला गया था : पिछले साल डेढ़ साल में ही, महायुद्ध के ख़त्म हो जाने के बावजूद, महंगाई तेज़ी से बढ़ गयी थी, और उन लोगों की गृहस्थी पर अगर उसे अपना भी बोझ नहीं डालना था तो पचास रुपये महीने उन्हें ज़रूर देने थे...ख़ास तौर से जब कि शंकर के लिए एक पूरा कमरा भी उन्होंने छोड़ दिया था।

कुछ महीने बाद जब 'चंचला' से उसे पचास की जगह एक सौ रुपये महीने मिलने लग गये—सम्पादकीय काम भी सँभाल लेने पर—तब से शंकर अपने उस मासिक वेतन का आधा अंजलि को देने लग गया और आधा आश्रम सुशीला के पास भेजने लगा : अपना बाक़ी ख़र्च वह लेखों, आदि से महीने में बीस-पच्चीस जो मिल जाते उन्हीं से चलाता। तब से वह अपने बारे में भी निश्चिन्त हो गया था और सुशीला के बारे में भी—कि जब तक उसे स्वामीजी के पास रहने की ज़रूरत हो वहीं रह सके, बिना अपना आर्थिक बोझ आश्रम पर डाले...

विनोद-अंजलि ने उसे अपने बीच पाकर इस बार जिस हार्दिकता और आत्मीयता के साथ अपना लिया था उसमें भी शंकर आश्वस्त था, और सुशीला के लिए जब-तब जो बेचैनी या तड़प दिल में कभी-कभी हो उठती थी, उन दोनों के निश्छल स्नेह में डूब जाती थी। उस मकान की दूसरी मंज़िल पर जो तीन कमरे थे उनमें से एक विनोद की बैठक और उसकी एजेंसी के दफ़्तर के रूप में इस्तेमाल होता था, एक अंजलि का था, और तीसरे में विनोद-सुशीला की माँ रहती थीं। तीसरी मंज़िल की सूनी छत की बग़ल में ज़ीने से लगा हुआ सिर्फ़ एक कमरा और एक बाथरूम था : शंकर के आने से पहले वह कमरा ही विनोद-अंजलि का 'बेडरूम' था। मगर, कुछ ही दिन बाद, शाम को बाहर से लौटकर शंकर ने देखा, ऊपर वाला वह कमरा उसके लिए ख़ाली कर दिया गया है, और न जाने कहाँ से लाकर उसमें काफ़ी बड़ा पुराना तख़्त डाल दिया गया है जिसके लिए—न जाने कहाँ से खोज खाज कर—छोटे-बड़े दो-तीन गद्दे निकाले गये हैं और उनके ऊपर इतना बड़ा और बिल्कुल नया-सा 'बेडकवर' डाल दिया गया है जो मानो उस बड़े तख़्त के हिसाब से ही बनाया गया हो।

और, किसी दूसरे मामले में भले ही कभी कोई चूक हो जाय, लेकिन संग्रहणी के पुराने रोगी अपने शंकर-दा के खाने के साथ दही देना अंजलि ने इस तरह अनिवार्य मान लिया था कि अपने दफ़्तर जाने से पहले उड़िया नौकर ब्रह्मा को उसके लिए ज़रूर पैसे दे जाती, और रात को एक बार शंकर से भी ज़रूर पूछ लेती : "ब्रह्मा दही लाया था शंकर-दा ?"

शंकर उन लोगों की गृहस्थी में इस बार घुल-मिलकर इस तरह एक हो गया था कि दो-तीन महीने बाद अंजलि के बच्चा होने के वक़्त जब दो-तीन हफ़्ते के लिए आश्रम से आकर सुशीला भी वहाँ रह गयी थी तब शंकर ने उसे सिर्फ़ अंजलि के लिए ही आया माना था और उस पर अलग से अपना कोई दावा पेश करने की ज़रूरत तक नहीं महसूस की थी : जैसे एकमात्र अंजलि की ही ज़रूरत पूरी करने वह आयी थी और वह ज़रूरत पूरी होते ही लौट गयी।

...सुशीला पर अपने किसी तरह के दावे की बात तक मानो भूला रहा था शंकर—जब से वह भी अपने अतीत की जकड़ से छुटकारा पाने के लिए आश्रमवासिनी बन गयी थी। न उस बार उसके कलकत्ते आने पर उसने उससे अपनी भीतरी भूख मिटानी चाही थी, और न ही 'चंचला' का हर महीने का अंक निकालने के बाद, ख़ुद आश्रम जाने पर, उससे वैसी कोई आशा करता था। और वह देखता था कि सुशीला ख़ुद भी अपने अन्दर ही पूरी डूबी रहती थी, या, स्वामीजी की सेवा में ही तन-मन से समर्पित : शंकर के वहाँ पहुँचने पर वह उसी तरह उसकी अभ्यर्थना करती थी जिस तरह आश्रम में समय-समय पर आते रहने वाले दूसरे लोगों की।...आनन्द कुटी से कलकत्ते आने वक़्त उस बार एक दिन आश्रम

में रुककर सुशीला के दिल में जो प्रचण्ड उथल-पुथल वह पैदा कर आया था वह एक क्षणिक आवेश मात्र सिद्ध हुआ; सुशीला ने उस बार उसे जो परम भावुकता-पूर्ण पत्र लिखा था उसकी स्मृति तक दोनों के अन्दर से शायद लुप्त हो चुकी थी।

इसी स्थिति को शंकर ने अपने और सुशीला के तत्कालीन जीवन की यथार्थता मान लिया था...

कलकत्ते के उस लोमहर्षक नरमेध के बाद वाली उस मनःस्थिति में उस दिन अपने मित्र रूपचन्द को जो पत्र उसने लिख डाला...और सुशीला का प्यार पाने की उसके दिल की वह भूख उसके सामने जिस तरह अचानक उजागर हो उठी उससे वह ख़ुद भी ताज्जुब में पड़ गया।...

उसकी वह चिट्ठी उसी को वापस करते हुए रूपचन्द ने जवाब में उसे लिखा कि उसके साथ उनकी गहरी सहानुभूति है, लेकिन स्वामीजी को अपने चित्त की स्थिति उसे साफ़-साफ़ लिख देनी चाहिये। "जब हम अपना सब कुछ उनके सामने खुलकर रखते आ रहे हैं," उन्होंने उसे सलाह दी, "तब यह बात भी उनसे छिपानी नहीं चाहिए।"

लेकिन शंकर ने स्वामीजी को कुछ भी नहीं लिखा। उसे डर था कि उस अवस्था में स्वामीजी उसे यही लिखेंगे कि वह सुशीला को ले जाये और अपनी गृहस्थी जल्द से जल्द जमा ले। वैसे भी, जब तक रूपचन्द का जवाब आया, शंकर अपनी उस दिन वाली मानसिक बेचैनी और बेबसी से उबर चुका था; अपनी जिस खोई हुई माँ को वह सुशीला में पाने के लिए व्याकुल हो उठा था उसे न केवल अतीत की उन स्मृतियों के खंडहरों में उसने फिर-फिर पाने की कोशिश की थी, बल्कि अपने वर्तमान जीवन में भी उस क्षति की पूर्ति के अवसर कभी-कभी निकालता रहा था : कोई भावुकतापूर्ण कहानी लिखकर, अथवा अपने तत्कालीन 'पारिवारिक' परिवेश में ही अपने को किसी सीमा तक विलीन करके,...

कोई सरकारी छुट्टी थी और अंजलि को दफ़्तर नहीं जाना था। दस-ग्यारह बजे का वक़्त था, और ऊपर अपने कमरे में शंकर बैठा कोई लेख लिख रहा था।

"दादा, मुझे बचाओ—" कहती अंजलि दौड़ती हुई उसके कमरे में घुस आयी। ज़ोर-ज़ोर से साँस चल रही थी, चेहरा गुस्से से तमतमाया हुआ था, हालांकि आँखों के अन्दर की गहराई से एक अजीब क़िस्म का डर भी झाँक रहा था।

"क्या हुआ ?" शंकर अपनी क़लम रख तेज़ी से उठ खड़ा हुआ।

"मुझे मार डालेंगे यह दादा—" अंजलि अब थरथर कांप रही थी, "छुरा लेकर मेरी ओर दौड़े थे..."

"चलो—मैं चलता हूँ नीचे," शंकर उसी दम दरवाज़े से बाहर निकल आया : "कहाँ है वह ?...हो क्या गया है उसे ?"

लेकिन अंजलि उसके पीछे-पीछे नहीं आयी। बल्कि, शंकर ने देखा, कमरे से उसके बाहर जाते ही उसने अन्दर से उसी में अपने को बन्द कर लिया।

धड़धड़ाता हुआ शंकर जीना उतर जब नीचे पहुँचा, उसने देखा—एक सशस्त्र दृष्टि से उसकी ओर ताककर विनोद ने भी अपने कमरे का दरवाज़ा जल्दी से अन्दर से बन्द कर लिया है।

उस रोज़ शाम तक विनोद अपने कमरे में ही बन्द रहा, और भयभीत अंजलि को वैसी स्थिति में छोड़ शंकर भी उस दिन अपने दफ्तर नहीं जा सका।

...विनोद और अंजलि का विवाह उनके दीर्घकालीन प्रेम की ही एक सुखद परिणति के रूप में दिखाई दिया था सभी को, लेकिन कुछ ही महीने बाद जब एक दिन पटने से अकेली अंजलि बिना पहले से कोई खबर दिये शंकर-सुशीला के घर आ पहुँची थी और फिर अपनी दुःख-गाथा सुनाते हुए बिलख-बिलखकर रोयी थी तभी जाकर यह बात प्रकट हुई थी कि विनोद अपनी शादी से पहले अंजलि से ज्यादा किसी और लड़की को प्यार करता था जिसके द्वारा ठुकरा दिये जाने पर ही तैश में आकर, एक तरह से उससे बदला लेने के लिए ही, अंजलि से शादी कर बैठा था।...विवाह के कुछ दिन बाद से ही वह गमगीन रहने लगा और कभी-कभी तो आधी रात बाद अपने दोस्तों की महफिल से शराब के नशे में धुत घर लौटता था...

लेकिन आत्मग्लानि और पश्चात्ताप का दौर शुरू होने पर बाद को फिर अंजलि को खुश करने के लिए वह कुछ भी उठा न रखता; उस बार भी, अंजलि के पीछे-पीछे खुद भी पटने आ पहुँचा था और रो-धोकर, तरह-तरह से उसे समझा-बुझाकर, अपने साथ वापस ले गया था..

इधर भी, कोई साल सवा-साल पहले फिर एक बार विनोद और अंजलि के बीच गहरी तनातनी चली थी, और शंकर के पास आश्रम में अंजलि का तार पहुँचा था—उसी दम कलकत्ते पहुँचने के लिये। ग़नीमत थी कि तभी-तब शंकर अपनी कठोरतम भाव ग्रन्थि की जकड़ से छूटा था जिसकी वजह से ही उसके लिये अगले दिन तीसरे पहर तक कलकत्ते पहुँच पाना संभव हो पाया था। उसे देख रोते-रोते अंजलि की घिग्घी-सी बँध गयी थी, उससे नहीं, विनोद की माँ से ही शंकर जान पाया था कि तीन दिन से विनोद का कुछ भी पता नहीं था कि वह कहाँ है।

विनोद की मां की आधी से अधिक सहानुभूति इस मामले में अपने बेटे के विरुद्ध अपनी बहू के ही साथ थी, लेकिन तीन दिन से लापता अपने बेटे के किसी अनिष्ट की आशंका से वह खुद इस हद तक टूट गयी थीं कि कुछ ही देर बाद शंकर को अंजलि के पास छोड़ जो अपने कमरे में जा पड़ीं तो देर तक फिर नहीं लौटीं।

अंजलि के लिए शंकर के दिल में व्यथा ही व्यथा उमड़ आयी थी। दो दिन से उस बेचारी ने कुछ भी खाया-पीया नहीं था, और रोते-रोते आख़िर उसे ग़श-सा आ गया। शंकर ने तब नौकर से उसके लिए दूध गरम कराया,और मुशकिल से जब किसी तरह उसे राज़ी किया दूध का गिलास मुंह से लगाने के लिये—कि अचानक पाया, वह अपना मुंह ही नहीं खोल पा रही है। उसके जबड़े जहां के तहां बंध-से गये थे : न दूध पीने के लिए ही वह मुंह खोल पा रही थी, न कुछ बोल सकने के लिए ही।

मूक आंखों से आंसू बहाती आख़िर अंजलि फिर अपने बिस्तर पर पड़ गयी थी, देर तक उसकी ओर कातर दृष्टि से एकटक ताकती रही थी, उसकी आंखों के दोनों छोरों से आंसुओं की एक-एक पतली धार कानों के पास होती बहती चली गयी थी...

कुछ देर के लिए शंकर बुरी तरह घबड़ा गया था, लेकिन फिर उसने साहस करके अपने को सँभाल लिया।...अचानक उसे ख़याल आया : यह 'लॉक-जा' —जबड़े का फंस जाना—कहीं उसकी उद्वेगपूर्ण मानसिक स्थिति का ही परिणाम तो नहीं है? स्वामीजी से वह कितने ही दृष्टान्त सुन चुका था जबकि कोई मानसिक विक्षोभ किसी शारीरिक क्रिया को कुण्ठित और अवसन्न कर देता है।

अन्त में, प्रयोग-स्वरूप, अपने ढंग से ही उसने अंजलि की चिकित्सा शुरू की : अंजलि के उस वाक्-रोध की उपेक्षा कर, तब वह अन्तरंगता के साथ उसे अपनी ही बहुत-सी बातें बताता चला गया—और फिर, जब देखा कि वह उसकी बातों में पूरी तरह रम गयी है, सहसा कह उठा :

"अच्छा अंजलि, यह तो बताओ...इस तरह के जानवर आदमी के साथ सारी जिन्दगी गुज़ारने की जगह, क्या उसे तलाक़ दे देना ज्यादा अच्छा नहीं?"

"की बोलचेन आपनि...शंकर-दा?" (आप कह क्या रहे हैं?)—उसी दम जैसे उछलकर वह उठ बैठी, और लगा, जैसे उसकी आंखों से चिनगारियां छूट रही हैं।

शंकर मुसकरा उठा; अपनी सफलता पर वह स्वयं ही चकित था।

"अच्छा तो, तलाक़ न देना चाहो तो मत देना," उसने तब अंजलि के सिर

पर धीरे से हाथ फेरते हुए कहा, "लो, यह दूध तो पी लो अब...तुम्हारा 'लॉक-जा' ठीक हो गया—"

बुरी तरह झेंप गई अंजलि पहले तो, और तभी जाकर समझ पायी कि शंकर उसकी कोई मानसिक चिकित्सा कर रहा था...

दो दिन अंजलि के पास रहकर और उसे और विनोद की माँ को यह समझा-बुझाकर शंकर वापस चला गया था कि वे लोग चिन्ता न करें, विनोद ख़ुद ही पश्चात्ताप और आत्मग्लानि की आग में पूरी तरह तप लेने के बाद उनके पास आ पहुँचेगा, क्योंकि दरअसल वह कोई बुरा आदमी नहीं है, सिर्फ़ अपने किसी मानसिक द्वन्द्व का शिकार है...

आठ-दस दिन बाद सचमुच ही विनोद लौट आया था, जिसके बाद से फिर उसने कभी वैसी हरकत नहीं की थी...

इस बार कलकत्ते आने पर शंकर ने अंजलि को तो अपने प्रति पहले से भी अधिक स्निग्ध पाया ही था—बल्कि एक तरह से कृतज्ञ ही—लेकिन विनोद के अन्दर भी अपने प्रति एक नयी श्रद्धा पायी थी, जिससे कभी-कभी तो शंकर संकुचित तक हो उठता था। उनकी गृहस्थी में इस बार उसका स्थान किसी संयुक्त परिवार के बड़े भाई से भी अधिक सम्मानपूर्ण था, घर की छोटी-बड़ी कोई भी बात ऐसी नहीं थी जो बिना उसकी सलाह के की जाती हो। उसकी सुख-सुविधा की फ़िक्र अंजलि तो यों भी हमेशा से करती आयी थी, इस बार जैसे विनोद ही इस मामले में अंजलि को मात करता आ रहा था। ऊपर का कमरा उसके लिए पूरी तरह ख़ाली कर देने का प्रस्ताव विनोद की ही ओर से आया था, और अंजलि की कई असुविधाओं की उपेक्षा कर वह पूरा कमरा उसके लिए ख़ाली कर दिया गया था।

अंजलि से अधिक विनोद के ही आग्रह पर शंकर ने अंजलि के प्रसव से पहले सुशीला को पत्र लिखा था कि अगर कम-से-कम पन्द्रह-बीस दिन के लिए भी उस वक़्त वह यहाँ आ जा सके तो आ जाय, क्योंकि विनोद घर पर ही 'डेलीवरी' कराने का निश्चय कर चुका था—अवश्य एक बड़े सर्जन से—और गठिया पीड़ित अपनी माँ के भरोसे वह निश्चिन्त नहीं हो पा रहा था।

जिस दिन प्रसव-वेदना शुरू हुई थी, विनोद के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। न तो अंजलि के कमरे से आती उसकी कराहें सुन वह कुछ भी देर अपने कमरे में टिक पाता था, न कमरे से बाहर ही उसे पल-भर को चैन मिलता था।...ज़रा भी देर को अगर सुशीला अंजलि को अकेला छोड़ इधर आ निकलती तो वह उस पर बरस पड़ता : "तू इधर चली आयी सुशीला?...और उधर वह बेचारी तड़प रही है..."

और सुशीला को अपने साथ-साथ खींचता उस कमरे की ओर ले जाता।

विनोद की माँ की आधी से अधिक सहानुभूति इस मामले में अपने बेटे के विरुद्ध अपनी बहू के ही साथ थी, लेकिन तीन दिन से लापता अपने बेटे के किसी अनिष्ट की आशंका से वह खुद इस हद तक टूट गयी थीं कि कुछ ही देर बाद शंकर को अंजलि के पास छोड़ जो अपने कमरे में जा पड़ीं तो देर तक फिर नहीं लौटीं।

अंजलि के लिए शंकर के दिल में व्यथा ही व्यथा उमड़ आयी थी। दो दिन से उस बेचारी ने कुछ भी खाया-पीया नहीं था, और रोते-रोते आख़िर उसे ग़श-सा आ गया। शंकर ने तब नौकर से उसके लिए दूध गरम कराया,और मुशकिल से जब किसी तरह उसे राजी किया दूध का गिलास मुँह से लगाने के लिये—कि अचानक पाया, वह अपना मुँह ही नहीं खोल पा रही है। उसके जबड़े जहाँ के तहाँ बँध-से गये थे : न दूध पीने के लिए ही वह मुँह खोल पा रही थी, न कुछ बोल सकने के लिए ही।

मूक आँखों से आँसू बहाती आख़िर अंजलि फिर अपने बिस्तर पर पड़ गयी थी, देर तक उसकी ओर कातर दृष्टि से एकटक ताकती रही थी, उसकी आँखों के दोनों छोरों से आँसुओं की एक-एक पतली धार कानों के पास होती बहती चली गयी थी...

कुछ देर के लिए शंकर बुरी तरह घबड़ा गया था, लेकिन फिर उसने साहस करके अपने को सँभाल लिया।...अचानक उसे ख़याल आया : यह 'लॉक-जा' —जबड़े का फंस जाना—कहीं उसकी उद्वेगपूर्ण मानसिक स्थिति का ही परिणाम तो नहीं है? स्वामीजी से वह कितने ही दृष्टान्त सुन चुका था जबकि कोई मानसिक विक्षोभ किसी शारीरिक क्रिया को कुण्ठित और अवसन्न कर देता है।

अन्त में, प्रयोग-स्वरूप, अपने ढंग से ही उसने अंजलि की चिकित्सा शुरू की : अंजलि के उस वाक्-रोध की उपेक्षा कर, तब वह अन्तरंगता के साथ उसे अपनी ही बहुत-सी बातें बताता चला गया—और फिर, जब देखा कि वह उसकी बातों में पूरी तरह रम गयी है, सहसा कह उठा :

"अच्छा अंजलि, यह तो बताओ...इस तरह के जानवर आदमी के साथ सारी जिन्दगी गुजारने की जगह, क्या उसे तलाक़ दे देना ज्यादा अच्छा नहीं?"

"की बोलचेन आपनि...शंकर-दा?" (आप कह क्या रहे हैं?)—उसी दम जैसे उछलकर वह उठ बैठी, और लगा, जैसे उसकी आंखों में चिनगारियाँ छूट रही हैं।

शंकर मुसकरा उठा; अपनी सफलता पर वह स्वयं ही चकित था।

"अच्छा तो, तलाक़ न देना चाहो तो मत देना," उसने तब अंजलि के सिर

र धीरे से हाथ फेरते हुए कहा, "लो, यह दूध तो पी लो अब...तुम्हारा 'लोक-जा' ठीक हो गया—"

पूरी तरह झेंप गई अजलि पहले तो, और तभी जाकर समझ पायी कि शंकर उसकी कोई मानसिक चिकित्सा कर रहा था...

दो दिन अंजलि के पास रहकर और उसे और विनोद की माँ को यह समझा-बुझाकर शंकर वापस चला गया था कि वे लोग चिन्ता न करें, विनोद खुद ही पश्चात्ताप और आत्मग्लानि की आग में पूरी तरह तप लेने के बाद उनके पास आ पहुँचेगा, क्योंकि दरअसल वह कोई बुरा आदमी नहीं है, सिर्फ़ अपने किसी मानसिक द्वन्द्व का शिकार है...

आठ-दस दिन बाद सचमुच ही विनोद लौट आया था, जिसके बाद से फिर उसने कभी वैसी हरकत नहीं की थी...

इस बार कलकत्ते आने पर शंकर ने अजलि को तो अपने प्रति पहले से भी अधिक स्निग्ध पाया ही था—बल्कि एक तरह से कृतज्ञ ही—लेकिन विनोद के अन्दर भी अपने प्रति एक नयी श्रद्धा पायी थी, जिससे कभी-कभी तो शंकर सकुचित तक हो उठता था। उनकी गृहस्थी में इस बार उसका स्थान किसी संयुक्त परिवार के बड़े भाई से भी अधिक सम्मानपूर्ण था, घर की छोटी-बड़ी कोई भी बात ऐसी नहीं थी जो बिना उसकी सलाह के की जाती हो। उसकी सुख-सुविधा की फ़िक्र अजलि तो यों भी हमेशा से करती आयी थी, इस बार जैसे विनोद ही इस मामले में अंजलि को मात करता आ रहा था। ऊपर का कमरा उसके लिए पूरी तरह खाली कर देने का प्रस्ताव विनोद की ही ओर से आया था, और अजलि की कई असुविधाओं की उपेक्षा कर वह पूरा कमरा उसके लिए खाली कर दिया गया था।

अजलि से अधिक विनोद के ही आग्रह पर शकर ने अजलि के प्रसव से पहले सुशीला को पत्र लिखा था कि अगर कम-से-कम पन्द्रह-बीस दिन के लिए भी उस वक्त वह वहाँ आ जा सके तो आ जाय, क्योंकि विनोद घर पर ही 'डेलीवरी' कराने का निश्चय कर चुका था—अवश्य एक बड़े सर्जन से—और गठिया पीड़ित अपनी माँ के भरोसे वह निश्चिन्त नहीं हो पा रहा था।

जिस दिन प्रसव-वेदना शुरू हुई थी, विनोद के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। न तो अजलि के कमरे से आती उसकी कराहें सुन वह कुछ भी देर अपने कमरे में टिक पाता था, न कमरे से बाहर ही उसे पल-भर को चैन मिलता था।...ज़रा भी देर को अगर सुशीला अजलि को अकेला छोड़ इधर आ निकलती तो वह उस पर बरस पड़ता : "तू इधर चली आयी सुशीला ?...और उधर वह बेचारी तड़प रही है..."

और सुशीला को अपने साथ-साथ खींचता उस कमरे की ओर ले जाता।

कोई आठ-दस घंटे लगे थे अंजलि को असह्य वेदना में छटपटाते, जिस बीच विनोद के ही एकान्त आग्रह पर वह सर्जन दो-तीन बार आकर अंजलि को देख गया, और अन्त में एक नर्स को भी वहीं छोड़ गया।...सर्जन के बताये वक्त पर ही आख़िर बच्चा जनमा, जिसके क़रीब आधे घंटे पहले ही वह ख़ुद भी आ पहुँचा था। पर जब तक प्रसूतिगृह से अंजलि की चीख़ें आती रही थीं, कभी तो विनोद दोनों हाथों की मुट्ठियाँ कसे कमरे की छत की ओर ताकता आँसू बहाने लग जाता, कभी शंकर का एक हाथ अपने दोनों हाथों में दबा उसकी गोद में सिर डाल देता, और कभी तेजी से उठकर ऊपर की छत पर जा टहलने लग जाता...

और उस अग्नि-परीक्षा से जब अंजलि सही-सलामत निकल आयी तब विनोद का तब तक का सारा भय-डर इस तरह एक प्रबल आनन्दोच्छ्वास में बदल गया कि कुछ देर के लिए तो शंकर-सुशीला दोनों को विनोद के लिए भी किसी हद तक चिन्ता हो उठी।

तीसरे पहर कोई तीन-चार बजे बच्चा हुआ था, और कोई छः-सात बजे शाम तक जाकर विनोद कुछ सँभल पाया। तभी अचानक, बिना कुछ सोचे-विचारे, शंकर उससे कह उठा : "आज की रात 'सेलिब्रेट' की जाय...जश्न मनाया जाय—"

एकाएक विनोद का चेहरा पूरा खिल उठा, और शंकर के एक कंधे पर हाथ मार बोला : "जश्न ?...तो फिर—पूरा साथ देंगे ?" और शरारत से भरी उसकी आँखों में एक नयी ही चमक आ गयी।

शंकर समझ गया, इशारा किधर था। फिर भी उसने स्वीकृतिसूचक सिर हिला दिया।

बेहद ख़ुश और उल्लसित विनोद उसी दम कपड़े पहन घर से बाहर निकल गया और कोई आध घण्टे बाद ही बग़ल में व्हिस्की की एक बोतल दबाये वापस लौट आया। तब तक शंकर सुशीला को भी रात को उस तरह मनाये जाने वाले जश्न की बात बता चुका था।

शंकर ने पहले कभी शराब नहीं पी थी। विनोद के आनन्द के उस ज्वार का लाभ उठा दरअसल वह उस जश्न में इसीलिए उस हद तक हिस्सा लेने के लिए तैयार हो गया था कि उसने उम्मीद की थी कि विनोद के दिल की तहों में छिपे उसके किसी गहरे दर्द का राज शायद इस तरह उसके सामने खुल जाय, शायद शंकर उसके साथ इस सीमा तक घुल-मिल जाने पर उसकी कुछ झाँकी पा जा सके, शायद विनोद के शैशव की किसी बड़ी ही दर्दनाक और ख़ौफनाक घटना का इस तरह अनायास उसे पता लग जा सके, जिसके बाद शायद स्वामीजी की शरण में उसे भी ले जाकर शंकर उसके जीवन की धारा को पलट दे सके और साथ-ही-साथ अंजलि के भी भविष्य को।

ख़ुद शराब पीने में उसे ज़रूर पहले कुछ झिझक महसूस हुई थी, लेकिन वह जानता था कि विनोद के साथ अगर उसे पूरी हार्दिकता स्थापित करनी है तो सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय समझी जाने वाले उस कृत्य में स्वेच्छापूर्वक, बिना कोई झिझक दिखाये, उसे शामिल होना ही होगा। फिर, स्वामीजी की कृपा से अच्छे-बुरे की जिस भावना से ऊपर उठने में वह किसी हद तक सफलता पा चुका था उसकी भी परीक्षा का यह एक अच्छा सुयोग था : ज़रा वह ख़ुद भी तो पीकर देखे—क्या सचमुच यह चीज़ ऐसी है जो उसे मतिभ्रष्ट कर दे सकती है?

प्रसूति-गृह में उस रात के लिए नर्स रखी ही गयी थी, और सुशीला तो थी ही। और—बगल के कमरे में विनोद-सुशीला की माँ थी। खाना-पीना हो चुकने पर रात के आठ-नौ बजे शंकर के ऊपर वाले कमरे में बोतल खुली, और कुछ देर बाद विनोद की ज़बान भी जो खुली तो उसके रुकने की नौबत तभी जाकर आयी जब किसी वक़्त वह एकाएक बेहद उदास हो गया और फिर रोने लगा...

पहले शंकर का यही इरादा था कि वह बहुत ही थोड़ी पियेगा—सिर्फ़ दिखावटी तौर पर विनोद का साथ देने के लिए। लेकिन विनोद भी कम चालाक नहीं था; अपने गिलास के साथ-साथ उसके गिलास में बार-बार उस द्रव पदार्थ को वह डालता ही चला गया : "पूरा साथ देना पड़ेगा दादा...इतने धीरे-धीरे घूँट लेने से नहीं चलेगा।"

आख़िर शंकर के सारे बदन में ख़ून की तेज़ी धीरे-धीरे बढ़ती चली गयी थी; एक बार तो जब वह बाथरूम की तरफ़ गया था, उसने पाया कि उसके पाँव लड़खड़ा रहे थे।

लेकिन दिमाग़ उसका आख़ीर तक बराबर साफ़ रहा था, हालांकि जब सुशीला ने एक बार आकर कहा था ' "कब तक चलेगा यह सब...जानते हो दो बज चुके हैं?" तो वह किसी तरह विश्वास नहीं कर पाया था। इतनी जल्द कैसे बीत गये इतने घण्टे?—उसे बेहद ताज्जुब हुआ था।...जैसे उस जलते पेय ने मस्तिष्क के रक्त को जो तीव्र गति दे डाली थी उसने समय की गति को बेहद पीछे छोड़ दिया था और लगता था, मानो वह किसी ऐसे रथ या घोड़े पर सवार हो जो बड़ा तो बहुत तेज़ी से जा रहा था पर जिसके नीचे की धरती मानो एक ही जगह थमी थी...

लेकिन जिस मूल उद्देश्य से शंकर ने विनोद को बढ़ावा दिया था वह पूरा नहीं हुआ; कुछ देर के लिए ज़रूर लगा कि विनोद ने अपनी लगाम छोड़ दी और धीरे-धीरे—शंकर द्वारा कुतूहल प्रकट किये जाने पर—अपने बचपन की, ख़ास तौर से अपने अत्यन्त क्रोधी पिता की, कुछ बातें सुना डाली, लेकिन ऐन वक़्त पर, जबकि शंकर को लगा कि विनोद किसी अत्यन्त भयावह और अप्रिय स्मृति के द्वार पर आ पहुँचा है, अचानक ही वह रुक गया; और तब से उसकी जो चुप्पी

शुरू हुई वह आख़ीर तक नहीं टूटी।...शंकर की भी उपस्थिति से बेख़बर वह तब से उस बोतल को अपने गिलास में उंडेल-उंडेलकर ख़ाली करने में ही जुटा रहा...और उसके दोनों गालों पर होकर आँसू बहते रहे।

लेकिन उसके बाद भी कितने हफ़्ते, और महीने, गुज़र गये—पर विनोद के अन्तस्तल के उस गुप्त रहस्य की हलकी-सी भी झाँकी पाने का शंकर को कोई अवसर नहीं मिल सका, और न कोई ऐसा ही प्रसंग कभी आ पाया जिससे लाभ उठाकर वह उसके सामने यह प्रस्ताव रख सकता कि वह भी एक बार स्वामीजी की शरण में जाकर अपने जीवन का मार्ग सुगम बना ले। ख़ुद अंजलि तक ने कितनी बार शंकर के सामने ही इशारा किया था कि एक बार वह भी उसके साथ स्वामीजी के पास हो आये; कभी-कभी विनोद ने ख़ुद भी शंकर के साथ आश्रम चलने का इरादा ज़ाहिर किया। लेकिन मौक़ा आने पर हर बार ही वह टाल गया: "इस बार नहीं, फिर कभी दादा!"

...और आज जब शंकर को सीढ़ी पर से उतरते देख एक भयभीत त्रस्त-सी मुद्रा में विनोद ने अपने कमरे को उसी दम अन्दर से बन्द कर लिया, तो उसी रात के उसके चेहरे की एक मुद्रा अनायास शंकर की स्मृति में उभर आयी। क्या थी विनोद के शैशव की वह सोई हुई प्रचण्ड स्मृति जो कभी-कभी उसके आकर्षक व्यक्तित्व पर पूरी तरह आच्छादित हो जाती है और उसे एक हिंस्र पशु के स्तर पर उतार लाती है?

कलकत्ते आये, और 'चंचला' में काम करते भी, एक साल हो चुका था शंकर को, और अपनी उसी आर्थिक और मानसिक स्थिति को उसने क़रीब-क़रीब स्थायी-सा मान लिया था—कि इस बार एक सप्ताह के लिए आश्रम जाने पर उसे स्वामीजी का स्पष्ट संकेत मिला कि अब वह सुशीला को लेकर अपनी गृहस्थी बसाने की व्यवस्था करे।

बात जितनी आकर्षक थी उतनी ही अप्रत्याशित भी; शंकर इसके लिए तैयार ही नहीं था। जैसे वह यही मान बैठा था कि पिछले एक साल से कलकत्ते में उसकी जिन्दगी जिस ढर्रे पर चलनी शुरू हुई थी वह बराबर क़ायम रहेगा; बाहरी दुनिया में चाहे बड़ी-से-बड़ी तब्दीलियाँ होती चली जायें, उसकी अपनी दुनिया वैसी ही बनी रहेगी: विनोद-अंजलि की गृहस्थी ही उसकी अपनी गृहस्थी; बड़ा-बाज़ार में 'चंचला' का दफ़्तर उसका कर्मस्थल; और महीने दो महीने पर—हफ़्ते दो हफ़्ते के लिए—आश्रम की यात्रा, जहाँ पहुँचते ही अंधेरी बन्द कोठरी में अपने अतीत की स्मृतियों की जिस शृंखला को पिछली बार बीच में ही किसी कड़ी पर रुका छोड़ वह कलकत्ते लौट आया था उसको वहीं से थाम उसका फिर

आगे बढ़ चलना।...सुशीला को भी जैसे वह स्वादी रूप से आश्रम-वासिनी के रूप में देखने लग गया था अब तक—स्वामीजी के ही प्रति पूर्णतया समर्पित। उसके जीवन-निर्वाह के लिए जो पचास रुपया मासिक वह देता आ रहा था वह आश्रम-जीवन की दृष्टि से पर्याप्त से अधिक ही था; और अपने भोजन, आदि के मद में विनोद की गृहस्थी में भी प्रति मास दी जाने वाली पचास रुपये की रकम ऐसी नहीं थी जिससे विनोद-सुशीला की माँ तक के मन में यह बात उठ सकती कि वह उन पर रत्तीमात्र भी अपना बोझ डाल रहा था।

रह गयी उसकी अन्य निजी आवश्यकताएँ। पत्र-पत्रिकाओं में लेख और कहानियाँ लिखकर अब तक चालीस-पचास रुपये मासिक की अतिरिक्त औसत आमदनी होने ही लग गयी थी, जो उसके लिए कुछ कम नहीं थी।

और अपनी इस स्थिति से, जहाँ तक उसका अपना खयाल था, वह सन्तुष्ट ही था।

... ...

"न आपकी बीवी यहाँ है...न कोई बाल-बच्चा है," 'चपला' के सचालक सन्तराम कभी-कभी एक फबती-सी कस दिया करते थे उस पर, "फिर क्यों आपको इतनी जल्दी रहती है बंधा-बंधाया काम निपटा, घर लौट जाने की?... मुझे तो चार-पाँच बजे से पहले बाहर के कामों को निपटा, यहाँ लौटने की फुरसत नहीं मिलती, लेकिन आप हैं कि जरा गपशप के लिए भी रुकने को तैयार नहीं होते।"

"क्यों? मुझे क्या और कोई काम नहीं है?" शंकर कुरसी पर से उठकर खड़े होते-होते एक हलकी मुसकान अपने चेहरे पर ला उन्हें जवाब देता।

"और काम तो यही है न...लेख-कहानी लिखना—" वह भी तब कुछ गंभीर हो जवाब देते। "कितना कमाते हैं दूसरी पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख-कहानी लिखकर?...'चपला' को और ज्यादा 'पॉपुलर' बनाने के लिए अगर एक घंटा रोज भी और वक्त दें, कुछ नये सुझाव दें...कुछ नये खयालात पेश करें...तो हमारी 'चंचला' की भी तरक्क़ी हो, और साथ साथ..."

"साथ-साथ मेरी भी तरक्क़ी का रास्ता खुले!...क्यों—यही न?" शंकर एक व्यंग्यपूर्ण स्वर में सन्तराम के वाक्य को पूरा कर देता।

"तो इसमें क्या कोई हर्ज है?...'चपला' की तरक्क़ी, माने मेरी तरक्क़ी... मेरी तरक्क़ी माने आपकी तरक्क़ी।...आप अभी तक इसे अपनी पत्रिका नहीं मान पाये उदयजी—यह मेरी एक खास शिकायत है आपसे।"

"बिलकुल वाजिब शिकायत है आपकी," शंकर भी मुसकराते हुए ही जवाब देता। "आप ठहरे पूँजीपति मालिक, और मैं ठहरा क़लम का मजदूर।...

आपकी निगाह बराबर इसी बात पर रहेगी कि कम से कम मज़दूरी देकर किस तरह ज्यादा से ज्यादा काम लिया जा सके, और मेरी निगाह इस बात पर रहेगी...या रहनी चाहिए, कि कम से कम काम करके कितनी ज्यादा मज़दूरी पा सकूं—"

"आपके साथ क्या मेरा रिश्ता इस तरह का है भाई उदयजी ?" सन्तराम की आवाज़ में एक दर्द होता, निगाह में एक शिकायत।

शंकर भी महसूस करता कि उसने उनके साथ ज्यादती कर डाली है; उनकी दोस्ती का अपमान-सा किया है। बात को पलटते हुए तब जल्दी से वह कह डालता :

"मेरा मतलब यह नहीं, कि आप, या मैं ही, जान-बूझकर इस तरह एक-दूसरे को 'एक्सप्लायट' करना चाहते हैं—दरअसल ऐसा है भी नहीं—लेकिन इस रिश्ते की, मालिक-मज़दूर वाले रिश्ते की, असल बुनियाद तो..."

मगर सन्तराम उसे बीच में ही डपटकर रोक देते : "मालिक-मज़दूर वाली यह टर्मिनालजी आपकी ज़बान पर मुझे क़तई बर्दाश्त नहीं है भाई, हम लोगों के इस रिश्ते में..."

शंकर को तब और भी मज़ा आता उन्हें चिढ़ाने, और मार्क्सवाद या वैज्ञानिक समाजवाद में बढ़ती जाने वाली अपनी आस्था का सन्तराम के ही सिलसिले में प्रयोग कर देखने में, क्योंकि वह भी बौद्धिक वाद-विवाद के समय अपने को मार्क्सवादी कहना ही पसन्द करते थे...

अन्त में उस दिन शंकर को आख़िर अपनी कुरसी पर से उठकर भी फिर बैठ जाना पड़ता और कुछ देर तक मालिक और मज़दूर के बीच वह बहस जारी रहती, जिसके बाद सन्तराम की पत्नी सरला चाय लेकर आतीं और उन दोनों की छः-सात साल की बच्ची कल्पना स्कूल से लौटने के बाद अपने पापा के साथ उलझने लग जाती...

"नहीं-नहीं...मेरी आपसे तहेदिल से आरज़ू है उदयजी," आख़िर शंकर के विदा होते-होते सन्तराम कहते, "आप थोड़ा वक़्त और दीजिये 'चंचला' की तरक़्क़ी की बाबत सोचने-विचारने के लिए...कुछ नये सुझाव दीजिये।...मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ कि इसका 'फ़्यूचर' बहुत 'ब्राइट' है, और इसके साथ साथ हम दोनों का भी। इतने थोड़े अरसे के अन्दर मैंने इसे 'सेल्फ़-सपोर्टिंग' बना दिया, यह क्या मामूली बात है ? हिन्दुस्तान में किसी और मैगेज़ीन ने इतनी जल्द इतनी तरक़्क़ी की थी कभी ?"

बात सही थी। पंजाब के ही नहीं, दक्षिण भारत के भी कई अख़बारों के कलकत्ता स्थित विज्ञापन-प्रतिनिधि थे सन्तराम, और अपने फ़न के उस्ताद माने जाते थे। सभी बड़ी-बड़ी एजेंसियों के मालिकों के साथ उनका गहरा सम्पर्क था,

और उनकी अपनी 'चंचला' को प्राय: सभी ने आसानी से और बहुत अच्छी दर पर विज्ञापन दे दिये थे। और, जो भी बचत होती थी उसे सन्तराम 'चंचला' को और भी आकर्षक बनाने पर ख़र्च करते थे, और हिन्दी के विख्यात से विख्यात लेखकों की कहानियां और लेख छापते थे — उन्हें अन्य सभी हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं से अधिक पारिश्रमिक देकर।

"मैं आपको 'चंचला' में अपने पार्टनर के तौर पर देखना चाहता हूँ उदयजी," वह उससे अक्सर ही कहते आये थे, "ताकि मैं इसके मैनेजमेंट को सँभालूं और आप इसके 'रीडिंग मैटर' को ऊँचे से ऊँचे लेवेल पर पहुँचा दें..."

लेकिन शंकर उनकी इन सारी दलीलों को इस कान सुन उस कान निकाल देता; उसे सिर्फ़ बँधे-बँधाए वेतन से मतलब था, किसी सुनहरे भविष्य की अनिश्चित आशा को लेकर वह अपना सारा वक़्त उस पर क़ुर्बान करने को तैयार नहीं था...

एक बँधे बँधाए ढर्रे पर ज़िन्दगी की गाड़ी क़रीब-क़रीब ठीक ही चली जा रही थी, और उसे किसी दूसरी दिशा में बदलने की बात उसके दिमाग़ में थी ही नहीं—कि इस बार आश्रम जाने पर स्वामीजी ने सब उलट-पुलट कर डाला।

"अब तो इसमें काफ़ी विज्ञापन दिखाई देते हैं," उस बार की 'चंचला' के पन्नों को उलटते हुए वह उससे बोले, "अब तो मुनाफ़ा अच्छा होना चाहिए—"

"जी।...सन्तराम इस फ़न के उस्ताद हैं।"

"पाठ्य-सामग्री भी इधर काफ़ी अच्छी हुई है।...तुम्हें अभी भी एक सौ रुपया ही देते हैं?...बढ़ायेंगे नहीं?"

शंकर संकुचित हो उठा।

फिर उसने सन्तराम के साथ समय-समय पर होने वाली वह बातचीत संक्षेप में स्वामीजी के सामने रखी।

कुछ देर स्वामीजी चुप रहे। फिर बोले.

"उनसे साफ़ बात कर लेनी चाहिए अब तो।...तुम भी कुछ और ज़्यादा वक़्त दो, जैसा कि वह चाहते हैं...और अपनी ज़रूरत की बात भी उनके सामने रखकर देखो। पचास रुपये महीने अगर वह और दे सकें, तो सुशीला को भी साथ रख सकोगे..."

शंकर ठीक समझ नहीं पाया कि यह बात वेतन-वृद्धि कराने के लिए सिर्फ़ एक बहाने के तौर पर सुझायी जा रही थी, या सुशीला को सचमुच स्वामीजी अब उसके साथ भेजना चाहते थे।

"लेकिन—" आखिर उसने ठिठकते स्वर में जवाव दिया, "सुशीला की स्थिति क्या अभी...?"

"दो साल से भी तो ज्यादा लगातार रह ली वह स्वामीजी के पास," वीच में ही लटके रह गये उसके वाक्य के जवाव में स्वामीजी वोले। "...अव तो उसे भी अपने घर की जरूरत है, और तुम दोनों को भी एक-दूसरे की।"

नहीं—सुशीला को मेरी कोई ज़रूरत नहीं है स्वामीजी, आपकी सेवा के अधिकार से वंचित हो, आपको छोड़, मेरे साथ रहने का उसे क्या आकर्षण है? — शंकर के दिल ने मानो चीखकर उसी दम उगल डालनी चाही यह वात, पर आँखें नीची किये वह सिर्फ वैठा ही रह गया।

"किस सोच में पड़ गये?" अत्यन्त स्निग्ध स्वर में कहे गये स्वामीजी के शब्द तभी उसके कानों में पड़े, और सहसा उनकी ओर आँखें उठते ही उसने देखा, उनके चेहरे पर भी, उनकी दृष्टि में भी, उस स्वर जैसी ही स्निग्धता है।

वह लजा-सा गया।

"सुशीला के ख़िलाफ़ मन में शिकायत ही शिकायत जमा होती आयी है न तुम्हारे दिल में?...पगला! वह क्या हमेशा स्वामीजी के पास रह सकती है?... स्वामीजी क्या किसी को हमेशा साथ रख सकते हैं?...अव जव दोनों साथ रहोगे, तभी इस वात की परीक्षा का अवसर आयेगा कि स्वामीजी से तुम दोनों ने जो पाया है, एक-दूसरे को वह देकर, उसे कितना भर दे सकोगे।"

शंकर को लगा, उसके अन्तस्तल की कितनी ही तहों के अन्दर छिपे उसके गुप्त से गुप्त रहस्य को स्वामीजी एक पल में वाहर निकाल लाये हैं, और इस तरह—कि स्वामीजी के ख़िलाफ़, और सुशीला के भी ख़िलाफ़, कव से जमती आयी उसकी सारी शिकायत एक परम आह्लादजनक लज्जा में वदलकर रह गयी है।

उसे लगा कि अगर स्वामीजी कुछ और वोले, तो वह अपने आँसुओं को रोक नहीं पायेगा।

लेकिन स्वामीजी फिर कुछ नहीं वोले, और कुछ देर वाद शंकर धीरे-धीरे वहाँ से उठकर चला आया।

उसके वाद क़रीव एक हफ़्ता शंकर और आश्रम रहा, और कितनी वार उसने चाहा कि वह ख़ुद भी सुशीला के दिल को टटोलने की कोशिश करे। लेकिन आख़ीर तक वह ऐसा नहीं कर सका। साफ़ था कि स्वामीजी ने ख़ुद सुशीला से इस वावत कोई वात नहीं की थी; अगर की होती, तो क्या सुशीला ख़ुद उससे एक वार भी कुछ न पूछती-कहती? हमेशा की तरह इस वार भी शंकर उसके लिए आश्रम में आते-जाते रहने वाले अभ्यागतों से शायद ही कुछ भिन्न था। सुवह चार वजे से पहले ही स्वामीजी की सेवा के लिये तत्परतापूर्वक विस्तरा

छोड़ जो वह उठ जाती थी सो रात को उन्हें सुलाने के बाद, बाकी पड़े कुछ और कामों को निपटा, रात के दस बजे तक ही खुद सोने के लिए जा पाती थी, और दिन में भी मुश्किल से घण्टे डेढ़ घण्टे के लिए फुरसत पाती, कि कुछ आराम कर ले।...चौबीस घण्टे के अन्दर एक यही वक़्त था जब शंकर उम्मीद करता था कि कुछ देर के लिए वह उसके पास आकर बैठेगी; लेकिन वह देखता कि दो-चार मिनट बाद ही उसकी आँखें भारी होने लग जाती। यही तो थोड़ा-सा वक़्त था जब कि रात की अधूरी नींद वह थोड़ा पूरी कर पाती थी, दिन-भर की थकान को कुछ मिटा ले सकती थी।...शंकर के दिल में कब से जमा होती सारी बातें आखिर जहाँ की तहाँ दब जातीं, और जोर देकर वही तब उसे आराम करने और अपनी नींद पूरी कर डालने के लिए उसकी कोठरी में भेज देता...

"सुशीला से कुछ बात की ?" स्वामीजी अचानक शंकर से पूछ बैठे, जब वह कलकत्ता लौटते वक़्त उन्हें प्रणाम करने के लिए गया।

"किस बारे में...स्वामीजी ?" शंकर सचमुच ही कुछ ठीक नहीं समझ पाया।

"उसी बारे में।...तुम दोनों एक साथ रह सको—" स्वामीजी बोले।

"जी नहीं, उससे तो कोई बात नहीं की अभी—" शंकर ने सकुचित स्वर में जवाब दिया।...बात क्या मुझी को करनी थी स्वामीजी, उसे नहीं ?—इतना और जोड़ देना चाहा उसने, पर जोड़ा नहीं।

"अभी तो कलकत्ते जाकर देखता है...कि वहाँ रहने की क्या व्यवस्था हो सकती है," बात को पलटने की गरज से तब उसने कहा। "सन्तराम से भी बात करनी है—"

"ठीक है," स्वामीजी बोले। "लेकिन अब इसे टालना नहीं है।...जल्द से जल्द सुशीला को अपने साथ रखने की व्यवस्था कर ही डालनी है..."

आश्रम से लौटने पर शंकर के जीवन का घटना-चक्र इतनी तेजी से घूमेगा यह उसकी कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ान से भी परे था। एक महीने के ही अन्दर, एक-के-बाद-एक, इतनी अद्भुत घटनाएँ घट गयीं कि उनके साथ अपने कदम ठीक रख सकना भी जैसे उसके लिए मुश्किल हो गया। आखीर तक भी वह यह नहीं समझ पाया कि जो कुछ हुआ है वह वही है या नहीं, जिसकी उसने तैयारी की थी...

ज्यादा से ज्यादा उसने यह चाहा था कि 'चपला' से अगर उसे पचास रुपये महीने और मिलने लगें तो उतने में एक कमरा कहीं किराये पर लेकर वह सुशीला को वहाँ से ला सकेगा। लेकिन यह सब जब एक तरह से अनायास ही

उसकी मुट्ठी में आ गया था तब भी उसे कलकत्ता ही छोड़ देना पड़ेगा, और 'चंचला' के एक सौ से बढ़कर हुए डेढ़ सौ की जगह पटने को 'जागृति' में ढाई सौ मिलने लगेंगे, एक छोटे-से मासिक पत्र के सम्पादन की मामूली-सी ज़िम्मेदारी की जगह एक दैनिक के सम्पादक का भारी बोझ संभालना पड़ेगा, साथ ही हर महीने-दो-महीने पर हफ़्ते-दो हफ़्ते के लिए स्वामीजी के पास आश्रम पहुँच जाने की सुविधा से भी वंचित होना पड़ेगा—यह न उसने सोचा था, न चाहा था। फिर, पिछले एक साल की प्रचण्ड और लोमहर्षक घटनाओं के बावजूद—बल्कि शायद उन्हीं के कारण और भी ज्यादा—कलकत्ते से उसे मुहब्बत हो गयी थी; उसे छोड़कर जाते जैसे उसके दिल में कहीं कोई गहरी रिक्तता भर चली थी।

...आश्रम लौटकर अपनी ओर से तो एक तरह से उसने कुछ भी नहीं किया था—स्वामीजी की हिदायतों पर अमल करने की दिशा में। सन्तराम से पचास रुपया मासिक की वृद्धि वाली बात ख़ुद अपनी ओर से उठाते उसे काफ़ी संकोच था; यह बात वह तभी उठाना चाहता था जब उनके साथ किसी बातचीत के सिलसिले में वैसा कोई प्रसंग आप से आप आ जाये। लेकिन विनोद से उसने ज़रूर यह बात आश्रम से लौटते ही कह दी थी कि सुशीला का आश्रम का काम अब पूरा हो चुका है और उसे अपने साथ रखने की कोई व्यवस्था उसे जल्द ही करनी होगी।

शंकर के मन में एक बात तभी से चक्कर काटती रही थी जब से स्वामीजी ने आश्रम में पहले-पहल सुशीला को साथ रखने की बात उठायी थी: क्या अपनी वर्तमान आय में ही वह सुशीला को कलकत्ते नहीं रख सकता, अगर उसी मकान में उसके कमरे की बगल में छत पर, कोई कामचलाऊ रसोईघर बना लिया जाय?

विनोद के सामने उसने इसी सुझाव से वह बात शुरू की थी, लेकिन उसने उसे इस कान सुन उस कान निकाल दिया था: "सुशीला को अलग रसोईघर की क्या ज़रूरत है?...एक रसोईघर में क्या हम सबका काम नहीं चल सकता?"

उसके बाद शंकर की यह कहने की हिम्मत तो नहीं हुई थी कि स्वामीजी इसके पक्ष में नहीं हैं, और न सुशीला की ही इस तरह की ज़रूरत उसके भाई के सामने रखना उसे कुछ जँचा था; फिर भी दो-एक बार और उसने विनोद और अंजलि दोनों के सामने छत पर एक अलग रसोईघर बनाये जाने की संभावना की बात उठायी थी और उसके लिए सुशीला की जगह अपना ही आग्रह प्रकट किया था। "विनोद को तो तुमने आधा क्या पूरा ही बंगाली बना लिया है अंजलि," उसने हँसते हुए कहा था, "और सुशीला को भी बंगाली खाना और मांस-मछली तक पसन्द है; लेकिन मैं ठहरा ठेठ यू० पी० के निरामिषभोजी परिवार का सद्-ब्राह्मण।...यह बात नहीं कि तुम लोगों का खाना मुझे पसन्द नहीं, लेकिन हर्ज

क्या है अगर दो रसोईघरों में दो तरह का खाना बना करे...और जब जिसकी जहाँ इच्छा हो, स्वाद बदल लिया करे..."

जहाँ तक अंजलि का सवाल था, उसे उनके अलग रसोईघर वाले प्रस्ताव पर कोई खास आपत्ति नहीं थी; फिर भी शंकर के इन शब्दों के पीछे छिपे इशारे को समझकर उसे स्वभावतः एक चोट-सी लगी और एक शिकायती लहजे में उसने उसी दम उसे जवाब दिया : "यह आपने मेरे साथ बड़ा अन्याय किया है दादा...कि अब तक हमेशा ही हमारे खाने को चुपचाप खाते चले गये, और एक बार भी अपने मन की कोई चीज बनवाने के लिए नहीं कहा।...ग़लती मेरी भी कम नहीं है कि आपको क्या पसन्द है और क्या नहीं, अभी तक नहीं जान पायी, लेकिन आपने ही हमें क्यों इतना पराया समझ रखा अब तक, कि ख़ुद कभी कोई फ़रमाइश नहीं की ?"

शंकर झेंप गया था, और ठीक जवाब नहीं दे पाया था अपनी सफ़ाई में; मगर उसने देख लिया था कि सुशीला को बचाने की ग़रज से उसने जिस दलील का सहारा लिया था वह कारगर नहीं हुई।

वैसे भी उसके बाद फिर बात आगे नहीं बढ़ पायी थी, और विनोद ने यह कहकर उस पर पूरा ही फुलस्टाप लगा दिया था कि न तो दो रसोईघरों की कोई जरूरत ही थी, और न छत पर कोई और रसोईघर बनवा लेना, कई दृष्टियों से, व्यावहारिक था।

नतीजा यह हुआ कि उसके बाद शंकर ने अलग गृहस्थी बसाने की दिशा में तब से जो भी क़दम उठाये उन्हें अंजलि को ही बताता गया, विनोद को नहीं। अंजलि को तो फिर उसने असल वजह भी बता दी : स्वामीजी की दृष्टि में भी सुशीला के लिए एक बिलकुल ही अलग गृहस्थी की जरूरत; और उसे यह देख ख़ुशी हुई कि अंजलि के मन में इसकी वजह से कोई ग़लतफ़हमी नहीं पैदा हुई...

वेतन-वृद्धि की बाबत सन्तराम से शंकर को बात करने की जरूरत ही नहीं पड़ी। उन्हीं की इमारत में चौथे मंजिल पर एक कमरा ख़ाली हुआ था जिसकी ख़बर शंकर की उपस्थिति में सन्तराम को देते हुए उनकी पत्नी अचानक कह उठी थीं : "आप क्यों नहीं ले लेते यह कमरा ?...सुशीलाजी को भी ले आइये...और इस 'बैचेलर-लाइफ़' से छुट्टी पाइये।"

"कितना किराया है ?" शंकर भी उत्सुकता के साथ ही तब पूछ बैठा।

"किराया ज्यादा क्या होगा," शंकर के उत्सुकतापूर्ण स्वर से ही शायद प्रोत्साहन पा तभी सन्तराम कह उठे; "आप राजी तो हों। ..किराया जो भी होगा, 'चंचला' से दिया जायेगा।...आपका श्यामबाजार आने-जाने का जो वक़्त बचेगा, वह भी तो 'चंचला' के काम आ पायेगा..."

"और मुझे भी जो सुशीलाजी का संग-साथ मिलेगा—" सन्तराम की पत्नी

सरला ने उल्लसित होकर अपने पति का समर्थन किया।

इतनी जल्द और इतनी आसानी से काम बन जायेगा, यह तो शंकर कभी सोच तक नहीं सकता था...

लेकिन यह तो महज़ शुरुआत थी उस तूफ़ानी घटना-चक्र की जो हफ़्ते दो हफ़्ते के अन्दर ही शंकर के जीवन की धारा को एकदम पलट देने वाली थी। कमरा लिया जा चुका था—साठ रुपया किराया, जो सन्तराम की मध्यस्थता से पैंतालीस करा लिया गया था; और 'चंचला' से शंकर के लिए एक सौ की जगह डेढ़ सौ रुपये का वेतन भी ठीक हो चुका था...कि ऐन वक्त पर पटने से विद्याभूषण आ पहुँचे। जेल से छूटने के बाद 'जागृति' को लेकर उन्हें काफ़ी सिरदर्द मोल लेना पड़ा था, और अब उन्होंने शंकर को बताया कि अपने विरुद्ध षड्यंत्र करने वाले डाइरेक्टरों को हटाकर 'बोर्ड' पर पूरी तरह अपना अधिकार जमाने में वह सफल हो गये हैं और चार पृष्ठ से बढ़ाकर दैनिक 'जागृति' को छः पृष्ठ का करने जा रहे हैं। "अब तक आपसे इसीलिए कुछ नहीं कह सका था उदय जी; लेकिन अब सब कुछ ठीक हो गया है, और आपको अपना पुराना काम सँभालना ही पड़ेगा—" वह बोले।

शंकर भारी धर्म-संकट में पड़ा था तब। सन्तराम के प्रति वह कम कृतज्ञ नहीं था—अपनी मुसीबत के वक़्त उनसे सहारा पाने के लिए ।...लेकिन उनके सामने जब उसने विद्याभूषण वाली वह बात रखी तो उसे कम अचरज नहीं हुआ कि उन्होंने 'चंचला' या अपने स्वार्थ को गौण रखकर शंकर के ही भविष्य को प्रधानता दी। "कितना वेतन देंगे...और सम्पादक के तौर पर नाम किसका जायेगा अख़बार में ?" उन्होंने पूछा। और शंकर जब कोई साफ़ जवाब नहीं दे सका तो उसकी ओर से ख़ुद उन्होंने ही विद्याभूषण से बात कर डाली।

नतीजा यह हुआ कि इस मामले में भी शंकर को ख़ुद किसी उलझन में नहीं पड़ना पड़ा; सन्तराम की कुशल पैरवी और विद्याभूषण के भी एकान्त आग्रह का नतीजा यह हुआ कि शंकर को पहले से कहीं अच्छी शर्तों पर एक दैनिक पत्र के सम्पादक का काम मिला—हालांकि उसकी अपनी इच्छा न 'चंचला' या सन्तराम को छोड़ने की थी, न कलकत्ता ही।

"मेरा फ़ायदा ज़रूर इसमें ही था भाई उदयजी, कि आप यहाँ रहते और 'चंचला' को फ़र्स्ट रेट मैगेज़ीन बनाने में मेरी मदद करते," सन्तराम ने तब ख़ुद ही उसे समझाया था, "लेकिन एक डेली के एडिटर का जो कैरियर आपके सामने है उसे मैं अपनी ख़ुदग़र्ज़ी में नज़रन्दाज़ नहीं कर दे सकता। हम और आप दोस्त पहले हैं...और दोस्ती का तक़ाज़ा है कि मैं आपको ग़लत सलाह न दूं।"

... ...

कलकत्ते से पटने जाते हुए, सुशीला को साथ ले जाने के लिए, दो-तीन दिन आश्रम ठहरा शंकर, जिसके पहले ही वह स्वामी जी को सब कुछ लिख चुका था।

सिवा एक बात के। और वही एक बात सारे रास्ते उसे बुरी तरह सालती रही थी...

सन्तराम की दोस्ती का जो आन्तरिक रूप उसने कलकत्ते से विदा होते वक्त देखा था वह जरूर उसके लिए एक नयी ही अनुभूति थी और बेहद कीमती चीज : पिछली शाम को जब उन्होंने उसकी विदाई में उसकी दावत की थी और उनकी पत्नी सरला ने तरह-तरह के पकवान बना बड़े यत्न-पूर्वक उसे खिलाये थे तब भी वह कम शुक्रगुजार नहीं था उन लोगों का।...लेकिन एक हफ्ता पहले विनोद द्वारा अप्रत्याशित रूप से किये गये अपने घोर अपमान की कसक थोड़ी देर के लिए भी उसके दिल से नहीं निकली थी।

यों, और भी कितनी बातें थीं जो उस चोट पर मलहम लगाती चली गयी थीं : स्टेशन पर उसे विदा करने के लिए प्रकाश बाबू का आना—उन्हीं प्रकाश बाबू का, जो कुछ दिन पहले तक शंकर का साथ न मिलने पर श्यामबाजार के पाँच माथा मोड़ के पास वाली अपनी दूकान तक भी अकेले जाने की हिम्मत नहीं कर पाते थे उस हत्याकाण्ड के बाद से, और रात को घर वापस लौटने के लिए भी शंकर का ही इंतजार करते थे। मगर आज सुबह वह भी उसके साथ टैक्सी में हावड़ा स्टेशन उसे छोड़ आने की हिम्मत कर बैठे थे जब कि वापस उन्हें अकेले ही लौटना होता। फिर, भीम नाग के कई क़िस्म के सन्देशों का कितना बड़ा पैकेट उन्होंने जबर्दस्ती उसके साथ रख दिया, और गाड़ी जब चल दी थी तब शंकर ने अवाक होकर देखा था कि किसी छोटे बच्चे की तरह उनके गालों पर से आँसू बह रहे थे...

और—अंजलि की तो रो-रोकर हिचकियाँ बंध गयी थीं एक दिन पहले से ही; बल्कि विनोद-सुशीला की माँ तक की आँखों में आँसू भर आये थे उसके चलते वक्त, जबकि उनकी आँखों को शंकर ने पहले कभी गीला नहीं देखा था...

लेकिन विनोद बहुत सुबह ही कब घर से निकल गया था—किसी को पता ही नहीं चल पाया था; इसमें किसी को भी शक नहीं रह गया था कि शंकर के विदा होने तक भी वह नहीं लौटेगा।

दरअसल उस अपमानजनक घटना के बाद आठ-दस दिन बीत जाने पर भी शंकर का विनोद से मुकाबला नहीं हुआ था। यों शंकर ख़ुद भी उस घटना के बाद उसके सामने नहीं पड़ना चाहता था, लेकिन उसने साफ़ महसूस किया था कि विनोद के अन्दर भी दोबारा उसका मुकाबला करने की हिम्मत नहीं रह

गयी थी।

...बात उस दिन की थी जब सन्तराम वाली इमारत में किराये पर एक कमरा मिल जाने की बात विनोद को बताना शंकर के लिए अनिवार्य ही हो गया। काफ़ी झिझक के साथ ही वह नीचे विनोद के कमरे में गया था। विनोद तब मेज़ के सामने की कुरसी पर बैठा अपनी विज्ञापन एजेंसी की कुछ फ़ाइलों को उलट-पुलट रहा था।

काफ़ी देर के पसोपेश के बाद शंकर ने वह बात उसके सामने रखी थी—जिसके बाद दो-चार मिनट के लिए दोनों के बीच एक अस्वस्तिकर सन्नाटा छाया रहा था...और तभी अचानक वह विस्फोट हुआ, जिसके लिए शंकर क़तई तैयार नहीं था।

जीवन में पहली बार विनोद को अपने ऊपर बरसते देख रहा था शंकर। उसके अत्यन्त विकृत हो उठे चेहरे की तरफ़ भौचक्का-सा वह ताकता ही रह गया था कुछ देर...

"आपने हमें धोखा दिया है..."—"आप पक्के ख़ुदग़र्ज़ हैं..."—"आप नमकहराम हैं..."—गरम-गरम लावा उगलता चला जा रहा था विनोद, अपनी बाँहों को झटकारता हुआ; आँखें सुर्ख़ हो चली थीं; मुँह में झाग से आ गये थे; और कुछ ही देर बाद उसका सारा बदन काँपने लग गया था...

अपनी कुरसी पर एक ही आसन से, एक ही मुद्रा में बैठा शंकर पत्थरों जैसी उस सख़्त बौछार को कब तक झेलता रहा, इसका उसे कुछ पता नहीं। आधा घंटा, एक घंटा...या पन्द्रह-बीस मिनट तक ही क़ायम रहा होगा वह एकतरफ़ा वार—उसे कुछ याद नहीं। उसकी अपनी वाक्-शक्ति सर्वथा कुण्ठित हो गयी थी, और जब विनोद का वह सारा उफान निकल गया तब उन दोनों के बीच फिर चुप्पी की एक दीवाल खड़ी हो गयी। कोई भी जवाब दिये बग़ैर शंकर ने तब बार-बार चाहा कि वहाँ से उठकर चला जाय, लेकिन इसकी भी जैसे उसके अन्दर ताकत नहीं रह गयी थी।...आख़िर तभी वह वहाँ से उठ पाया, जब विनोद ही किसी वक़्त तेजी के साथ उठ कर, बाथरूम के अन्दर जा घुसा।

उस वक़्त तो हथौड़े की एक-एक चोट सिर्फ़ उसे झनझनाती और तिलमिलाती चली गयी थी, लेकिन अपने कमरे में आकर जब वह बिछौने पर पड़ गया तब विनोद के मुँह से निकले एक-एक शब्द की याद ने उसके मर्मस्थल को बींधना शुरू कर दिया।...किस बेहूदा ढंग से, और अनाप-शनाप, क्या-क्या बकता चला गया था विनोद : शंकर के लिए उसने और अंजलि ने पिछले साल भर में क्या-क्या नहीं किया...उसके लिए ऊपर वाला अपना कमरा छोड़ दिया...कहाँ-कहाँ से चीज़ें जुटाकर उस कमरे को सजाया...गरमी आने पर

एक दोस्त का वच का बिगड़ा पड़ा एक टेबुलफैन लाकर उसकी मरम्मत करायी और उसे शंकर के कमरे में लगाया...उनके अपने लिये किसी दिन अंडे नसीब हो सके हों या नहीं, पर शंकर को नाश्ते में बिना नागा रोज एक अण्डा दिया और नौकर के बीमार पड़ जाने पर विनोद खुद बाजार जाकर अंडे लाया... रोज उसके लिए बाजार से बिना नागा एक कुल्हड़ दही मँगाया...

बात सही भी थी। शंकर भला कैसे इनकार कर सकता था कि उसे यह सब मिला था—भले ही उसे यह न पता चल पाया हो कि उसे अण्डा या दही खिलाने के लिए कभी उन लोगों को किसी तरह की असुविधा का सामना करना पड़ा होगा।

लेकिन इन बातों के जवाब में क्या शंकर विनोद को यह याद दिलाता कि पिछले साल जब वह काम की तलाश में यहाँ आया था तब विनोद ही तो उसे देख उछल पड़ा था और अपनी विज्ञापन एजेंसी का लिखा पढ़ी वाला सारा काम उसे सौंप उसने उसे यह यकीन दिलाया था कि उसकी मदद मिलने से वह एजेंसी को इतना चमका देगा कि दोनों की गृहस्थियों की आराम से गुजर होने लगेगी...और यह भी कि शंकर को अपने लिए कोई अलग काम ढूँढ़ने की जरूरत नहीं?...क्या शंकर विनोद को अब यह याद दिलाता कि 'चंचला' में उसे काम मिल जाने पर विनोद ने ही नाराज़गी जाहिर की थी, और यह टिप्पणी कसी थी कि जितना वक्त शंकर उस काम में बरबाद करेगा उतना एजेंसी के काम में और दे देने पर आमदनी कहीं ज्यादा बढ़ जाती?—क्या वह उसे यह याद दिलाता कि 'चंचला' में काम करने के बावजूद शंकर ने विनोद के दफ्तर का कोई काम न कभी अधूरा छोड़ा था, और न कभी उसे किसी शिकायत का मौका दिया था?

और—यह भी क्या अब उसे या किसी को भी दिखाने या बताने की जरूरत थी कि विनोद के सारे आरंभिक उत्साह और महीनों की उसकी सारी दौड़धूप के बावजूद एजेंसी की आमदनी बढ़ने के बजाय घटती ही चली गयी थी, और अगर अंजलि भी नौकरी न कर रही होती और शंकर भी 'चंचला' से मिलने वाले एक सौ रुपये मासिक वेतन का आधा सुशीला के पास भेज देने के बाद बाक़ी आधा उन लोगों की गृहस्थी में नियमित रूप से न देता चला गया होता, तो अपनी जिन 'मुसीबतों' का इतने भद्दे और कमीने ढंग से उसने ज़िक्र किया था वे और भी बढ़ गयी होतीं?

लेकिन ये बातें तो महज़ भूमिका के तौर पर थीं। विनोद की असल शिकायत तो यह थी कि जब दंगे के बाद से अंजलि को अपना काम छोड़ देने के लिए बाध्य हो जाना पड़ा है और 'दंगे की ही वजह से' एजेंसी का काम बिलकुल बन्द है, तब 'चंचला' में वेतन बढ़ जाने पर शंकर ने अलग मकान लेकर अपनी अलग

गृहस्थी बसाने की बात कैसे तय कर ली ?

शंकर का आधे से भी ज्यादा क्षोभ मिट गया था जब, घंटे डेढ़ घंटे बाद, बेहद सहमी और लज्जित-सी अंजलि ऊपर उसके कमरे में आकर रोती-रोती बोली थी : "विनोद ने आज जो कुछ किया है...उसके बाद आपके सामने अपना मुंह दिखाते बेहद शर्म आ रही थी मुझे दादा, लेकिन मैं और रुक नहीं सकी।...आप उसे माफ़ कर दें दादा, मैं उसकी ओर से भीख माँगती हूँ।...क्या-क्या बक गया—बिना यह सोचे-समझे कि क्या कह रहा है और किससे कह रहा है !" और शंकर के तख़्त के एक किनारे बैठ वह पूरी तरह टूट गयी।

कुछ देर शंकर कुछ नहीं बोला; फिर उसने पूछा : "कहाँ है वह ?"

"वह क्या अब आपको अपना मुंह दिखाने की हिम्मत कर सकेगा ?" धीरे-धीरे, आँसुओं से गीला चेहरा उसकी ओर उठा, शोक-विह्वल स्वर में अंजलि ने जवाब दिया, "आप ऊपर आये...और वह बाथरूम से निकल, बिना पोशाक बदले, इस तरह जीने से उतर बाहर चला गया जैसे कोई उसका पीछा कर रहा हो..."

शंकर को सबसे बड़ी निवृत्ति उसके बाद यही देखकर मिली थी कि विनोद ने जितने भी आरोप उस पर लगाये थे उनमें से एक भी ऐसा नहीं था जिसके लिए अंजलि बेहद शर्मिन्दा न हो। "आप पल-भर के लिए भी यह बात अपने मन में न आने दें, दादा, कि मेरे मन में कभी भी यह ख़याल आया कि आप हमारे ऊपर बोझ हैं।...बात, बल्कि, उलटी ही रही है। आपका सहारा इस बीच न होता तो न जाने हमारी मुसीबत और कितनी बढ़ गयी होती।...उसे शर्म नहीं आयी यह कहते कि आपके लिए उसने यह किया और वह किया ?"

"लेकिन अंजलि," आख़िर शंकर को भी तब यह स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाना पड़ा था कि, "यह बात तो उसने ठीक ही कही न, कि इधर तुम लोगों की आमदनी जब इतनी घट गयी है, तब उस ओर तो मेरा बिलकुल ही ध्यान नहीं गया...मैंने कभी भी तो नहीं पूछा कि मुझे तो तुम रोज़ अंडा और दही देती जा रही हो, लेकिन तुम लोगों को खाने को क्या मिल रहा है...और खोका के लिए भी ठीक से दूध-वूध की व्यवस्था हो पा रही है या नहीं ?"

"सब कुछ ठीक ही चलता रहा है दादा," अंजलि ने किसी हद तक अपनी झिझक को दबाते हुए उसे आश्वस्त करने की कोशिश की थी। "आप भी और कर ही क्या सकते थे ?" और फिर अचानक अपने स्वर में गरमी लाकर उसने ख़ुद भी वह बात कह डाली जो शंकर के मन में काफ़ी देर से ऊथल-पुथल मचाये हुए थी : "आप यहाँ जब आये थे तब किसकी ग़रज़ थी आपको यहीं रखने की ?...एजेंसी का सारा काम आपसे कराता रहा, और अब उलटे आप को

गमखद राम कहने की जुर्रत की उसने ?...अहसान फ़रामोश कहीं का !...क्या-क्या वादे किये थे आपसे, कि एजेंसी से इतना कमायेगा...इतना कमायेगा...आपको अलग से कमाने की कोई जरूरत नहीं है।"

"मगर एजेंसी ठीक से चल कहाँ पायी अंजलि ?" तब शंकर को उलटे विनोद का ही पक्ष लेना पड़ गया—कम से कम अंजलि को ही शान्त करने के लिए।

"नहीं चल सकी तो नहीं चल सकी—" उसने भी उसी दम प्रतिवाद किया। "इसकी झेंप क्या यह अब आपका इस तरह अपमान करके मिटाएगा ?..."

शंकर का दिल काफ़ी हल्का हो गया था उसके बाद, लेकिन एक नयी ही समस्या उसके सामने उठ खड़ी हुई थी। उन लोगों की उस बिगड़ी आर्थिक स्थिति को देखते हुए क्या उन्हें छोड़ कलकत्ते में उनसे अलग अपनी गृहस्थी जमाना उसके लिए शोभनीय, या वांछनीय ही, था ?...लेकिन विनोद द्वारा हुए उस अपमान के बाद यह भी तो मुमकिन नहीं था कि सुशीला को उसी मकान में लाकर वह विनोद के साथ रह पाता।

मगर इस समस्या से भी दो-चार दिन बाद ही उसे छुटकारा मिल गया था जब 'चंचला' का काम छोड़ उसे पटने का काम स्वीकार कर लेना पड़ा।

विनोद द्वारा हुए उस घोर अपमान की ज्वाला से फिर भी वह झुलसता रहा था। क्या किया था उसने, जिसकी वजह से अकारण यह अपमान उसे भोगना पड़ा ?

उस आघात का सबसे कठोर पहलू यह था कि वह सर्वथा अप्रत्याशित था और एक ऐसे व्यक्ति से मिला था जिसके बारे में वह बराबर धोखे में रहा आया। किसी दिन भी तो विनोद ने उसे यह जानने नहीं दिया था कि अपने दिल के अन्दर न जाने कब से वह इस तरह का जहर घोलता आ रहा था—जब कि बाहर से बराबर उलटे ही भाव प्रदर्शित करता रहा।

'बड़े बेआबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले'—किसी उर्दू शायर की पंक्ति हावड़ा स्टेशन से आश्रम पहुँचते वक्त तक रेल में बार-बार उसके दिमाग़ में घूमती रही थी।

... ...

"बँगला में एक कहावत है," सब-कुछ सुनने के कुछ देर बाद स्वामीजी बोले, "अति-भक्ति चोरेर लक्षण। अति-भक्ति चोर का लक्षण है।...बिना कारण, बिना किसी मतलब के, कोई किसी के प्रति अति-भक्ति नहीं दिखाता।...जैसा वर्णन तुम बराबर देते रहे हो उससे साफ़ था कि विनोद की तुम्हारे प्रति जो भक्ति थी वह स्वाभाविक नहीं थी। उस 'अति' को तुम स्वाभाविक मानते रहे, देखने-जानने की कोशिश नहीं की कि उसके पीछे उसका कोई स्वार्थ है या नहीं

"…इसी से यह चोट इतनी अप्रत्याशित लगी; उसके लिए तुम तैयार नहीं थे।"

"लेकिन...मैंने ग़लती क्या की स्वामीजी ?"

"ग़लती ?" स्वामीजी ने जवाब दिया। "यही—कि उसके व्यवहार की अति को नहीं देखा, उसके पीछे छिपे अर्थ को देखने की ज़रूरत नहीं समझी—क्योंकि उसे न देखने में तुम्हारा भी कोई प्रच्छन्न स्वार्थ था।"

स्वामीजी की ओर सिर्फ़ ताकता रह गया शंकर।

"तुम्हारा क्या स्वार्थ था, जानना चाहते हो ?…बड़प्पन पाने का लोभ अभी भी क़ायम है… अभी भी दिल के अन्दर बैठा छोटा-सा बच्चा बड़प्पन चाह रहा है।...जहाँ से भी वह मिलने लगता है, अपना प्राप्य मान उसे स्वीकार करता चला जाता है, उसे पकड़कर रखना चाहता है।...इसीलिए न इतनी चोट लगी, इतना अपमान महसूस हुआ ?"

शंकर फिर कुछ देर तक कोई जवाब नहीं दे सका।

"लेकिन अपमान तो मेरा हुआ न, स्वामीजी ?" अन्त में उसने फिर प्रश्न किया।

"अपमान ?...किसी ने कुछ शब्द कहे।...किसी पागल ने कुछ बक दिया।...किसी बच्चे ने कोई अनर्गल बात कह डाली।...अपमान तो लेने वाले पर निर्भर करता है न ?...अपमान लगे तो अपमान है, नहीं तो कुछ शब्द मात्र हैं।"

सतरह

पटने आकर 'जागृति' में फिर से अपना वर्षों पुराना काम सँभाले शंकर को कई हफ़्ते हो गये, लेकिन सम्पादक के स्थान पर सदा की भाँति विद्याभूषण का ही नाम जाता रहा—जब कि सन्तराम के सामने वह वादा कर चुके थे कि इस बार अपने साथ-साथ उसका नाम भी देंगे।

कई दिन के पसोपेश के बाद आख़िर एक दिन वह उनसे पूछ ही बैठा : "सन्तराम से जो बात आपने कही थी...सम्पादक के रूप में मेरा भी नाम जाने के बारे में...?"

विद्याभूषण का कुछ देर पहले का खिला हुआ चेहरा इतनी ही बात से जैसे बुझ-सा गया।

उसे बीच में ही रुक जाना पड़ा।

"मैं यही सोच रहा था उदयजी..." ठिठकते-से स्वर में विद्याभूषण ने तब कहना शुरू किया, "कि...अगर शुरू के एक साल आपका नाम न जाये...तो क्या...?" लेकिन, वचन-भंग की झेंप ने शायद उन्हें आगे कुछ भी और कह पाने से बीच ही में रोक दिया।

शंकर को बात अच्छी तो नहीं लगी, पर इस बार वह एक नयी ही मनःस्थिति में पटने आया था; केवल अपने ही स्वार्थ को नहीं, दूसरों के भी स्वार्थ पर दृष्टि रखने की ओर अब उसका ध्यान था।...फिर, आश्रम से पटने के लिए चलने से पहले स्वामीजी ने खास तौर से यह कहा था कि विद्याभूषण के साथ अपनी मित्रता को एक बार फिर से दृढ़ करके वह उनका विश्वासभाजन बने। और, यहाँ आने के बाद से ही शंकर उस पिछले सम्बन्ध में किसी समय आयी कड़वाहट को जड़-मूल से दूर कर डालने के प्रयत्न में लग गया था।

...मनोहरलाल के बाद, जो अब तक शंकर की जिन्दगी से बहुत ज्यादा दूर पड़ गये थे, एकमात्र विद्याभूषण ही उसके अन्तरंग मित्रों में सबसे पुराने थे। काशी विद्यापीठ में वे तीनों ही सहपाठी थे, लेकिन उस समय शंकर मनोहरलाल से अधिक विद्याभूषण के ही निकट था क्योंकि वह भी उसी की भाँति 'कवि' थे। एक बार की बात है। विद्यार्थियों की हस्तलिखित पाक्षिक पत्रिका में विद्याभूषण की ब्रजभाषा की एक कविता प्रकाशित हुई। उसे लगा, वह कविता पहले भी उसने कहीं पढ़ी थी। फिर, विद्याभूषण की कलम से ब्रजभाषा की वैसी माधुर्यपूर्ण और पुष्ट कविता निकलेगी—इस पर भी उसे विश्वास नहीं हुआ। ब्रजभाषा के प्राचीन कवियों का एक नव प्रकाशित काव्य-संग्रह शंकर हाल ही में खरीद कर लाया था; उसके पन्ने उलटने पर उसे कवि पद्माकर की एक कविता मिल गयी जिसके कुछ शब्दों में जहाँ-तहाँ उलटफेर कर देने से ही विद्याभूषण की वह कविता बन गयी थी।

उसी दम वह उस चोरी की कलई खोल देने के विचार से एक लेख लिखने बैठ गया और पूरा कर उस हस्तलिखित पत्रिका में प्रकाशनार्थ दे आया।

लेकिन जो विद्यार्थी उस पत्रिका की हस्तलिखित प्रति तैयार करता था उसने चुपके से वह लेख विद्याभूषण को दिखा दिया और विद्याभूषण दौड़े-दौड़े शंकर के पास आये, और अपनी चोरी की बात स्वीकार कर गिड़गिड़ाने लगे कि वह उसे वापस ले ले।

पहले तो शंकर अड़ा ही रह गया था—कि इस तरह की साहित्यिक चोरी का पर्दाफ़ाश होना ही चाहिए।...लेकिन आखिर वह पिघल गया—जब विद्या-

भूपण रो ही पड़े, और उन्होंने उसके सामने यह प्रतिज्ञा तक कर डाली कि भविष्य में वह कभी कोई कविता नहीं लिखेंगे।

शंकर को भारी ताज्जुब हुआ था उनकी उस प्रतिज्ञा पर। क्या कोई कवि कविता करना भी छोड़ दे सकता है?

"कवि मैं कभी था ही नहीं उदयजी," विद्याभूपण ने यह जवाब देकर तब उसे और भी अचरज में डाल दिया था; "अब तक मैंने जो भी कविताएं लिखीं, सभी नक़ल थीं...कुछ शब्दों के उलटफेर से।"

उस दिन विद्याभूपण के साथ शंकर की जो मित्रता शुरू हुई वह बाद को घनिष्ठता में परिणत हो गयी। उस दिन से विद्याभूपण का कविता लिखना हमेशा के लिए छूट गया, और उनकी संकल्प-शक्ति की उस दृढ़ता को देख शंकर का भी मस्तक उनके प्रति झुकता-सा चला गया। विद्याभूपण भी जैसे उस दिन की अपनी यह कृतज्ञता—कि उनके सार्वजनिक अपमान से शंकर ने उन्हें बचा लिया—कभी नहीं भूल पाये; साहित्य के क्षेत्र में शंकर को बराबर वह अपने से ऊँचा दरजा देते रहे।

विद्यापीठ के स्नातक होने पर विद्याभूपण लखनऊ के साप्ताहिक 'स्वराज्य' में उपसम्पादक होकर चले गये थे, और दो साल बाद जब शंकर के सामने जीविका की समस्या आयी थी तब विद्याभूपण ने ही प्रयत्न करके उसे उसी पत्र में काम दिलाया; फिर बाद को अपने प्रान्त में आकर जब पटने से साप्ताहिक 'जागृति' निकाली तब शंकर के लिए उसमें पहले से ही स्थान सुरक्षित रख छोड़ा। पूनम के विवाह के बाद लखनऊ का 'स्वराज्य' छोड़ उनके पत्र में पटने आ जाने के बाद शंकर अपने मानसिक द्वन्द्व के कारण लगातार जमकर अवश्य 'जागृति' में नहीं रह सका था, पर जब-जब रहा, विद्याभूपण की हार्दिक सहानुभूति उसे सदा प्राप्त रही—जिसके कारण ही, बीच-बीच में लम्बे अरसे तक बाहर रहते हुए भी, 'जागृति' का थोड़ा-बहुत काम करके वह कुछ न कुछ उपार्जन करते रहने की सुविधा भोगता रहा। और,'जागृति' में आने पर शंकर को शुरू से ही विद्याभूपण से जो सम्पादकीय छूट मिलने लगी थी उसके कारण भी वह हार्दिक रूप में उनका कृतज्ञ था; साहित्य ही नहीं, विचारों के क्षेत्र में भी विद्याभूपण हमेशा शंकर का लोहा मानते रहे, और अकृपण भाव से उसे अपने से ऊँचा स्थान देते रहे—हालांकि इसी के चलते एक बार एक ऐसी घटना घटी जिसने शंकर को उनसे विमुख कर दिया था।

...'जागृति' में आये उस बार शंकर को कोई साल-भर ही हुआ था, कि उसके लिखे एक अग्रलेख में व्यक्त विचारों पर तत्कालीन मैनेजिंग डाइरेक्टर ने आपत्ति की। 1936 का साल था जब कि कांग्रेस के अन्दर समाजवादी विचार-धारा का जोर बढ़ने लगा था; 'जागृति' से सम्बद्ध कांग्रेसी नेताओं और

कार्यकर्ताओं के बीच भी इस विचारधारा के दो-चार समर्थक थे। शंकर ने उस अग्रलेख में किसी समाजवादी नेता द्वारा की गयी गांधीवाद-विरोधी छींटाकशी का कड़ी भाषा में जवाब दिया, जिससे मैनेजिंग डाइरेक्टर बिपिन बाबू ने विद्याभूषण से शिकायत की। विद्याभूषण ख़ुद भी इस मामले में बहुत साफ़ नहीं थे; बिपिन बाबू से बात करके इस मामले की सफ़ाई कर डालने के लिए उन्होंने शंकर को भी बुला लिया। कुछ देर की बहस के बाद तय हुआ कि कांग्रेस के अन्दर चूंकि दोनों ही विचारधाराओं के लोग मौजूद हैं इसलिए 'जागृति' को इस मामले में किसी भी पक्ष में कोई कड़ा रुख़ न अख़्तियार कर दोनों पक्षों के विचारों को छूट देनी चाहिए और सम्पादकीय लेखों या टिप्पणियों में एक प्रकार से तटस्थता की ही नीति बरतनी चाहिए। जहां तक कि भविष्य में इस नीति पर चलने की बात थी, शंकर को इसमें कोई आपत्ति नहीं थी, लेकिन बिपिन बाबू चाहते थे कि उस अग्रलेख से जिन लोगों को आघात पहुँचा है उन्हें सन्तुष्ट करने की दृष्टि से भी कुछ किया जाये।

क्या एक और अग्रलेख द्वारा पिछले अग्रलेख में व्यक्त किये गये विचारों को एक नया मोड़ देने की कोशिश की जाये ?

या—?

लेकिन कोई फ़ैसला हो नहीं पाया।

शंकर के लिए यह चर्चा धीरे-धीरे असह्य होती चली गयी थी। अपने विचारों को व्यक्त करने की उसकी आज़ादी में इस तरह ख़लल पड़ेगा—यह उसके लिए एक नया अनुभव था। सम्पादक विद्याभूषण थे, और उन्होंने ख़ुद उसे यह आज़ादी दे रखी थी।

ख़ुद उसी ने तब एक प्रस्ताव रखा: सम्पादक की ओर से अगले अंक में एक टिप्पणी दे दी जाय, कि पिछला अग्रलेख उनकी ग़ैर-हाज़िरी में उनके एक सहकारी सम्पादक ने लिखा था जो पत्र की नीति से पूरी तरह परिचित नहीं थे; उस अग्रलेख में व्यक्त विचार सम्पादक के विचार नहीं थे, न जागृति की नीति के अनुरूप—इसलिए उसे वापस लिया जाता है।

बिपिन बाबू ने उसी दम इस सुझाव को स्वीकार कर लिया, लेकिन विद्याभूषण कुछ असमंजस में दिखाई दिये। शंकर ने तब उनके असमंजस को दूर करने के लिए और भी अधिक आग्रह दिखाया और उन्हें ज़्यादा सोचने-विचारने का मौक़ा दिये बिना, ख़ुद ही, उसी दम, वह टिप्पणी लिख भी डाली।

टिप्पणी छप गयी, और शंकर ने चपरासी के हाथ विद्याभूषण के पास अपना इस्तीफ़ा भेज दिया।

कुछ ही देर बाद वह उसके कमरे में आ पहुँचे। उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं।

"क्या बात है ?...इस्तीफ़ा किस लिए ?"

"जो इतनी बात भी नहीं समझ सकता," शंकर का सारा दबा हुआ गुस्सा भड़क उठा, "उसके साथ एक दिन भी और काम करना..." और आगे वह कुछ नहीं कह पाया।

"मगर...आखिर बात क्या हुई ?" सचमुच ही विद्याभूषण भौंचक्के-से उसकी ओर ताक रहे थे; "अगर उस अग्रलेख के इस प्रतिवाद को लेकर कोई बात है...तो यह तो आपके ही सुझाव पर हुआ...आपने ही यह टिप्पणी ख़ुद लिखी—"

"जी हां...ख़ुद मैंने ही वह टिप्पणी भी लिखी...और अपने हाथों अपनी फांसी का रस्सा भी तैयार किया," शंकर ने विद्रूपात्मक स्वर में जवाब दिया, "क्योंकि आप...आपको...अपनी फांसी का रस्सा दूसरे के गले में कसने में ज़रा भी हिचक नहीं थी।...सम्पादक के रूप में अपना नाम छपाने का शौक़ ज़रूर आप में है, लेकिन बलि का बकरा किसी दूसरे को बनाने में न कोई एतराज़ है, न कोई शर्म।"

जब उसकी उस फटकार के बाद भी विद्याभूषण ठीक-ठीक समझ नहीं पाये कि उन्होंने क्या ग़लती की, तब शंकर को ही सम्पादकों की इस परम्परा की उन्हें याद दिलानी पड़ी थी कि वक़्त आने पर पत्र में छपी हर बात की पूरी ज़िम्मेदारी वे ख़ुद लेते हैं, अपने सहकारियों द्वारा की जाने वाली ग़लतियों की भी...हालांकि इस मामले में तो शंकर ने उनके 'सहकारी' के रूप में कोई ग़लती भी नहीं की थी।

कुछ देर तक तो विद्याभूषण अवाक्-से उसकी ओर ताकते ही बैठे रह गए उसके तख़्त पर, उसकी ही बग़ल में, और फिर एक दर्द-भरी आवाज़ में सिर्फ़ इतना ही बोले : "आपने मुझे आख़ीर तक धोखे में रखा...उदयजी," और अपने दोनों हाथों में सिर थाम लिया।

कुछ देर बाद जब उन्होंने सिर उठाया, तो उनका सारा चेहरा आंसुओं से गीला था। अपनी भरी हुई आंखों से उसकी ओर ताकते हुए, भर्राये-से स्वर में वह बोले : "अगर आपने ज़रा भी...मुझे थोड़ा भी यह बता दिया होता...कि आप विपिन बाबू की बात से सहमत नहीं हैं...तो मैं कभी भी ऐसा नहीं होने देता, उदयजी।...मैं अन्दर से कमज़ोर ज़रूर हूं...बहुत ही कमज़ोर...लेकिन इस मामले में मैं आपका ही पक्ष लेता, और विपिन बाबू कुछ भी नहीं कर सकते थे..."

लेकिन शंकर उसके बाद भी नहीं पिघला। सम्पादकीय आत्म-सम्मान की भावना के जिस एकान्त अभाव का उनमें उस घटना की बदौलत उसे पता लगा था उसने उसके अन्दर उनके प्रति घृणा ही घृणा पैदा कर दी थी, और जितने ही

यह दीन पड़ते गये थे उतनी ही वह और भी बढ़ती गयी थी...

अगले दिन ही शंकर पटने से बनारस के लिए चल दिया था—शोभाराम के पास; जहाँ रहकर उसने स्वतन्त्र लेखन द्वारा जीविकोपार्जन करने का एक नया प्रयोग शुरू कर दिया था। लेकिन पटना छोड़ देने पर भी विद्याभूषण के प्रति उसका यह क्रोध काफ़ी अरसे तक क़ायम रहा। साप्ताहिक जागृति की एक प्रति विद्याभूषण, शंकर के मना करने पर भी, बराबर डाक से उसके नाम भेजते चले गये थे, और आख़ीर में तो बिना उसे खोले ही उसने डाक से उनके पास लौटाना शुरू कर दिया था...

पर धीरे-धीरे, आख़िर, उसके उस गुस्से में कमी हुई और एक बार किसी काम से बनारस आने पर विद्याभूषण ने शोभाराम को ही बीच में डालकर सुलह करने के लिए एक तरह से उसे मजबूर कर दिया। और, कुछ ही हफ़्ते बाद जब 1936 के अन्त में प्रान्तीय चुनाव अभियान के दौरान जागृति को कुछ समय के लिए दैनिक का रूप दे दिया गया, तब विद्याभूषण के एकान्त अनुरोध को वह नहीं ठुकरा सका और उसे वापस पटने लौट जाना पड़ा।

तब से, कम से कम सम्पादकीय नीति के मामले में, शंकर की आज़ादी में विद्याभूषण की ओर से कभी कोई हस्तक्षेप नहीं हुआ; दूसरी ओर, कम्पनी के डाइरेक्टरों में उनके अपने ही लोगों की संख्या बढ़ जाने की वजह से भी उनकी सत्ता को चुनौती देने वाला भी कोई नहीं रह गया। यही नहीं, अपने अन्तर्द्वन्द्व के कारण जब-जब शंकर के लिए एक जगह जमकर टिकना असम्भव हो गया तब-तब विद्याभूषण ने उसकी मदद की और, उसके बाहर रहते हुए भी, उसे 'जागृति' का कुछ न कुछ काम देते रहे। आख़िरी बार भी शंकर का उनसे जो झगड़ा हुआ था वह एक अन्य प्रकार के ही मनोमालिन्य के कारण था, सम्पादकीय नीति में उनके किसी हस्तक्षेप के कारण नहीं।

दूसरी ओर, नाम के मामले में विद्याभूषण की हमेशा की कमज़ोरी का शंकर ने भी बराबर ही लिहाज़ किया था, नाम से ज़्यादा क़ीमत उसके लिए आज़ादी से अपने विचारों को प्रकट कर सकने की थी।...मगर सन्तराम ने ही इस बार नाम वाली यह शर्त विद्याभूषण से न मंज़ूर करायी होती तो सम्पादक के रूप में अपना नाम न जाने की बात लेकर अब भी उसे कोई शिकायत न होती।

लेकिन, अब जब उसने उन्हें पक्का वचन देने के बाद भी इस तरह उससे फिरते और एक साल तक सम्पादक के रूप में अकेले अपने ही नाम के छपते रहने के लिए इस प्रकार अब याचना-सी करते, देखा, तो वह भी फिर ज़्यादा कुछ नहीं कह सका।

...किन्तु परिचित क्षेत्रों में यह बात कहां छिपी रह सकी थी कि जागृति का वास्तविक सम्पादक अब शंकर ही था।

1941 में जर्मनी द्वारा सोवियत रूस पर आक्रमण किये जाने के बाद शंकर के अन्दर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति जो ज़बर्दस्त दिलचस्पी पैदा हो गयी थी वह इस बीच बढ़ती ही गयी थी। 1941 में उसने जागृति के अपने अग्र-लेखों में सोवियत रूस की सुनिश्चित विजय के पक्ष में तभी से दलीलें देनी शुरू कर दी थीं जब कि उसकी हार पर हार होती जा रही थी और बहुतों के अनुमान के विपरीत—युद्ध की स्थिति के अपने स्वतंत्र अध्ययन के आधार पर—यह भविष्यवाणी की थी कि सोवियत सेनाएं जर्मन सेनाओं को अपनी भूमि में एक सीमा तक ही घुसने देंगी—जिसके बाद लेनिनग्राद, मास्को और स्तालिनग्राद को एक-दूसरे से जोड़ने वाली अपनी रक्षा-पंक्ति को एक ऐसी अभेद्य दीवार साबित कर दिखाएंगी जिससे टकराकर जर्मन सैन्य-शक्ति क्षत-विक्षत हो जायेगी। अपनी इस भविष्यवाणी के पूर्ण होने के पहले ही विद्याभूषण के साथ मनोमालिन्य हो जाने के कारण वह 'जागृति' को छोड़ बैठा था, लेकिन 1944 के शुरू में जब विद्याभूषण के जेल में रहते वक़्त कुछ महीनों के लिए वह फिर 'जागृति' में आ गया था तब तक वह भविष्यवाणी अक्षरशः सही साबित हो चुकी थी। और पिछले तीन साल के दौरान, जिस बीच वह फिर 'जागृति' से अलग था, अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर जो कुछ हुआ उसके फलस्वरूप सोवियत रूस के प्रति उसकी बढ़ती हुई आस्था ने एक तरह से एक नशे की ही शक्ल अख़्तियार कर ली।

इस बार जब 1947 के शुरू में वह फिर से 'जागृति' में आया तब तक न सिर्फ़ द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो चुका था, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक ऐसा मोड़ ले चुकी थी जिसकी चार-पांच साल पहले शायद ही किसी ने कल्पना तक की हो। पूरे यूरोप पर कब्ज़ा कर चुकने के बाद भी हिटलरी नाज़ीवाद की, और दक्षिण-पूर्व एशिया को हड़प लेने वाले साम्राज्यवादी जापान की पूरी हार हो चुकी थी; साथ ही, विजयी महान राष्ट्रों में से भी ब्रिटेन और फ्रांस अब सिर्फ़ नाम के लिए ही महान राष्ट्र रह गये थे। द्वितीय महायुद्ध शुरू होने के पहले जिस सोवियत रूस का अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर कोई भी स्थान नहीं था; बल्कि जिसे सभी बड़े राष्ट्र अछूत की तरह देखते आये थे, इस महायुद्ध में सबसे अधिक क्षति उठाकर भी वह आधे से अधिक यूरोप पर ही नहीं, आधे से अधिक एशिया पर भी अधिकार जमा चुका था—क्योंकि चीन की भी कम्युनिस्ट पार्टी उसकी मदद से जापानियों के बाद च्यांग-काई-शेक की पश्चिम-समर्थित सरकार को धराशायी करने में जुटी हुई, थी। दूसरी ओर, पश्चिमी अथवा तथाकथित पूंजीवादी राष्ट्रों का नेता बन चुका था अमरीका, जो उस महायुद्ध से पहले यूरोप या एशिया के मसलों से अपने को अलग ही रखता आया था।

इस तरह, प्रायः समूचा विश्व अब दो शिविरों में बँट गया था जिनमें से एक का नेता था सोवियत रूस, दूसरे का अमरीका। जैसा नक़्शा उभर रहा था उससे लग रहा था कि दूसरे महायुद्ध की समाप्ति ने इसी समय तीसरे महायुद्ध का बीजारोपण कर दिया है जिसमें पिछले मित्र ही आपसी शत्रु बनने जा रहे हैं।

इस बार जागृति में आकर शंकर ने जो सबसे पहला महत्वपूर्ण अग्रलेख लिखा उसमें इसी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का सिंहावलोकन करते हुए सोवियत-शक्ति के उत्थान का जोरदार भाषा में स्वागत किया और यह आशा व्यक्त की कि स्वाधीनता मिलते ही भारत की नयी सरकार अविलम्ब चीन की कम्युनिस्ट सरकार को मान्यता दे देगी...

इस अग्रलेख के छपने के दो ही तीन दिन बाद उससे मिलने और बधाई देने बिहार कम्युनिस्ट पार्टी का वह नवयुवक सदस्य रामसिंहासन आ पहुँचा जिससे साथ शंकर पहले से ही अच्छी तरह परिचित था। रामसिंहासन ने उसे बताया कि उसकी पार्टी में वह अग्रलेख बड़े चाव के साथ पढ़ा गया।

"आप फिर से जागृति में आ रहे हैं इसकी भनक तो हम लोगों को मिल चुकी थी," फिर वह बोला, "लेकिन आप आ गये हैं, यह पता नहीं था।...इस अग्रलेख को पढ़ते ही मुझे यक़ीन हो गया कि यह आपका ही लिखा है।"

कुछ दिन बाद, लेकिन, वही रामसिंहासन शंकर के एक दूसरे अग्रलेख पर उसकी भर्त्सना करने के लिए भी आ पहुँचा, जो देश-विभाजन के प्रति कांग्रेस के नेताओं के बदलते हुए रुख़ के ख़िलाफ़ था, और साथ ही जिसमें मुसलिम लीग की पृथकतावादी साम्प्रदायिक नीति को आड़े हाथों लिया गया था जो कि रक्तपात द्वारा कांग्रेस के नेताओं को झुकाने पर तुली हुई थी। "भारत अखण्ड है, और सभी जातियों, सम्प्रदायों, वर्गों को समान रूप से इसकी धरती पर रहने का अधिकार है," इस अग्रलेख में कहा गया था, "अगर कोई अल्पसंख्यक सम्प्रदाय ख़ून की नदियाँ बहाने की धमकी देकर, बल्कि उस पर अमल तक कर दिया, बहुसंख्यक सम्प्रदाय को झुकाना चाहता है तो यह उसकी हिमाक़त है। और अगर बहुसंख्यक सम्प्रदाय के नेताओं की नसों का ख़ून इस रक्तपात को देख पानी बन जाता है और नामर्दों के साथ वे चुपचाप आत्म-समर्पण कर बैठते हैं तो ऐसे नेताओं को देशद्रोही के सिवा और कुछ नहीं माना जा सकता..."

कांग्रेस के बड़े नेता भले ही देश का बँटवारा करके भी स्वराज्य प्राप्त करने के लिए तैयार होते दिखायी देने लगे हों, लेकिन आम कांग्रेसजनों का दिल इससे ख़ुश नहीं था और मुसलिम लीग के सामने अपने नेताओं के इस आत्म-समर्पण से वे अन्दर ही अन्दर क्षुब्ध थे। यों भी कांग्रेस अब तक एक तरह से हिन्दुओं की ही प्रतिनिधि संस्था रह गयी थी · अपने नेताओं की सम्प्रदायवाद-विरोधी नीति का अब तक समर्थन करते चले आने के बाद आम कांग्रेसजन खुलकर तो

उनका विरोध नहीं कर पा रहे थे, लेकिन भारत में बच रहने वाले मुसलमानों के प्रति सौहार्द क़ायम रखने की, और विशुद्ध साम्प्रदायिक आधार पर देश का बँटवारा होने पर भी भारत को असाम्प्रदायिक राष्ट्र ही बनाये रखने की उनकी घोषित नीति भी उन्हें रुच नहीं रही थी...

इस अग्रलेख के छपने के बाद बिहार विधान सभा के कई कांग्रेसी सदस्यों ने टेलीफ़ोन पर या प्रत्यक्ष मिलकर विद्याभूषण को—और जो 'जागृति' से अधिक परिचित थे उन्होंने स्वयं शंकर को—उसके लिए बधाइयां दीं और 'जागृति' की इस ज़ोरदार आवाज़ का स्वागत किया। साधारण पाठकों में से भी कई के सराहनापूर्ण पत्र आये, और पटने के शिक्षित समाज में जहां-तहां उसके सम्बन्ध में चर्चा होने के और भी समाचार मिले।

बिहार कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से उससे मिलने के लिए आकर इस बार तो रामसिंहासन शंकर पर एक तरह से बरस ही पड़ा। "हम लोगों का ख़याल था कि आप अगर पूरी तरह कम्युनिस्ट...या मार्क्सिस्ट...नहीं हैं, तो कम-से-कम प्रगतिशील तो हैं ही। लेकिन अपने इस अग्रलेख में आपने जिस प्रतिक्रिया-शीलता का परिचय दिया है उससे तो आप पूरे हिन्दूमहासभाई ही हो गये हैं..."

घंटे दो घंटे की बहस के बाद रामसिंहासन को विफल-मनोरथ ही उस दिन वापस लौट जाना पड़ा था, लेकिन अगले दिन ही शंकर के पास बिहार कम्यु-निस्ट पार्टी के कुछ प्रमुख सदस्यों के साथ बहस करने का निमंत्रण आ पहुँचा।

...सोवियत रूस और स्तालिन का भक्त हो जाने के बाद भी शंकर, पिछले कुछ वर्षों के बीच, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति आकृष्ट नहीं हो सका था। 1942 के कांग्रेस के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के प्रति उसका जो रुख़ वह देख चुका था उसके कारण उसके प्रति उसका दिल विशेष रूप से खट्टा हो गया था—हालांकि वह ख़ुद भी उस आन्दोलन का समर्थक नहीं था और उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ग़लत विश्लेषण के आधार पर छेड़ा गया मानता था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को उसने महायुद्ध के दौरान कई बार अपनी नीति बदलते देखा था। सोवियत रूस ने अपने सबसे बड़े शत्रु नाज़ी जर्मनी के साथ महायुद्ध छिड़ने से पहले अगर मित्रता की संधि की थी तो उसका कारण शंकर की राय में यह था कि ब्रिटेन और फ्रांस ने हिटलर को पूरबी यूरोप में अबाध रूप से बढ़ते जाने की छूट दे दी थी और मन ही मन यह आशा की थी कि आख़ीर में जर्मनी सोवियत रूस पर ही चढ़ बैठेगा, जिसके बाद जर्मनी और रूस दोनों ही कमज़ोर पड़ जायेंगे। ब्रिटेन-फ्रांस की इस चाल में न फँसकर अगर सोवियत रूस ने अपने दूरव्यापी स्वार्थ की रक्षा के लिए नाज़ी जर्मनी के साथ मित्रता की संधि कर ली और पोलैंड पर जर्मन हमला होते ही अपनी सीमा का बचाव

करने के लिए युद्ध भी पूरब से पोलैंड पर हमला करके उसका आधा हिस्सा अपने कब्ज़े में कर जर्मन सेनाओं को बीच में ही रोक दिया, तो यह भी शकर की राय में सोवियत रूस की बुद्धिमानी ही थी।

लेकिन सोवियत रूस ने अपने हित में जो क़दम उठाये थे उनका भारतीय हितों के साथ दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता था, और यह देख शकर हैरान था कि जो भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी महायुद्ध से पहले फ़ासिज़्म और नाज़ीवाद को ब्रिटिश साम्राज्यवाद से भी ज्यादा ख़तरनाक मानती थी उसने सोवियत रूस के साथ-साथ युद्ध भी कैसे रातोरात अपना रुख़ बदल दिया और फ़ासिज़्म और नाज़ीवाद की मुख़ालफ़त करना छोड़ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ ही सबसे ज्यादा ज़हर उगलने लगी।

फिर, जून 1941 में जब हिटलर ने सोवियत रूस पर हमला कर दिया और उसी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सोवियत रूस का जर्मनी के ख़िलाफ़ संयुक्त मोरचा बना, तब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने फिर रातोरात अपना रुख़ बदल डाला और नाज़ी जर्मनी को अपना भी दुश्मन क़रार दे ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारत की अंग्रेज़ी सरकार के साथ उसने भी दोस्ती कर ली। भारत की जेलों से सभी कम्युनिस्ट बन्दी छोड़ दिये गये, और कांग्रेस जहाँ अब भी भारत में अंग्रेज़ी शासन के साथ असहयोग की नीति बरत रही थी, भारतीय कम्युनिस्ट खुल्लमखुल्ला उसकी मदद में जुट गये, बल्कि भारतीय कम्युनिस्टों में से कितनों के ख़िलाफ़ यह आरोप तक था कि अंग्रेज़ों के विरुद्ध छिपे-छिपे विद्रोह भड़काने वाले कांग्रेसजनों को पकड़वाने में उन्होंने ख़ासा जोश दिखाया था...

मुसलिम लीग की पाकिस्तान-सम्बन्धी माँग और देश-विभाजन के भी मामले में भारतीय कम्युनिस्टों का रुख़ देश की बहुसंख्यक जनता की भावनाओं के विपरीत तो था ही; अल्पसंख्यकों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिलाने की नीति के बहाने मुसलिम लीग की माँगों के प्रति भी वे शुरू से ही सहानुभूतिपूर्ण रहे थे। कांग्रेस के नेता जहाँ अपनी कमज़ोरी की वजह से और बिलकुल बेबसी में देश का बँटवारा स्वीकार करने के लिए तैयार दिखाई दे रहे थे, वहाँ कम्युनिस्टों के रुख़ से यह साफ़ लगता था कि भारत और पाकिस्तान के रूप में देश के खण्डित हो जाने की उन्हें चिन्ता नहीं थी। बल्कि शकर को तो यह सन्देह तक होने लग गया कि यह नीति उन्होंने दरअसल भावी पाकिस्तान में अपनी शक्ति बढ़ाने की नीयत से ही अपनायी थी...

फिर भी, कम्युनिस्ट पार्टी का वह निमन्त्रण स्वीकार कर, शकर उसके दफ़्तर में गया था, और यह जानकर भी किसी हद तक उसने गौरवान्वित ही महसूस किया कि उसकी बिहार शाखा के एक प्रमुख सदस्य को उससे बहस करने की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी। भारतीय कम्युनिस्टों की अवसरवादी नीति को

लेकर ज़रूर शंकर उन लोगों से असन्तुष्ट था, लेकिन उनकी लगन, उनकी अनुशासनबद्धता और इन सबसे भी कहीं अधिक उनकी अध्ययन-प्रियता के लिए उसके मन में उनके प्रति न केवल आकर्षण था, बल्कि किसी हद तक सम्मान भी। और, मार्क्सवाद के प्रति अपनी आस्था के बावजूद, उसे भय था कि एक धुरंधर मार्क्सवादी के साथ बहस होने पर वह अपने पाँवों को पूरी तरह जमाये रख सकेगा या नहीं।

लेकिन उसका यह डर कुछ ही देर की बहस के बाद जाता रहा जब उसने देखा कि बिहार कम्युनिस्ट पार्टी के जिस चोटी के नेता-विचारक से उसका मुक़ाबला था उसने मार्क्स, लेनिन और स्तालिन का हवाला दे-देकर ही उसकी दलीलों को काटने की कोशिश की, जबकि शंकर ने शुरू से ही सैद्धान्तिक तर्क का रास्ता छोड़ अपने प्रत्यक्ष अनुभव और देश की वर्तमान स्थिति तथा निकट भविष्य को अपनी दलीलों का आधार बनाया।

उसने देखा कि उसकी सारी दलीलें मानो पत्थर की किसी दीवाल से टकरा कर जहाँ की तहाँ रह जाती हैं; कोरी सैद्धान्तिकता की उस अभेद्य दीवाल में उसके प्रत्यक्ष अनुभवों और ठोस यथार्थता पर आधारित वे दलीलें कोई दरार तो क्या, हलकी-से-हलकी खरोंच तक नहीं डाल पा रही हैं...

'क़ायदे-आज़म' जिन्ना के 'डाइरेक्ट ऐक्शन डे' के फलस्वरूप शंकर कलकत्ते का जो प्रचण्ड और विकराल नरमेध अपनी आँखों देख चुका था उसने रातोंरात उसे यह मानने के लिए बाध्य कर दिया था कि आक्रमणकारी मुसलमानों की निगाह में वह महज़ एक हिन्दू है; और यह, कि भारतीय राष्ट्रीयता के नाते हिन्दू-मुसलमान तब तक भाई-भाई बनकर देश में नहीं रह सकते जब तक कि मुसलमानों को यह नहीं दिखा दिया जाता कि 'लड़ कर लेंगे पाकिस्तान' की उनकी धमकी के आगे बाक़ी देशवासी घुटने नहीं टेकेंगे।...कलकत्ते के उस नरमेध के बाद से उसने इस मसले पर जितना ही ग़ौर किया था इसी नतीज़े पर पहुँचता गया था कि जो भी कोई जाति, वर्ग या सम्प्रदाय रक्तपात के बल देश के टुकड़े करना चाहता है वह देश का शत्रु है, और उसके सामने कायरतापूर्वक झुक जाना देशद्रोह...

इसके अलावा—जैसा कि वह अपने पिछले अग्रलेख में भी लिख चुका था—भारतीय मुसलमानों की शायद नब्बे प्रतिशत से भी अधिक आबादी उन लोगों की थी जो भारत के ही आदि-निवासी, यानी 'हिन्दू' थे—जो, कुछ तो मुसलिम शासकों के बलात्कार के फलस्वरूप, और कुछ, तथाकथित 'सवर्ण' हिन्दुओं द्वारा तथाकथित 'असवर्ण' जातियों के प्रति किये जाने वाले सामाजिक और आर्थिक अत्याचारों के कारण, मुसलमान हो गये थे। ऐसी हालत में, क्या एक मज़हब को छोड़ कोई दूसरा मज़हब स्वीकार कर लेने मात्र से कोई भारतीय अभारतीय

कहलाने का हक़दार बन जा सकता था ?

देश-विभाजन के खिलाफ़ शंकर की आखिरी दलील यह थी—कि पाकिस्तान शुरू में ही जहाँ एक मुस्लिम साम्प्रदायिक राष्ट्र बनने जा रहा था, वहाँ भारत फिर भी असाम्प्रदायिक राष्ट्र के ही रूप में रहने वाला था; उस स्थिति में पाकिस्तान में रह जाने वाले हिन्दुओं में से जो भी जिन्दा बच जायेंगे उन्हें या तो मुसलमान बना लिया जायेगा या मौत के घाट उतार दिया जायेगा, या फिर भारत में ही शरण लेने के लिए मजबूर होना पड़ेगा—जब कि भारत में बच रहने वाले मुसलमानों के सामने धर्म-परिवर्तन या इस तरह की जोर-ज़बर्दस्ती का कोई खतरा नहीं होगा, क्योंकि भारत में कांग्रेस का ही शासन रहने वाला था जिसकी असाम्प्रदायिक नीति बरकरार थी। इस तरह, भविष्य में जहाँ पाकिस्तान सिर्फ़ मुसलमानों का मुल्क रहेगा, वहाँ भारत में रह जाने वाले मुसलमानों की बाबत बराबर यह डर बना रहेगा कि वे इस देश के प्रति वफ़ादार नहीं होंगे और अपनी कट्टर मज़हब-परस्ती की वजह से तब भी पाकिस्तान को ही अपना वहिश्त मानते रहेंगे।

"तब क्या आप चाहते हैं कि भारत को भी हिन्दू राष्ट्र घोषित किया जाय और मुसलमानों के लिए यहाँ कोई जगह ही न रहे ?" क्षुब्ध स्वर में उन कम्युनिस्ट नेता ने शंकर से प्रश्न किया।

"मैं खुद किसी हालत में यह नहीं चाहता," शंकर ने कड़े स्वर में प्रतिवाद किया, "क्योंकि मैं जिस गांधीवादी राजनीति की परम्परा में पला हूँ, न तो उसमें साम्प्रदायिकता को कोई जगह है और न मार्क्सवादी विचारधारा में ही।...मैं सिर्फ़ एक ठोस और कड़वी हकीकत आपके सामने रख रहा हूँ।...अगर...साम्प्रदायिक आधार पर देश के बटवारे का आप समर्थन करते हैं तो...तो फिर, यह भी फ़ैसला कर डालिये कि साम्प्रदायिक आधार पर आबादी की भी अदला-बदली हो जाय..."

"मगर—यह क्या मुनासिब है...या मुमकिन ही ?"—एक विद्रूपपूर्ण मुसकराहट शंकर की ओर उछाल वह कम्युनिस्ट नेता बोले।

"तो फिर इस बात के लिए भी तैयार रहिये—कि कलकत्ता, बिहार और नोआखाली में जो नरमेध हुए हैं वे आखिरी नहीं होंगे...देश का बँटवारा होने तक, और उसके बाद भी, दोनों ही देशों में खून की नदियाँ बहती दिखाई देंगी..." और, गुस्से से काँपता-सा शंकर कुरसी पर से उठ खड़ा हुआ।

जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह काल अभूतपूर्व था, उसी प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र में भी। देश को स्वाधीनता मिलने जा रही थी—वही स्वाधीनता जिसके

लेकर ज़रूर शंकर उन लोगों से असन्तुष्ट था, लेकिन उनकी लगन, उनकी अनुशासनबद्धता और इन सबसे भी कहीं अधिक उनकी अध्ययन-प्रियता के लिए उसके मन में उनके प्रति न केवल आकर्षण था, बल्कि किसी हद तक सम्मान भी। और, मार्क्सवाद के प्रति अपनी आस्था के बावजूद, उसे भय था कि एक धुरंधर मार्क्सवादी के साथ बहस होने पर वह अपने पाँवों को पूरी तरह जमाये रख सकेगा या नहीं।

लेकिन उसका यह डर कुछ ही देर की बहस के बाद जाता रहा जब उसने देखा कि बिहार कम्युनिस्ट पार्टी के जिस चोटी के नेता-विचारक से उसका मुक़ाबला था उसने मार्क्स, लेनिन और स्तालिन का हवाला दे-देकर ही उसकी दलीलों को काटने की कोशिश की, जबकि शंकर ने शुरू से ही सैद्धान्तिक तर्क का रास्ता छोड़ अपने प्रत्यक्ष अनुभव और देश की वर्तमान स्थिति तथा निकट भविष्य को अपनी दलीलों का आधार बनाया।

उसने देखा कि उसकी सारी दलीलें मानो पत्थर की किसी दीवाल से टकरा कर जहाँ की तहाँ रह जाती हैं; कोरी सैद्धान्तिकता की उस अभेद्य दीवाल में उसके प्रत्यक्ष अनुभवों और ठोस यथार्थता पर आधारित वे दलीलें कोई दरार तो क्या, हलकी-से-हलकी खरोंच तक नहीं डाल पा रही हैं...

'क़ायदे-आज़म' जिन्ना के 'डाइरेक्ट ऐक्शन डे' के फलस्वरूप शंकर कलकत्ते का जो प्रचण्ड और विकराल नरमेध अपनी आँखों देख चुका था उसने रातोंरात उसे यह मानने के लिए बाध्य कर दिया था कि आक्रमणकारी मुसलमानों की निगाह में वह महज़ एक हिन्दू है; और यह, कि भारतीय राष्ट्रीयता के नाते हिन्दू-मुसलमान तब तक भाई-भाई बनकर देश में नहीं रह सकते जब तक कि मुसलमानों को यह नहीं दिखा दिया जाता कि 'लड़ कर लेंगे पाकिस्तान' की उनकी धमकी के आगे बाक़ी देशवासी घुटने नहीं टेकेंगे।...कलकत्ते के उस नरमेध के बाद से उसने इस मसले पर जितना ही ग़ौर किया था इसी नतीजे पर पहुँचता गया था कि जो भी कोई जाति, वर्ग या सम्प्रदाय रक्तपात के बल देश के टुकड़े करना चाहता है वह देश का शत्रु है, और उसके सामने कायरतापूर्वक झुक जाना देशद्रोह...

इसके अलावा—जैसा कि वह अपने पिछले अग्रलेख में भी लिख चुका था—भारतीय मुसलमानों की शायद नब्बे प्रतिशत से भी अधिक आबादी उन लोगों की थी जो भारत के ही आदि-निवासी, यानी 'हिन्दू' थे—जो, कुछ तो मुसलिम शासकों के बलात्कार के फलस्वरूप, और कुछ, तथाकथित 'सवर्ण' हिन्दुओं द्वारा तथाकथित 'असवर्ण' जातियों के प्रति किये जाने वाले सामाजिक और आर्थिक अत्याचारों के कारण, मुसलमान हो गये थे। ऐसी हालत में, क्या एक मज़हब को छोड़ कोई दूसरा मज़हब स्वीकार कर लेने मात्र से कोई भारतीय अभारतीय

कहलाने का हकदार बन जा सकता था ?

देश-विभाजन के खिलाफ शंकर की आखिरी दलील यह थी—कि पाकिस्तान शुरू से ही जहाँ एक मुस्लिम साम्प्रदायिक राष्ट्र बनने जा रहा था, वहाँ भारत फिर भी असाम्प्रदायिक राष्ट्र के ही रूप में रहने वाला था; उस स्थिति मे पाकिस्तान मे रह जाने वाले हिन्दुओं में से जो भी ज़िन्दा बच जायेंगे उन्हें या तो मुसलमान बना लिया जायेगा या मौत के घाट उतार दिया जायेगा, या फिर भारत में ही शरण लेने के लिए मजबूर होना पड़ेगा—जब कि भारत मे बच रहने वाले मुसलमानो के सामने धर्म-परिवर्तन या इस तरह की ज़ोर-ज़बर्दस्ती का कोई खतरा नहीं होगा, क्योंकि भारत में कांग्रेस का ही शासन रहने वाला था जिसकी असाम्प्रदायिक नीति बरकरार थी। इस तरह, भविष्य मे जहाँ पाकिस्तान सिर्फ़ मुसलमानों का मुल्क रहेगा, वहाँ भारत में रह जाने वाले मुसलमानों की बाबत बराबर यह डर बना रहेगा कि वे इस देश के प्रति वफ़ादार नही होंगे और अपनी कट्टर मज़हब-परस्ती की वजह से तब भी पाकिस्तान को ही अपना बहिश्त मानते रहेंगे।

"तब क्या आप चाहते हैं कि भारत को भी हिन्दू राष्ट्र घोषित किया जाय और मुसलमानों के लिए यहाँ कोई जगह ही न रहे ?" क्षुब्ध स्वर में उन कम्युनिस्ट नेता ने शंकर से प्रश्न किया।

"मैं ख़ुद किसी हालत में यह नही चाहता," शंकर ने कड़े स्वर में प्रतिवाद किया, "क्योंकि मैं जिस गांधीवादी राजनीति की परम्परा में पला हूँ, न तो उसीमे साम्प्रदायिकता को कोई जगह है और न मार्क्सवादी विचारधारा मे ही।...मैं सिर्फ़ एक ठोस और कड़वी हकीकत आपके सामने रख रहा हूँ।... अगर...साम्प्रदायिक आधार पर देश के बटवारे का आप समर्थन करते हैं तो...तो फिर, यह भी फ़ैसला कर डालिये कि साम्प्रदायिक आधार पर आबादी की भी अदला-बदली हो जाय..."

"मगर—यह क्या मुनासिब है...या मुमकिन ही ?"—एक विद्रूपपूर्ण मुसकराहट शंकर की ओर उछाल वह कम्युनिस्ट नेता बोले।

"तो फिर इस बात के लिए भी तैयार रहिये—कि कलकत्ता, बिहार और नोआखाली मे जो नरमेध हुए है वे आख़िरी नहीं होंगे...देश का बँटवारा होने तक, और उसके बाद भी, दोनों ही देशो में खून की नदियाँ बहती दिखाई देंगी..." और, गुस्से से कांपता-सा शंकर कुरसी पर से उठ खड़ा हुआ।

जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे यह काल अभूतपूर्व था, उसी प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी। देश को स्वाधीनता मिलने जा रही थी—वही स्वाधीनता जिसके

लिए बहुतों के साथ-साथ शंकर ने भी किसी वक्त प्राणों तक की बाज़ी लगा दी थी, लेकिन जिसके इस वीभत्स रूप की पहले किसी ने कल्पना तक नहीं की थी।

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में होने वाला अभूतपूर्व परिवर्तन जहाँ शंकर के लिए परम आनन्द और उल्लास का कारण था, वहाँ राष्ट्रीय क्षेत्र का भावी नक्शा उसके लिए उतना ही असह्य और क्षोभजनक था। उसका सारा व्यक्तित्व जैसे विद्रोह कर उठा था उसकी संभावना मात्र से।

कलकत्ते के उस हत्याकाण्ड के बाद से ही दिन पर दिन उसका यह विश्वास दृढ़ होता गया था कि आज़ादी मिलने का दिन भले ही कुछ बरसों तक के लिए टल जाय, लेकिन मुसलमानों की उस चुनौती का खुलकर मुकाबला न कर उनकी सर्वथा अयुक्तिसंगत माँग के सामने घुटने टेक देना एक ऐसी बड़ी कायरता होगी जो राष्ट्र के आत्मबल को ही सदा के लिए नष्ट कर देगी। और, जैसे-जैसे ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों के साथ देश के नेताओं की समझौते की बातचीत अग्रसर हो रही थी, शंकर का क्षोभ भी उसी अनुपात में बढ़ता जा रहा था।

...ब्रिटिश प्रतिनिधि-मण्डल के साथ विभिन्न दलों के भारतीय नेताओं की समझौते की सारी बातचीत के विफल हो जाने के बाद, अन्त में, फ़रवरी 1947 में ब्रिटिश सरकार यह स्पष्ट संकेत दे चुकी थी कि अंग्रेज़ अब भारत को छोड़ देने के लिए कृत-संकल्प हैं—चाहे उन्हें इसके लिए देश का बँटवारा ही करना पड़े। इस घोषणा से मुसलिम लीग को स्वभावतः और भी बल मिला और उसने न सिर्फ़ अपनी राजनीतिक पैंतरेबाज़ी और भी तेज़ कर दी, बल्कि 'लड़ कर लेंगे पाकिस्तान' वाले अपने नारे को भी और ज़ोर-शोर के साथ सक्रिय रूप देना शुरू कर दिया।...लेकिन मुसलिम लीग की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि जिसे वह भावी पाकिस्तान की इमारत की अपनी सबसे पक्की नींव बनाने जा रही थी—पश्चिमी पाकिस्तान—उसके किसी भी सूबे में तब तक मुसलिम लीग की सरकार नहीं थी। सौदा करने की अपनी ताक़त को बढ़ाने की दृष्टि से उसके सामने इसके सिवा कोई रास्ता नहीं था कि बाक़ी सभी सूबों के ग़ैर-लीगी मंत्रिमण्डलों का जीना हराम बना दे।

सबसे पहले, इस दृष्टि से, पंजाब में हिंसा और लूटमार का वातावरण तेज़ी से तैयार किया गया जिससे मजबूर होकर मार्च के आरंभ में ही पंजाब की 'यूनि-यनिस्ट' सरकार को इस्तीफ़ा दे देना पड़ा। फिर गवर्नर का शासन लागू होने के बाद भी स्थिति में सुधार लाने की जगह उसे और भी बिगाड़ा गया—जिसके फलस्वरूप मार्च के मध्य तक हज़ारों हिन्दुओं और सिखों को मौत का सामना करना पड़ा।

पूर्वी भारत में जिस तरह बंगाल न पूर्णतया हिन्दुओं का था और न मुसलमानों का, वैसी ही स्थिति पश्चिमी भारत में पंजाब की थी। मुसलिम लीग को यह किसी

तरह गवारा नहीं था कि इन दोनों प्रान्तों में से किसी के भी टुकड़े किये जाएँ, क्योंकि इनकी कुल आबादी मे मुसलमानों की संख्या ही कुछ अधिक बैठती थी। लेकिन अब कांग्रेस के नेता भी इस बात पर अड़ गये कि देश का विभाजन अगर होना ही है, तो इन प्रान्तों का भी बँटवारा करना होगा। फलस्वरूप, कांग्रेस कार्यसमिति ने भी, मुसलिम लीग की माँग के जवाब में इन प्रान्तों के विभाजन के पक्ष मे प्रस्ताव पास कर दिया।

इस तरह दोनों ओर से जबरदस्त रस्साकशी शुरू हो गयी...

लार्ड वावेल के वापस बुला लिए जाने के बाद भारत का भाग्य-निर्णय करने के पूर्ण अधिकार लेकर नये और अन्तिम वाइसराय लार्ड माउंटबैटन 22 मार्च, 1947 को नई दिल्ली पहुँचे; और मुसलिम लीग ने उनका स्वागत करने के लिए वह दिन 'पाकिस्तान दिवस' के रूप में मनाने का निश्चय किया।...सुलह-समझौते की जगह, इस तरह, ज़ोर-ज़बर्दस्ती के ज़रिये ही देश के भाग्य का निपटारा अनिवार्य होता चला गया।...धीरे-धीरे उन मुसलिम-बहुल सूबों पर भी जिनमे मुसलिम लीग की दाल पहले कभी भी नही गल सकी थी—यहाँ तक कि सीमान्त गांधी के पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त तक मे—हिंसा, बलात्कार और आतंक का दौर चल पड़ा।

... ...

वे दिन बहुत पीछे छूट चुके थे जब अपने दिल के प्रचण्ड भावों को अन्दर ही अन्दर दबा देना—क्रोध, आदि निषिद्ध माने जाने वाले भावों को दबाकर रखना—शकर के आदर्शों में शामिल था। अन्दर के भावों को निग्रह द्वारा निर्मूल नहीं किया जा सकता, यह वह प्रत्यक्ष अनुभव कर चुका था; जो कुछ अब उसने जाना और सीखा था वह यही—कि हृदय के प्रिय-अप्रिय सभी भावों को बिना किसी आन्तरिक बाधा के स्वीकार कर उन्हे इस तरह अभिव्यक्ति दे कि किसी की क्षति किये बिना अपने भाव का रेचन भी हो जाये, और अपनी प्रगति के मार्ग की एक नयी रुकावट भी दूर हो।

इस पद्धति का, आश्रम में रहते समय ही, बड़े ही अद्भुत प्रकार का एक अनुभव भी उसे हो चुका था। कोई बात लेकर उसे सुशीला पर बेहद गुस्सा आया था, लेकिन आश्रम-जीवन को देखते हुए उसे प्रकट करना सभव नही था। सुशीला नदी पर नहाने के लिए जा चुकी थी, और शकर अपने उस गुस्से से अन्दर ही अन्दर जूझता कुछ देर तक बाहर टहलता रहा।...अचानक उसने अपनी गति मोड दी, और एक तरह से दौड़ता-सा उस कुटिया में जा घुसा जिसमे सुशीला का सामान था। इधर-उधर उसकी कई चीजों को उसने उलटा-पुलटा; फिर उसका एक ब्लाउज लेकर लगा उसे अपने दोनो हाथो और दाँतो से चीरने-फाड़ने। अपना सारा गुस्सा उसने अपने हाथो और दाँतो की समूची ताकत लगा उस ब्लाउज को

चीरकर उसके टुकड़े-टुकड़े करके उतारा...

बाद को, पता चलने पर, सुशीला पर इसकी जो प्रतिक्रिया हुई वह तो अलग प्रसंग है, लेकिन स्वामीजी को जब शंकर ने वह समूची घटना सुना डाली तब उनसे उसे समर्थन ही प्राप्त हुआ था—उस तरह अपने प्रचण्ड भाव को निरुद्ध करने की जगह, स्थान-काल के अनुरूप. उसे अभिव्यक्ति दे डालने के लिए...

कलकत्ते में भी, किसी ज्ञात अथवा अज्ञात कारणवश—जिसकी जड़ अचेतन में ही थी—सहसा चित्त विचलित हो जाने पर वह कभी-कभी अपने क्षोभ को अभिव्यक्ति देने के लिए कोई रास्ता निकालता रहा था, और हर बार ही उससे उसे शान्ति मिलती आयी थी। इस तरह के रास्तों में एक बड़ा ही उपयोगी रास्ता था—कोई आवेशपूर्ण लेख लिख डालना। जागृति में आने के बाद भी देश-विभाजन और साम्प्रदायिक मसले पर जिन ज़ोरदार लेखों को लिखकर उसने शान्ति और ख्याति दोनों एक साथ पायी थीं उनमें से अधिकांश इसी तरह की मनोदशा में और इसी बात को ध्यान में रखकर लिखे गये थे। 'क़ायदे आज़म की औंधी खोपड़ी'; 'जो सिर के बल चलना चाहते हैं और पाँवों से सोचना'—इस तरह के लेखों में तब तक काफ़ी वाहवाही पा चुके थे...

बिहार कम्युनिस्ट पार्टी के उन प्रमुख नेता से बहस करके लौटने के बाद शंकर के अन्दर एक बार फिर एक आंधी-सी उठ खड़ी हुई और उसी वक्त से उसका दिमाग़ अगले अग्रलेख के लिए कोई ज़ोरदार विषय चुनने की उधेड़बुन में लग गया। और, अगले दिन जब वह सोकर उठा, उस दिन के अग्रलेख का शीर्षक उसके सामने मौजूद था : 'मेरे मौला बुला ले मदीने मुझे।'

कुछ ही दिन पहले मुसलमानों के एक गीत की यह कड़ी उसने कहीं सुनी थी, जिसे बहुत पहले भी कितनी ही बार सुना था। इस बार इसे सुनकर उसके तन-बदन में जैसे आग ही लग गयी।...सुबह जब वह सोकर गठा, पता नहीं कैसे, वही कड़ी उसके दिमाग़ में मानो जलते हुए अक्षरों में उभर आयी।

"हिन्दुस्तान में जन्म लेकर भी, हिन्दुस्तान की ही संस्कृति में पले अपने हिन्दू बाप, दादा या परदादा की सन्तान होकर, हिन्दू धर्म छोड़ मुसलमान होते ही जिन्होंने, रातोंरात इस देश की धरती, इसके इतिहास, इसकी संस्कृति से अपना सारा नाता तोड़ सुदूर अरब के मक्का-मदीना की ओर हसरत-भरी निगाहें उठाना शुरू कर दिया," उसने लिखा, "और अपने को इस क़दर बदल डालना चाहा कि सिवा अपना बदन छोड़ कुछ भी पुराना कहीं बचा न रह जाये—अपना पिछला नाम तक नहीं—और जिनके अन्दर की गहराइयों से हर वक्त एक ही पुकार उठती रहती है : 'मेरे मौला, बुला ले मदीने मुझे'—उनका भारत की ऐतिहासिक भूमि के किसी भाग के लिए न तो प्रेम ही हो सकता है और न आदर ही। उनकी निगाह हमेशा अपने नये तीर्थ स्थानों—मक्का-मदीना—की ही ओर

लगी रहेगी, और दुनिया के बाकी सभी स्थान उनके लिए उसी तरह विदेशी बने रहेंगे जिस तरह यूरोपीय साम्राज्यवादियों के लिए एशिया-अफ्रीका के देश हैं।... इस तरह की मनोवृत्ति रखने वालों में से एक के लिए भी भारत की पवित्र भूमि पर कोई जगह नहीं होनी चाहिए।"

जहाँ तक शंकर को याद है, जागृति के अपने सम्पादन काल में उसने जितने भी अग्रलेख लिखे उनमें से और किसी के भी लिए उसे उतनी अधिक वाह-वाही नहीं मिली जितनी इस लेख के लिए। पटने के बुद्धिजीवी वर्ग के कितने ही परिचित-अपरिचित व्यक्तियों ने फ़ोन पर, या 'जागृति' कार्यालय में स्वयं उपस्थित होकर, उस लेख के लिए बधाइयाँ दीं, और राजनीतिक क्षेत्र के भी कितने ही लोगों ने, जिनमें बिहार विधान सभा के कुछ कांग्रेसी सदस्य भी थे, उस लेख की भूरि-भूरि सराहना की। हफ़्तों तक, बिहार के विभिन्न स्थानों से पाठकों के सराहनापूर्ण पत्र आते रहे।

फिर, बिलकुल ही अप्रत्याशित रूप से, एक दिन स्वयं स्वामीजी का पत्र आ पहुँचा।

"आज भले ही तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए भारत को खण्डित करना पड़े," उन्होंने लिखा, "पर हमेशा याद रखना चाहिए कि भारत ऐतिहासिक और संस्कृति की दृष्टि से अखण्ड ही है। हिन्दू अपनी पूजा के आरम्भ में आचमन करता है जल से; जो भी जल हो, वह कहता है :

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति
नर्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।

—हे गंगे, यमुने, गोदावरि, सरस्वति, नर्मदे, आदि, सब मेरे इस जल में आ जाओ।—देखो, भारत के एक कोण में बैठकर भी भारतवासी सारे भारत से अपना तादात्म्य बोध करता है।

"फिर, इक्यावन पीठों की बात! जलन्धर से चटगाँव, बदरी-केदार से कन्याकुमारी तक इक्यावन पीठ फैले हुए हैं।—भारत है भारतवासी का; जिसे वह मान्य नहीं है वह बाहर चला जा सकता है, *खण्डित करने की बात क्या?* 'मेरे मौला—' का इस दृष्टि से गुरुत्व है।

"इस देश की धर्म-संस्कृति में एकता की प्रतिष्ठा है, सबों को मिलाने की, न कि त्यागने की। आज के हिन्दुओं को इस बात पर भी गौर करना चाहिए। आज हिन्दू मिलाना भूल गया; अपने भाई-बहनों को पर कर दिया—इसलिए ही तो मुसलमानों की संख्या-वृद्धि है!"

: अगस्त 1946 में मुस्लिम लीग की कार्रवाई के फलस्वरूप कलकत्ते में जो

भीषण नरमेध हुआ था उसमें बंगाल की मुसलिम लीगी सरकार की सारी कोशिशों के बावजूद मुसलमानों को ही सबसे बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ी थी। कलकत्ते के हिन्दुओं ने जमकर मुक़ाबला किया था, और बंगाल के लीगी नेता और उनकी सरकार क़ायदे आज़म जिन्ना के सामने मुंह दिखाने के काबिल नहीं रह गये थे। शायद इसी कमी को पूरा करने के लिए उन्होंने पूर्वी बंगाल में, जहाँ मुसलमानों की आबादी हिन्दुओं के मुक़ाबले कहीं ज्यादा थी, एक नया नर-संहार शुरू किया और अक्टूबर के महीने में वहाँ के कुछ अंचलों—ख़ास तौर से नोआखाली—में हिन्दुओं के गाँव के गाँव जला डाले गये, उनकी सम्पत्ति लूट ली गयी, स्त्रियों के साथ बलात्कार किया गया और बेशुमार नर-नारियों, बच्चों-बूढ़ों की नृशंसतापूर्वक हत्या की जाने लगी।

जिसके बाद, पूर्व बंगाल का बदला लेने के लिए बिहार के हिन्दुओं ने भी वहाँ के मुसलमानों के ख़िलाफ़ वही सब किया जो पूर्व बंगाल में हिन्दुओं के ख़िलाफ़ किया गया था।

लेकिन, दोनों प्रान्तों की स्थिति में एक बड़ा अन्तर था। पूर्व बंगाल में जहां 'लड़ कर लेंगे पाकिस्तान' का नारा लगाने वाली मुसलिम लीग की साम्प्रदायिक सरकार का शासन था, जो ही अप्रत्यक्ष रूप से उन सारी हिन्दू-विरोधी कार्रवाइयों के लिए जिम्मेदार थी, वहाँ बिहार में कांग्रेसी सरकार क़ायम थी, जो न केवल सिद्धान्ततः बल्कि व्यवहारतः भी असाम्प्रदायिक और 'राष्ट्रीय' थी। अवश्य बिहार मंत्रिमण्डल के अधिकांश सदस्य हिन्दू थे और प्रान्त की बहुसंख्यक हिन्दू जनता की भावनाओं के साथ उनमें से कुछ की भीतरी सहानुभूति भी रही होगी; लेकिन बिहार के कांग्रेसी मंत्रिमण्डल पर कांग्रेस कार्यसमिति का नियंत्रण था जिसके नेताओं में से कम-से-कम जवाहरलाल नेहरू पर तो किसी प्रकार भी हिन्दुओं के प्रति पक्षपात करने का सन्देह नहीं किया जा सकता था। इसके अलावा, साम्प्रदायिक मामलों में कांग्रेस में शुरू से ही मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और ख़ान अब्दुल ग़फ्फार ख़ाँ जैसे राष्ट्रीयतावादी मुसलिम नेताओं की ही राय को वजन दिया जाता रहा था, और गांधीजी का प्रभाव तो सर्वोपरि था ही।

यों भी, कलकत्ते के नरमेध के बाद नई दिल्ली में केन्द्रीय सरकार में परिवर्तन हो चुका था और देश के प्रमुख नेताओं के हाथों में ही वाइसराय ने केन्द्रीय शासन की बागडोर सौंप दी थी। कुछ काल तक मुसलिम लीग अवश्य सौदेबाज़ी करती रही, लेकिन बाद को वह भी केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में शामिल हो चुकी थी। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के अधिकार अवश्य सीमित थे और प्रान्तीय सरकारों के मामले में गवर्नरों और वाइसराय की राय के ख़िलाफ़ हस्तक्षेप करने की स्थिति में वह नहीं था, जिसकी वजह से पूर्व बंगाल में हिन्दुओं की रक्षा करने और उन्हें न्याय

दिलाने में वह एक तरह से असमर्थ ही रह गया। लेकिन जहाँ तक बिहार के दंगों का सवाल था, वहाँ के मुसलमानों की मदद करने, हिन्दुओं के प्रतिशोध से उन्हें बचाने, और क्षतिग्रस्त लोगों को न्याय दिलाने के लिए कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने ज़मीन-आसमान एक कर डाला।

पूर्व बंगाल में दंगा शुरू होने पर कांग्रेस के नेता तो कुछ नहीं कर सकते थे, लेकिन गांधीजी को, जो देश की राजनीतिक स्थिति के इस नये मोड़ से न सिर्फ़ बुरी तरह विचलित, बल्कि दिङ्‌विमूढ़ से भी हो उठे थे, देश को सर्वनाश से बचाने का एक नया रास्ता सूझ गया : पूर्व बंगाल के सबसे अधिक विपन्न क्षेत्र नोआखाली के गाँव-गाँव में उन्होंने निहत्थे, और बिना कोई सरकारी हिफ़ाज़त स्वीकार किये, पैदल यात्रा शुरू कर दी; अगर वहाँ के आततायी मुसलमानों का हृदय-परिवर्तन करने और असहाय हिन्दुओं को सहारा देने में वे समर्थ नहीं हो सके—तो न केवल अहिंसा का उनका अस्त्र निकम्मा साबित होगा, बल्कि हिन्दू-मुसलिम एकता और भारत की अखण्डता का उनका स्वप्न भी भंग हो जायगा। उस सम्पूर्ण पराजय के बाद जीवित रहने का उनके लिए रंच मात्र भी आकर्षण नहीं था। देश का बँटवारा करना उनके बदन के ही टुकड़े करने के समान होगा —पूरी दृढ़ता के साथ वह काफ़ी पहले कह चुके थे।

लेकिन नोआखाली का बदला जब बिहार के हिन्दुओं ने लिया, तो गांधीजी को वहाँ से बिहार चले आना पड़ा; अगर बिहार के हिन्दुओं का हृदय-परिवर्तन वह न कर सके तो पूर्व बंगाल के मुसलमानों का दिल जीतने की उनकी सारी कोशिश ही बेकार थी। परिणाम यह हुआ कि गांधीजी और कांग्रेस की सारी ताक़त बिहार के मुसलमानों की रक्षा के लिए लग गयी, और नोआखाली का बदला लेने के हिन्दुओं के सारे हौसले पस्त हो चले। अन्तरिम केन्द्रीय सरकार में प्रधान मंत्री के अपने पद का पूरा उपयोग कर जवाहरलाल नेहरू ने बिहार मन्त्रिमण्डल पर हर तरह से दबाव डालना शुरू किया—कि बदला लेने वाले हिन्दुओं के ख़िलाफ़ सख़्त कार्रवाई की जाये : यहाँ तक कि बिहार मन्त्रिमण्डल के एक प्रमुख मुसलिम सदस्य डा. सैयद महमूद ही, जो जवाहरलाल के सहपाठी और अतरंग मित्र भी थे, इस मामले में बिहार के हिन्दू मुख्यमंत्री से भी कहीं अधिक प्रभावशाली बन गये। बिहार आने पर गांधीजी डा० महमूद की कोठी में ठहरे, जिसके द्वार हर मुसलमान के लिए चौबीसों घण्टे खुले रहने लगे, ताकि जिसे जो भी शिकायत करनी हो बेधड़क कर सके। यही नहीं, सीमा प्रान्त के पठान नेता ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ को भी गांधी जी ने अपनी मदद के लिए बुला लिया, और बिहार के उपद्रवग्रस्त इलाक़ों में इन सब नेताओं का धुआँधार दौरा होने लगा।

शंकर मार्च 1947 में पटने आया था, और गांधीजी तब वहीं थे।

बिहार ने जब नोआखाली का बदला लिया था तब शंकर को बेहद ख़ुशी हुई

थी। कलकत्ते में अपनी आंखों के आगे जो नरमेध उसने देखा था उसके बाद से उसे इसमें ज़रा भी शक नहीं रह गया था कि 'लड़ कर लेंगे पाकिस्तान' का नारा देने वाला एक अल्पसंख्यक सम्प्रदाय अगर रक्तपात द्वारा देश का बँटवारा कराने का सपना देख सकता है तो इसका कारण सिवा इसके कुछ नहीं हो सकता कि हिन्दुओं को वह बुज़दिल समझे बैठा है और कांग्रेस के नेताओं, ख़ास तौर से गांधीजी की बाबत उसे यक़ीन है कि ख़ून का बदला ख़ून से लेने की नीति वे किसी हालत में भी नहीं अपनायेंगे।

और वही अब शंकर अपनी आंखों के सामने होता देख रहा था। वह देख रहा था कि प्रायः सभी केंद्रीय तथा प्रान्तीय कांग्रेसी नेता धीरे-धीरे देश के बँटवारे की क़ीमत देकर भी स्वाधीनता हासिल करने की नीति की ओर झुकते जा रहे हैं, और गांधीजी भी कोई ऐसा रास्ता नहीं दे पा रहे हैं जिससे देश-विभाजन को रोका जा सके। अंग्रेज़ी सरकार के ख़िलाफ़ उनका अहिंसा का जो अस्त्र काफ़ी दूर तक कारगर साबित हुआ था, मुसलिम लीगी हिंसा के ख़िलाफ़ न उसका सामूहिक रूप में प्रयोग ही किया गया था और न वैसा हो सकने की शायद गांधीजी को स्वयं कोई आशा थी। गांधीजी स्वयं कई बार यह विचार प्रकट कर चुके थे कि अहिंसा कायरों का हथियार नहीं है, और यह, कि कायरता के मुक़ाबले तो वह हिंसात्मक वीरता का ही समर्थन करेंगे।

लेकिन फिर भी—शंकर के सामने स्पष्ट था—गांधीजी वस्तुस्थिति को न तो ठीक देख ही पा रहे हैं, न उसका मुक़ाबला ही कर पा रहे हैं। मुसलिम लीग की हिंसा दिन-पर-दिन बढ़ती ही जा रही थी, और तब तक पंजाब और सीमा-प्रान्त से भी लीगी हिंसा के भयावह समाचार आने लग गये थे।

"या तो गांधीजी को, और कांग्रेस को भी, देश का नेतृत्व छोड़ उसका भविष्य आम जनता पर छोड़ देना चाहिए," उसने अपने एक अग्रलेख में लिखा, "और या देश के इस सबसे बड़े संकट काल में कोई ऐसा मार्ग दिखाना चाहिए जिससे हिंसा के बल देश के टुकड़े करने का सपना देखने वाले एक अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के दिमाग़ ठिकाने आ जायें। क्या इतिहास में और कहीं भी कभी यह देखा गया है कि अल्पसंख्यकों के सामने बहुसंख्यकों के नेता बिना लड़े ही आत्म-समर्पण कर दें ?...मुसलिम लीग को यह हिम्मत इसीलिये पड़ी है कि वह हिन्दुओं को बुज़दिल मानती है और साथ ही उन्हें सामाजिक दृष्टि से विच्छिन्न। लेकिन कलकत्ते के नरमेध के समय क्या हिन्दुओं ने यह नहीं दिखा दिया था कि किसी आम संकट के समय वे मिलकर एक हो सकते हैं और जात-पांत या प्रान्त-प्रान्त का भेदभाव भुला दे सकते हैं ? सच पूछा जाय तो अपने इन भेदभावों की जकड़ से सदा के लिए छुटकारा पाने का हिन्दू समाज के सामने भी इससे बड़ा स्वर्ण अवसर और कभी नहीं आ सकता। कलकत्ते में साफ़ देखा गया था कि उच्च

वर्णों और उच्च तथा मध्यम वर्गों के हिन्दू तथाकथित निम्न जातियों तथा निम्न वर्गों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर रणभूमि में कूद पड़े थे; जो बंगाली 'भद्रलोक' मजदूरी और दरवानगीरी करने वाले यू० पी०-बिहार के 'हिन्दुस्तानियों' को 'छातूखोर' (सत्तू खाने वाले) कहकर उनको हिकारत की निगाह से देखते आये थे उन्ही को उस आपद काल मे अवलंब और त्राता मान वे भाई-भाई कहने लगे थे; गरीब-अमीर, प्रान्त-प्रान्त, जाति-जाति के भेदभाव रातोंरात लुप्त हो गये थे।...जो बहुसंख्यक सम्प्रदाय अब तक कितने ही टुकड़ों मे बंटा हुआ था और ऊँच-नीच की भावना ने जिसकी जड़ें खोखली कर डाली थी, उसके अन्दर आत्मरक्षा की इस अनिवार्य आवश्यकता ने जो एकता की नीव डालनी शुरू की है वह इस खतरे का मुकाबला करने के सिलसिले में ही पुख़्ता हो सकती है, और हिन्दू या भारतीय जाति का यह कलंक—ऊँच-नीच का भेदभाव—भी इसी तरह सदा के लिए धो दिया जा सकता है..."

"अब भी समय है," उसने अन्त में लिखा, "कि गांधीजी एक बार फिर अपनी पूरी ऊँचाई तक उठकर वस्तुस्थिति का सीधा मुकाबला करें, और अगर सामूहिक अहिंसात्मक सत्याग्रह के अपने हथियार को इस अवसर पर कारगर नही पाते तो यह खुला फ़तवा दें कि जो भी सम्प्रदाय किसी प्रान्त या अचल मे हिंसा के बल वहाँ के कमज़ोर सम्प्रदाय पर अन्याय-अत्याचार करे, उसे सबक सिखाने के लिये सारा देश तैयार हो जाय..."

पर वह जानता था कि जिस अग्रलेख के ज़रिये वह गांधीजी से अपील कर रहा था, वह उन तक पहुँचेगा ही नही, और अगर किसी तरह पहुँचा भी दिया जायगा तो उसका उन पर कोई असर नही होगा।

बरसों हो चुके थे कि शंकर गांधीजी से नही मिला था। इसके अलावा, यह पहला मौका था जब गांधीजी उसी शहर मे हफ़्तों और महीनों तक रहे, लेकिन वह उनसे मिलने नही गया।

स्वामीजी के मार्ग पर चलना शुरू कर देने के बाद गांधीजी के प्रति उसका भाव तेज़ी से बदलने लग गया था, बल्कि प्रतिक्रिया-स्वरूप, शुरू-शुरू मे तो वह उनके प्रति असहिष्णु और कटु तक हो गया था। धीरे-धीरे वह असहिष्णुता और कटुता घटती गयी थी और उनके प्रति वह एक प्रकार से उदासीन हो चला था। बल्कि, कभी-कभी तो, ख़ास तौर से अपने अचेतन की ग्रन्थियों की जकड़ कुछ ढीली पड़ने पर, उनके प्रति भी उसके दिल में किसी हद तक सहानुभूति का भाव जग उठता था और उनके प्रसग में कोई ऐसा समाचार पढ़ने पर—जिसके पीछे उसे उनके अचेतन की ही किसी ग्रन्थि का ज़ोर दिखाई देता था—उसके अन्तस्तल

की गहराइयों से एक पुकार-सी उठती थी : बेचारे बापू !

"क्या गांधीजी की भी यह चिकित्सा नहीं हो सकती स्वामीजी," एक बार उसने स्वामीजी से पूछा था। "वह तो अक्सर कहते रहे हैं कि अभी तक उन्हें कोई गुरु नहीं मिला।...क्या उन्हें आपकी बात नहीं बताई जा सकती ?"

स्वामीजी उस समय तो सिर्फ़ मुसकराकर रह गये, लेकिन बाद को एक रोज़ कोई वैसा ही प्रसंग फिर छिड़ जाने पर, उन्होंने उसे बताया कि कुछ वर्ष पूर्व एक बार गांधीजी को उनसे मिलाने की कोशिश की भी गयी थी, पर बीच में ही उसे छोड़ दिया गया।

"क्यों स्वामीजी ?"

और तब उसे स्वामीजी से वह घटना सुनने को मिली थी :

साबरमती आश्रम में कितने ही वर्षों तक रहे थे माधवजी भाई, जिनका कलकत्ते में एक बड़ा व्यवसाय था। बाद को जब वह कलकत्ते वापस आ गये तब तक भी अपने घोर अन्तर्द्वन्द से छुटकारा नहीं पा सके थे। संयोगवश स्वामीजी के साथ उनका सम्पर्क हुआ और समय-समय पर उनके पास आते रहे। अन्त में काफ़ी दूर तक उन्हें शान्ति प्राप्त हुई।

एक बार उन्होंने स्वामीजी को पत्र लिखा कि एक कारणवश गांधीजी इक्कीस दिन का अनशन करने की सोच रहे हैं जिसकी ख़बर से वह (माधवजी) बहुत ही चिन्तित हो उठे हैं : वह क्या-कुछ करें कि बापू का अनशन रुके, क्योंकि इस वृद्धावस्था में उनका दुर्बल शरीर इतने लम्बे अनशन को किसी प्रकार भी झेल नहीं सकेगा और उनकी मृत्यु निश्चित है।...क्या स्वामीजी और गांधीजी के बीच साक्षात्कार संभव है ?—उन्होंने आग्रहपूर्वक जानना चाहा।...बापू को तो स्वामीजी तक लाना व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं लगता; क्या स्वामीजी के लिए यह संभव होगा कि, बापू की स्वीकृति मिलने पर, वही उनके पास सेवाग्राम जा सकें ?

स्वामीजी ने जवाब में माधवजी भाई को लिखा कि गांधीजी को समझा सकना बहुत कठिन है, क्योंकि वह 'डिल्यूज़न' या आत्म-प्रवंचना के शिकार हैं।

माधवजी भाई ने फिर आग्रह-पूर्वक लिखा कि स्वामीजी एक बार उन्हें कोशिश कर देखने दें : उन्हें विश्वास है कि गांधीजी को अगर क़ायल कर दिया जा सके कि वह जो क़दम उठाने जा रहे हैं वह ग़लत है, तो उससे पीछे हटने में वह हिचकेंगे नहीं। एक बार अगर स्वामीजी के साथ उनकी बात हो सके तो, शायद—?

स्वामीजी ने तब जवाब में दो शर्तें माधवजी भाई को लिख भेजीं : एक गांधीजी खुले दिमाग़ से बात सुनने के लिए तैयार हों; दो, कम से कम एक मास तक सारा काम-धाम छोड़ उन्हें स्वामीजी की बातें सुनने के लिए समय निकालना

होगा : उस बीच उन्हें अन्य सभी कामों से अपने को अलग रखना होगा।

माधवजी भाई ने इसके बाद स्वामीजी से अनुरोध किया कि उनके साथ हुए अपने इस पत्र-व्यवहार को गांधीजी के पास भेजने की उन्हें अनुमति मिले : बापू को इस सम्बन्ध में वह एक विस्तृत पत्र लिखेंगे जिसके साथ इस पत्र-व्यवहार को संलग्न कर देंगे।

स्वामीजी ने कुछ संशय प्रकट किया : क्या इससे कुछ लाभ होगा ?

किन्तु माधवजी का आग्रह फिर भी क़ायम रहा, और अन्त में स्वामीजी ने उन्हें वैसा करने की अनुमति दे दी—जिसके बाद, माधवजी का पत्र पाने पर, गांधीजी ने तार दिया : तुरन्त आकर मिलो।

माधवजी भाई सेवाग्राम गये, और वहाँ से लौटने पर स्वामीजी को सारा ब्योरा दिया :

आ गया माधवजी ?—उन्हें देखते ही वह ख़ुशी से उछल-से पड़े थे।

मेरे जीवन में अब तक दो बड़े आघात लगे थे, वह बोले। एक तो कुछ और था, लेकिन दूसरा अब यह लगा। तुम्हारे स्वामीजी ने मुझे 'डिल्यूज़न' का शिकार कहा !...जिन्ना का अख़बार 'डॉन' मुझे यही कहकर गाली देता आया है। पर वह तो शत्रु-भाव से ऐसा कहता है न ! किन्तु यहाँ से भी यही *आरोप लगेगा—कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था।...यह आघात तो* असह्य है माधवजी, कि मैं अपने को धोखा देता हूँ।

माधवजी भाई ने सफ़ाई दी : बापू ने स्वामीजी को गलत समझा। वस्तुतः उन्होंने यह शब्द सीधे बापू को नहीं, मुझे लिखा था। मेरे साथ जिस भाषा का प्रयोग स्वामीजी ने किया वह एक दूसरी ही भाषा है। 'डिल्यूज़न' से उनका यह मतलब नहीं था कि आप जानकर अपने को धोखे में रखते हैं। स्वामीजी जिस भाषा में हम लोगों से बात करते हैं उसके अनुसार मन का एक भाग ज्ञात है, दूसरा एक भाग अज्ञात। अज्ञात रूप से मन अन्दर ही अन्दर जो काम करता रहता है उसका बाहर वाले मन को पता ही नहीं रहता। जानकर आप अपने को धोखा दे रहे हैं, यह आशय नहीं था स्वामीजी का।

गांधीजी ने यह सुनकर निवृत्ति की एक गहरी साँस ली : दिल पर से एक भारी पत्थर हट गया माधवजी ! जो काम जानकर नहीं किया गया उसके लिए थोड़े ही मैं ज़िम्मेदार हूँ !...आः !

रही शर्तों की बात—गांधीजी कुछ ठहर कर बोले।...खुले दिमाग़ से बात न सुनने की तो कोई बात ही नहीं है। लेकिन—सारा काम छोड़कर एक महीने का वक़्त देने वाली बात कठिन दीखती है।...मैं छोड़ूँ भी, तो दूसरे लोग क्या मुझे छोड़ेंगे ?...लेकिन ख़ैर—यह भी करना ही होगा...

कुछ देर गांधीजी जैसे किसी सोच में पड़े रहे। फिर बोले . एक बात कहूँ

माधवजी ? मैं इन दिनों बड़ा दुखी हूँ ।...रोशनी तो चाहता ही हूँ, जहाँ से भी मिले। लेकिन इधर एक विशेष कारण से दिल को भारी चोट लगी है।... अनशन को रोकने के लिए हर तरफ़ से कितना ज़ोर डाला जा रहा है मुझ पर, यह तो समझ ही सकते हो ।...जगह-जगह से चिट्ठियाँ चली आ रही हैं, तार पर तार !...लेकिन—सबसे ज्यादा तकलीफ़ मुझे एक चिट्ठी को पढ़कर हुई। बचपन का एक लँगोटिया साथी है।...उसने लिखा है: मोहन, तुम कहते हो कि ईश्वर की प्रेरणा से तुम अनशन करने जा रहे हो, ईश्वर की वाणी तुम्हें सुनने को मिली है। क्या तुम अपने को धोखा नहीं दे रहे हो ? तुम्हीं ने एक वक्त जिस काम को ईश्वर की वाणी समझकर किया, बाद को उसे ही अपनी भूल बताया कई बार।... तुम्हारा ईश्वर क्या तुम्हारा ही कपोल-कल्पित नहीं है ?...मुझे बड़ा ही कष्ट हुआ माधवजी, उसके इन शब्दों से।...उस चिट्ठी को उसी दम फाड़कर मैंने रद्दी की टोकरी में डाल दिया...

गांधीजी के बारे में मेरा मोह अब जाकर पूरी तरह टूटा है, स्वामीजी—माधवजी भाई ने अन्त में लिखा। मैं पूरी तरह निराश होकर वहाँ से लौटा हूँ। कहाँ तो वह यह कहते हैं कि उनका दिमाग़ हर बात को सुनने के लिए पूरी तरह खुला है, और कहाँ वह चिट्ठी तक उन्हें सहन नहीं हो सकी।

नोआखाली से लौटकर मार्च और अप्रैल—दो महीने—गांधीजी बिहार में ही रहे। पटने के बाँकीपुर वाले विशाल मैदान में क़रीब-क़रीब रोज़ ही उनकी प्रार्थना-सभा होती, और उसके बाद उनका 'प्रवचन' या भाषण। शाम को अकसर शंकर-सुशीला भी उसी मैदान में टहलने के लिए जाते थे और दूर से ही उन्हें मंच पर बोलते हुए गांधीजी की झाँकी मिल जाती थी; लाउडस्पीकर की मार्फ़त, काफ़ी फ़ासले पर टहलते रहने पर भी, उनके कानों में उनके शब्द पड़ते रहते थे।

उनके उन शब्दों को सुनकर कभी तो शंकर के अन्दर उनके प्रति क्षोभ ही क्षोभ उमड़ पड़ता, और कभी उसका दिल किसी हद तक करुणा से भीग-सा जाता: बेचारे बापू !...किस तरह अपने बाहर की दुनिया से, बाहर के परिवेश से पूरी तरह कटा हुआ है यह आदमी—उसके अन्दर एक हलकी-सी टीस उठती—वही आदमी, जिसका किसी ज़माने में देश की नब्ज़ पर अचूक हाथ था !...रोज ही शंकर उनकी उस सभा में इकट्ठे होने वालों की भीड़ को देखता; लेकिन कितना बड़ा फ़र्क़ था आज की इस भीड़ में और सन तीस की उन भीड़ों में जब कि यही गांधी महात्मा दांडी यात्रा पर उनासी लोगों की टोली में ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मोरचा लेने निकल पड़े थे। उन दिनों की

भीड़ों का एक-एक श्रोता किस अपूर्व श्रद्धा के साथ एकटक उनकी ओर निहारता रहता था, उनके मुख से निकलते एक-एक शब्द का अमृत की बूँदों की तरह पान करता था। कैसा गहरा आत्म-विश्वास टपकता था उनके उस काल के तेजोमय चेहरे से, कितनी ज़बर्दस्त दृढ़ता थी उनके सीधे-सादे एक-एक शब्द में।

लेकिन आज के गांधीजी के चेहरे पर न वह तेज ही था, न वह आत्म-विश्वास ही। उनके शब्दों में आज न वह दृढ़ता थी, न वह प्रभावोत्पादकता।...और, आज की उस भीड़ में विरले ही लोग थे जिनके चेहरों पर एक साधारण कुतूहल छोड़ कोई दूसरा भाव दिखायी देता हो; ज्यादातर लोग तो तमाशबीनों की तरह कुछ देर के लिए मैदान की सैर छोड़ उस छोटी-सी भीड़ के इर्द-गिर्द दो-चार मिनट के लिए आ खड़े होते, फिर एक-दूसरे से हँसी-मजाक़ करते, सिगरेट-बीड़ी फूँकते, वहाँ से खिसक जाते।...पान-बीड़ी-सिगरेट बेचने वाले और खोमचे वाले प्रार्थना-सभा की उस भीड़ के घेरे के आसपास जहाँ-तहाँ अपना सौदा बेचते होते; वे ही लोगों को विशेष रूप से आकृष्ट करते जान पड़ते।

...गांधीजी से वह पटने में मिला या नहीं—स्वामीजी ही जब एक बार अपने पत्र में उससे पूछ बैठे तब कई दिन शंकर सोच-विचार में पड़ा रहा : केवल पूर्व-संबंध के नाते क्या वह उनसे एक बार मिल आये? किन्तु उसके लिए वह किसी तरह भी अपने को तैयार नहीं कर पाया।

"आपने यह संकेत दिया है," उसने स्वामीजी को जवाब में लिखा, "कि गांधीजी को मेरा यहाँ रहना मालूम पड़ने पर कष्ट हो सकता है। मैंने इस पर विचार किया, और इस नतीजे पर पहुँचा कि कितने भी सरल भाव से उनसे मिलने क्यों न जाऊँ, उन्हें कष्ट पहुँचाए बिना नहीं रह सकूँगा।...'जागृति' में जो कुछ लिखा जा रहा है उसके पीछे मैं हूँ—यह उन्हें न भी मालूम हो, तो भी उनसे मिलने पर मेरी गति-विधि की बाबत दिलचस्पी दिखाए बगैर वह कभी न रह सकेंगे। और तब, असलियत का पता चलने पर, मुझसे उन्हें जो निराशा होगी, जो दुःख होगा, उसे देखते हुए क्या मेरा न मिलना ही ज्यादा ठीक नहीं?...उन्होंने किसी समय मुझसे काफी आशा रखी थी, जिससे एक बार आशा हो जाती है उससे निराश होने पर उनके अन्दर उदारता का भाव मैंने कभी नहीं पाया—भले ही ऊपर से वह अपने क्षोभ को ढकने की कोशिश करते रहे हों। उनके अहंकार को गहरी चोट लगती है।...

"इधर गांधीजी की कई प्रार्थना-सभाओं को हमने कुछ निकट से या दूर से देखा है। उनकी वाणी सुनी है। मेरे मन में हर बार एक ही प्रतिक्रिया हुई है : लगा है कि एक पूरी तरह आत्मकेंद्रित व्यक्ति किसी यंत्र की नाईं बोलता चला

जा रहा है और बाहरी जगत के साथ उसका एक तार भी नहीं जुड़ा है।"

किन्तु एक दिन शंकर को एक बड़े धर्म-संकट में पड़ना पड़ा। गांधीजी के एक सेक्रेटरी ने फ़ोन पर 'जागृति' के सम्पादक से बात करना चाहा। विद्याभूषण के हाथ में जब फोन दिया गया तो उन्होंने यह कहकर, कि जिस अग्रलेख का ज़िक्र है वह उन्होंने नहीं उनके एक सहयोगी ने लिखा है, शंकर को बुलवा भेजा।

"मेरे मौला बुला ले मदीने मुझे—वाला अग्रलेख पढ़कर हम लोगों को बड़ी तकलीफ़ हुई," वह सज्जन शंकर से फ़ोन पर बोले। कोई नये ही सेक्रेटरी थे, जो न शंकर को ही जानते थे और न यही कि गांधीजी के साथ किसी वक़्त उसका कितना निकट सम्बन्ध रहा था।

शंकर का दिल धड़कने लग गया : क्या बापू ने उसे पढ़ा है?...क्या उन्हें यह पता चल गया होगा, या चल जायगा, कि यह उसी का लिखा हुआ है?

"जो कुछ लिखा गया है, वह हमारे पत्र की नीति के आधार पर ही लिखा गया है..." शंकर ने कुछ कड़ाई के ही साथ जवाब दिया, और फिर जानना चाहा कि उसे पढ़ने वाले 'हम लोगों' से उन सज्जन का क्या आशय है।

गांधीजी के उस सेक्रेटरी का शायद यह ख़याल था कि किसी हिन्दी दैनिक पत्र का सम्पादक या सहकारी सम्पादक उसकी धौंस में आ जायगा। उसकी दूसरी बातों का जवाब देना जरूरी न समझ एक अधिकारपूर्वक लहजे में वह बोला : "क्या आप आज तीसरे पहर चार बजे यहां मुझसे मिलने के लिए आ सकेंगे?"

तब तो शंकर भड़क ही उठा : "मुझसे बात करना अगर आपके लिए या किसी के लिए भी जरूरी हो...तो शौक़ से हमारे कार्यालय में आ सकते हैं—" जिसके बाद उधर से टेलीफ़ोन कट गया।

बाद को देर तक शंकर के दिल में रह-रहकर धड़कन-सी हो उठती—जब उसे ख़याल आता कि कहीं बापू तक तो उसका नाम नहीं पहुँचा दिया जायगा?... अगर वैसा हुआ, और बापू की ओर से बुलावा आया, तो क्या करेगा वह?

लेकिन वह दिन बीत गया; फिर अगला दिन, और उसके बाद भी कई और दिन। बापू की ओर से कोई बुलावा नहीं आया। उस दौरान तरह-तरह से वह अपने को तैयार करता रहा था कि वैसी नौबत आ जाने पर वह बापू के सामने किस तरह पेश आयेगा। दरअसल तभी पहले-पहल उसे पता चला कि अपने विचारों की दृढ़ता के बावजूद, बापू के पिछले सम्बन्ध की डोर को अपने दिल से वह पूरी तरह नहीं काट पाया था; एक विरोधी के रूप में उनका मुक़ाबला करना

उसके लिए किसी तरह भी रुचिकर नहीं था...

अपनी इसी विचित्र—और तब तक अज्ञात रही आयी—भावात्मक प्रतिक्रिया के कारण की जब उसने बाद को गहराई के साथ खोज की तब अचानक ही उसे दिखाई दे गया कि अचेतन में दबे पड़े अपने नानाजी के जिस भय से, उसका ख्याल था, वह छुट्टी पा चुका है, वह सिर्फ ढीला ही हुआ था, पूरी तरह गया नहीं था...

अठारह

छः साल पहले विद्याभूषण के साथ मनोमालिन्य होने पर शंकर 'जागृति' को छोड़ चला गया था, किन्तु उसके मूल कारण पर दोनों मित्रों के बीच कभी खुलकर बात नहीं हुई थी, हालांकि अपने बच्चे की मृत्यु के बाद विद्याभूषण से मिलने पर—जब वह 1944 में जेल से पैरोल पर छूटकर आये थे—अपने पिछले व्यवहार के लिए उनसे माफ़ी माँग वह फिर से उनका विश्वासभाजन बन जा चुका था।

इस बार फिर से 'जागृति' में आ जाने के बाद शंकर ने उस पिछले मनोमालिन्य के मूल कारण के सम्बन्ध में दिल खोलकर उनसे बात कर डालने का निश्चय किया—ताकि भविष्य में फिर वैसी किसी 'गलतफ़हमी' की गुंजाइश न रह जाय।

...पिछली बार शंकर के अन्दर विद्याभूषण के खिलाफ़ जो सबसे बड़ी शिकायत धीरे-धीरे जमा होती चली चली गयी थी वह यह, कि देशभक्ति की जिस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने 'जागृति' निकाली थी और उस नाते ही प्रान्त के कितने ही देशभक्त नेताओं और कार्यकर्त्ताओं की मदद पाकर उसके लिए पर्याप्त पूँजी जुटा पाये थे—उस भावना को तिलांजलि दे 'जागृति' को अपने स्वार्थ-साधन का माध्यम बना लिया, और इस तरह, न केवल प्रान्त के उन नेताओं और कार्यकर्त्ताओं को धोखा दिया, बल्कि शंकर और उस पत्र में काम करने वाले अपने अन्य सहयोगियों के प्रति भी घोर अन्याय किया जिन्हें, 'जागृति' के प्रारंभिक काल में, देश-भक्ति के नाम पर, वैसे अन्य पत्रों की तुलना में कहीं

कम वेतन पर काम करने के लिए राज़ी कर लिया था...

1937 के प्रारंभ में जब 'प्रान्तीय स्वराज्य' के सिलसिले में बिहार में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बना था, तब कांग्रेसजनों के अन्दर सत्ता-प्राप्ति के साथ-साथ पहली बार पैसे का भी लोभ दिखाई देना शुरू हुआ था।...उन्हीं दिनों एक रोज विद्याभूषण ने शंकर से सलाह माँगी : क्या समय नहीं आ गया है कि 'जागृति' का वेतन-स्तर कुछ ऊँचा किया जाय ?

लखनऊ के 'स्वराज्य' को छोड़ विद्याभूषण जब 'जागृति' निकालने के लिए पटने आये थे तब तक वहाँ उनका वेतन सवा सौ रुपये मासिक हो चुका था। किन्तु अपने ही प्रान्त से निकाले जाने वाले इस पत्र में, जिसे सार्वजनिक सहयोग से स्थापित एक कम्पनी का रूप दिया गया था, अपना वेतन उन्होंने केवल चालीस रुपये मासिक रखा था, जिस नाते उनके शेष सहयोगियों में से भी कई अपेक्षाकृत कम वेतन पर काम करने को राज़ी हो गये थे।...

'प्रान्तीय स्वराज्य' के साथ ही साथ, अब, 'जागृति' के वेतन-स्तर को भी ऊँचा करने के विद्याभूषण के प्रस्ताव से शंकर को ताज्जुब हुआ। तब तक वह स्वामी-जी के प्रभाव में नहीं आया था और गांधीजी के आदर्शों पर चलने के लिए जी-जान से कोशिश कर रहा था। उसने उसी दम उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। लेकिन तब उसे कहाँ पता था कि विद्याभूषण ने अन्दर ही अन्दर आम चुनावों में टिकट पाने के लिए भी कोशिश की थी और उसमें नाकामयाब हो जाने पर, और कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बन जाने के बाद अपने अन्य अनेक सहयोगियों को अपने से अधिक अच्छी स्थिति में देख, उनका मन दोलायमान होने लग गया था।

उस समय तो विद्याभूषण कुछ नहीं बोले, लेकिन कुछ महीने बाद एक बार उन्होंने यह प्रस्ताव रख शंकर को और भी आश्चर्य में डाल दिया कि वह साथ ही कुछ व्यवसाय भी शुरू कर देना चाहते हैं, "क्योंकि गाँव में अपने बूढ़े माता-पिता की उन्हें कुछ मदद करनी है," और अपने बढ़ते हुए परिवार के भविष्य की भी चिन्ता है। शंकर ने जब जानना चाहा कि किस तरह का व्यवसाय वह करना चाहते हैं तब बताया कि वह एक टाइप फ़ाउंडरी खोलना चाहते हैं।

1936 के चुनावों में 'जागृति' दैनिक हो ही चुकी थी, और इधर उसके प्रेस में कुछ 'जॉब-वर्क' भी लिया जाने लगा था : "काफ़ी टाइप तो हमारे प्रेस में ही खप जायगा," वह बोले; "कलकत्ते से जिस दर पर टाइप मँगाया जाता है उससे 'जागृति' को मैं सस्ता टाइप दे सकूँगा, और फिर भी मुझे मुनाफ़ा ही रहेगा।"

शंकर ने उस प्रस्ताव का भी विरोध ही किया : "व्यवसाय ही कोई करना हो तो ऐसा कीजिये जिसका 'जागृति' के साथ कोई सम्पर्क न रहे; लोगों को बेकार उँगली उठाने का मौक़ा क्यों दें?"...कांग्रेसी मंत्रियों या पार्लियामेंटरी सेक्रेटरियों में से कुछ के ख़िलाफ़ अपने या अपने चहेतों के स्वार्थ-साधन के लिए

सत्ता के दुरुपयोग के आरोप तब तक शुरू हो चले थे।

उस वक्त तो शकर को यही लगा था कि उसकी नेक सलाह विद्याभूषण के गले उतर गई थी, लेकिन दो-तीन साल बाद, 1939 या 1940 में, किसी से उसे अचानक एक दिन खबर मिली कि उन्होंने सचमुच ही अपनी निजी टाइप फ़ाउंडरी खोल ली है।

और, आख़ीर तक, वह इतज़ार ही करता रह गया था कि कब विद्याभूषण ख़ुद उसे यह खबर देंगे।

फिर, धीरे-धीरे, उसका मन और भी खट्टा होता चला गया था उनकी ओर से—जबकि, एक के बाद एक, कितनी ही ऐसी बातें उसके कानों में पड़ती रहीं, 'जागृति' के ही किसी न किसी कर्मचारी के मुंह से, कि 'दान-खाते' जमा हुई किसी रकम को विद्याभूषण ने अपने बड़े भाई द्वारा ख़रीदे गये 'शेयर' के रूप मे दिखाया है...वैसी किसी दूसरी रकम को अपने पिता के शेयर के तौर पर...और फिर तो कुछ ऐसी ही रकमों से ख़ुद अपने नाम भी शेयर ख़रीदे हैं...

फिर, शकर के कानों तक जब यह ख़बर भी पहुँचनी शुरू हुई कि 'जागृति' के बिना-घिसे, अच्छे-ख़ासे टाइप भी 'घिसे हुए' और 'ख़राब हो गये' बताकर सीसे के भाव तौलकर विद्याभूषण की निजी टाइप फ़ाउंडरी को ही दे दिये गये और वहीं से नया टाइप ढलवाया गया, तब तक उसके दिल मे उनके ख़िलाफ़ इस हद तक कड़वाहट भर चुकी थी कि विश्वास किये बिना वह रह ही नहीं सका। विद्याभूषण के उस नये रूप को सहन करना उसके लिये दिन पर दिन कठिन होता गया, और अन्त में उसने ख़ुद ही फिर ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि विद्याभूषण के लिए भी उससे छुटकारा पाने के सिवा शायद कोई रास्ता नहीं रह गया...

अपने बच्चे की मृत्यु के बाद स्वामीजी के पास एक मास बिताकर जब वह फिर विद्याभूषण से मेल करके 'जागृति' मे वापस लौटा था तब उन सब पुरानी बातों को उसने नहीं उठाना चाहा था, वैसे भी, विद्याभूषण तब कुछ ही समय के लिए 'पैरोल' पर जेल से छूटकर आये थे और उनके साथ ज्यादा बात करने के लिए मौका नहीं था।

लेकिन इस बार 'जागृति' में फिर से वह अपने मन की जिस स्वस्थ स्थिति मे लौटा था उसमे उसने यह जरूरी समझा कि शुरू मे ही मन के सारे मैल को धो डाले; एक तरह से 'क्लीन स्लेट' होकर ही विद्याभूषण के साथ नया नाता जोड़े। "तुमने तो सिर्फ़ सुनी-सुनाई बातों पर भरोसा करके न विद्याभूषण को दोषी मान लिया था?"—स्वामीजी ने इस बार उसे उसका दोष दिखाया था, "मित्र मानते हुए भी उसके साथ खुलकर साफ़-साफ़ बात नहीं की...

पता—क्या बात सच थी, क्या ग़लत।...फिर, उसे भी तो सफ़ाई देने का मौक़ा देना चाहिए था न ?"

... ...

विद्याभूषण ने उन गड़े मुरदों के उखाड़े जाने में पहले तो कोई उत्साह नहीं दिखाया; जब भी शंकर ने वह चर्चा छेड़नी चाही, उन्होंने उसकी उपेक्षा कर दी। लेकिन अन्त में, एक दिन जब शंकर तुल ही गया—"कम से कम अपनी ओर से दिल का मैल दूर कर डालने के लिए," तो बांकीपुर मैदान में शाम को एक साथ टहलने के लिए जाकर एकान्त में बैठ, बिना कहीं कुछ टोके वह उसकी सारी बात आख़ीर तक सुनते चले गये—जिसके बाद सिर्फ़ एक ही वाक्य कह कर उन्होंने उसका दिल पूरी तरह हलका कर डाला, कि दूसरों की बातें सुनकर उन पर यक़ीन कर लेने की जगह अगर तभी उसने सच्चे मित्र के नाते उनसे बात कर डाली होती...तो उन तमाम ग़लतफ़हमियों के पैदा होने का सवाल ही न उठता...

फिर, कुछ देर बाद, धीरे-धीरे उन्होंने उन षड्यन्त्रों की बाबत उसे कुछ बताया जो 'जागृति' के स्वावलम्बी हो जाने पर दो-तीन ऐसे 'डाइरेक्टरों' द्वारा शुरू कर दिये गये थे जो उनको दूध की मक्खी की तरह दूर फेंक ख़ुद पूरी की पूरी तैयार संस्था को हड़प जाना चाहते थे। "आप तो जानते हैं उदयजी," विद्याभूषण का चेहरा तमतमा-सा उठा और साथ ही गला भी भरा-सा आया, "कि बिहार में निकल-निकलकर भी कई पत्र-पत्रिकाएँ जब आख़ीर में बन्द हो गयी थीं तब पहले-पहल 'जागृति' ही जी पायी थी; और यह भी आपने शुरू से ही देखा है कि दूर से इसकी मदद करने का दम भरने वाले चाहे जितने लोग रहे हों...लेकिन अपने पसीने को ख़ून की तरह सींचकर अकेले मैंने ही इसे पाँवों पर खड़ा किया था।"

"इसमें भी क्या कोई शक किया जा सकता है ?" शंकर ने पूरी और गहरी सहानुभूति के साथ उन्हें जवाब दिया, क्योंकि बात पूरी तरह सही थी।

कुछ देर फिर विद्याभूषण चुप रहे आये, जिसके बाद बोले, "उन लोगों के षड्यंत्रों को विफल करने के लिए ज़रूर मैंने कुछ ऐसे क़दम उठाये, कि 'जागृति' का या मेरा वे लोग नुकसान न कर सकें...लेकिन आप यक़ीन मानें, मैंने ऐसा कोई काम नहीं किया जो 'जागृति' के हित में नहीं था, या जिसे किसी को धोखा देना या किसी तरह की बेईमानी कहा जा सके।"

"बस, बस...इतना ही मैं जानना चाहता था भाई भूषणजी," शंकर तब सहसा अत्यन्त अप्रतिभ हो उठा : "भविष्य के लिए मैं भी अब आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपकी बाबत अगर कभी ऐसा-वैसा कुछ सुनने को मिला...तो सबसे पहले आपसे ही बात करूँगा...न तो अन्दर ही अन्दर कोई उलटा फ़ैसला

कर बैठूंगा, और न आपके ख़िलाफ़ दूसरों के सामने कोई बात मुँह से निकालूँगा। ...सचमुच, पिछली बार, वैसा न करके मैंने आपके प्रति बहुत बड़ा अन्याय किया था।"

"अब तो धूप तेज़ हो गयी है उदयजी...और आपके पास बाइसिकिल *भी नहीं है," एक दिन अचानक विद्याभूषण बोले, "काफ़ी तकलीफ़ होती होगी* —दफ़्तर आने-जाने में !"

"होती तो है," शकर ने स्वीकार किया। "...सोचता था, एक बाइसिकिल ख़रीद लूँ, लेकिन ...कृष्णकान्त मामा का एक हज़ार से ऊपर का कर्ज़ जल्द से जल्द लौटा देना चाहता हूँ..."

इस कर्ज़ की बात विद्याभूषण को कुछ पहले ही, एक प्रसंग-वश, मालूम हो चुकी थी।

कुछ देर चुप रहे विद्याभूषण, फिर बोले :

"मेरे अपने मकान के एक हिस्से में, उसे ख़रीदने के पहले से ही, जो किरायेदार थे उनकी बाहर बदली हो गई है !...और आठ-दस दिन में वह उसे खाली कर रहे हैं ।...सोचता था—आप पसन्द करें...तो इसी में आ जाइये—"

इससे बढ़कर ख़ुशी और सहूलियत की दूसरी बात शकर के लिए भला क्या हो सकती थी। पर अपनी ख़ुशी और सहूलियत की बात जबान पर लाने से पहले, अपने नये उत्तरदायित्व के बोध ने उसके मुँह से जवाब में यही कहलाया :

"आपका अपना हिस्सा आपके परिवार के लिए कुछ ज्यादा बड़ा तो है नहीं।...क्या अपने लिए आपको उसकी जरूरत नहीं पड़ेगी ?"

शकर का दिल उनके प्रति कृतज्ञता से भर गया जब उन्होंने, स्पष्ट ही उसके प्रति अपनी मैत्री को ही अधिक महत्त्व दे, उसकी उस प्रकार की आपत्तियों की अवहेलना कर दी।

"मगर...पच्चीस रुपये से ज्यादा किराया तो दे नहीं सकूँगा," शंकर ने हिच-किचाहट के साथ अपना दूसरा डर जाहिर किया, "जबकि आज...अगर आप इसे फिर किराये पर उठायें तो पचहत्तर रुपया महीना आसानी से मिल जायगा।"

"किराये-विराये की बात छोड़िये," विद्याभूषण ने शंकर के कंधे पर स्नेह-पूर्वक अपना हाथ रखते हुए कहा। "मकान और दफ्तर एक ही कम्पाउण्ड में हैं...आप यहीं रहेंगे तो कितनी सहूलियत हो जायगी।...दौरे पर अकसर बाहर जाना पड़ता है मुझे...आपकी भाभी का अकेलापन कट जायेगा...और

बच्चों पर भी सुशीलाजी का अच्छा असर पड़ेगा—"

... ...

कुछ वर्ष पूर्व पैदा हुए मनोमालिन्य के पहले तक दोनों मित्रों के बीच जो सहज और अकृत्रिम बंधुत्व क़ायम था वही फिर से नहीं क़ायम हो चुका था अब, बल्कि उससे भी बढ़कर कुछ—जो शंकर के लिए एक सर्वथा नया अनुभव था। वह स्वयं भी मानो इस बार बिलकुल बदला हुआ था—न केवल उनके प्रति, बल्कि पूरे परिवेश के प्रति।...इस बार जैसे वह अपने उस पूरे परिवेश को अपना बना लेना चाहता था।...गांधीवादी विचारधारा के प्रतिक्रिया-स्वरूप और मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर पिछले साल कलकत्ते में उसने 'चंचला' में लाला सन्तराम के प्रति काम-काज के सिलसिले में—जान-बूझकर और पूरी तरह सही मानते हुए—वर्ग-युद्ध वाली जिस मनोवृत्ति से काम लिया था उसको एक बड़ी ठेस पहुँची थी जब 'चंचला' को छोड़ 'जागृति' में आने के सिलसिले में सन्तराम ने सर्वथा अप्रत्याशित रूप से उसके प्रति वह परम सौहार्द-पूर्ण और निःस्वार्थ रुख़ अख़्तियार किया था। और स्वामीजी से इस प्रसंग में बातचीत कर आने के बाद से इस बार उसकी पूरी कोशिश थी कि अपने स्वार्थ या हित को सामने रखने से पहले दूसरों के स्वार्थ और हित पर भी वह ध्यान रखेगा।

ऐसा कर दिखाने का एक अच्छा मौक़ा भी जल्द ही उसके सामने आ गया।

पहले शंकर जब-जब 'जागृति' में रहा था, वह पूर्णतया स्वावलम्बी नहीं हुई थी; चन्दों और सार्वजनिक दान के ही रूप से ख़रीदे जाने वाले शेयरों की रकम से घाटे को पूरा किया जाता रहा था। इसके अलावा, स्वतंत्रता-संग्राम और गांधीवादी विचारधारा के हिमायतियों का ऐश-आराम के साधनों को जुटाने की ओर वैसे भी ध्यान नहीं था। यही कारण था कि 'जागृति' कार्यालय में बिजली की रोशनी रहने पर भी बिजली के पंखे लगाने का प्रश्न कभी उठा ही नहीं था।

किन्तु अब 'जागृति' न केवल स्वावलम्बी हो चुकी थी, बल्कि स्वाधीनता-संग्राम वाला आदर्शवाद भी लोगों के दिल में तेजी के साथ ढीला पड़ता जा रहा था। 1937 वाले 'प्रान्तीय स्वराज्य' में कांग्रेसजनों के अन्दर सत्ता-राजनीति का जो मोह पैदा हो चला था उसने उन्हें अधिकाधिक विलासपूर्ण जीवन और स्वार्थ-साधन की ओर प्रेरित करना शुरू कर दिया था, जिसके अपवाद स्वयं विद्याभूषण भी नहीं थे।

गांधीवादी विचारधारा से छुट्टी पा जाने के बाद से शंकर के अन्दर भी जो परिवर्तन हुए थे उन्होंने उसे अपनी इच्छाओं की पूर्ति और अधिक सुख-सुविधा-पूर्ण जीवन की ओर उन्मुख कर दिया था और पिछली बार ही जब वह यहाँ था—

कोई आठ-दस साल पहले—उनने अपने घर के लिए एक छोटा-सा 'टेबुलफ़ैन' लिया था।

किराये का मकान छोड़ जब वह विद्याभूषण वाले ही घर के एक हिस्से में आ गया तो सबसे पहली झिझक उसे उस पंखे का इस्तेमाल करने में हुई। कितनी ही दूसरी बातों में परंपरागत आदर्शवादी जीवन से विमुख होते चले जाने पर भी विद्याभूषण के निजी रहन-सहन में अभी तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। वह न घर में ही अपने लिए पंखे की ज़रूरत महसूस करते थे, न दफ़्तर में ही।

कई दिन तक शंकर इस समस्या का कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं निकाल पाया।...गरमियों में रात को विद्याभूषण की पत्नी घर के पीछे के आँगन में सात-आठ साल की बेटी के साथ खुले में सोती थीं; विद्याभूषण ग्यारह-बारह साल के अपने बेटे के साथ सामने के लम्बे-चौड़े मैदान में। लेकिन शंकर को उनके मकान का जो अंश मिला था उसके भीतरी आँगन की स्थिति ऐसी नहीं थी कि वहाँ शंकर-सुशीला सो सकते; उन्हें अपने दो कमरों के सामने वाले बरामदे में ही सोना पड़ रहा था।...ऐसी हालत में रात को तो शंकर उस छोटे-से टेबुलफ़ैन से उस बरामदे में काम ले लेता; लेकिन दफ़्तर वाले अपने कमरे में बैठकर जब उसे अपना काम करना पड़ता तब उस पंखे का वहाँ इस्तेमाल करना उसे लज्जा-जनक लगता—जबकि न तो विद्याभूषण के ही दफ़्तर में कोई पंखा था, न सम्पादकीय विभाग वाले बड़े हाल में ही—जहाँ छः-छः, सात-सात कर्मचारी पसीना बहाते कलम घसीटते रहते थे।

आखिर एक दिन शंकर ने विद्याभूषण के सामने यह प्रसंग छेड़ दिया।

"आप अपना टेबुलफ़ैन शौक़ से इस्तेमाल करिये न...अपने दफ़्तर वाले कमरे में भी—" विद्याभूषण ने सब-कुछ सुन चुकने पर बड़ी आसानी से कह डाला; शंकर की वास्तविक झिझक को जैसे वह भाँप ही न पाये।

तब शंकर को और भी खुलकर कहना पड़ा।...आखिर, 'जागृति' अब स्वावलम्बी हो ही चुकी है...कम से कम सम्पादकीय विभाग में तो एक 'सीलिंग-फैन' लगना ही चाहिए, क्योंकि उससे बौद्धिक काम करने वालों की कार्य-क्षमता बढ़ेगी।...फिर—आपके खुद के दफ़्तर में पंखा ही न हो, यह क्या शोभा देता है... जबकि आपसे मिलने के लिए हर तरह के लोग आते-जाते रहते हैं—न सिर्फ एम० एल० ए०-एम० पी०, बल्कि व्यावसायिक संस्थानों से सम्बद्ध विज्ञापन-दाता वग़ैरह भी...

काफी देर की खींचतान के बाद भी जब विद्याभूषण नहीं झुके, पर साथ ही उस पर यही ज़ोर डालते रहे कि अपने दफ़्तर में वह अपना टेबुलफ़ैन ज़रूर इस्तेमाल करे, तो शंकर ने साफ़ कह दिया कि जब तक विद्याभूषण के कमरे

और सम्पादकीय विभाग में पंखे नहीं लग जाते, वह भी अपने दफ़्तर में अपना टेबुलफ़ैन नहीं चलायेगा।

विद्याभूषण के साथ अपनी इस नव-प्रयुक्त आत्मीयता ने उसके अपने अन्दर अपने प्रति भी श्रद्धा बढ़ा दी, और उसे याद आया कि उनके साथ आठ-दस साल पहले किस प्रकार का अशोभनीय व्यवहार कर डाला था, इसी तरह के एक प्रसंग में, और उसके लिए शर्मिन्दा तक नहीं महसूस किया था।

...उस बार—तब तक शंकर की शादी नहीं हुई थी, लेकिन स्वामीजी के प्रभाव में आकर गांधीवादी आदर्शों को वह तिलांजलि दे चुका था—'जागृति' के भवन-परिवर्तन के बाद जब कुछ दिन तक विद्याभूषण के साथ एक ही कमरे में बैठकर सम्पादकीय काम करना पड़ा था और उस भीड़भाड़ और शोरगुल के बीच काम कर सकना दिन पर दिन असह्य होता गया था तो उसने उन्हें विवश ही कर दिया था—एक छोटा कमरा पूरी तरह अपने ही लिए ख़ाली करा डालने को। यहाँ तक भी ख़ैर ग़नीमत थी; लेकिन उसके बाद, मई-जून की बढ़ती गरमी में, पश्चिम वाली खिड़की से आने वाली गरम लू को ठंडी हवा में बदल डालने की नीयत से उसने ख़स का एक परदा ख़रीदे जाने के लिए विद्याभूषण के पास एक पुर्ज़ा लिख भेजा, जिसके नीचे—'पुनश्च' लिखकर—यह भी सुझाव दे दिया कि अगर दफ़्तर वह छोटी-सी रक़म न ख़र्च कर सके तो शंकर ख़ुद उसका दाम दे देगा।

आख़िर ख़स का परदा लग गया, और चपरासी से एक बालटी पानी भी शंकर ने वहाँ रखवा लिया, जिसे परदे के सूखने से पहले ही उस पर बार-बार छिड़का जाने लगा।

इस ऐयाशी को तीन ही चार दिन हो पाये थे कि एक दिन उस कमरे में पहुँचने पर उसने देखा, वहाँ दो मेज़ें लगी हुई हैं : एक उसकी, एक विद्याभूषण वाली।

शंकर के तन-बदन में आग-सी लग गयी : क्या मतलब है उस नयी व्यवस्था का ?...क्या विद्याभूषण के मन में भी ख़स के परदे में बैठने का अचानक ही शौक़ चर्रा उठा है...या अपने से कम हैसियत वाले एक कर्मचारी के कमरे में अपने कमरे के मुक़ाबले कोई अलग सहूलियत से उनकी आत्म-प्रतिष्ठा पर ठेस पहुँची है और बाक़ी कर्मचारियों के सामने अपनी उस लज्जा को ढकने के लिए उन्होंने यह चाल चली है...?

देर तक शंकर अपने उस दिन के काम में मन नहीं लगा सका; विद्याभूषण के इन्तज़ार में, जो कहीं बाहर गये हुए थे, मन ही मन उन पर लाल-पीला होता रहा।

आख़िर विद्याभूषण आये—भागते दौड़ते-से, और उनके पीछे-पीछे मशीनमैन,

एकाउटेंट, प्रबंध विभाग सम्बन्धी दो-एक अन्य कर्मचारी भी। और शंकर की ओर एक नजर डालने के बाद ही विद्याभूषण जल्दी-जल्दी उन लोगों को निपटाने में लग गये : "शोर नहीं मचाओ...धीरे-धीरे—" फिर किसी वक्त, होश आने पर, विद्याभूषण ने उन लोगों को फटकारना शुरू कर दिया; और उन सबको विदा करने के बाद शंकर की ओर मुख़ातिब हो बोले : "प्रबंध सम्बन्धी अपना काम मैं अब भी अपने उस कमरे में ही करता रहूँगा उदयजी...सिर्फ सम्पादकीय काम से कभी-कभी आ जाया करूंगा—" और मानो झेंपती सी एक उड़ती नजर उसके चेहरे की ओर डाल, बिना उसकी प्रतिक्रिया के लिए ठहरे, उसी दम फिर उसके कमरे से बाहर निकल गये।

यह वह ज़माना था जब दोनों बंधुओं के बीच धीरे-धीरे मनोमालिन्य बढ़ना शुरू हो चुका था। जिन विद्याभूषण ने शंकर के सम्बन्ध में 'जागृति' में अपनी प्रतिष्ठा के प्रश्न को पहले कभी भी महत्व नहीं दिया था, उन्हें उस दिन एकबारगी इस तरह बदला देख शंकर पूरी तरह तिलमिला उठा था।...शंकर की सम्पादकीय प्रतिभा के बल प्रान्त में स्वयं एक सफल सम्पादक के रूप में यश अर्जन करने का प्रचुर अवसर पाने के बावजूद, और शंकर द्वारा उसमें कोई बाधा न मिलने पर भी, इस छोटे-से मामले में वह इस प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय देंगे—यह बात उस दिन उसे विशेष रूप से खल गयी, और उसका दिल बुरी तरह खट्टा हो गया।

तरह-तरह के विचार उसके दिमाग़ में चक्कर काट गये—विद्याभूषण की उस क्षुद्र मनोवृत्ति का उनके सामने पर्दाफाश कर कोई कड़ा प्रतिवाद प्रकट करने के बारे में। लेकिन अन्त में, दफ्तर से लौटने के पहले, सिर्फ एक छोटा-सा पुर्जा लिखकर उसने उनके पास भिजवा दिया : "मुझे अलग कमरा देकर भी फिर उसमें साझा करने का जो फ़ैसला आपने अचानक कर डाला, क्या उसके पहले मुझसे पूछ लेना उचित न होता?...यों, ख़स के परदे तो आप अपने कमरे में लगवा ही ले सकते हैं।"

अगले दिन जब वह दफ्तर पहुँचा था, तब अपने उस कमरे की व्यवस्था उसे फिर बदली हुई मिली थी; विद्याभूषण की मेज़-कुर्सियाँ वहाँ से निकल चुकी थीं...

आज वह पुरानी बात याद कर शंकर ने किस क़दर अपने को शर्मिन्दा महसूस किया अपने उस समय के उस एकांगी दृष्टिकोण और व्यवहार के लिए—हालांकि कई साल पहले भी जब एक बार, विद्याभूषण के साथ हुए मनोमालिन्य की चर्चा करते हुए, स्वामीजी के सामने उसने यह प्रसंग रखा था और उन्होंने इस ओर उसका ध्यान खींचा था, वह अपनी ग़लती की बाबत कुछ ज़्यादा क़ायल नहीं हो पाया था।..."तुम्हारे सामने सिर्फ अपनी ही सहूलियत वाली बात बड़ी

थी न...विद्याभूषण की जगह अपने को रखकर तो बिलकुल ही नहीं देखा था—"
स्वामीजी ने तब कहा था, और तब शंकर की समझ में ठीक-ठीक आ ही नहीं
पाया था कि अपने को विद्याभूषण की जगह रखकर वह किस तरह, और क्या,
देखता !...

लेकिन कुछ ही हफ़्ते बाद, इस बार, न सिर्फ़ तीन बड़े पंखे—सीलिंग फ़ैन—'जागृति' कार्यालय के लिए पहली बार ख़रीदकर लाये गये, बल्कि और भी बहुत-कुछ हो गया—सिर्फ़ एक बड़ी घटना के कारण, जिसने विद्याभूषण के दिल में अचानक उदारता की एक भारी बाढ़ ला दी।

हिन्दुस्तान आजाद होने जा रहा था : 15 अगस्त, 1947 को।

'जागृति' का एक विशेषांक निकालने की कई हफ़्ते पहले से जोरदार तैयारी शुरू कर दी गयी थी—बड़ी सजधज के साथ उसे निकालने की : दिल्ली, इलाहाबाद, लखनऊ, कलकत्ता, बम्बई से देश के सभी प्रमुख नेताओं के, केंद्रीय मंत्रियों के, प्रान्तीय मुख्यमंत्रियों के नये चित्रों को मँगाने पर और उनके ब्लाक बनवाने पर सैकड़ों रुपये ख़र्च किये गये; भारतमाता और तिरंगे झंडे का तीन-रंगों वाला एक चित्र बिहार के एक विख्यात कलाकार से बनवाकर विशेषांक के मुखपृष्ठ पर बहुत बड़े आकार में छापने की व्यवस्था की गयी; कई बड़े-बड़े नेताओं और मुख्यमंत्रियों के लेख संचित करने के लिए विद्याभूषण ने ख़ुद दिल्ली-लखनऊ तक की दौड़-धूप की, जिसके लिए शंकर को कई दिन पहले से एक-एक नेता की ओर से एक-एक लेख तैयार करना पड़ा, जिनमें से कई पर विद्याभूषण दो-चार केंद्रीय मंत्रियों, और तीन-चार मुख्यमंत्रियों के दस्तख़त भी करा लाये...

'जागृति' में भी 15 अगस्त को छुट्टी रहने वाली थी और बाँकीपुर मैदान में सुबह राज्यपाल द्वारा किये जाने वाले ध्वजारोहण समारोह तथा मुख्यमंत्री श्री बाबू के भाषण के बाद 'जागृति' कार्यालय में भी सभी कर्मचारियों की एक सभा का विद्याभूषण ने आयोजन किया था जिसमें उनके अपने खर्च से सबको मिठाई बांटी जाने को थी और सभी कर्मचारियों को 'बोर्ड आव डाइरेक्टर्स' की ओर से पन्द्रह दिन का अतिरिक्त वेतन 'बोनस' के रूप में दिये जाने की घोषणा की गयी थी...

पर शंकर ख़ुद इस सारी चहलपहल के बीच अपने दिल की गहराइयों में एक ऐसे ग़म में डूबा-सा रहा था जैसा अपने किसी निकट प्रियजन की मृत्यु से ही हो सकता था।

भारत के हिन्दू-बहुल और मुसलिम-बहुल आबादी वाले पूर्वी तथा पश्चिमी सूबों का भी बटवारा करके भारत और पाकिस्तान के रूप में दो पृथक राष्ट्रों

को अलग-अलग स्वाधीनता देकर ब्रिटिश सरकार ने अपने इस साम्राज्य को स्वत: ही भग कर डालने का जो इरादा अन्त में 3 जून की लार्ड माउण्टबैटन की विज्ञप्ति द्वारा जाहिर किया था उसके पीछे सबसे जबर्दस्त दलील यही थी कि इस प्रकार वह देश को आने वाले और भी बड़े नर-संहार से बचा देगा। और यही दलील बहुत हद तक कांग्रेस के कर्णधारों ने भी देश की आम जनता के गले उतारने की कोशिश की थी ! लेकिन नतीजा बिलकुल ही उलटा दिखाई दे रहा था...

16 अगस्त, 1946 के मुसलिम लीग के 'डाइरेक्ट ऐक्शन डे' से कलकत्ते मे जिस नर-संहार की शुरुआत हुई थी, और उसके बाद पूर्वी बंगाल और बिहार में भी जो दावाग्नि फैलती चली गयी थी, वह 1947 के प्रारंभिक महीनों में भी देश के किसी-न-किसी भाग में जारी रही। फिर, मार्च 1947 मे, लार्ड माउण्टबैटन के भारत आने के साथ-साथ, मुसलिम लीग ने 'पाकिस्तान दिवस' ही नहीं मनाया था, बल्कि उससे पहले से ही पंजाब के हिन्दुओं और सिखों को भावी पाकिस्तान का स्वाद चखाने की गरज से—या शायद इस नीयत से कि वे डरकर समूचे पंजाब को ही पाकिस्तान में रखने की माँग करें—लाखों लाख नर-नारियों को उसी की योजना के फलस्वरूप मौत के घाट उतारा जा चुका था।

सवाल यह था कि देश का विभाजन हो जाने से यह कत्ले-आम रुक जायगा, या और भी बढ़ेगा ?

एक गांधीजी को छोड़ प्राय: सभी प्रमुख कांग्रेसी नेता ब्रिटिश सरकार, या कहा जाये, उसके सर्वसत्ता-प्राप्त नये प्रतिनिधि लार्ड माउण्टबैटन की इस दलील के क़ायल हो चले थे कि देश का बटवारा करके ही बढ़ते हुए नर-संहार को रोका जा सकता है।...और गांधीजी के नेतृत्व में अपनी आस्था के डिग चुकने पर भी शंकर के अन्तस्तल की छिपी गहराइयों में देश की रक्षा की अगर कोई क्षीणतम किरण बाकी रह गयी थी तो यही—कि अब भी एक बार फिर वस्तुस्थिति को शायद वही ठीक भाँप पायें...शायद एक बार फिर वह अपनी पूरी ऊँचाई तक उठ खड़े हों...शायद एक बार फिर वह यह दिखाकर दुनिया को चकाचौंध कर दें कि देश की आम जनता की नब्ज़ उनके हाथ में है...

शुरू-शुरू में शंकर की इस आशा के लिए कुछ कारण दिखाई भी दिये थे।... लार्ड माउण्टबैटन के भारत आने पर जो भारतीय नेता उनसे मिले उनमें एक-मात्र गांधीजी ही थे जिन्होंने देश के विभाजन का कसकर विरोध किया, और 1 मई को होने वाली कांग्रेस कार्यसमिति भी उनकी राय को बदलने में कामयाब नहीं हो सकी। तब तक भी गांधीजी की राय साफ थी. हिंसा और ज़ोर-ज़बर्दस्ती से डरकर अगर हम देश का बटवारा करने को तैयार हो जायेंगे तो हमेशा के लिए बरबाद हो जायेंगे, 'शान्ति की खातिर' अंग्रेजों के साथ इस तरह का

समझौता करने के बजाय तो वह अराजकता का भी वरण करना पसन्द करेंगे।

कांग्रेस के कर्णधारों को इसी बात पर भारी सन्तोष था कि मुसलिम लीग जिस प्रकार के पाकिस्तान का स्वप्न देख रही थी वह तो उसे नहीं मिला! 'क़ायदे-आज़म' जिन्ना के स्वप्न वाले पाकिस्तान में पूर्वी भारत में असम और सम्पूर्ण बंगाल का समावेश होने को था, और पश्चिमी भारत में पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध और समूचे पंजाब का; साथ ही, पाकिस्तान के उन दोनों—पूरबी और पश्चिमी—छोरों के बीच, बंगाल से पंजाब तक, बिहार और यू. पी. की राह एक चौड़ा गलियारा भी। सैद्धान्तिक रूप में देश-विभाजन की नीति को स्वीकार करते हुए कांग्रेस के कर्णधार अन्त में लार्ड माउण्टबैटन को इस बात पर कायल करने में कामयाब हो गये थे कि पूर्व में असम और बंगाल के, और पश्चिम में पंजाब के, हिन्दू-बहुल आबादी वाले अंचलों को पाकिस्तान में नहीं शामिल होने दिया जायेगा, और न पाकिस्तान के दोनों छोरों को जोड़ने के लिए उत्तर भारत की राह कोई गलियारा ही पाकिस्तान को मिलेगा।

सच पूछा जाये तो कांग्रेस के कर्णधारों में से कुछ का तो अन्त तक यह विश्वास बना रहा था कि इस तरह के दीमक-लगे और खण्डित-विखण्डित पाकिस्तान से जिन्ना कदापि सन्तुष्ट नहीं हो सकेंगे और, अन्त में, वह स्वयं ही देश-विभाजन की उस योजना को अस्वीकार कर देंगे...

लेकिन कांग्रेस के नेता अपने ख़याली पुलाव पकाते ही रह गये, और हर तरह की बदलती पैंतरेबाजी के बाद भी मुसलिम लीग आख़िर उस 'दीमक-लगे' और 'खण्डित-विखण्डित' पाकिस्तान पर राजी हो गयी!

3 जून, 1947 की देश-विभाजन की लार्ड माउण्टबैटन की योजना अन्त में जब कांग्रेस कार्यसमिति के सामने पेश हुई तब बहुतों के साथ-साथ शंकर की भी आशा एक गांधीजी पर ही जा टिकी जिन्होंने कब से घोषणा कर रखी थी कि देश का विभाजन करना उनके बदन के टुकड़े करने के समान होगा...

पर कांग्रेस कार्यसमिति ने ब्रिटिश योजना को स्वीकार कर लिया।

कुछ दिन तक अख़बारों में गांधीजी के रुख़ की बाबत तरह-तरह की परस्पर विरोधी ख़बरें छपती रहीं।...कार्यसमिति की बैठक से पहले तक उनकी एक मर्मभेदी उक्ति का हवाला कहीं छपा था—जिसके अनुसार उन्होंने यह कहा था कि आज वह बिलकुल ही अकेले पड़ गये हैं—यहाँ तक कि सरदार पटेल और जवाहरलाल भी उनके साथ नहीं हैं। "वाइसराय से मेरा यह कहना तक उन्हें पसन्द नहीं आया है," इस सूत्र के अनुसार गांधीजी ने कहा था, कि "अगर बटवारा होना ही है तो वह अंग्रेजों के हस्तक्षेप द्वारा या उनका राज क़ायम रहते तो हर्गिज न हो।...शायद उनका ख़याल है कि मैं सठिया गया हूँ।...लेकिन मैं

तो साफ़ देख रहा हूँ कि सारा काम गलत तरीके से हो रहा है। इसका असर हमें फौरन भले ही न दिखाई दे, मगर मुझे साफ़ दिखाई दे रहा है कि इस क़ीमत पर मिली आज़ादी का भविष्य अन्धकारपूर्ण है..."

'जागृति' के अगले अंक में गांधीजी की इस उक्ति का हार्दिक स्वागत करते हुये शंकर ने एक अत्यन्त उद्दीपक अग्रलेख लिखा जिसमें गांधीजी को समूचे राष्ट्रवादी भारत की ओर से ही नहीं, भारतीय परम्परा में पली सम्पूर्ण जनता की ओर से, यह भरोसा दिलाया कि "सरदार पटेल और जवाहरलाल नेहरू भले ही आज उनके साथ न हों, लेकिन गांधीजी को यह नहीं भूलना चाहिए कि देश के रंगमंच पर गगनभेदी तुमुलध्वनि के साथ जब उनका प्रथम आविर्भाव हुआ था तब तक न कहीं सरदार का पता था, न जवाहरलाल नेहरू का। ये दोनों ही महान नेता केवल उनके प्रकाण्ड पद-चिह्नों पर चलते हुए आज वह मर्यादा पा सके हैं जो उन्हें मिली है।...किन्तु इस मर्यादा को यदि वे न निभा पाये, और उनकी उपेक्षा कर अगर गांधीजी देश की मर्यादा की ख़ातिर वक़्त की पुकार पर, देश की जनता की नब्ज़ को पहचान, भारत की अखण्डता के लिए ब्रिटिश सरकार के साथ-साथ उन सभी शक्तियों को चुनौती देने के लिए एक बार फिर रण-भूमि में उतर आयें, जो कि देश की अखण्डता के विरुद्ध कुचक्र रच रही हैं, तो वह देखेंगे कि देश सठियाया हुआ उन्हीं तथाकथित युवक नेताओं को मानेगा जो उलटे गांधी को सठियाया हुआ समझने की विडम्बना के शिकार हैं..."

किन्तु देशवासियों के साथ-साथ शंकर की भी आशा की यह एकमात्र और क्षीण-सी किरण क्षण-भर के लिए ही चमककर तिरोहित हो गयी—जब, कुछ ही दिन बाद, अ० भा० कांग्रेस कमेटी की उस बैठक में जो कार्यसमिति के निर्णय की पुष्टि करने के लिए बुलायी गयी, गांधीजी ने एकबारगी ही अपना रुख बदल दिया, और कांग्रेस कार्यसमिति के निर्णय का समर्थन कर डाला। 14 जून को दिल्ली में अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक थी, और जवाहरलाल नेहरू ने गांधीजी को आकर बताया कि शाम को उन्हें उसमें बोलना है। "वह तो स्फटिक की नाईं पारदर्शी हैं," नेहरू के विदा हो जाने पर गांधीजी बोले, "उनकी एकनिष्ठता और स्नेह अतुलनीय है। बीते हुए ज़माने में उन्होंने मेरे साथ विचारधारा-सम्बन्धी कितने ही लड़ाई-झगड़े क्यों न किये हों, आज तो वह मेरी हर बात चुपचाप मान लेते हैं। अगर मैं उन्हें 'ना' कह देता तो उनका दिल ही टूट जाता। उन्होंने मुझे अपने प्रेमपाश में बांध लिया है। यही वजह है कि मैंने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा करनी शुरू कर दी है कि मैं पंडित नेहरू और सरदार की क़ैद में हूँ।..."

शाम को उस बैठक में भी गांधीजी ने उसी भावुकता को एक तरह से युक्ति का जामा पहना डाला और कार्यसमिति के निर्णय के पक्ष में अनुशासन वाली

दलील पेश कर दी : कार्यसमिति तो अ० भा० कांग्रेस कमेटी की अपनी ही प्रतिनिधि-संस्था है; उसके निर्णय का समर्थन करना उसका परम कर्त्तव्य है...

फिर भी अगर अ० भा० कांग्रेस कमेटी यह महसूस करती है—गांधीजी ने आगे चलकर कहा—कि 3 जून वाली ब्रिटिश योजना देश के लिए हानिकर है, तो निश्चय ही वह उसे नामंजूर कर दे सकती है। लेकिन उस हालत में उसे याद रखना होगा कि वैसा करके वह कांग्रेस अध्यक्ष और कार्यसमिति के प्रति अपना अविश्वास प्रकट कर रही है, जिस स्थिति में स्वभावतः वे लोग इस्तीफ़ा दे देंगे। अगर अ० भा० कांग्रेस कमेटी को यह भरोसा हो कि उस हालत में न केवल कांग्रेस की बल्कि सरकार की भी बागडोर अपने हाथों में लेने योग्य नेता उसके पास हैं तो वह शौक़ से वैसा करे।...

जहाँ तक उनका अपना सवाल था—गांधीजी ने अन्त में कहा—वह उन्हीं लोगों में रहे हैं जिन्होंने देश-विभाजन काडट कर विरोध किया है। लेकिन फिर भी अगर आज वह उन लोगों के सामने देश-विभाजन का समर्थन करने के लिए खड़े हुए हैं तो इसका कारण यही है कि कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं जब हमें अप्रिय से अप्रिय भी निर्णय लेने के लिए बाध्य हो जाना पड़ता है।...जो लोग इसी दम क्रान्ति या किसी जबर्दस्त आन्दोलन की संभावना देख रहे हैं या उसकी आवाज़ बुलन्द कर रहें हैं वे इस प्रस्ताव को भले ही ठुकरा दे सकें, लेकिन कांग्रेस संगठन और देश की सरकार को संभाल सकने की ताक़त उनके अन्दर है—इसमें गांधीजी को शक है। "जो भी हो, मेरे अपने अन्दर तो वह ताक़त नहीं है; अगर होती तो मैं अकेला ही विद्रोह कर बैठता।"

···शंकर के तन-बदन में आग-सी लग गयी थी गांधीजी की इस थोथी दलील से। देर तक वह अपने दफ्तर के सामने वाले बरामदे में चक्कर लगाता रहा था—पीठ के पीछे अपने हाथों को बांधे—और उस दिन के अपने कड़े-से-कड़े अग्रलेख के लिए कितने ही वाक्य उसके दिमाग़ में तेज़ी से घूमते चले गये थे, और उस लेख के शीर्षक के भी कितने ही विकल्प...

फिर, तेज़ी के साथ अपनी मेज़ पर आकर उसने काग़ज़ों के पैड के पहले पन्ने के ऊपर तेजी के साथ कलम घसीटते हुये जो शीर्षक लिखा, वह था : गांधीजी की नपुंसकता !

···मध्य-जून से लेकर, जबकि गांधीजी सहित कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं ने देश-विभाजन को स्वीकार कर लिया—मध्य-अगस्त तक के दो महीने—जब कि देश का बटवारा हुआ या उसे 'आज़ादी' मिली—मोह-भंग की दिशा में बहुत बड़े डग साबित हुए थे सभी के लिए। जिस रक्तपात को बचाने की आशा दिलाकर देश-विभाजन को राष्ट्र के गले उतारा गया था वह कोरी मृग-मरीचिका ही साबित हुई; जून के तीसरे सप्ताह से ही पश्चिमी पाकिस्तान में शामिल किये जाने

वाले अंचल से जिन लोमहर्षक घटनाओं के समाचार दिन-पर-दिन बढ़ती हुई सन-सनी के साथ आने लगे उनसे सारा देश थर्रा उठा। खास तौर से पंजाब में तो हिन्दुओं और सिखों का बुरी तरह सफाया किया जाने लगा, और जून के तीसरे हफ्ते में ही वहाँ से भागकर आने वाले शरणार्थियों की संख्या लाखों तक जा पहुँची।...पूर्वी पंजाब, पश्चिमी यू. पी. और दिल्ली के हिन्दुओं और सिखों के अन्दर भी इससे प्रतिशोध की आग बुरी तरह भड़क उठी, और इन अंचलों के मुसलमानों की रक्षा करना लार्ड माउण्टबैटन तथा कांग्रेस की असाम्प्रदायिक सरकार के लिए भी असंभव जैसा हो उठा। कुछ ही हफ्तों के अन्दर दोनों ही ओर से हजारों-लाखों शरणार्थी अपना पुश्तैनी घर-बार और सारी सम्पत्ति पीछे छोड़ अपनी जान बचाने की खातिर भाग खड़े हुए, और फिर भी उनमें से असंख्य नर-नारियों को तो यह भी सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाया।

बड़ी धूमधाम से नयी दिल्ली में मनाया जाने वाला था—14 और 15 अगस्त की बीच वाली मध्य-रात्रि को—'स्वाधीनता-प्राप्ति' का समारोह...

किन्तु शंकर देर तक रात को अपने कमरे के सामने वाले बरामदे में खाट पर पड़ा-पड़ा करवटें बदलता रहा: उससे कुछ ही दूर अपनी खाट पर पड़ी सुशीला कब की सो जा चुकी थी। दोनों खाटों के बीच रखा टेबुल फैन बाईं ओर से दाहिनी ओर और फिर दाहिनी ओर से बाईं ओर घूमकर हर बार हवा के एक झोंके से उसके बदन के पसीने को कुछ शीतल कर जाता, और कुछ क्षण के लिए शंकर के चित्त में जमते जाने वाले अवसाद की ओर से उसका ध्यान बँटा देता ...लेकिन कुछ देर बाद हवा के उन नियमित झोंकों ने भी मानो उसकी चेतना का स्पर्श करना छोड़ दिया...

यों तो शंकर का दिल कई दिन से भारी होता चला आया था, लेकिन उस रोज शाम को जब कहीं बाहर से लौटकर वह खाने के लिए बैठा था, तब खाते-खाते ही उसे अचानक पता चला कि सुशीला ने अभी-अभी कुछ पूछा था...

"तुमने कुछ पूछा था न अभी?"

"इतनी देर में—अब खयाल आया?"

शंकर कुछ लज्जित-सा हो अपना सिर खुजाने लगा।

"बताओ न···क्या कह रही थीं?" आखिर वह झुंझला उठा।

"पूछा-वूछा मैंने कुछ नहीं था..." सुशीला ने भी तब आहत अभिमान के स्वर में कुछ रुखाई के साथ जवाब दिया।.. लेकिन कुछ ही क्षण बाद, शायद उस पर ही कुछ तरस खाकर कह उठी। "कितने शौक से तुम्हारे मन की ये चीजें बनायी थीं मैंने आज...लेकिन तुम न जाने कहा डूबे हुए हो..."

और तब जाकर शंकर का उस ओर ध्यान जा पाया : दही डालकर 'आलू की कढ़ी' के नाम से उसके घर में मशहूर वह तरकारी बनायी गयी थी, जिसकी विधि को, आश्रम जीवन में रसोई और घर के कामकाज के प्रति पूरा आकर्षण हो चुकने पर, अब जाकर ही, कुछ समय पहले उसने सीखा था।...सचमुच ही बहुत अच्छी तरकारी बनी थी : दही की खटास पूरी तरह सन्तुलित थी; आलू मुलायम थे; और हरे धनिये की पत्तियाँ सही अनुपात में थीं...

"हाँ—आज तो तुम्हारी आलू की कढ़ी बहुत अच्छी बनी है..." आख़िर शंकर को कहना पड़ गया।

"और...आज के इन परांवठों में कोई नया स्वाद नहीं लगा...?" सुशीला ने मानो, न चाहते हुए भी, फिर और भी पूछ ही डाला।

गहरे अवसाद की अपनी अन्दरूनी दुनिया से इस हद तक झकझोर कर खींचा जाना कुछ सुहा नहीं रहा था शंकर को।

"पता नहीं...शायद..." एक तरह से लापरवाही के साथ उसने जवाब दे डाला था, और यह देखते हुए भी कि सुशीला के उत्साह को उसने बुरी तरह भंग कर दिया था, जल्दी-जल्दी बाक़ी खाना पूरा कर, गिलास से पानी पी, उठकर बाहर चला गया था...

रात को जब वह सोने के लिए आया था—तब तक उस वक्त की सारी बात वह तो भूल चुका था, लेकिन सुशीला जैसे तब तक भी तनी हुई थी।...कुछ देर तक वह बिलकुल ही चुप रही आयी थी, और जब उसने समझ लिया था कि शंकर ख़ुद किसी तरह भी उसकी ओर मुख़ातिब होने वाला नहीं है, तब अपनी खाट पर से उठकर एक बार रसोई घर में गयी थी और वहाँ से एक कटोरी खीर लाकर उसके सामने खड़ी हो गयी थी।

"क्या है ?" शंकर को तब पूछना ही पड़ गया था।

"भाभीजी ने आज खीर बनाई थी...वही हम लोगों के लिए दे गयी थीं—कुछ देर पहले—"

भाभीजी, माने—विद्याभूषण की पत्नी।

"आज रात को मिलने वाली आज़ादी की ख़ुशी में विद्याभूषणजी ने भाभी जी से खीर बनवायी थी—उनकी सबसे पसन्द की चीज है न !—और शाम को ही भाभीजी ने मुझसे भी कहा था कि...आज मैं तुम्हारी सबसे ज्यादा पसन्द का खाना बनाऊँ !...तभी तो मैंने—" लेकिन शंकर को तब तक भी चुप ही देख सुशीला ने बीच में ही अपनी बात पर लगाम लगा दी।

शंकर कुछ देर चुप रहा। फिर, एक तड़प के साथ बोला : "विद्याभूषण इस ग़म के बीच भी कैसे इतने ख़ुश हैं—मैं तो समझ ही नहीं पाता !"

सुशीला कुछ देर खीर लिये सकपकाई-सी खड़ी रही; लेकिन जब शंकर का

हाथ उसे लेने के लिए नहीं बढ़ा, तो कुछ तीखे ही स्वर में बोली :

"इतने प्यार से भाभीजी दे गयी हैं...थोड़ी-सी चाय तो लो—"

"मुझे तंग नहीं करो अब तुम ज्यादा—" शंकर एकबारगी ही तब भड़क उठा था, और उस ओर से सिर फेर, दूसरी ओर करवट लेकर लेट गया था...

वह लेटा ही पड़ा रहा था कुछ देर तक...लेकिन चित्त के जिस विषाद और अवसाद के चलते शाम से ही वह इस तरह सुशीला की उपेक्षा—बल्कि एक तरह से उसका अपमान ही—करता चला आया था, उसी का बोझ अब उसके दिल पर ज्यादा भारी होता चला गया...

एक बार उसने चाहा कि उठकर बैठ जाये, और सुशीला को पुकारे।... उसने भी तो भाभीजी वाली वह खीर नहीं खायी होगी।...

फिर—कितने उछाह से, भले ही भाभीजी की प्रेरणा से, उसके पसन्द के स्वादिष्ट व्यंजन बनाने के उत्साह में उसने कितने शौक से वे सब चीजें बना डाली थीं...और उनका भी शंकर ने एक तरह से अपमान कर डाला!...क्या सो जाने से पहले सुशीला के दुखाये दिल पर उसे मलहम नहीं लगा देना है ?

.. कितनी लगन सुशीला के अन्दर देखी थी उसने इस बार—स्वामीजी के पास लगातार दो-ढाई साल तक रह आने के बाद से।...जिन्दगी भर के चटोरे शंकर को साल सवा साल तक स्वामीजी के आश्रम में रहते समय, और फिर कोई एक साल तक विनोद-अजलि की गृहस्थी में, अपनी रसनेन्द्रिय पर कसकर लगाम लगाये रहना पड़ा था। यों, उसके चित्त की उन दिनों जो स्थिति थी उसमें इस ओर न कुछ ज्यादा ध्यान ही कभी गया था, और न यह बात कुछ ज्यादा खली ही थी। लेकिन इस बार सुशीला के साथ पटने लौट कर जब से उन लोगों ने फिर से गृहस्थी बसायी थी तब एक दिन उसका सारा चित्त एकबारगी विद्रोह कर उठा था —अज्ञात रूप से होते आने वाले रसनेन्द्रिय के अपने निग्रह के विरुद्ध।...सुशीला न पाक-विद्या में कभी निपुण थी, न उसमें उसकी रुचि ही थी। विवाह के बाद नौकर ही खाना बनाता आया था, और अपने बच्चे के जन्म के बाद जब वह शंकर की माँ और मामाजी के पास रही थी तब भी बच्चे के ही काम में ज्यादा लगी रही थी।...घर-गृहस्थी और रसोई के कामकाज में असल दिलचस्पी तो उसमें आश्रम में स्वामीजी की ही बदौलत पैदा हुई थी—खास तौर से पिछले एक साल में, जिस बीच शंकर कलकत्ते में था, और सुशीला के चित्त की स्थिति भी जिस बीच काफी सुधरी थी। शंकर जब-जब उस बीच आश्रम गया था, रसोई के काम में उसकी सक्रिय दिलचस्पी देख विस्मित रह गया था...

इस बार पटने आने पर वे लोग नौकर रख सकने की स्थिति में भी नहीं थे, और सुशीला स्वयं भी अब किसी नौकर से रसोई बनवाने के लिए राजी नहीं थी। और शंकर देखता था कि पूरे उत्साह के साथ ही वह घर के सारे कामकाज में

लगी रहती थी।

लेकिन एक दिन शंकर विद्रोह कर बैठा जब उसने अचानक आविष्कार किया कि सुशीला जो भी रसोई बनाती है वह मुख्यतः उसी प्रकार की होती है जैसी आश्रम में हुआ करती थी : या तो बिलकुल ही सीधी-सादी फीकी-सी रोटी-तरकारी, जैसी आश्रम में स्वामीजी के अकेले रह जाने पर आश्रम-सेवक रेणु बनाता था, या फिर, गौरी-दि या सुव्रता-दि के रहने पर बनायी जाने वाली बंगाली ढंग की कोई तरकारी : 'चच्चड़ि,' 'डालना,' 'शुकतनो'...और बंगाली ढंग का ही दाल-भात !

"हमारे घर का खाना बनाना तुमने कभी सीखा ही नहीं—" दो-चार कौर खाने के बाद ही आख़िर वह अचानक बरस पड़ा था, "इतने दिन तक मेरी मां के पास रहकर भी ?"

उसने देखा, सुशीला का मुंह बहुत ही छोटा हो गया है...

फिर ख़ुद उसी को उस बेचारी पर दया आ गई थी : स्वामीजी के पास रह कर ही तो पहले-पहल उसे रम आना शुरू हुआ था इन घरेलू कामों में, और तब भला उसकी मां के ढंग का खाना बनाना कहाँ से सीख लेती ?

"बात यह है सुशीला—" फिर उसने नरम स्वर में सफ़ाई दी थी, "कि... तुम तो मेरी मां से सुनती ही आयी हो कि—बचपन में ही क्यों, बड़ी उम्र तक भी कितना चटोरा बना रहा मैं।...इस बार दो-दो, ढाई-ढाई साल तक बिलकुल पराये ढग का ही खाना खाता चला आया लगातार; और बचपन के सभी स्वादों के लिए अन्दर ही अन्दर तरसता रहा...हालांकि मेरा ख़्याल यही था कि उनके लिए मेरा जी कुछ ज्यादा नहीं मचलता अब।...लेकिन देखता हूँ, जीभ पर बहुत कसकर लगाम लगानी पड़ रही थी मुझे अन्दर ही अन्दर...और इस तरह के खाने से अब मुझे सख़्त नफ़रत हो उठी है।"

उसने देखा, उसके उस अचानक विस्फोट से बुरी तरह हतप्रभ हो उठे सुशीला के उस चेहरे पर धीरे-धीरे सहानुभूति और ममता के भाव उभर चले थे, और उसकी बात पूरी होने पर उसने एक ही बात कहकर उसे अन्दर तक पुल-कित और कृतार्थ कर दिया था : "तो—मुझसे तुमने कभी कहा क्यों नहीं अभी तक ?"

उस दिन के बाद से आज का दिन था, कि एक बार भी शंकर को यह शिकायत करने का मौक़ा नहीं मिला कि उसका खाना उसकी मां के बनाये खाने से अलग स्वाद का है।...वह दंग था उसकी चतुरता पर : उसकी स्मृति की किन-किन गुफ़ाओं में उसकी मां की रसोई का कौन-कौन-सा नुसख़ा छिपा पड़ा था जिसे वह ऐन वक़्त पर आजमा बैठती थी, और फिर ललककर पूछती थी कि आज की यह तरकारी कैसी बनी है !...और शब्दों से अधिक शंकर के चेहरे

पर छा जाने वाले उल्लास की आभा में अपना पुरस्कार पा धन्य हो उठती थी।...बल्कि, कभी-कभी तो किसी ख़ास व्यंजन को बनाने की विधि जानने की ललक दिल में लिये ख़ुद शंकर के ही पास आ पहुँचती—उसकी किसी कार्य-व्यस्तता के बीच उसे छेड़कर उसकी फटकार का ख़तरा मोल लेकर भी।

...अनुताप की एक हलकी-सी टीस लिए आख़िर उठ बैठा शंकर खाट पर, और सुशीला की खाट की ओर नज़र डाली।... क्या वह नींद से सो गयी है, या उसकी उपेक्षा की तीती घूंट पीती अन्दर ही अन्दर सुलग रही होगी अभी तक?

...टेबुलफैन दोनों खाटों की ओर घूम-घूम कर एक बार शंकर पर हवा का एक झोंका छोड़ जाता और दूसरी बार सुशीला पर। *बरसात का मौसम था;* हवा करीब-करीब बन्द थी, हलकी उमस वाली गरमी। बदन के जिस हिस्से को पंखे की हवा नहीं लगती थी उसे शंकर गमछे से बीच-बीच में पोंछ लेता था...

कुछ देर वह उसी तरह खाट पर बैठा रह गया।...एक बार, अपने दिल पर थोड़ा ज़ोर डालकर, चाहा भी—कि सुशीला को आवाज़ दे...और शाम से लेकर रात को सोते वक्त तक की उन अप्रिय बातों की सफ़ाई कर डाले...कि क्यों उसे आज यह सब ज़रा भी सुहा नहीं रहा है...

लेकिन अन्दर का घनीभूत अवसाद इतना बोझिल होता जा रहा था कि इतना सब करने की मेहनत भी उसे गवारा नहीं हुई, और वह फिर अपनी खाट पर पड़ गया।

...सुबह जब 'जागृति' के 'स्वाधीनता अंक' के लिए—जो अगले दिन सुबह प्रकाशित होने को था—अग्रलेख की तैयारी में सोच-विचार करता वह बरामदे में टहलता रहा था—घंटा डेढ़ घंटा बीत जाने पर भी वह उसके लिए न कोई शीर्षक ठीक कर पाया था, न सन्तोषजनक कोई रूपरेखा ही।

यह बात नहीं कि तीखे से तीखे शब्द-बाणों की कोई कमी थी उसके तरकश में: अग्रलेख के शीर्षक के लिए, या उस लेख में प्रयुक्त होने वाली पदावली के लिये ही।..."लूली-लंगड़ी यह आज़ादी"..."भारत-माता का अंगच्छेद"... "परकटा आज़ाद पंछी"—एक के बाद एक, कई शीर्षक उसके सामने आते चले गये थे; लेकिन 'स्वाधीनता-अंक' के रूप में निकाले जाने वाले उस विशेषांक में क्या वह इस तरह बिलकुल अपने ही मन की चलाने के लिए स्वतंत्र था, जब कि विद्याभूषण उस लूली-लंगड़ी आज़ादी से ही इस कदर ख़ुश थे?...और, विद्याभूषण ही क्यों, शंकर की परिचित मण्डली में कितने थे जिनके अन्दर, देश-विभाजन के उस ग़म के बावजूद, जोश और ख़ुशी की लहर नहीं दौड़ गयी थी?

आख़िर जब शंकर देर तक कुछ भी ठीक नहीं कर पाया, अचानक उसे ख़याल आया : क्यों न यह अग्रलेख किसी दूसरे से ही लिखाया जाय ?

उसी दम जाकर उसने विद्याभूषण को अपनी असमर्थता जताई और अनुरोध किया कि या तो वह ख़ुद ही उसे लिख डालें, या फिर किसी सहायक सम्पादक से ही लिखायें...लेकिन उसे तो आज वह बख़्श ही दें...

विद्याभूषण कुछ पल उसके चेहरे की ओर सिर्फ़ ताकते ही रह गये थे—मानो समझ ही न पा रहे हों कि शंकर की वह लाचारी आख़िर है क्या।...फिर वह बोले : "पार्टीशन का ग़म क्या मुझे कम है भाई...लेकिन आजाद तो आख़िर हम हो ही गये अब।...कुल मिलाकर तो ख़ुशी और जश्न मनाने का ही वक्त है न यह ?...क्यों इतने उदास होते हैं ?...देखियेगा, कुछ वक़्त बाद हमारा यह खण्डित भारत ही इतनी तेज रफ़्तार से आगे बढ़ेगा, कि अब तक की सारी कुर्बानियां...पिछली कुर्बानियां, और पार्टीशन वाली ये नई कुर्बानियां भी ...कुछ ज्यादा बड़ी क़ीमत नहीं साबित होंगी उसके लिये—"

उसके बाद वह अपनी मेज का बाक़ी काम छोड़ कुरसी पर से उठ खड़े हुए, शंकर के कंधे पर हाथ रख उसे बाहर वाले बरामदे में लाये; फिर उसका उत्साह बढ़ाते हुए बोले : "आज ही तो वक़्त आया है कि आप अपनी कलम का वह जादू दिखाएं...ऐसा फड़कता हुआ लेख लिखें...कि पढ़ने वाले बस—"

शंकर की फिर कुछ भी नहीं चल पायी थी...मन की उसी ग़मग़ीन हालत में उस दिन वाला अग्रलेख लिखने के लिए आख़िर कागज़ क़लम लेकर अपनी मेज पर बैठ ही जाना पड़ा था...

अपने कमरे की ओर आते हुए रास्ते में उसकी हलकी-सी एक टक्कर हो गयी थी नौजवान उप-सम्पादक विनायक शर्मा से, जिनकी बाबत बहुतों का ख़याल था कि वह कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य हैं—हालांकि वह ख़ुद इससे बराबर इनकार करते थे।...अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लिखे शंकर के अग्रलेखों की 'प्रगतिशील पाठकों' के बीच होने वाली सराहनापूर्ण प्रतिक्रिया की बात वही अक्सर आकर सुनाया करते थे, और धीरे-धीरे शंकर का भी यह विश्वास दृढ़ होता गया था कि बिहार के कम्युनिस्टों के साथ उनका ख़ासा रब्त-ज़ब्त था। कारण, जिन मामलों में कम्युनिस्टों के साथ शंकर का मतभेद पाया जाता था, ख़ास तौर से उन्हीं मामलों में विनायक शर्मा किसी न किसी बहाने उससे बहस करने उसके कमरे में आ पहुँचते थे...

उस दिन विद्याभूषण के पास से निराश हो, उस अग्रलेख को लिखने के लिए भी अपने को मजबूर पा शंकर अपने कमरे की देहली पर पहुँचा ही था, कि विनायक शर्मा ने पीछे से आकर पूछा : "आज का अग्रलेख लिख लिया आपने ?"—और उसके पीछे-पीछे उस कमरे में घुस आये।

"कहाँ लिख पाया हूँ अभी तक ?" शंकर की अपनी बेबसी और झुँझलाहट उनके सामने भी प्रकट हो गयी।

"आज आप क्या लिखते हैं—इसकी 'जागृति' के सभी प्रगतिशील पाठकों को बड़ी उत्सुकता रहेगी..."

"क्यों ?" शंकर एकबारगी भड़क उठा।

"कांग्रेस के नेताओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ आखिर समझौता कर ही डाला...और गुलामी का यह सुनहरा पट्टा गले में बाँधकर इसे आजादी का नाम दे दिया..." शर्माजी ने कहना शुरू ही किया था—कि सोवियत रूस के अखबारों की टिप्पणियों के अनुकरण में भारतीय कम्युनिस्टों की वही तोता-रटन्त दलील, इस तरह, उनके भी मुँह से सुन बुरी तरह खीझ उठा : "आप की बात सुनने का वक्त अब नहीं रह गया है...एक घंटे के अन्दर मुझे जो लिखना है घसीट डालना है।" लेकिन, दूसरी ओर, उनके इस वाक्य से उसे अपने अग्रलेख को शुरू करने की एक अच्छी भूमिका भी मिल गयी।

"धन्य हैं हमारे वे भारतीय कम्युनिस्ट भाई जो अपनी स्वतन्त्र विचार-शक्ति को सोवियत रूस की कम्युनिस्ट पार्टी के पास धरोहर रखकर रूसी ग्रामोफोन के रेकार्ड बने अब भी यह चिल्लाते जा रहे हैं कि हिन्दुस्तान के नेताओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ समझौता करके अपनी इस नयी गुलामी की सुनहरी जंजीर से भारत की अबोध जनता के अन्दर यह भ्रम पैदा करना शुरू कर दिया है कि उन्हें सचमुच आज़ादी मिल गयी है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की यह नीति उसके अब तक के इतिहास के अनुरूप ही है..."

इस व्यंग्यात्मक भूमिका द्वारा अपने दिल के गुबार को किसी हद तक बाहर निकाल उसने एक सिगरेट सुलगायी, जिसके कुछ देर बाद, ज़रा इतमीनान के साथ उस लेख का शीर्षक लिखा : 'आज़ादी : बड़ी महँगी !'

फिर ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा पास किये गये 'भारतीय स्वाधीनता कानून' का ब्यौरेवार विश्लेषण करके उसने दिखाया कि भारत को मिलने वाली यह स्वाधीनता 'सम्पूर्ण' है, कि जो नया संविधान हम बनाने जा रहे हैं उसके निर्माण में हम 'पूर्णतया स्वतन्त्र' हैं, अगर ब्रिटेन के साथ राष्ट्रमण्डल के सदस्य के रूप में हम कोई सम्पर्क रखना चाहेंगे तो वह 'सर्वथा स्वैच्छिक' होगा, और तभी—जब वह हमारे 'अपने ही हित में' हो। अगर हम वैसा कोई सम्बंध नहीं रखना चाहेंगे, तो ब्रिटिश सरकार हमें किसी तरह मजबूर नहीं कर सकती...

लेख चल निकला था।...सिगरेट के दो-चार कश बीच-बीच में और खींच आखिर उसके आधे से ज्यादा ही हिस्से को वह 'ऐशट्रे' में रख उसके अस्तित्व में भी धीरे-धीरे बेखबर हो गया था। और, लेख के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते, लगा था कि न केवल वह विद्याभूषण और उन जैसे दूसरे लोगों के मनोभावों के

आख़िर जव शंकर देर तक कुछ भी ठीक नहीं कर पाया, अचानक उसे ख़याल आया : क्यों न यह अग्रलेख किसी दूसरे से ही लिखाया जाय ?

उसी दम जाकर उसने विद्याभूपण को अपनी असमर्थता जताई और अनुरोध किया कि या तो वह ख़ुद ही उसे लिख डालें, या फिर किसी सहायक सम्पादक से ही लिखायें...लेकिन उसे तो आज वह वख़्श ही दें...

विद्याभूपण कुछ पल उसके चेहरे की ओर सिर्फ़ ताकते ही रह गये थे—मानो समझ ही न पा रहे हों कि शंकर की वह लाचारी आख़िर है क्या।... फिर वह वोले : "पार्टीशन का ग़म क्या मुझे कम है भाई...लेकिन आजाद तो आख़िर हम हो ही गये अब।...कुल मिलाकर तो ख़ुशी और जश्न मनाने का ही वक्त है न यह ?...क्यों इतने उदास होते हैं ?...देखियेगा, कुछ वक़्त वाद हमारा यह खण्डित भारत ही इतनी तेज़ रफ़्तार से आगे वढ़ेगा, कि अब तक की सारी क़ुर्वानियाँ...पिछली क़ुर्वानियाँ, और पार्टीशन वाली ये नई क़ुर्वानियाँ भी ...कुछ ज्यादा वड़ी क़ीमत नहीं सावित होंगी उसके लिये—"

उसके वाद वह अपनी मेज़ का वाक़ी काम छोड़ कुरसी पर से उठ खड़े हुए, शंकर के कंधे पर हाथ रख उसे वाहर वाले वरामदे में लाये; फिर उसका उत्साह वढ़ाते हुए वोले : "आज ही तो वक़्त आया है कि आप अपनी कलम का वह जादू दिखाएं...ऐसा फड़कता हुआ लेख लिखें...कि पढ़ने वाले वस—"

शंकर की फिर कुछ भी नहीं चल पायी थी...मन की उसी ग़मग़ीन हालत में उस दिन वाला अग्रलेख लिखने के लिए आख़िर काग़ज़ क़लम लेकर अपनी मेज़ पर वैठ ही जाना पड़ा था...

अपने कमरे की ओर आते हुए रास्ते में उसकी हलकी-सी एक टक्कर हो गयी थी नौजवान उप-सम्पादक विनायक शर्मा से, जिनकी वावत वहुतों का ख़याल था कि वह कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य हैं—हालांकि वह ख़ुद इससे वरावर इनकार करते थे।...अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लिखे शंकर के अग्रलेखों की 'प्रगतिशील पाठकों' के वीच होने वाली सराहनापूर्ण प्रतिक्रिया की वात वही अक्सर आकर सुनाया करते थे, और धीरे-धीरे शंकर का भी यह विश्वास दृढ़ होता गया था कि विहार के कम्युनिस्टों के साथ उनका ख़ासा रव्त-ज़व्त था। कारण, जिन मामलों में कम्युनिस्टों के साथ शंकर का मतभेद पाया जाता था, ख़ास तौर से उन्हीं मामलों में विनायक शर्मा किसी न किसी वहाने उससे वहस करने उसके कमरे में आ पहुँचते थे...

उस दिन विद्याभूपण के पास से निराश हो, उस अग्रलेख को लिखने के लिए भी अपने को मजवूर पा शंकर अपने कमरे की देहली पर पहुँचा ही था, कि विनायक शर्मा ने पीछे से आकर पूछा : "आज का अग्रलेख लिख लिया आपने ?"—और उसके पीछे-पीछे उस कमरे में घुस आये।

"कहाँ लिख पाया हूँ अभी तक?" शंकर की अपनी बेबसी और झुँझलाहट उनके सामने भी प्रकट हो गयी।

"आज आप क्या लिखते हैं—इसकी 'जागृति' के सभी प्रगतिशील पाठकों को बड़ी उत्सुकता रहेगी..."

"क्यों?" शंकर एकबारगी भड़क उठा।

"कांग्रेस के नेताओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ आख़िर समझौता कर ही डाला...और गुलामी का यह सुनहरा पट्टा गले में बाँधकर इसे आज़ादी का नाम दे दिया..." शर्माजी ने कहना शुरू ही किया था—कि सोवियत रूस के अख़बारों की टिप्पणियों के अनुकरण में भारतीय कम्युनिस्टों की वही तोता-रटन्त दलील, इस तरह, उनके भी मुँह से सुन बुरी तरह खीझ उठा : "आप की बात सुनने का वक़्त अब नहीं रह गया है...एक घंटे के अन्दर मुझे जो लिखना है घसीट डालना है।" लेकिन, दूसरी ओर, उनके इस वाक्य से उसे अपने अग्रलेख को शुरू करने की एक अच्छी भूमिका भी मिल गयी।

"धन्य हैं हमारे वे भारतीय कम्युनिस्ट भाई जो अपनी स्वतंत्र विचार-शक्ति को सोवियत रूस की कम्युनिस्ट पार्टी के पास धरोहर रखकर रूसी ग्रामोफ़ोन के रेकार्ड बने अब भी यह चिल्लाते जा रहे हैं कि हिन्दुस्तान के नेताओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ समझौता करके अपनी इस नयी गुलामी की सुनहरी जंजीर से भारत की अबोध जनता के अन्दर यह भ्रम पैदा करना शुरू कर दिया है कि उन्हें सचमुच आज़ादी मिल गयी है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की यह नीति उसके अब तक के इतिहास के अनुरूप ही है..."

इस व्यंग्यात्मक भूमिका द्वारा अपने दिल के गुबार को किसी हद तक बाहर निकाल उसने एक सिगरेट सुलगायी, जिसके कुछ देर बाद, ज़रा इतमीनान के साथ उस लेख का शीर्षक लिखा : 'आज़ादी : बड़ी महँगी !'

फिर ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा पास किये गये 'भारतीय स्वाधीनता कानून' का ब्यौरेवार विश्लेषण करके उसने दिखाया कि भारत को मिलने वाली यह स्वाधीनता 'सम्पूर्ण' है, कि जो नया संविधान हम बनाने जा रहे हैं उसके निर्माण में हम 'पूर्णतया स्वतन्त्र' हैं, अगर ब्रिटेन के साथ राष्ट्रमण्डल के सदस्य के रूप में हम कोई सम्पर्क रखना चाहेंगे तो वह 'सर्वथा स्वैच्छिक' होगा, और तभी—जब वह हमारे 'अपने ही हित में' हो। अगर हम वैसा कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहेंगे, तो ब्रिटिश सरकार हमें किसी तरह मजबूर नहीं कर सकती...

लेख चल निकला था।...सिगरेट के दो-चार कश बीच-बीच में और खींच आख़िर उसके आधे से ज्यादा ही हिस्से को वह 'ऐशट्रे' में रख उसके अस्तित्व से भी धीरे-धीरे बेख़बर हो गया था। और, लेख के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते, लगा था कि न केवल वह विद्याभूषण और उन जैसे दूसरे लोगों के मनोभावों के

प्रति न्याय करने में सफल हुआ है, वल्कि अपने जैसों के दिल के दर्द का भी इज़हार कर डालने में...

"लेकिन इस खण्डित भारत की आज़ादी के लिए हमें जो क़ीमत चुकानी पड़ी है, पड़ रही है, और न जाने कितने युगों तक और भी चुकानी पड़ेगी," उसने आगे चलकर लिखा था, "उसका ठीक-ठीक लेखा-जोखा तो भावी इतिहासकार ही कर सकेंगे। आज जितना हमारे सामने प्रत्यक्ष है वह यही कि इस राजनीतिक स्वाधीनता का प्रत्येक प्रगतिशील भारतवासी मूलतः जिस भावी सामाजिक और आर्थिक स्वाधीनता की भूमिका के रूप में स्वागत करना चाहेगा उसे हमने वहुत पीछे धकेल दिया है। देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वाधीनता के लिए लड़ाई लड़ी थी कांग्रेस ने, लेकिन जीत उन तत्त्वों की हुई है जिन्होंने न आज़ादी के जंग में कोई हिस्सा लिया था, न उसके लिए क़ुर्वानियाँ की थीं। फिर, इससे भी वड़ी विडम्वना तो यह है कि जहाँ पाकिस्तान खुल्लम-खुल्ला एक साम्प्रदायिक राष्ट्र—इस्लामी राष्ट्र—के रूप में जन्म ले रहा है वहाँ अवशिष्ट भारत का वर्तमान शासनतंत्र और नेतृत्व आज भले ही सम्प्रदायवाद-विरोधी राष्ट्रीय विचारधारा वाले लोगों के हाथ में हो, पर वह दिन दूर नहीं जवकि उसका प्रभाव आम जनता पर से घटता जायेगा, और यहाँ भी संकीर्ण सम्प्रदायवादी तत्त्वों—हिन्दू महासभाइयों, आदि—की ही ताक़त वढ़ेगी, क्योंकि जिस साम्प्रदायिक वैमनस्य, शत्रुता और रक्तपात के फलस्वरूप देश का विभाजन हुआ है और उसके कारण हिन्दू-मुसलिम एकता की कांग्रेस की नींव जिस वुरी तरह डिग गयी है उसके फलस्वरूप अपने देश के अल्पसंख्यक मुसलमानों के प्रति हम चाहे कितना भी न्याय और सौहार्द क्यों न वरतें, पाकिस्तान में अल्पसंख्यक हिन्दुओं के प्रति वरती जाने वाली नीति की प्रतिक्रिया से हम कदापि नहीं वच सकते।

"जैसा कि हम शुरू से ही इन स्तंभों में ज़ोर देते आ रहे हैं, साम्प्रदायिक आधार पर होने वाले देश-विभाजन के इन दुष्परिणामों से हम तभी वच सकते थे जव कि उसके साथ-साथ साम्प्रदायिक आधार पर आवादी की भी अदला-वदली हो जाती..."

यहाँ तक आते-आते शंकर एक तरह से हाँफ उठा था। लेकिन ठीक इस स्थल पर तो उस लेख का अन्त किया नहीं जा सकता था—उस निराशापूर्ण, अंधकार-पूर्ण भविष्य की ओर अंगुलि-निर्देश करके।

एक वार फिर उसने सिगरेट सुलगायी, उठकर वरामदे में दो-चार चक्कर लगाये, और आख़िर फिर लिखना शुरू कर दिया :

"जो भी हो, आज हम आज़ाद हुए हैं। सदियों की गुलामी की जंजीरों को हमने अपने पुरुषार्थ से तोड़ फेंका है। हमारे रास्ते में जो वाधाएँ डाली गयी हैं उन्हें

दूर करने के लिए हमने अपना पसीना ही नहीं ख़ून भी बहाया है—ख़ून की नदियाँ तक ! हमारे हज़ारों-लाखों भाई-बहन, बूढ़े और बच्चे तक—निर्ममतापूर्वक मौत के घाट उतारे गये हैं...हमारी बहनों और बहू-बेटियों की सरे बाज़ार इज़्ज़त लूटी गयी है...लाखों-लाख लोग अपने दादा-परदादा के घरबार और पुश्तैनी कारबार को छोड़ सैकड़ों मील की धूल फाँकते, भूखे-प्यासे, मरते-कटते, दर-दर की ठोकरें खाते घूम रहे हैं—सिर्फ़ इसलिए कि भारतमाता के जिस आँचल में वह अब तक सुरक्षित थे, अचानक ही वह उनके लिए भारत-जननी का नहीं पूतना का आँचल हो उठा था।

"कम बड़ी क़ीमत नहीं दी है हमने इस आज़ादी की ! फिर भी हम इसका स्वागत करते हैं। हमारे दिल बुरी तरह घायल हैं, लेकिन हमारे चेहरों पर, इस सारे ग़म के बीच भी, ख़ुशी है, उल्लास है। हमारा दिल रो रहा है, लेकिन हमारे ओठों पर मुसकराहट है।

"स्वाधीनता एक ऐसी ही दुर्लभ वस्तु है। उसके लिए दी जाने वाली बड़ी से बड़ी क़ुर्बानी भी हलकी पड़ जाती है। आज़ादी मनुष्य जाति की सबसे बड़ी नियामत है। जलियाँवालाबाग़ की क़ुर्बानियों को हम नहीं भूले हैं, कभी भूलेंगे भी नहीं। देश-विभाजन की इन क़ुर्बानियों को भी हम कभी नहीं भूलेंगे। बल्कि ये क़ुर्बानियाँ ही हमारी इस आज़ादी को हमारे लिए और भी क़ीमती बना देंगी। भविष्य कितना भी अंधकारपूर्ण क्यों न हो, अगर क़ुर्बानियों के तौर पर आज़ादी की क़ीमत चुकाने के लिए हम हमेशा तैयार रहे, तो हम उसी को सुनहरे प्रभात में बदल देंगे।

"भारतीय स्वाधीनता अमर हो !

"जय हिन्द !"

लेकिन—विद्याभूषण के कमरे में जाकर, उनके आग्रह पर, जब उसी को वह पढ़कर सुनाना भी पड़ गया था, तब आख़ीर के ये नारे उसके गले में फँस गये थे...बल्कि, 'भविष्य कितना भी अंधकारपूर्ण क्यों न हो, अगर क़ुर्बानियों के तौर पर आज़ादी की क़ीमत चुकाने के लिए तैयार रहे तो हम उसी को सुनहरे प्रभात में बदल देंगे...' वाले वाक्य तक भी वह लड़खड़ाते स्वर में ही पहुँचा था, और वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते उसकी आवाज़ बिखर गयी थी।

दरअसल उसका स्वर लेख के अन्त से पहले वाले पैरा से ही भारी होने लग गया था और जब वह इस स्थल तक पहुँचा था कि : 'कम बड़ी क़ीमत नहीं दी है हमने इस आज़ादी की...' और फिर, कि 'हम इसका स्वागत करते हैं...' और फिर, यह भी कि, 'हमारे दिल बुरी तरह घायल हैं, लेकिन हमारे चेहरों पर इस सारे ग़म के बीच भी ख़ुशी है, उल्लास है...' तब तक वह बिलकुल ही टूट गया था, उसका गला फँस गया था, और उस पैरा के अन्तिम वाक्य तक आते-आते—

कि "हमारा दिल रो रहा है, लेकिन हमारे ओठों पर मुसकराहट है..." उसके वे शब्द तब तक दबी रहने वाली रुलाई के एक आकस्मिक विस्फोट में डूब गये थे...

विद्याभूषण की मेज़ पर सिर रखकर वह कुछ देर तक फूट-फूटकर रोया था, और बाद को जब उसे पता चला था कि विद्याभूषण के अलावा तब तक सम्पादकीय विभाग के दो-तीन और सहयोगी भी उसके पीछे आ खड़े हुए थे, तो उसे बड़ी शर्म आयी थी अपनी भावुकता के उस आकस्मिक विस्फोट पर...

फिर—किसी तरह आख़िर उस लेख का अन्तिम अंश भी पूरा कर जब वह जल्दी से उठकर अपने कमरे में भाग आया था—अपने सभी साथियों से आँखें चुराता हुआ—उस बीच भी उसने भाँप लिया था कि विद्याभूषण के ही नहीं, प्रमुख सहायक सम्पादक श्रीकान्त बाबू के चेहरों पर भी उसके लिए वाहवाही ही वाहवाही अंकित थी...

पर शंकर के दिल के अन्दर जो उदासी उसके बाद से और भी गहरी और घनी होती आयी थी उसकी वजह से सारे दिन उसका किसी भी काम में मन नहीं लगा था।

...घूमने वाले उस छोटे-से टेबुलफ़ैन की हवा के उन हलके झोंकों के बीच भी, जो थोड़े-थोड़े अन्तर पर ही ज़रा देर के लिए पसीने से राहत देते जान पड़ते थे, सुशीला बेहोश सोयी पड़ी थी अपनी खाट पर—अपने पसीनों को गमछे से पोंछते हुए एक बार फिर खाट पर उठकर बैठ जाने के बाद शंकर ने महसूस किया !...फिर टॉर्च की हलकी रोशनी जला घड़ी में वक़्त देखा। बारह बजने में कुछ ही मिनट बाक़ी थे, और दूर कहीं से रेडियो पर नई दिल्ली में होने वाले सत्ता-हस्तान्तरण का शायद आँखों-देखा प्रोग्राम हो रहा था...

उन्नीस

सोलह-सत्रह साल का था शंकर, जब उसने अपने जीवन की सबसे पहली मृत्यु देखी थी—ग्यारह-बारह साल के अपने एक ममेरे भाई अभय की, जिसे वह काफ़ी प्यार करता था।...अभय को टाइफ़ायड हो गया था और अन्त में सन्निपात, और

हकीमों के इलाज और उन सब लोगों की रात-दिन की परिचर्या के बाद भी जब एक रात शंकर को दो घंटे की अपनी ड्यूटी पूरी करके सो जाने के बावजूद, भरी नींद में, अभय के बड़े भाई विजय द्वारा जगा दिया गया तो वह यही समझा कि उसकी हालत कुछ ज्यादा बिगड़ गयी है और विजय के साथ उसे उसी दम वैद्यजी के यहां जाना है।

"उठो, उठो, शंकर भैया, जल्दी आओ—" कहकर विजय उसी दम अन्दर चला गया था, और उठकर बैठ जाने के बाद भी गहरी नींद के झोंकों से उबर पाने में शंकर को थोड़ा और वक्त लग गया था।

फिर—आँखें मलता आख़िर वह अन्दर पहुँचा था, और तब उसे मँझली मामी की रोने की आवाज़ सुनाई दी—उन्हीं मँझली मामी की, जिनकी आँखों में उसने पहले कभी आँसू नहीं देखे थे।

तभी उसे दिखाई पड़ा कि अभय अपनी खाट पर नहीं है—नीचे ज़मीन पर लेटा है...

और यह कि वह बिछौने पर नहीं, कमरे के नंगे फ़र्श पर है...और, पांव से सिर तक उसका सारा बदन चादर से ढका हुआ है...

कितना वक़्त लग गया था उसे यह समझ पाने में कि अभय नहीं रहा... लेकिन फिर भी क्या वह पूरी तरह समझ पाया था? बाहर आकर रोता-रोता कुछ देर के लिए ज़रूर वह अपनी खाट पर औंधा पड़ा रहा था, पर कुछ ही देर बाद अचानक उठकर बैठ गया था, उसके दिल ने यह मानने से इनकार कर दिया था कि अभय सचमुच चला गया है—सदा के लिए उन्हें छोड़कर, उन सबकी सारी कोशिशों को बेकार करके...

कितनी तेज़ी के साथ कितनी बातें घूमती चली गयी थीं उसके दिमाग़ में... रामायण-महाभारत और पुराणों में पढ़ी बातें...लक्ष्मण को जिलाने के लिए हनुमानजी द्वारा संजीवनी बूटी का लाया जाना...यमराज के पास से सावित्री द्वारा अपने पति सत्यवान का उद्धार...और—पुराणों की ही नहीं, हाल की भी सुनी बातें, जबकि किसी चमत्कारी साधु ने कोई जड़ी-बूटी सुंघाकर किसी मुर्दे को जिला दिया था...

अचानक ही तब उसकी सारी आशा अपने नानाजी पर जा टिकी थी, और यह ख़याल आने पर उसे बड़ा ताज्जुब हुआ था कि अभय की सारी बीमारी के बीच वह एक बार भी उस घर में नहीं आये थे।...बचपन में शंकर कितना डरता था उनसे, और काफ़ी बड़े हो जाने तक भी किस तरह उन्हें सर्व-शक्तिमान मानता रहा था।...कुछ वर्षों से अवश्य अपने नानाजी के ख़िलाफ़ वह विद्रोह कर बैठा था...लेकिन संकट की उस घड़ी में—मरे हुए अभय को बचा सकने की आशा में—किस तरह उसके डूबते हुए दिल के लिए वही नानाजी तिनके का आख़िरी

सहारा बन उठे थे, और अपनी बाइसिकिल उठा तभी वह चल दिया था उन्हें ख़बर देने के लिए...

और, तिनके के उस आख़िरी सहारे से भी, अन्त में, जब उसे निराश होना पड़ा था तब किस तरह एकबारगी उसने अपने को बिलकुल ही बेसहारा और असहाय पाया था—और देर तक उनके मकान की सीढ़ियों पर बैठा चुपचाप आँसू बहाता चला गया था।

फिर—उस बाल-भ्रम के उस तरह अचानक टूटने पर उसे लगा था जैसे उसके साथ कोई बहुत बड़ा विश्वासघात किया गया हो।

...गांधीजी के नेतृत्व पर से आस्था उठ जाने के बाद, उनसे उस सीमा तक विमुख हो जाने पर भी, आशा की किसी क्षीण डोर से जैसे उनके साथ ही बँधा रह गया था शंकर—अन्दर ही अन्दर। देश का बटवारा करना उनके बदन के ही टुकड़े करने के समान होगा—किसी समय कहा गया उनका यह वाक्य जैसे उसके लिए आशा का आख़िरी तिनका बना रहा था—उसके चित्त के न जाने कितने परतों के पीछे छिपा।...अन्दर ही अन्दर जैसे वह आख़िरी दम तक यह आशा लगाये बैठा रहा था कि प्राणों की बाज़ी लगाकर भी अन्त में गांधीजी देश को खण्ड-खण्ड होने से बचा लेंगे।

और जैसे-जैसे उसकी यह आशा विलीन होती गयी, उसका सारा चित्त उनके ख़िलाफ़ और भी प्रचण्ड रूप से विद्रोह कर उठा...

देश-विभाजन की ब्रिटिश योजना को स्वीकार करने के लिए मजबूर हो जाने के बाद गांधीजी ने अपने इस निश्चय की घोषणा की कि उनका स्थान अब भारत में नहीं पाकिस्तान में होगा और अपना शेष जीवन वह पूर्वी या पश्चिमी पाकिस्तान में ही बितायेंगे; अपने इस निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए ही उन्होंने तय किया था कि सत्ता-हस्तान्तरण या स्वाधीनता-प्राप्ति के समारोह में वह कोई दिलचस्पी नहीं लेंगे और, 15 अगस्त से पहले ही, फिर पूर्वी बंगाल स्थित नोआखाली जा पहुँचेंगे—जहाँ के अल्पसंख्यक हिन्दुओं को अभय देने के अपने काम को अधूरा ही छोड़ उन्हें बिहार चले आना पड़ा था...

लेकिन अन्त में गांधीजी का वह निर्णय भी कार्यान्वित नहीं हो सका : पाकिस्तान स्थित हिन्दुओं को अभय देने की जगह भारत स्थित मुसलमानों को अभय देने के लिए ही वह रुके रह गये।...

'जागृति' के स्वाधीनता-विशेषांक के लिए 14 अगस्त को सुबह शंकर ने जब अपना पिछला अग्रलेख लिखना शुरू किया था तब तक यह ख़बर वह पढ़ चुका था—कि नोआखाली की अपनी यात्रा स्थगित कर गांधीजी, देशवासियों का हृदय-परिवर्तन करने के अपने अन्तिम प्रयोग में, उसी सुहरावर्दी को अपना सहयोगी बनाकर, जिसके मुख्यमंत्री रहते हुए ही साल भर पहले कलकत्ते का वह

नरमेध हुआ था, 13 अगस्त को उनके साथ कलकत्ते की एक ऐसी बस्ती में रहने के लिए आ गये थे जहाँ के हिन्दुओं ने मुसलमानों से कसकर बदला लिया था और उन्हें वहाँ से खदेड़ दिया था। उस वक़्त तो अपने उस अग्रलेख में गांधीजी के इस कदम के खिलाफ़ भी कुछ लिख डालने के प्रलोभन पर अवश्य शंकर ने किसी तरह अंकुश लगा लिया था, क्योंकि स्वाधीनता का स्वागत करने वाले अग्रलेख में वैसा करना अशोभनीय ही नहीं अप्रासंगिक भी होता। लेकिन उसके दिल को साथ ही एक दूसरी खबर से काफी राहत भी मिली थी—कि बेलियाघाटा के जिस मकान में गांधीजी सुहरावर्दी के साथ आ टिके थे उसके सामने शाम की प्रार्थना के समय जबर्दस्त हंगामा हुआ और हिन्दू नौजवानों की भीड़ ने सुहरावर्दी पर यकीन कर लेने के लिए गांधीजी को आड़े हाथों लिया...

पर एक बार फिर गांधीजी के चमत्कार की खबरें आनी शुरू हो गयीं—उनके जीवन के आखिरी सिद्ध होने वाले उस चमत्कार की। 14 की शाम को भी गांधीजी और सुहरावर्दी के संयुक्त निवास स्थान पर उनके खिलाफ़ जबर्दस्त हंगामा होने के बाद ही प्रदर्शनकारी हिन्दू नौजवान धीरे-धीरे गांधीजी की वाणी से प्रभावित हो चले...और 14 की रात से ही कलकत्ते में एक सर्वथा अकल्पित दृश्य देखने को मिला। हिन्दुओं और मुसलमानों के दल के दल एक-दूसरे से गले मिलने लगे, कांग्रेस के राष्ट्रीय झंडों से दोनों ही सम्प्रदायों के लोगों ने स्वाधीनता का अभिनन्दन किया और 'महात्मा गांधी की जय' के नारों से सारा कलकत्ता गूँजने लगा।...हिन्दू-मुसलिम एकता का एक नया ही जोश मुहल्ले-मुहल्ले में देखा जाने लगा, और जिन मुहल्लों से मुसलमान खदेड़ दिये गए थे उन्हें वहाँ वापस लाकर बसाने के हार्दिक प्रयत्न होते दिखाई दिये। और, गांधीजी की प्रार्थना-सभाओं में शामिल होने वालों की संख्या उसके बाद दिन पर दिन बढ़ चली।

इस तरह की एक-एक खबर पर शंकर के सारे बदन में आग-सी लगती चली गई...

"लेकिन गांधीजी की जिन्दगी का यह आखिरी जादू दस-पन्द्रह दिन से ज्यादा अपना तमाशा नहीं दिखा पाया," कुछ दिन बाद के अग्रलेख में शंकर को परम उल्लास के साथ लिखने का अवसर मिल गया, क्योंकि 15 अगस्त से ही लाहौर में फिर शुरू हो जाने वाले अत्यन्त व्यापक नर-संहार, बलात्कार, धर्म-परिवर्तन और अग्नि-दाह के समाचारों से सारा देश थर्रा उठा था।

कलकत्ता भी।

...18 अगस्त को ईद का मुसलमानी त्यौहार था, और सुहरावर्दी ने गांधीजी के, और शायद अपने भी, उस जादू से मानो स्वयं ही प्रभावित होकर कलकत्ते के हिन्दुओं को भी उसमें शामिल होने का, और 'हिन्दू-मुसलिम भाई-भाई' के नारे की सार्थकता साबित कर दिखाने का, न्यौता दे डाला था। पर उसी रोज़ कलकत्ते के

दो उपनगरों में फिर दंगा हो गया, और एक जगह तो पुलिस को गोली तक चलानी पड़ गयी जिससे कई आदमी मारे गये ।...धीरे-धीरे गांधीजी के सामने भी यह साफ़ होने लग गया कि उनका वह आख़िरी जादू भी सिर्फ़ सतही था : हर रोज़ अलग-अलग मुहल्लों में होने वाली उनकी प्रार्थना-सभाओं की भीड़ भले ही बढ़ती गयी हो—किसी दिन तो पाँच-पाँच, छः-छः लाख तक की भी (जिसमें मुसलमानों का ही अनुपात दिन पर दिन अधिक होता जा रहा था ।) —लेकिन अन्दर ही अन्दर हिन्दू नौजवानों का क्षोभ उत्तरोत्तर वृद्धि पर था ।

कारण स्पष्ट था ।

पंजाब की हालत दिन पर दिन बिगड़ती जा रही थी । पाकिस्तानी पंजाब के रावलपिण्डी और लाहौर जैसे बड़े-बड़े शहरों में हिन्दुओं और सिखों के खिलाफ़ 15 अगस्त से ही जो आक्रमण अत्यन्त व्यापक रूप में शुरू हुआ था वह घटने की जगह बढ़ता ही जा रहा था, जिसका बदला फिर भारत-स्थित पंजाब के मुसलमानों से वहाँ के हिन्दुओं और सिखों ने लेना शुरू कर दिया । फिर, भारत स्थित मुसलमानों के ख़िलाफ़ होने वाले बदले की कार्रवाइयों के जवाब में पश्चिमी पंजाब में होने वाली नृशंसता और भी तीव्र रूप लेने लग गयी ।

कलकत्ते में गांधीजी ने जो चमत्कार कर दिखाया था उससे आशान्वित हो कितने ही लोगों ने गांधीजी पर ज़ोर डालना शुरू कर दिया था कि पंजाब की स्थिति संभालने के लिए जल्द से जल्द वह वहाँ पहुँच जायें; अन्त में तो न सिर्फ़ भारत के नये गवर्नर-जनरल लार्ड माउण्टबैटन ने, बल्कि प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू तक ने, स्थिति पर क़ाबू पाने में अपनी सरकार को असमर्थ पा, उन्हें अविलम्ब पंजाब पहुँच जाने के लिए बुलावा भेजा था...

"कलकत्ते के अपने उस कल्पित चमत्कार की पंजाब में भी पुनरावृत्ति कर सकने की उनकी आशा इतने अचानक और इतनी बुरी तरह मटियामेट हो जायेगी," शंकर ने जागृति में अब उल्लासपूर्वक लिखा, "यह क्या गांधीजी ने कभी स्वप्न तक में सोचा होगा ?...क्या वह ज़रा भी यह अन्दाज़ कर पाये थे कि कलकत्ता उन्हें इस बुरी तरह धोखा देगा और पाकिस्तान में, एक प्रकार से प्रायश्चित्त स्वरूप ही, अपना शेष जीवन बिताने की आशा को तिलांजलि दे उन्हें कलकत्ते के हिन्दुओं के ही ख़िलाफ़ अनशन शुरू कर देना पड़ेगा और उसके बाद भी दिल्ली के मुसलमानों की रक्षा के लिए अटके रह जाना होगा ?"

31 अगस्त की रात को गांधीजी के कलकत्ता-स्थित निवास स्थान पर क्षुब्ध हिन्दू नवयुवकों ने हमला कर दिया था और गांधीजी उन्हें शान्त कर सकने में पूरी तरह विफल हो गये थे । फिर, अगले दिन ही हिन्दुओं का मुसलिम-विद्वेष समूचे कलकत्ते में ज़ोरों से भड़क उठा जिसके फलस्वरूप गांधीजी को आमरण

अनशन शुरू कर देना पड़ा।...अनशन अवश्य तीन दिन से ज़्यादा नहीं चल पाया, और दोनों सम्प्रदायों के नेताओं के अथक प्रयत्नों के बाद गांधीजी के प्राणों को बचाने के लिए येन केन प्रकारेण स्थिति को क़ाबू में ले आया गया।

लेकिन गांधीजी का पंजाब (पश्चिमी पाकिस्तान) जाना रुक गया, बल्कि वहाँ जाकर स्थिति को संभालने की अपनी चमत्कारपूर्ण शक्ति में उनकी सारी आस्था ही अब लुप्त हो गयी। अविलम्ब पंजाब पहुँचने का आग्रह करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें जो तार भेजा था उसके जवाब में 2 सितम्बर को उन्होंने लिखा : "कलकत्ते में अगर यह आग न भड़क उठी होती तो मैं आज ही लाहौर के लिए चल देने को था। अगर यहाँ की यह क्रोधाग्नि मन्दी न पड़ी तो पंजाब पहुँचकर वहाँ मैं क्या कर पाऊँगा? मेरे अन्दर तब आत्म-विश्वास कहाँ से आयेगा? कलकत्ते में पैदा हुई मैत्री की भावना अगर बेबुनियाद थी तो पंजाब की हालत में सुधार लाने की मैं कैसे उम्मीद कर सकता हूँ?..."

और अन्त में, कलकत्ते की स्थिति के किसी तरह क़ाबू में आने पर जब अपना अनशन तोड़ 9 सितम्बर को गांधीजी दिल्ली पहुँचे भी, तो वहाँ से आगे नहीं बढ़ने पाये। तब तक पश्चिमी पाकिस्तान से किसी तरह भागकर दिल्ली तक आ पहुँचने वाले हिन्दू और सिख शरणार्थियों के अन्दर बदले की भावना इतनी प्रबल हो उठी थी कि भारत की नयी सरकार की सारी शक्ति वहाँ के मुसलमानों की रक्षा में लग गयी और फिर भी वह अपने को सर्वथा असमर्थ पा रही थी। गांधीजी को अपने बीच पा जैसे उसे भी एक नया सहारा मिला।

आज़ादी मिलने के दो हफ़्ते बाद जब गांधीजी ने कलकत्ते के हिन्दुओं की बदले की भावना के खिलाफ़ 'आमरण' अनशन शुरू किया था तब तो शकर ने अपने क्षोभ को एक सीमा में रखकर ही उसकी कटु आलोचना की थी, लेकिन उसके कुछ ही महीने बाद, 13 जनवरी से, जब उन्होंने दिल्ली में फिर से 'आमरण' अनशन शुरू कर दिया तब वह अपने ऊपर क़ाबू नहीं रख सका। गांधीजी के प्रति उसका क्षोभ और क्रोध तब तक पराकाष्ठा पर जा पहुँचा था।

...कलकत्ते से गांधीजी के दिल्ली पहुँचने के बाद, पिछले चार महीनों में, देश-विभाजन के जो दुष्परिणाम तेज़ी के साथ सामने आये थे उनसे बहुतों के सामने यह साफ़ हो गया था कि भारतीय नेताओं ने उसे स्वीकार करके बहुत बड़ी ग़लती कर डाली थी, यही नहीं, जब वह ग़लती साफ़ समझ में आ गयी थी तब भी उसके यत्किंचित् परिहार का जो एकमात्र उपाय उनके सामने रह गया था उसे भी अपनाने के लिए वे तैयार नहीं थे। एकमात्र उपाय अब, उन लोगों की राय में, यही था कि दोनों देशों के बीच साम्प्रदायिक आधार पर आबादी

की अदलावदली कर ली जाय—जिसके पक्ष में 'जागृति' में शंकर शुरू से ही दलील पर दलील देता आया था। और, जैसा कि पीछे मालूम हुआ, केन्द्रीय भारतीय नेताओं में से सरदार पटेल भी तव तक इस मत के हो चुके थे।... लेकिन न जवाहरलाल नेहरू ही इसके लिए तैयार जान पड़ते थे, और न गांधीजी ही। गांधीजी को तो जैसे अभी तक यह विश्वास था कि दिल्ली की अपनी संध्या-कालीन प्रार्थनासभाओं में दिये जाने वाले उनके भाषण भारत-स्थित हिन्दुओं का हृदय-परिवर्तन कर देंगे—जिसके वाद वह पाकिस्तान जाकर वहाँ के मुसलमानों का हृदय-परिवर्तन करने के अपने काम में जुट जा सकेंगे...

लेकिन होता ठीक इससे उलटा ही जा रहा था। पाकिस्तान के नेताओं का आन्तरिक स्वरूप जैसे-जैसे प्रकट होता जा रहा था, हिन्दुओं और सिखों के वदले की भावना उतनी ही ज्यादा वढ़ती जा रही थी...और न सिर्फ़ भारत सरकार के हाथ-पाँव फूल उठे थे, वल्कि गांधीजी का कलकत्ते वाला चार दिन का करिश्मा भी पूरी तरह थोथा सावित हो चुका था। देश-विभाजन होने के क़रीव एक डेढ़ महीने के ही अन्दर लगभग एक करोड़ नर-नारी भारत या पाकिस्तान स्थित अपने घरवार और ज़मीन-जायदाद को छोड़, भिखारियों से भी वदतर हालत में शरणार्थी वने, यहाँ-वहाँ भटक रहे थे, और जिन्हें मौत के घाट उतारा जा चुका था उनकी संख्या भी कम चौंकाने वाली नहीं थी। और, अगले दो-तीन महीने के अन्दर यह भी साफ़ हो गया था कि कम-से-कम पश्चिमी पाकिस्तान में हिन्दुओं या सिखों के लिए कोई स्थान नहीं रह जायेगा : वहाँ वही रह पायेंगे जो क़त्ल होने की जगह धर्म-परिवर्तन करना ज्यादा पसन्द करेंगे।

फिर, अक्टूवर 1947 के अन्त में, काश्मीर पर पाकिस्तान का हमला हुआ और उसके साथ भारत की लड़ाई छिड़ गयी जो दिसम्बर तक चली। और भारत की जीत जव सुनिश्चित दिखाई देने लगी, तभी भारत की स्वाधीन सरकार ने मामला सुरक्षा परिषद के सुपुर्द कर दिया—जिसके वाद पाकिस्तान में हिन्दुओं के ख़िलाफ़ और भी वड़ी ज्यादतियाँ शुरू हुईं और पूर्व पाकिस्तान तथा सिन्ध से भी, जो तव तक अपेक्षाकृत शान्त थे, सामूहिक रूप से उनका निष्क्रमण शुरू हो गया।

यही स्थिति थी—जव अविभाजित भारत की नक़दी के वटवारे में पाकिस्तान के हिस्से के रूप में निर्णीत पचपन करोड़ रुपये की रक़म के भारत सरकार द्वारा दिये जाने का वक़्त आया, और नेहरू सरकार ने इस वार ज़रा कड़ाई दिखायी और तव तक रक़म अदा करने से इनकार कर दिया जव तक कि काशमीर के सवाल का फ़ैसला न हो जाये। और, खुल्लमखुल्ला तो नहीं लेकिन परोक्ष रूप से इसी प्रश्न पर गांधीजी ने इस वार फिर आमरण अनशन शुरू कर दिया—स्पष्ट ही भारत की नेहरू सरकार पर दवाव डालने के लिए।

"...देश का बँटवारा करके उसे आजादी देने के अंग्रेजों के इरादे की बाबत गांधीजी ने यह घोषणा की थी कि वैसा करना उनके शरीर के ही टुकड़े करना होगा और वे प्राण तक देकर उसका मुकाबला करेंगे," शंकर ने इस बार के अग्रलेख में लिखा, "लेकिन जब अन्त में उन्होंने अपनी उस स्पष्ट घोषणा के बावजूद देश-विभाजन को स्वीकार करने वाले कांग्रेस के प्रस्ताव का समर्थन कर दिया तब लोगों को आश्चर्य भी गहरा हुआ था और उनके दिल को भारी धक्का भी जरूर लगा था, लेकिन देशप्रेमी भारतीय जनता में ऐसे लोग कम ही रहे होंगे जिन्होंने इसका कारण यह माना हो कि अपने प्राणों की आखिरी बाजी लगाने से वह घबड़ा गये।

"किन्तु देश-विभाजन होने के बाद से गांधीजी ने दो बार सचमुच ही अपने प्राणों की बाजी लगाकर आमरण अनशन शुरू किया : एक बार तब जब कलकत्ते में हिन्दू-मुसलिम एकता स्थापित करने के अपने करिश्मे को कुछ ही दिन बाद उन्होंने अपनी आँखों के सामने विफल होता देखा; दूसरा अब, जबकि दिल्ली में चार महीने से अधिक काल तक ग़ैर-मुसलिम भारतीयों के दिलों में मुसलमानों के प्रति प्रेम पैदा करने और उनके दिल से बदले की भावना को दूर करने की सारी कोशिशों के बाद वह विफल हो गये हैं। इस बार के उनके आमरण अनशन का प्रत्यक्ष घोषित उद्देश्य अवश्य ग़ैर-मुसलिम भारतीयों का हृदय-परिवर्तन है, किन्तु उनका अप्रत्यक्ष और वास्तविक उद्देश्य है पाकिस्तान के शासकों का दिल जीतने की खातिर भारत सरकार पर दबाव डालना।

"भारत की ग़ैर-मुसलिम जनता, ऐसी स्थिति में, अगर गांधीजी से नम्रतापूर्वक यह प्रश्न पूछना चाहे कि गलती कर चुकने के बाद बार-बार इस तरह अपने प्राणों की बाजी लगाने की जगह उससे पहले ही वह यदि इस तरह का 'आमरण अनशन' उन कांग्रेसी नेताओं का हृदय-परिवर्तन करने के लिए शुरू कर देते, जिन्होंने कि बहुतेरों द्वारा दी जाने वाली चेतावनियों के बावजूद, जिन्ना मोह में पड़कर भारतीय जनता के बीच इस साम्प्रदायिक विद्वेष को और भी बढ़ाया और अत्यन्त व्यापक रक्तपात, बलात्कार, अग्निदाह और सामूहिक धर्म-परिवर्तन के एक अभूतपूर्व दौर को आमन्त्रित किया—तो क्या वह कहीं अधिक मार्मिक और समीचीन न होता ?"

अपने दिल में कब से जमा होते आये जहर को पूरी तरह घोलकर रख दिया था उसने इस बार के अपने अग्रलेख में !

"आजादी की अदलाबदली के पक्ष में सरदार पटेल तो आजादी मिलने के हफ्ते दो हफ्ते बाद ही हो गये थे," अजनीकुमार ने शंकर से कहा था जब कि हैट

दो महीने पहले नवम्बर में एक दिन अचानक वह पटने आ पहुँचा था। यों, शंकर को भी यह बात, सरदार पटेल द्वारा 27 अगस्त, 1947 को गांधीजी को लिखे एक पत्र की बाबत कहीं पढ़ने पर पहले भी मालूम हुई थी। गांधीजी तब कलकत्ते में थे और पंजाब (पाकिस्तान) जाने के लिए उनके पास जब बुलावे पर बुलावे पहुँचने लगे थे तो उन्होंने सरदार पटेल से भी सलाह माँगी थी। सरदार ने इसके जवाब में उन्हें लिखा था : "पंजाब जाकर आप करेंगे क्या ? वहाँ जो प्रचण्ड आग भड़क उठी है उसे बुझाना आपके बस का नहीं। हिन्दुओं, सिखों और मुसलमानों का वहाँ एक साथ रह सकना मुमकिन नहीं है; भविष्य में कभी हिन्दू भले ही वहाँ रह सकें, आज नहीं। लेकिन इस बात की तो कल्पना तक नहीं की जा सकती कि सिख और मुसलमान सुदूर भविष्य में भी एक साथ रह सकेंगे। फ़ौज भी पूरी तरह प्रभावित हो चुकी है। सीमा के दोनों ओर से ही लाखों की तादाद में लोग भाग खड़े हुए हैं। शिविरों में आतंक छाया हुआ है। भागते हुओं पर भी हमला बोला जाता है और उन्हें मौत के घाट उतार दिया जाता है। उन्हें सुरक्षित रूप में बचा-कर निकाल ले जाने की भी तो कोई व्यवस्था नहीं है।"

लेकिन सरदार पटेल के अन्दर, देर से ही सही, जहाँ सद्बुद्धि का उदय हुआ, वहाँ नेहरू ही नहीं, गांधीजी भी अड़े रहे कि आबादी की अदलाबदली नहीं होगी; हिन्दुओं, सिखों और मुसलमानों का हृदय-परिवर्तन करके उन्हें एक साथ भाई-भाई की तरह रहने के लिए निश्चय ही प्रेरित किया जा सकेगा, कम-से-कम भारत में ..

अंजनी जुलाई-अगस्त-सितम्बर 1947 में मेरठ और दिल्ली के ही आसपास था, और उस काल की उन भीषण घटनाओं को उसने न सिर्फ़ प्रत्यक्ष देखा था, बल्कि उनमें सक्रिय भाग भी लिया था। शंकर को यह जानकर बेहद ख़ुशी हुई थी कि देश-विभाजन वाली बात पर ही नहीं, साम्प्रदायिक प्रश्न पर भी अंजनी के विचार वही थे जो उसके अपने थे। "पहले तो हमने पाकिस्तान की योजना स्वी-कार करके ही इतनी बड़ी ग़लती कर डाली," उसने पहले दिन की ही बातचीत में काफ़ी गरमी के साथ कहा था, "और दूसरी बड़ी ग़लती यह, कि पाकिस्तान के इसलामी राष्ट्र बन जाने पर भी भारत को 'सेक्यूलर' राष्ट्र बनाये रखने पर अड़े हुए हैं।"

फिर, थोड़ा रुककर, उतनी ही गरमी के साथ उसने इतना और कह डाला था कि आबादी की अदलाबदली के लिए एक ज़ोरदार आन्दोलन सारे देश में चलाना ही होगा...

फिर शंकर ने भी जब धीरे-धीरे अपने और अपने पत्र में प्रकट किये जाने वाले रुख़ को उसके सामने उद्घाटित करना शुरू किया था तब आग्रह करके अंजनी शंकर के लिखे कुछ पुराने और नये अग्रलेखों को उसी रोज़ आधी रात के

बाद तक भी जगे रहकर सुनता रहा था, और 'मेरे सीना कुर्बा में मदीने मुझे—' वाला अपनैय सुनते-सुनते तो एकबारगी ही भावावेश में आकर उसने शंकर को अपनी बाँहों में भर लिया था...

शंकर पुलकित हो उठा था अजनी को भी अपनी रचनाओं से इस हद तक प्रभावित देखकर...लेकिन धीरे-धीरे जब उसने, उसी रात को क़रीब-क़रीब सुबह का झुटपुटा होने तक, और अगले दिन भी काम-काज से छुट्टी पाकर काफ़ी रात तक, मेरठ और दिल्ली के आसपास के इलाके में अंजनी के कारनामों की गाथा सुनी थी, तो अपनी कलम की शक्ति का उसका सारा गर्व चूर-चूर हो गया था अंजनी की शूरवीरता के आगे।...पंजाब में हुए नर-संहार, बलात्कार, ज़ोर-ज़बर्दस्ती और ज़ुल्मों की वजह से भागकर आने वाले शरणार्थियों को सहारा देने के अभियान में अपनी जान को कई बार उसने जोखिम में डाला था कितने ही अवसरों में...और फिर, उन शरणार्थियों के भीषण से भीषण, रोमहर्षक और दिल दहलाने वाले अनुभवों को सुनकर जब उसके अन्दर भी मुसलमानों के विरुद्ध प्रतिशोध की ज्वाला भड़क उठी थी तब वह उस दूसरे क्षेत्र में भी सक्रिय हो गया था—बदला लेने वाले क्षेत्र में...

"अब भी कभी-कभी अपने हाथों को सूँघने पर मुझे लगता है भैया, जैसे उनसे ख़ून की गंध आ रही है," इस तरह के कई किस्सों को सुनाने के बाद एक दिन वह अचानक कह उठा, और शंकर के चेहरे पर तीक्ष्ण दृष्टि गड़ा मानो यह अन्दाज़ लेने की कोशिश करने लगा, कि उन शब्दों की उस पर क्या प्रतिक्रिया होती है, उन्हें वह कहाँ तक हज़म कर पाता है...

फिर, शायद शंकर के चेहरे पर कोई विपरीत प्रतिक्रिया न पा, इस ओर से आश्वस्त हो जाने पर, कुछ देर बाद वह बोला था :

"लेकिन हाँ...यह तो मैं भूल ही गया था कि कलकत्ते वाली उस शुरुआत के वक़्त...उस ऐतिहासिक साम्प्रदायिक नरमेध के समय...तो आप भी वहीं थे ...और आपने भी..."

...कोई दो साल पहले, कलकत्ते से अपनी माँ और मामाजी से मिलने के लिए वृन्दावन जाते हुए रास्ते में शंकर एक दिन के लिए अजनी से मिलता गया था, जो कुछ ही हफ़्ते पहले जेल से छूटा था। कलकत्ते का वह नरमेध तब तक नहीं हुआ था, और उन दोनों मित्रों के बीच सारी बातचीत एक ही विषय पर केन्द्रित रही थी—1942 के आन्दोलन के अजनी के अनुभव...हवालात में और जेल में उस पर होने वाले ज़ुल्म...

शंकर का रोआँ-रोआँ सिहर उठा था—जेल में होने वाली उन अमानुषिक यातनाओं की कहानी सुनकर : अपने अन्य साथियों का नाम-पता और हुलिया उसके मुँह से निकलवाने के लिए क्या-क्या ज़ुल्म नहीं किये गये थे उस पर !...

कितनी रातों तक उसे खड़ा रखा गया था, और नींद के मारे खड़े ही खड़े झुक-झुक पड़ने पर, मुँह पर पानी के छींटे डाले जाते थे...बदन में चुटकियाँ काटी जाती थीं...कभी-कभी पिनें तक चुभाई जातीं...

आख़िर अंजनी के लिए बिलकुल ही असह्य हो उठी थी उन यातनाओं के बीच गुज़रने वाली वह ज़िन्दगी। "फिर मैंने तय कर लिया भैया," वह कहता गया था, "कि इससे तो मौत ही भली !...लेकिन मौत भी क्या आसान थी ?... आख़िर एक रात मैंने अपने 'सेल' के लोहे के जंगलों पर ज़ोर से अपना सिर दे मारा, और पागल की तरह चीख़ उठा : 'अपनी जान दे दूँगा आज, सालो...!' और आनन-फ़ानन—नम्बरदार, वार्डर और...फिर नायब जेलर दौड़े आये !... उनके आने पर मैंने और भी भद्दी से भद्दी गालियाँ बकना और साथ ही ज़ोर-ज़ोर से उन जंगलों पर फिर अपना सिर मारना शुरू कर दिया...

"जल्दी-जल्दी जेल का ताला खोला गया, और मुझे अस्पताल वार्ड में ले जाया गया !...मेरे सिर से ख़ून की धारें बह रही थीं...

"और, उस दिन से मुझे उन सारी यातनाओं से अचानक छुट्टी मिल गयी।...फिर किसी भी साले सी० आई० डी० वाले ने आकर मुझे तंग नहीं किया—"

...अंजनी की वह हैरत-अंग्रेज दास्तान सुनने के बाद जहाँ एक ओर शंकर ने अपने को एक बार फिर काफ़ी छोटा महसूस किया था उसकी उस शूर-वीरता के सामने, वहाँ दूसरी ओर स्वामीजी के साथ हुये अपने अनोखे अनुभवों को उसे सुनाकर उनकी ओर उसे आकृष्ट करने की उसकी इच्छा भी तीव्र हो गयी थी। सच पूछा जाये तो इसी बात को सामने रखकर तीन-चार दिन तक उसके पास रह जाने का इरादा करके वह आया भी था; लेकिन आने के साथ ही उसमें एक अजीब परिवर्तन पाया था उसने—सिर्फ़ अपने ही नहीं, बल्कि सभी के प्रति—एक अजीब उदासीनता...एक अजीब तटस्थता...एक मूक छटपटाहट ! ...1942 के अपने अनुभवों को भी बड़ी मुशकिल से ही वह सुनाने को तैयार हुआ था, और पूरा उत्साह तो उसे तभी आ पाया था जब जेल वाली उन यातनाओं की दास्तान तक पहुँचा था !

...लेकिन, अपने बच्चे की मृत्यु का प्रसंग छिड़ जाने पर जब, उससे फ़ायदा उठा, शंकर ने स्वामीजी के पास जाकर राहत पाने की अपनी बात कहनी शुरू की थी तब तक, उसने देखा, अंजनी न जाने कहाँ दूर चला गया था, और शंकर को वह बात आगे बढ़ाने का मौक़ा नहीं मिल पाया।...फिर भी उसने चाहा था कि दो-चार दिन और रुक-कर वह मौक़े की तलाश में रहेगा कि कब उसके कानों में वे बातें कुछ तो डाल ही दी जायें—क्योंकि उसकी वह नयी अन्यमनस्कता, उसकी वह नये ही ढंग की छटपटाहट शंकर को इस बार और भी व्यथित करने

लगी थी, और इस बात के लिए व्यग्र, कि किसी तरह यह अंजनी भी स्वामीजी के पास जाने को तैयार हो जाये और अपनी उन अन्तर्ग्रन्थियों को कुछ तो ढीला कर डाले जिनके कारण ही वह जेल से बाहर आकर भी स्वस्थचित्त नहीं दिखाई दे रहा है।

लेकिन अंजनी ने इसका भी मौका शंकर को नहीं दिया। अगले दिन ही उसे एक जरूरी काम से कहीं बाहर जाना था, उसने शंकर को बताया। "माला और नन्दिनी तो यहीं हैं ही भैया...आप चाहें तो इनके पास रहें कुछ दिन... मगर मुझे तो एक हफ्ता बाहर जरूर लग जायेगा..."

शंकर समझ गया था कि अंजनी उससे भी जैसे बचना ही चाह रहा था...

लेकिन इस बार अंजनी ने पटने आकर पिछले कुछ महीनों के अपने कारनामों का जो चिट्ठा उसके सामने खोलकर रखा उससे शंकर इतना प्रभावित हो उठा था कि उसकी 'मानसिक अन्तर्ग्रन्थियों' की बात मन में आ ही नहीं पायी थी; उलटे अपने को ही वह उसके सामने किसी हद तक छोटा महसूस कर उठा था—कि देश पर आये इतने बड़े संकट के समय भी वह स्वयं केवल एक द्रष्टा बना रह गया था, उसकी सारी सक्रियता केवल लेखनी तक ही सीमित थी...

जनवरी 1948 में दिल्ली में शुरू किये गये गांधीजी के अनशन पर लिखे शंकर के अग्रलेख की प्रतिक्रिया अनुकूल भी हुई, प्रतिकूल भी।

विद्याभूषण को जरूर, टेलिफोन पर और प्रत्यक्ष भी, किसी हद तक कटु टीका का सामना करना पड़ा : गांधीजी के प्राण तक जब संकट में हैं...तब भी आप अपने पत्र में कैसे इस तरह खुल्लमखुल्ला छींटाकशी कर सके ?...

बेचारे विद्याभूषण ने इस तरह का पहला टेलीफोन आने के बाद ही, जल्दी-जल्दी, अब यह अग्रलेख पढ़ा—उसके प्रकाशित होने के दो-तीन बाद—कहीं बाहर से लौटने पर।

फिर—शंकर के कमरे में आकर उससे बात की।

"मगर—कोई गलत बात लिखी है मैंने ?" शंकर ने उलटे उन्हीं से प्रश्न कर डाला। "आपकी राय में गांधीजी की, या किसी भी एक व्यक्ति की जान ज्यादा बड़ी है...या समूचे देश का भविष्य ?...गांधीजी जब इस तरह, बार-बार, जान देने पर तुल जा सकते हैं देश के टुकड़े करना सह लेने के बाद...तो क्या उसके टुकड़े न होने देने के लिए, सिर्फ एक बार, अपनी जान की यह बाजी नहीं लगा दे सकते थे ?"

इतना कहते-कहते शंकर का खून एक बार फिर गरम हो उठा था—खास तौर से इसलिए भी कि तब तक प्राप्त होने वाले समाचारों से इस बात के आसार

दिखाई देने लगे थे कि गांधीजी के प्राणों की रक्षा के लिए नेहरू सरकार को झुक जाना पड़ेगा...पचपन करोड़ की 'नक़द भुगतान' वाली रक़म उसी दम पाकिस्तान को चुका देनी होगी...

... ...

"बात यह है भाई...कि हम शुरू से ही आदर्शवाद और भावुकता की बाढ़ में बहकर बेवकूफ़ी पर बेवकूफ़ी करते आ रहे हैं," शंकर के पटना-स्थित मित्र सूर्यवंशी सिंह ने गांधीजी के अनशन की समाप्ति पर उसके यहाँ आकर छूटते ही कहा।

विद्याभूषण भी नज़दीक ही खड़े थे। वह पूछ उठे : "क्या बेवकूफ़ी ?"

"यही—कि लार्ड माउंटबटन को हमने अपना पहला गवर्नर-जेनरल बनाया ...जबकि उधर पाकिस्तान के गवर्नर-जेनरल ख़ुद जिन्ना साहब बने।...दूसरी तरफ़, जिन्ना ने अपना कमांडर-इन-चीफ़ बनाया हमारे पिछले अंग्रेज़ कमांडर-इन-चीफ़ जेनरल आचिनलेक को, क्योंकि वह जानते थे कि उन्हें काश्मीर पर हमला करना है।...हमले की वह सारी योजना जेनरल आचिनलेक से उन्होंने बनवायी, और जब हमला हो गया तो...स्वाभाविक बात है कि ब्रिटिश सरकार जेनरल आचिनलेक की बात पर ज्यादा कान देगी, हमारी बात पर कम!...और जब हम जवाब में पाकिस्तान की 'नक़द भुगतान' वाली रक़म को रोक लेते हैं तो हमारे अंग्रेज़ गवर्नर-जेनरल साहब गांधी की भलमनसाहत का फ़ायदा उठा उन्हें यही पट्टी पढ़ाते हैं कि हमारी सरकार का यह क़दम अन्यायपूर्ण है..."

सूर्यवंशी सिंह लगभग शंकर की ही उम्र के थे—अब कोई इकतालीस-बयालीस के। उनके साथ उसका परिचय बनारस का था और बहुत पुराना। लेकिन उनके साथ उसकी घनिष्ठता पटने की 'जागृति' में आने पर ही हुई थी।... काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम. ए. करके वह 'रिसर्च' में लगे हुए थे कि एक तथाकथित आतंकवादी षड्यंत्र के सिलसिले में पकड़े गये, और बरसों तक मुक-दमा चलने पर जब उनके ख़िलाफ़ कोई पक्का सबूत नहीं मिला तब भी उन्हें जेल में ही रखा गया। लेकिन, 1937 में, बिहार में 'प्रान्तीय स्वराज्य' की कांग्रेसी सरकार क़ायम होने पर जब उसने उन्हें रिहा कर दिया, तब वह पटने आ गये और तभी से शंकर की उनके साथ घनिष्ठता शुरू हुई। इन दिनों वह पटने में ही एक बड़ी व्यावसायिक संस्था के सेक्रेटरी के पद पर थे...

सूर्यवंशी सिंह के अन्दर भी शंकर को कुछ वैसी ही आग शुरू से दिखाई दी थी जैसी अंजनी के अन्दर थी।...1942 में वह पकड़े तो नहीं गये थे लेकिन 'अंडरग्राउंड' रहकर उन्होंने भी कम परेशान नहीं किया था अंग्रेजी सरकार को।...और 1946 में, कलकत्ता और नोआखाली के नर-संहारों का बदला लेने के लिये बिहार के हिन्दुओं ने जो कुछ किया था उसमें सूर्यवंशी सिंह का भी,

अन्दर ही अन्दर, काफी दूर तक छाप रहा था, हालांकि उनके अपने हाथों पर शायद किसी के खून के दाग नहीं थे...

देश-विभाजन के सम्बन्ध में 'जागृति' में शकर द्वारा अपनायी गयी नीति के वह एक प्रबल समर्थक थे, और कभी-कभी—जब विद्याभूषण शकर के लिखे किसी उग्र अग्रलेख पर किसी क्षेत्र में होने वाली प्रतिकूल प्रतिक्रिया से प्रभावित हो उनके लिए किसी हद तक एक समस्या बन जाते—सूर्यवंशी सिंह विद्याभूषण से मोरचा लेने उन लोगों के दफ्तर आ धमकते थे, देर तक उनके साथ बहस करते थे, 'जागृति' के किसी वैसे ही दूसरे उग्र अग्रलेख की तारीफ में कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे क्षेत्रों में उन्होंने प्रशसा ही प्रशसा सुनी थी उसका विस्तार से वर्णन करते थे, जिसके बाद काफी दिन तक विद्याभूषण का ह्रासोन्मुख मनोबल ऊपर उठने लगता था, और शकर का रास्ता आसान हो जाता था।

...हिन्दू-मुसलिम प्रश्न पर गांधीजी और कांग्रेस की नीति का खुलकर विरोध करने का साहस केवल हिन्दू महासभा ही शुरू से करती आयी थी, लेकिन स्वाधीनता-सग्राम से वह सदा ही विमुख रही थी—जिस वजह से देश की आम जनता के बीच कभी भी वह लोकप्रिय नहीं हो पायी। तब तक हुए हर चुनाव में कांग्रेस के मुकाबले उसकी हार ही हार होती गयी थी। लेकिन देश-विभाजन हो जाने के बाद उसका, खास तौर से उसके सक्रिय पक्ष राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ का, जोर बढ़ने लगा था। 'आर. एस. एस.' के सक्षिप्त नाम से बाद को मशहूर हो जाने वाले इस सघ के महाराष्ट्री नेता गुरु गोलवलकर की कार्रवाइयाँ इधर काफी तेज होती जा रही थीं और जगह-जगह सघ के वर्दीधारी स्वयसेवकों को 'व्यायाम' करते देखा जाने लगा था। देखते ही देखते, पटने में भी इनकी सख्या सैकड़ों से बढ़कर हजारों तक जा पहुँची थी।

साम्प्रदायिक नीति के मामले में कांग्रेस और गांधीजी का पूरा विरोध करते हुए भी, शकर के लिए, हिन्दू महासभा या उसके उस स्वयंसेवक सघ का समर्थक बनना संभव नहीं था। उन लोगों का कट्टर हिन्दूपन, आर्थिक मामलों में उनके सर्वथा 'प्रतिक्रियाशील' विचार, उनका उग्र हिन्दू राष्ट्रवाद—इन सभी से शकर को नफ़रत थी : उसके मार्क्सवादी विचारों के साथ भी उनका कोई मेल नहीं था।

लेकिन सूर्यवंशी सिंह धीरे-धीरे इन लोगों के आन्दोलन की ओर तेजी से खिंचने लग गये थे।

... ...

"बहुत ठीक लिखा...क्या खूब।...बधाई...बहुत-बहुत बधाई—" दिल्ली में गांधीजी द्वारा छेड़े जाने वाले अनशन पर शकर के अग्रलेख वाली 'जागृति' की अपनी प्रति हाथ में लिये सूर्यवंशी सिंह धड़धड़ाते शकर के घर के अन्दर घुस

भाई...जवाहरलाल नेहरू की सरकार झुककर रहेगी...और तीन-चार दिन में ही गाधीजी का यह अनशन भी टूट जायेगा..."

"तुम तो इस तरह कह रहे हो," सुशीला अपनी चाय की एक घूंट गले में उतार तब धीरे से बोली : "जैसे सही मना रहे हो कि इस बार गाधीजी...इसी अनशन में...अपनी जान दे बैठें..."

"नहीं भाभी," सूर्यवंशी सिंह अचानक उत्तेजित स्वर में गरज-से उठे, "यह बूढ़ा अनशन करके जान देने वाला नहीं है।...यह किसी की गोली का शिकार होकर ही अपने प्राण देगा।...देख लीजियेगा—" और एक ही घूंट में अपने प्याले की बाकी चाय गले में उतार तेजी से उठ खड़े हुए।

"चलता हूँ...दफ्तर जाने की तैयारी करनी है—" कहते, फिर एक पल भी वहाँ और ठहरे बिना, उस कमरे से बाहर निकल गये।

शंकर तक को स्तब्ध रह जाना पड़ा उनकी उस आकस्मिक उत्तेजना से, लेकिन "ठहरिये...ठहरिये" कहता, जब तक वह उनके पीछे-पीछे बाहर तक आया, तब तक वह अपनी गाड़ी 'स्टार्ट' कर उसकी ओर ताके बिना तेजी के साथ 'जागृति' के अहाते से बाहर हो गये।

धीरे-धीरे चलता शंकर लौटकर अपने कमरे में आया, और उसकी आँखों के सामने करीब-करीब इसी तरह की एक दूसरी तस्वीर नाच उठी...

"ताज्जुब है भैया," इसी कमरे में, कोई डेढ़ महीने पहले, अंजनी अचानक ही उससे कह उठा था, "कि अभी तक गाधीजी सही-सलामत हैं...वरना, हिन्दू और सिख शरणार्थियों के जिस गुस्से को दिल्ली में मैं खुद अपनी आँखों देख आया था...उससे तो लगता था कि अब तक किसी नौजवान की गोली उनके सीने के आरपार हो जाती..."

शंकर कुछ पल तो कुछ नहीं बोला था जवाब में। फिर उसने उसकी आँखों में अपनी आँखें गड़ाकर पूछा था : "इस शहादत का भी सेहरा अपने ही सिर पर रखने का ख्याल तो नहीं आ रहा है?"

"नहीं भैया," अंजनी ने फौरन ही पलटकर जवाब दिया था। "यह सेहरा सभाल सकने का गौरव इस निकम्मे सिर को नहीं मिलने वाला है।...1930 से 1942 तक जिस शख्स को देवता की तरह अन्दर ही अन्दर पूजता आया था उस पर गोली चलाते वक्त...मैं जानता हूँ...मेरे हाथ कांप जायेंगे..."

"गाधीजी को गोली मार दी गई...गाधीजी को गोली लगी..." चिल्लाते हुए रात वाली ड्यूटी के समाचार-सम्पादक शंकर के कमरे में घुस आये, जब वह अपनी मेज के सामने बैठा कोई किताब पढ़ रहा था।

"क्या—?—?—?" शंकर एकदम हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ। फिर उनको धक्का-सा ही देता, आँधी-तूफ़ान की तरह, टेलीप्रिंटर मशीन के सामने जा खड़ा हुआ, जहाँ तब तक सम्पादकीय विभाग में रात की ड्यूटी पर काम करने वालों की पूरी भीड़ लग चुकी थी। सभी ने उसके लिए रास्ता छोड़ दिया, और एक उप-संपादक के हाथ से उसने टेलीप्रिंटर से बाहर निकली चली आने वाली काग़ज़ की वह लम्बी पट्टी अपने हाथ में ले ली।

...समाचार कुछ देर पहले से ही आना शुरू हो चुका था, लेकिन मशीन से निकलती चली आने वाली काग़ज़ की पट्टी जब तक काफ़ी लम्बी नहीं हो गयी थी तब तक उस अंश को काटकर अगले समाचार तैयार करने की ज़रूरत नहीं पड़ी थी।

और अब—जबकि वह लम्बी पट्टी बार-बार दुहराये जाने वाले उस एक ही समाचार से भर गयी थी—सबके दिल में यही पछतावा था कि दस-पन्द्रह मिनट पहले उनमें से कोई टेलीप्रिंटर तक क्यों नहीं गया...

लेकिन समाचार की पूरी गंभीरता तब तक शंकर के दिल की पूरी गहराई में उतर ही नहीं पायी जब तक कि उसके हाथों में से नीचे सरकती चली जाने वाली काग़ज़ की उस पट्टी में साफ़-साफ़ शब्दों में यह ख़बर नहीं दिखाई दी कि गांधीजी की मृत्यु हो गयी।

शंकर के हाथों से काग़ज़ छूटकर गिर पड़ा। उसे लगा जैसे उसके नीचे से अचानक ही धरती खिसक गयी...

लड़खड़ाते पाँवों से, किसी तरह गिरता-पड़ता, वह अपने घर में आकर खाट पर जा पड़ा...

... ...

"ओः...यह क्या हुआ...अरे—यह क्या हो गया—" दोनों हाथों में अपना सिर थामे शंकर खाट पर बैठा था, और पास ही उसके कंधे पर हाथ रखे बैठी सुशीला चुपके-चुपके आँसू बहा रही थी...

तभी बग़ल वाले कमरे से प्रधान समाचार-सम्पादक श्रीकान्त बाबू की आवाज़ आयी :

"उदयशंकरजी..."

धीरे-धीरे खाट पर से उठकर शंकर बगल के कमरे में आया जो उसका दफ़्तर था।

"बहुत ही बुरा हुआ।...मैं तो एक पड़ौसी के घर में था...कि रेडियो पर ख़बर सुनी। सीधा वहीं से दौड़ा चला आ रहा हूँ।...इसी वक़्त क्या जागृति का एक छोटा-सा परचा नहीं निकाला जा सकता—सिर्फ़ शहर के लिए?"

"इधर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया था," बिजली की-सी तेज़ी के साथ शंकर

का पूरा तन-मन चेतन हो उठा। "कितना वक़्त लग जायेगा ?...आधे घंटे में निकाल दे सकेंगे ?...ज़्यादा देर होने से तो—"

विद्याभूषण पटने से बाहर थे। फ़ैसला उन्हीं लोगों को करना था।

"आधे घंटे में तो नहीं...लेकिन एक घंटे में ज़रूर निकल आ सकता है।" श्रीकान्त बाबू ने जवाब दिया। "वैसे...कुछ देर भी हो जाए तो भी...रात नौ-दस बजे तक भी अख़बार की बिक्री हो ही जायेगी आज तो—"

"मगर 'हॉकरों' को कैसे ख़बर देंगे ?" शंकर कुछ पसोपेश में पड़ा।

"बाहर के 'हॉकरों' का क्या होगा ?" तब तक पास आ खड़े हुए रुद्रनारायण सिंह, जो कम्पोज़िंग विभाग के फ़ोरमैन थे, बोल उठे। "कम्पोज़ीटरों और मशीन में काम करने वालों को मिलाकर इस 'शिफ़्ट' पर सत्तरह-अठारह लोग तो हमीं हैं।...हमीं लोग फेरी लगाकर बेच आयेंगे..."

एक मिनट का भी वक़्त और ज़ाया किये बिना सारा दफ़्तर तेज़ी के साथ जुट गया—जागृति के पृष्ठ के आधे आकार का दो पृष्ठों का वह विशेष संस्करण निकालने के काम में...

अगले घंटे-डेढ़ घंटे तक किसी भावाविष्ट की नाईं शंकर भी जुटा रहा उस काम में : कभी ख़ुद ही टेलीप्रिंटर पर आये ताज़े समाचार की किसी कतरन का हिन्दी में अनुवाद करते, कभी श्रीकान्त बाबू के साथ मोटे से मोटे अक्षरों में दिये जाने वाले सम्पूर्ण पृष्ठव्यापी शीर्षक तैयार करते, कभी प्रूफ देखते...और कभी, कम्पोज़िंग डिपार्टमेंट या मशीन शेड में जाकर अन्य कर्मचारियों का उत्साह बढ़ाते, ताकि हिन्दी के किसी दूसरे अख़बार से जागृति पीछे न रह जाय बाज़ार में...

लेकिन सब-कुछ जैसे किसी मशीन की तरह करता जा रहा था उस बीच बराबर उसे यही लगता रहा था जैसे यथार्थ की नहीं स्वप्न की दुनिया में है...जैसे, टेलीप्रिंटर से उगली चली आती सफ़ेद काग़ज़ की उस पट्टी पर एक के बाद एक जितने भी समाचार चले आ रहे थे, और जिनका अनुवाद होता चल रहा था, शीर्षक बनता जा रहा था, और जिनका प्रूफ उसकी निगाह के नीचे से गुज़रता गया था...वह सभी अयथार्थ है...

लेकिन जब उस विशेष संस्करण की पहली प्रति उसके हाथ में आ गयी, और छापे के बड़े-बड़े साफ़ और मोटे अक्षरों वाले उस सम्पूर्ण पृष्ठव्यापी शीर्षक पर उसकी नज़र पड़ी : 'प्रार्थना सभा में महात्मा गांधी की निर्मम क्रूर हत्या,' तो उसे लगा, जैसे अचानक ही वह सोते से जग पड़ा हो वह ठोस यथार्थ अपनी पूरी और बेहद भयानी सचाई के साथ उसके सामने जैसे एकबारगी मूर्त हो उठा। उसके दिल की अतल गहराइयों से एक बड़ी ही भयानी साँस बाहर निकली,

कुछ देर के लिए तो कुरसी पर बैठे-बैठे भी उसे लगा जैसे वह वहाँ है ही नहीं...

कब वह वहाँ से उठकर धीरे-धीरे चलता, अपनी चौथी या पाँचवीं सिगरेट का धुआँ गले से उगलता, अपने दफ़्तर वाले कमरे में अन्दर चला आया था, कब अपनी मेज़ के सामने की कुरसी पर धम से बैठ गया था...और फिर कब वहाँ से भी उठकर आँगन की ओर वाले अपने बरामदे में आकर चहलकदमी करता सिगरेट पर सिगरेट फूंकता चला गया था—इसकी स्वप्न जैसी एक धुँधली स्मृति ही उसके अन्दर रह गयी थी।

सारी रात शंकर सो नहीं पाया।

सारी रात वह, एक के बाद एक, सिगरेट पर सिगरेट फूंकता रहा।

सारी रात वह या तो उस बरामदे में चहलकदमी करता रहा, या लगातार घंटे-घंटे भर तक, कमरे के अन्दर अपनी खाट पर चुपचाप सिर लटकाये बैठा रहा—धीरे धीरे बढ़ती जाने वाली, जनवरी के अन्त की, उस ठंड से बेख़बर।... कब सुशीला पास वाली अपनी खाट से धीरे धीरे उठकर उसके बदन के चारों ओर कम्बल लपेट देती...कब उससे मनुहार करने लगती कि अब वह और सिगरेट न पिये, और गरम कोट उतार बिछौने पर लेट जाए—जैसे कहीं दूर से, अपने अस्तित्व से अनभिज्ञ वह सुनता और देखता...और फिर न जाने कब एक बार फिर उठकर धीरे-धीरे, एक मरी-सी, थकी-सी पस्त चाल से चलता बरामदे में आ जाता...

अचानक ही किसी वक़्त उसके क़दम रुक गये, और फिर, "मैंने ही मारा है बापू को—" कहता, दिल की अतल गहराइयों से उमड़ी चली आ रही रुलाई के वेग को किसी तरह रोक वह दौड़ता-सा आकर अपनी खाट पर औंधा पड़ गया...और बड़ी बड़ी सिसकियों से उसका सारा बदन हिलने लगा।

"मैंने ही तुम्हें मारा है बापू !...मैं ही तुम्हारा हत्यारा हूँ..." बार बार उसके अवरुद्ध गले से, अस्फुट से स्वर में, ये ही शब्द निकलते रहे लगातार... और धीरे-धीरे उठकर किसी समय जब वह खाट पर बैठ गया तब अपने दोनों हाथों से माथा पीटने लगा।

"कर क्या रहे हो...ये क्या कर रहे हो ?" कहती सुशीला तब हड़बड़ाई-सी अपनी खाट पर से उठकर उसकी बगल में आकर बैठ गई, और उसके दोनों हाथों को कसकर अपनी मुट्ठियों में जकड़ लिया...

फिर, कुछ देर तक, वे दोनों ही, अग़ल-बग़ल बैठे चुपचाप आँसू बहाते रहे।

... ...

तीन या चार दिन तक चला शंकर का यह रोना।...जब-जब काम से फुर्सत मिलती, और रात को भी बिछौने पर पड़ने के बाद, देर तक उसकी आँखों से आँसू बहते रहते, और बापू के स्नेहमयी मूर्ति वाले कितने ही पिछले चित्र आँखों के सामने घूमते चले जाते। और बार-बार उसके मुँह से ये ही शब्द निकलते : "मैंने ही तुम्हें मारा है बापू।...मैं ही तुम्हारा हत्यारा हूँ—"

फिर, अचानक ही एक दिन उसकी वह रुलाई थम गयी। पूरी तरह थम गयी...

रोज की ही तरह, रात को अपने बिछौने पर पड़ जाने पर, और कुछ देर तक चुपचाप आँसू बहाकर किसी समय आँखें लग जाने के बाद, अचानक ही जैसे एक झटके के साथ उसकी यह हलकी-सी नींद या तन्द्रा टूट गयी थी...और उसे लगा था कि उसके हाथ में पिस्तौल थी, पीछे से कुछ लोग उसे जोर से पकड़े हुए थे, और उन सबकी उपेक्षा करता वह तना हुआ खड़ा था—अपनी छाती फुलाये...

ठीक गोडसे वाला वह चित्र, जो उसकी आँखों के आगे घूम-घूम गया था—जब से बापू के हत्याकारी उस नवयुवक के बारे में समाचार आने शुरू हुए थे...

उसे लगा, जैसे वही गोडसे हो...

× × ×

"उसके बाद से, गांधीजी के प्रति मेरा सारा राग-द्वेष, उनके प्रति संचित वह सारा क्षोभ और रोष, उनकी हत्या के बाद उनके प्रति उमड़ आने वाला वह गहरा दुःख और शोक—कुछ भी तो कायम नहीं रह गया स्वामीजी," अगली बार आश्रम पहुँचने पर, वह सारा अनुभव सुना डालने के बाद, शंकर बोला।..."मैं ही गोडसे हूँ—वाले उस उल्लासपूर्ण बोध ने मेरे अन्दर कोई विपरीत प्रतिक्रिया नहीं पैदा की, और तभी जाकर मुझे अचानक पता चला था कि बापू के हत्याकारी उस हिन्दू नवयुवक के बारे में अगले दिन से जो समाचार आने शुरू हो गये थे उन्हें पढ़कर एक बार भी तो मेरे अन्दर उसके प्रति कोई रोष नहीं उत्पन्न हुआ था, एक बार भी तो मन-ही-मन उसे धिक्कारा नहीं था मैंने...

"बापू के खिलाफ इतने लम्बे वक्त तक 'जागृति' में जिहाद चलाने के बाद, उनकी हत्या पर, उनकी मृत्यु पर, मैं क्यों इस कदर फूट-फूटकर रोया था—यह बात खुद मेरे लिए एक पहेली-सी बनती चली गयी थी। पर यह सारी उलझन एकबारगी ही अब सुलझ गयी, और मेरी आँखों के सामने से एक परदा-सा अचानक उठ गया : उनकी हत्या करने की इच्छा मेरे दिल की गहराइयों में बराबर ही मौजूद रही थी—मैंने अब देखा, लेकिन अपने चेतन मन में उसे स्वीकार करने का साहस मेरे अन्दर नहीं था—मानाजी वाले बचपन के उस

प्रसंग से उत्पन्न भय के ही कारण, जो अभी भी इस हद तक अन्दर जमा पड़ा था।...नानाजी से बदला लेने की उस प्रच्छन्न इच्छा के फलस्वरूप, दरअसल, एक अपराधी-भाव मैं अभी तक ढोये चल रहा था अपने अन्दर।...उसी निरुद्ध भाव के कारण, बापू के हत्याकारी के साथ अन्दर-ही-अन्दर हो उठी मेरी तद्रूपता ने, जिसे अस्वीकार करके मैं अपने चेतन मन को धोखा देना चाह रहा था, अनजाने ही मेरे उस अपराधी-भाव को जगा दिया था और मेरा चेतन मन, प्रायश्चित्त स्वरूप—या उस हत्या में अपने दायित्व को अस्वीकार करने के प्रमाण स्वरूप—इतने लम्बे वक़्त तक मुझे रुलाता रहा था !"

इतना कहकर शंकर कुछ देर के लिये रुका, और जब स्वामीजी ने उतना सब सुन चुकने पर भी उसी दम कुछ नहीं कहा, तो फिर बोला :

"और सबसे बड़ी बात तो यह है स्वामीजी...कि गांधीजी के प्रति वर्षों से संचित सारा क्रोध और रोष, बल्कि पूरा राग-द्वेष ही—क्योंकि क्रोध और रोष तो आसक्ति के कारण ही होता है न ?—मेरे अन्दर से जैसे छूमन्तर होकर ग़ायब हो गया...जैसे, उस ऐम्बिवैलेंस के इस तरह अचानक प्रकाश में आ जाने से राग-द्वेषात्मक उस द्वैध भाव की वह जड़ ही कट गई। नतीजा यह हुआ किया कि उसके बाद 'जागृति' में मैंने गांधीजी की बाबत जो भी लिखा...उनके श्राद्ध के अवसर पर निकाले जाने वाले विशेषांक का जिस रूप में सम्पादन किया...उनके संस्मरणों की जो लेखमाला शुरू की—उनसे कोई इस बात का अन्दाज नहीं लगा सकता कि गांधीजी के प्रति मेरी भक्ति किसी से भी कम है...या यह, कि देश भर में इस अवसर पर जो शोक व्याप गया है उससे मैं किंचित मात्रा में भी अछूता रह गया हूँ।...देश के, अपने पाठकों के, अपने सहयोगियों के, मनोभावों के साथ मेरे मनोभावों का कहीं भी पार्थक्य है—यह कोई भी नहीं पकड़ पाया होगा !...उनके संस्मरण भी बिलकुल 'ऑब्जेक्टिव' दृष्टि से लिख रहा हूँ...बापू का जब अनुयायी था तब के ही भाव इन संस्मरणों में देखने को मिलेंगे...बाद वाले गांधी-द्वेषी शंकर की, या आज वाले, गांधी के प्रति रागद्वेष-रहित हो उठे शंकर की कोई छाप उन पर नहीं दिखायी देगी !"

और वह चुप हो गया।

"बहुत ठीक...बहुत सुन्दर !" कुछ देर बाद स्वामीजी बोले। "...सबसे बड़ी बात यह, कि तुमने ख़ुद ही इतना-सब देख लिया !...कम बड़ी बात नहीं है यह..."

"लेकिन—इसका श्रेय तो मुझको नहीं, इतनी बड़ी और आकस्मिक इस घटना को है, स्वामीजी," शंकर ने तुरन्त ही कह देना जरूरी समझा। "...इस संयोग के बिना क्या मैं यह सब देख पाता...अन्दर ही अन्दर कब से मुझे नचाते आने वाले इस 'ऐम्बिवेलेंस' का इस तरह क्या पर्दाफ़ाश हो पाता ?"

प्रसंग से उत्पन्न भय के ही कारण, जो अभी भी इस हद तक अन्दर जमा पड़ा था।...नानाजी से बदला लेने की उस प्रच्छन्न इच्छा के फलस्वरूप, दरअसल, एक अपराधी-भाव मैं अभी तक ढोये चल रहा था अपने अन्दर।...उसी निरुद्ध भाव के कारण, बापू के हत्याकारी के साथ अन्दर-ही-अन्दर हो उठी मेरी तद्रूपता ने, जिसे अस्वीकार करके मैं अपने चेतन मन को धोखा देना चाह रहा था, अनजाने ही मेरे उस अपराधी-भाव को जगा दिया था और मेरा चेतन मन, प्रायश्चित्त स्वरूप—या उस हत्या में अपने दायित्व को अस्वीकार करने के प्रमाण स्वरूप—इतने लम्बे वक़्त तक मुझे रुलाता रहा था !"

इतना कहकर शंकर कुछ देर के लिये रुका, और जब स्वामीजी ने उतना सब सुन चुकने पर भी उसी दम कुछ नहीं कहा, तो फिर बोला :

"और सबसे बड़ी बात तो यह है स्वामीजी...कि गांधीजी के प्रति वर्षों से संचित सारा क्रोध और रोष, बल्कि पूरा राग-द्वेष ही—क्योंकि क्रोध और रोष तो आसक्ति के कारण ही होता है न ?—मेरे अन्दर से जैसे छूमन्तर होकर ग़ायब हो गया...जैसे, उस ऐम्बिवैलेंस के इस तरह अचानक प्रकाश में आ जाने से राग-द्वेषात्मक उस द्वैध भाव की वह जड़ ही कट गई। नतीजा यह हुआ किया कि उसके बाद 'जागृति' में मैंने गांधीजी की बाबत जो भी लिखा...उनके श्राद्ध के अवसर पर निकाले जाने वाले विशेषांक का जिस रूप में सम्पादन किया...उनके संस्मरणों की जो लेखमाला शुरू की—उनसे कोई इस बात का अन्दाज़ नहीं लगा सकता कि गांधीजी के प्रति मेरी भक्ति किसी से भी कम है...या यह, कि देश भर में इस अवसर पर जो शोक व्याप गया है उससे मैं किंचित मात्रा में भी अछूता रह गया हूँ।...देश के, अपने पाठकों के, अपने सहयोगियों के, मनोभावों के साथ मेरे मनोभावों का कहीं भी पार्थक्य है—यह कोई भी नहीं पकड़ पाया होगा !... उनके संस्मरण भी बिलकुल 'ऑब्जेक्टिव' दृष्टि से लिख रहा हूँ...बापू का जब अनुयायी था तब के ही भाव इन संस्मरणों में देखने को मिलेंगे...बाद वाले गांधी-द्वेषी शंकर की, या आज वाले, गांधी के प्रति रागद्वेष-रहित हो उठे शंकर की कोई छाप उन पर नहीं दिखायी देगी !"

और वह चुप हो गया।

"बहुत ठीक...बहुत सुन्दर !" कुछ देर बाद स्वामीजी बोले। "...सबसे बड़ी बात यह, कि तुमने ख़ुद ही इतना-सब देख लिया !...कम बड़ी बात नहीं है यह..."

"लेकिन—इसका श्रेय तो मुझको नहीं, इतनी बड़ी और आकस्मिक इस घटना को है, स्वामीजी," शंकर ने तुरन्त ही कह देना ज़रूरी समझा। "...इस संयोग के बिना क्या मैं यह सब देख पाता...अन्दर ही अन्दर कब से मुझे नचाते आने वाले इस 'ऐम्बिवेलेंस' का इस तरह क्या पर्दाफ़ाश हो पाता ?"

शंकर का पूरा दम जैसे घुटकर ही गया !...कुछ देर के लिए तो लगा, मानो प्रलय ही आ गयी हो!...पलभर के लिए उसकी नजर जब स्वामीजी के चेहरे की ओर उठ गयी थी, तो उसे उनकी दृष्टि में जैसे अपने नानाजी ही दिखाई दे गये थे !

गान्धीजी की हत्या के कुछ समय बाद आश्रम पहुँचने पर जब नानाजी वाला वह बिलकुल ही नया और कहीं-अधिक प्रचण्ड प्रसंग उद्घाटित हुआ था, तब से लेकर अब तक, पिछले तीन-चार वर्षों के बीच, उस उम्र में भी पहले की दबी-पड़ी स्मृतियाँ उसके अचेतन के बन्द दरवाज़ों को तोड़कर बाहर आती गयी थीं।...ऐसा प्रतीत होता था, मानो नानाजी का जो प्रचण्ड भूत इन बन्द दरवाज़ों के सामने एक कड़े पहरेदार की नाईं हरदम खड़ा रहा था उसके जीवन में, उसके परास्त हो चुकने पर उन दरवाज़ों के पल्ले काफ़ी आसानी से खुलते चले गये थे और उनके पीछे छिपे पड़े छोटे-मोटे और-भी कितने ही भूत जैसे भड़भड़ा-कर बाहर निकलते आये थे।...लेकिन फिर भी जब एक दिन स्वामीजी ने अन्त में अचेतन वाला उसका वह काम हमेशा के लिए रोक दिया था और आगे के लिए यही बताया था कि अब जो कुछ करना है उसे ख़ुद ही करना है—तो शंकर न तो इस पर सहसा विश्वास कर पाया था, और न यह बात उसे रुचिकर ही लगी थी।

तब स्वामीजी ने उसे समझाया था : अचेतन में दबी-पड़ी भाव-ग्रन्थियों को सुलझाने की ज़रूरत इसीलिए थी कि भावों ने बुद्धि को आच्छादित कर लिया था, उसे अपनी दासी बना लिया था।...वे भाव-ग्रन्थियाँ इस सीमा तक तो अब सुलझ ही चुकी हैं कि बुद्धि स्वच्छन्दतापूर्वक अपना काम कर सके।...अब जो-कुछ करना है, इस स्वच्छन्द, बन्धन-मुक्त बुद्धि के बल करना है, और अतीत का परदा जब-जब उसे ढकने की कोशिश करे तब-तब सावधान और जागरूक रहकर उस परदे को हटा देना है।...निर्मल बुद्धि तब सहज ही काम करना शुरू कर देगी।

शंकर के दिल में जब यह बात फिर भी पूरी तरह नहीं उतर पायी थी, तो ...ाना और कह डाला था कि अतीत के उन भाव-चित्रों में बहते-बहते और रमते-...ने उन्हीं में रस मिलने लग गया है, उन्हीं का नशा हो गया है...और यह, ...बने रहने का जो नया स्वाद मिला है—स्वामीजी को माँ की गोद मान ...न—वही उसकी प्रगति के मार्ग में अब बाधक बन चला है...

...ो हुई रोटी के प्रसंग में स्वामीजी में ही अपने नानाजी का वह रूप ...जाने पर, अगले दिन शंकर ने उनसे पूछा : "यहाँ तो ज़रूर अभी ...वह भाव-ग्रन्थि ही काम कर रही थी स्वामीजी, जिसकी जकड़, ...थी, अभी इस हद तक प्रबल थी अन्दर ही अन्दर !"

उनका लाड़-प्यार ही मिलता है—जो पिता के भय को कुछ हलका कर देता है।...तुम्हारे साथ इससे उलटा ही हुआ न?...तुम्हारा नाना तुम्हारे लिए पिता से भी कहीं बड़ा आततायी, अत्याचारी बन बैठा।...पिता के भय को काटने की जगह उस भय पर एक और भी ज़बर्दस्त भय चढ़ा दिया।...नाना तुम्हारे लिए पॉज़िटिव न होकर निगेटिव हो गया—प्यार की जगह भय का स्रोत।"

बीस

शंकर रसोईघर के एक छोर पर था—ऊँचे से चूल्हे के सामने एक छोटे-से स्टूल पर; उससे कुछ ही फ़ासले पर नीचे फ़र्श पर बैठी थी सुशीला; और उससे भी कुछ फ़ासले पर, दूसरी ओर, था स्वामीजी का आसन। सुशीला की पूरी कोशिश यह कि रोटी बहुत ही पतली बेली जाए...और शंकर का सारा ध्यान इस बात पर कि रोटी कितनी भी पतली क्यों न बेली गयी हो, वह न सिर्फ फूलकर गेंद-सी हो जाए, बल्कि कहीं भी न कच्ची-सी दिखाई दे, न जली-सी ही...

एक रोटी स्वामीजी को दी जा चुकी थी, और दूसरी रोटी को भी उतना ही अच्छा सेककर उसने जैसे ही, परम उत्साहपूर्वक, सुशीला की ओर बढ़ाया—स्वामीजी की थाली तक पहुँचा देने के लिए—कि जल्दबाज़ी में वह उसके पाँवों से कुछ ही दूर नंगे फ़र्श पर गिर पड़ी। पलभर के लिए उसके अन्दर सवाल उठा : नीचे गिरी रोटी क्या स्वामीजी को दी जा सकती है?...लेकिन स्वामीजी की थाली ख़ाली हो चुकी थी, और दूसरी रोटी को सेककर देने का मतलब था उनसे इन्तजार कराना।

ज़्यादा सोचने-विचारने का वक्त ही कहाँ था उसके पास! आखिर उसी रोटी को उठाकर, पास रखे साफ़ कपड़े से झाड़-पोंछ, सुशीला के हाथ में दे दिया।...सुशीला भी ज़रूर कुछ असमंजस में पड़ी दिखाई दी, लेकिन अन्त में उसने भी उसे स्वामीजी की थाली में रखने के लिए अपना हाथ उधर बढ़ा ही दिया।

तभी शंकर को स्वामीजी के शब्द सुनाई दिये : "क्या यह रोटी दोगी?"

शंकर का पूरा दम जैसे रुक हो गया !...कुछ देर के लिए तो लगा, मानो प्रलय ही आ गयी हो!...पलभर के लिए उसकी नजर जब स्वामीजी के चेहरे की ओर उठ गयी थी, तो उसे उनकी दृष्टि में जैसे अपने नानाजी ही दिखाई दे गये थे !

गांधीजी की हत्या के कुछ समय बाद आश्रम पहुँचने पर जब नानाजी वाला वह बिलकुल ही नया और कहीं-अधिक प्रचण्ड प्रसंग उद्घाटित हुआ था, तब से लेकर अब तक, पिछले तीन-चार वर्षों के बीच, उस उम्र में भी पहले की दबी-पड़ी स्मृतियाँ उसके अचेतन के बन्द दरवाजों को तोड़कर बाहर आती गयी थीं।...ऐसा प्रतीत होता था, मानो नानाजी का जो प्रचण्ड भूत उन बन्द दरवाजों के सामने एक कड़े पहरेदार की नाईं हरदम खड़ा रहा था उसके जीवन में, उसके परास्त हो चुकने पर उन दरवाजों के पल्ले काफी आसानी से खुलते चले गये थे और उनके पीछे छिपे पड़े छोटे-मोटे और-भी कितने ही भूत जैसे भड़भड़ाकर बाहर निकलते आये थे।...लेकिन फिर भी जब एक दिन स्वामीजी ने अन्त में अचेतन वाला उसका वह काम हमेशा के लिए रोक दिया था और आगे के लिए यही बताया था कि अब जो कुछ करना है उसे खुद ही करना है—तो शंकर न तो इस पर सहसा विश्वास कर पाया था, और न यह बात उसे रुचिकर ही लगी थी।

तब स्वामीजी ने उसे समझाया था : अचेतन में दबी-पड़ी भाव-ग्रन्थियों को सुलझाने की जरूरत इसीलिए थी कि भावों ने बुद्धि को आच्छादित कर लिया था, उसे अपनी दासी बना लिया था।...वे भाव-ग्रन्थियाँ इस सीमा तक तो अब सुलझ ही चुकी हैं कि बुद्धि स्वच्छन्दतापूर्वक अपना काम कर सके।...अब जो-कुछ करना है, इस स्वच्छन्द, बन्धन-मुक्त बुद्धि के बल करना है, और अतीत का परदा जब-जब उसे ढकने की कोशिश करे तब-तब सावधान और जागरूक रहकर उस परदे को हटा देना है।...निर्मल बुद्धि तब सहज ही काम करना शुरू कर देगी।

शंकर के दिल में जब यह बात फिर भी पूरी तरह नहीं उतर पायी थी, तो इतना और कह डाला था कि अतीत के उन भाव-चित्रों में बहते-बहते और रमते-रमते उसे उन्हीं में रस मिलने लग गया है, उन्हीं का नशा हो गया है...और यह, कि बच्चा बने रहने का जो नया स्वाद मिला है—स्वामीजी को माँ की गोद मान लेने के कारण—वही उसकी प्रगति के मार्ग में अब बाधक बन चला है...

उस गिरी हुई रोटी के प्रसंग में स्वामीजी में ही अपने नानाजी का वह रूप अब दिखाई दे जाने पर, अगले दिन शंकर ने उनसे पूछा : "यही तो जरूर अभी तक अचेतन की वह भाव-ग्रन्थि ही काम कर रही थी स्वामीजी, जिसकी जकड़, इतने रेचन के बाद भी, अभी इस हद तक प्रबल थी अन्दर ही अन्दर !"

"ठीक है।...उसका बन्धन अगर अभी तक अन्दर बाक़ी है, तो उस प्रसंग को एकान्त में ज़रूर देखो, और जितना निरुद्ध भाव अब भी जमा हो उसे ज़रूर निकल जाने दो।...लेकिन, कुछ क्षण के लिए वह भूत अगर वर्त्तमान पर छा गया था, तो क्या वही दिल के अन्दर प्रधान हो जायगा...और वर्त्तमान को अपनी आँखों से ओझल हो जाने दोगे ?...उन कुछ क्षणों के बाद तो बुद्धि द्वारा वर्त्तमान के सत्य को देखने की कोशिश करोगे न ?"

सच पूछा जाय तो शंकर ने खुद भी वह सब देखने की कोशिश की थी, उस घटना के कुछ देर बाद से ही—भयग्रस्तता की उस जकड़ से छुटकारा पा चुकने पर। और कुछ ही क्षणों के बाद उसे कम विस्मय नहीं हुआ था यह देखकर कि उसकी विवेक-सत्ता उस बाल-सत्ता के सामने झुककर भी पूरी तरह नहीं झुकी थी : कुछ ही क्षण बाद अपने को यह विश्वास दिलाने में वह समर्थ हो गया था कि यहाँ नानाजी कहीं नहीं हैं, और स्वामीजी से डरने की तो कोई वजह है नहीं। वर्त्तमान स्थिति में न उसे आतंकित करने के लिए कुछ किया गया है, न उसका अपमान करने के लिए ही। सिर्फ़ उसकी ग़लती की ओर ध्यान खींचा गया है : कि गिरी हुई रोटी स्वामीजी को नहीं दी जा सकती।...इतना सब देख लेना, उस भय की जकड़ से छुटकारा पाकर इतनी जल्द अपने को प्रकृतिस्थ कर ले सकना—कुछ कम बड़ी उपलब्धि नहीं जान पड़ी थी उसे अपने लिए।

लेकिन—स्वामीजी के सामने जब अपनी उस उपलब्धि की बात उसने रखी, तो वह बोले : "रोटी के गिर जाने, और फिर उसके दिये जाने के पीछे थी न केवल सूक्ष्मग्राही संवेदनशीलता की कमी, बल्कि स्वामीजी के प्रति श्रद्धा का भी अभाव।"

दोनों ही बातें स्वीकार कर लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई शंकर को : सूक्ष्मग्राही संवेदनशीलता की कमी तो उसमें थी ही, क्योंकि अपने को प्यार नहीं किया और सारा काम पराया लगा। और यही बात श्रद्धा के मामले में ! श्रद्धा भी तो भय के ही कारण होती है न ?—उसने कहा।

"वर्त्तमान स्थिति में तो भय के कारण श्रद्धा वाली बात उठती नहीं है," स्वामीजी बोले। "इसलिए, मानना यह होगा कि स्वामीजी से कुछ पाया नहीं है, जिसके फलस्वरूप ही श्रद्धा का अभाव..."

स्वामीजी से कुछ पाया नहीं ?...इतना पाकर भी क्या वह अकृतज्ञ बना रहा ?...क्या इसकी ओर संकेत है स्वामीजी का ?

बात किसी तरह भी हज़म नहीं हो पा रही थी। पर ऊपर से नीचे जब अपने कमरे में वह आया, तो दरवाजा अन्दर से बन्द कर उसी दम बिछौने पर पड़ गया; और फिर उसके अन्दर की न जाने किन अतल गहराइयों से इस तरह रुलाई उमड़ पड़ी जैसे कोई बाँध टूट गया हो।

"स्वामीजी से मैंने कुछ नहीं पाया ?...स्वामीजी से कुछ नहीं पाया ?..." फूट-फूट कर रोया वह : "जो कुछ जीवन में पाया है ..एक उन्हीं से तो पाया है ...सब-कुछ तो उन्हीं से—"

फिर, धीरे-धीरे जब वह रुलाई हलकी पड़ गयी, कितने ही चित्र उसकी आँखों के सामने घूम गये।...किसी और ने क्या कभी उसे उस तरह प्यार किया था पहले, जिस तरह स्वामीजी ने किया था ? एक स्वामीजी को छोड़, सभी ने तो अपने ही भावों द्वारा प्रेरित हो, एक प्रकार से किसी आन्तरिक विवशता के ही कारण, उसे प्यार किया था !...जो कुछ वह आज था, वह केवल स्वामीजी के कारण ही तो ? —जब सब-कुछ बिगड़ चुका था तब उन्होंने ही तो उसे उबारा ?

तब फिर श्रद्धा की कमी कैसे ?

अचानक उसे ध्यान आया : श्रद्धा के सम्बन्ध में क्या उसके मन में एक बिलकुल ही ग़लत धारणा नहीं रही है ?...श्रद्धा का सम्बन्ध क्या उसके अन्दर, भय के साथ, और दिखावे के साथ ही, नहीं रहा है ?...स्वामीजी के प्रति भी क्या बार-बार यही भाव उसके मन में नहीं आता रहा कि वह दिखावे के तौर पर, और भय के कारण ही, उनकी सेवा कर रहा है · कर रहा है, क्योंकि करना पड़ रहा है ?

अब जाकर उसे दिखाई दिया, कि श्रद्धा क्या प्यार के बिना सम्भव है ? श्रद्धा भी क्या प्यार का ही एक दूसरा रूप नहीं है सम्बन्ध-भेद से ?

फिर उसे रुलाई आ गयी एक बार—यह देखकर, कि उसने स्वामीजी को *तो प्यार नहीं किया।...बचपन का सताया मन, प्यार का भूखा दिल,* प्यार पाने के लिए जैसे हमेशा तड़पता ही रहा, और जहाँ-जहाँ से मिलता गया वहाँ-वहाँ से सिर्फ़ लेने का अपना दावा ही और भी ज़ोर-शोर से पेश करता रहा।

तो क्या, इस तरह, यहाँ भी वह अपने भूत को, अतीत को ही, वर्तमान पर नहीं लाद रहा था ? क्या उसने एक बार भी यह देखने की कोशिश की, कि पहले जो मिलता था...और यह जो मिल रहा है—दोनों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है ?...और यह, कि अब जो मुझे दे रहा है वह सिर्फ़ इसलिए दे रहा है कि मैं आदमी बनूँ, बच्चा ही न बना रह जाऊँ...

तो, बात क्या हुई ?...रोटी गिरा दी...गिरी हुई रोटी स्वामीजी को दी—अपने ये काम पूरी तरह असोभनीय नहीं मालूम हुए। कारण ?...स्वामीजी से पा रहा हूँ—इस 'वर्तमान' में न रहकर, नानाजी ने, पिता ने, माँ ने, नहीं दिया, छीन लिया—यह भूत सिर पर अभी तक चढ़ा बैठा रहा, जब कि दरअसल वह कब का नष्ट हो चुका है, और मैं अब इतना पा चुका हूँ, इस सीमा तक समृद्ध हो चुका हूँ।

...जब से स्वामीजी ने अचेतन वाला उसका काम बन्द कर बुद्धि द्वारा अपने

को देखने के ही काम में लग जाने के लिए उससे कहा था, तभी से शंकर एक डायरी रखने लगा था जिसमें ख़ास-ख़ास अनुभवों या विचारों को कभी-कभी लिख लिया करता था। उस रोज़ उसने उसमें लिखा :

"स्वामीजी ने कहा था कि ग़लती करना चाहता हूँ तभी ग़लती करता हूँ। यह बात अभी पूरी तरह साफ़ नहीं हुई है। इतना तो समझा था कि सेंसिटिवनेस—सूक्ष्मग्राही संवेदनशीलता—की कमी के कारण ग़लती करना बुरा नहीं लगा। किन्तु ग़लती करना चाहा—इसका मतलब तो यह हुआ कि वह अच्छा लगा ! तब तो ग़लती करने में मेरे अन्दर की ही किसी एक सत्ता का कोई स्वार्थ होना चाहिए !

"क्या मेरी बाल-सत्ता 'बड़ों' से बदला लेने के लिए, अपना क्षोभ प्रदर्शित करने के लिए, ग़लती करके ही उन्हें चुनौती देती आयी है और इसलिए ग़लती करने में ही उसे मज़ा मिलता आया है ? और चूँकि कुछ कामों में परायापन बना हुआ है, इसलिए वहाँ विरोध-भाव भी ?"

अगले दिन स्वामीजी को जब डायरी का यह स्थल उसने सुनाया तो उन्होंने इसका स्पष्टीकरण किया :

किसी कार्य का कर्त्ता मैं स्वयं हूँ, और जो अच्छा लगता है वही करना चाहता हूँ। तो फिर, ग़लती अगर मैंने की है तो, अच्छे लगने के कारण ही न ?

कैसे ?—ग़लती करके विरोध प्रदर्शित किया। प्रतिरोध करने में मज़ा आया, जिसका कारण था अतीत का खिचाव, जो मुझे छोटा ही बनाये रखना चाहता है...ग़लती करना छोटे का ही काम है।...छोटे बने रहने में मेरे ही अन्दर की एक सत्ता का स्वार्थ : मैं छोटा हूँ, मैंने मार खायी है, मैं सताया गया हूँ—यही माने रहकर तो बदला लेने का, प्रतिरोध करने का, सुख मिल सकता था...। और, एकमात्र यह विकृत प्रकार का सुख ही तो है जो इस आतंकग्रस्त, त्रस्त, बाल-सत्ता के लिए बचा रह गया था—क्योंकि छोटेपन से उद्धार पाकर सचमुच बड़े होने का रास्ता खुला ही नहीं था उसके सामने ! भय प्रधान रहा, प्रेम गौण। अगर हर मार के बाद प्यार पा लिया होता तो इस निगेटिव प्रवृत्ति के स्थान पर पॉज़िटिव प्रवृत्ति की प्रधानता रहती—वंचित होने वाले भाव के स्थान पर भर जाने वाला भाव।

...याद आया कि नानाजी द्वारा जो अत्याचार किये गये थे, उन्हें चुपचाप ही सहना पड़ा था; उनसे बदला तो लिया ही नहीं जा सकता था। इस प्रकार, छोटे बने रहकर, बदले की इस भावना को मन-ही-मन पोसते आने में बराबर एक निहित स्वार्थ क़ायम रहा, जिसके कारण दूसरों द्वारा कराया जाने वाला हर काम पराया बना रहा—मानो नानाजी द्वारा जबरन कराया जा रहा हो। इस लिए, ऐसे हर काम से नफ़रत...उसे न करके, या विकृत रूप में करके, नानाजी

से बदला लेने का युग !

लेकिन, अब तो वर्तमान में आना है न उसे ? स्वामीजी तो नानाजी नहीं हैं ! स्वामीजी कुछ भी उसमें जबरन नहीं करा रहे हैं ! तब ?

"यह लो—एक और अपच्युंनिटी आयी है—एक और 'मौका' !" अन्दर आकर सुशीला से शकर ने कहा, और उसके चेहरे की ओर ताक उठा—यह भाँपने के लिए कि वहाँ क्या प्रतिक्रिया होती है ।

"अब कौन आया...बाप रे—?" सुशीला के चेहरे पर एक हलकी झुंझलाहट दिखाई दी । दो ही तीन दिन हुए थे कि एक मेहमान दो प्राणियों की उनकी मुख्तसर-सी गृहस्थी में छः-सात दिन रह कर गये थे, और सुशीला और शकर दोनों ने ही राहत की भारी साँस ली थी ।...उन अनचाहे, अनिमंत्रित मेहमान के अचानक आ पहुँचने पर उन दोनों ने ही बार-बार अपने-अपने मन को, और एक-दूसरे को भी, यह समझा-बुझाकर उस अप्रियता को सहनीय बनाने की कोशिश की थी, कि बिना निमत्रण के उनके घर पर धावा बोल देने वाला यह अतिथि एक 'अपच्युंनिटी' है—एक मौका—अपनी क्षुद्रता को, अपनी स्वार्थपरता को, प्रियत्व के अपने बन्धन को देखकर उसे काटने के लिए, जैसा कि स्वामीजी से प्राप्त नये ज्ञान के आलोक में उन्होंने जाना था ।...लेकिन कहाँ पूरी तरह धीर और स्थिर रह पाये थे वे—उस 'अपच्युंनिटी' या 'मौके' को पाकर ?...उन अप्रिय मेहमान का एक-एक दिन उनके लिए लगातार भारी होता गया था, और पटने का अपना काम पूरा हो जाने पर उन लोगों से विदा ले जब आखिर चले गये, तब उन दोनों को एक भारी निवृत्ति मिली ।

पिछले दो-तीन साल से 'अपच्युंनिटी' या 'मौका' उन दोनों के व्यक्तिगत शब्दकोश में मेहमान का पर्यायवाची शब्द हो उठा था, खास तौर से किसी ऐसे मेहमान का, जिसका आगमन उनके लिए आकर्षक नहीं था ।...जब तक शकर का विवाह नहीं हुआ था, जब तक उसने बाकायदा अपनी गृहस्थी नहीं बनाई थी, तब तक उसके पास कभी कोई मेहमान नहीं आया था; उसके पास उस युग में सिर्फ दो-चार परम अन्तरग साथी ही यदा-कदा आये थे बनारस से अजनी या शोभाराम; लखनऊ से मनोहर लाल, या इसी तरह के लोग, जिन्हें अतिथि की सज्ञा दी ही नहीं जा सकती थी ।...अतिथियों का आना उसके विवाह के बाद से ही शुरू हुआ, यानी ऐसे अनिमत्रित व्यक्तियों का आना जिन्हें अपने यहाँ ठहराना उन दोनों को बराबर ही बोझ-सा लगता था, लेकिन फिर भी जिनके आ पहुँचने पर वे अपने घर के द्वार बन्द नहीं कर ले सकते थे । इस तरह का सबसे अप्रिय अनुभव उन्हें ढाई-तीन साल पहले हुआ था, कलकत्ते से पटने आ जाने के साल-डेढ़ साल

बाद ही।

...अपने दफ़्तर वाले कमरे में बैठा शंकर उस दिन का सम्पादकीय अग्रलेख लिख रहा था कि अचानक बाहर की ओर का दरवाज़ा खुल गया, और एक चपरासी के पीछे-पीछे एक महिला धीरे-धीरे चलती उसकी मेज़ के दूसरी ओर वाली कुरसी पर बैठ गयीं, और शंकर के निगाह उठाने पर बोलीं: "पहचाना नहीं आपने, भाई साहब ?" और हलके से मुसकरा उठीं।

शंकर ठीक याद नहीं कर पाया, इन्हें कब, कहाँ देखा था।

"आपके मित्र शोभारामजी की छोटी बहन हूँ...शान्ति!"

शायद दस-बारह साल पहले कभी उन्हें देखा था बनारस में...फिर कभी सुना था कि विधवा हो गयी हैं।...उत्तर बिहार के किसी ज़िले में पति काम करते थे; थोड़ी-बहुत सम्पत्ति छोड़ गये थे, और बड़ा लड़का बिहार में ही कहीं मास्टरी करता था...

शंकर ने साधारण कुशल-क्षेम पूछ जानना चाहा कि पटने कब आयीं, कहाँ ठहरी हैं...

"ठहरी कहाँ हूँ?...बाहर रिक्शे पर सामान है।...भैया ने लिखा था, यहाँ आने वाले हैं और आपके ही पास ठहरेंगे। भैया से ही मिलने आयी हूँ...बहुत ज़रूरी काम है।"

शंकर भारी पसोपेश में पड़ा। पटने आने पर शोभाराम उसी के पास ठहरते थे, हालाँकि इधर कई महीने से नहीं आये थे और न उसे कोई सूचना ही दी थी।...लेकिन उनकी यह बहन भी, जिनके साथ उसका कोई विशेष परिचय नहीं था, और सुशीला ने भी जिन्हें पहले कभी देखा तक नहीं था—इस तरह उसके यहाँ ठहरने के लिए आ धमकेंगी, यह उसे ज़रा भी अच्छा नहीं लगा...

"और—भाभी यहीं हैं न?" तभी उसके कानों में शोभाराम की बहन के शब्द पड़े। "उनसे तो कभी मिलाया ही नहीं आपने!"

आख़िर चपरासी को ज़रूरी हिदायतें दे शंकर को अपना अग्रलेख बीच में ही छोड़ उठना पड़ा।

फिर, जब तक वह सुशीला और शान्तिजी के बीच परिचय करा रहा था, तब तक चपरासी, और पीछे-पीछे रिक्शेवाला, कई अदद सामान लिए अन्दर दाख़िल हो गये: एक लोहे का सूटकेस, एक होल्डाल, एक बास्केट, दो-चार छोटी-बड़ी गठरियाँ।

और, उस सामान के पीछे-पीछे, पुराने-से कम्बल में लिपटा एक बिस्तर बग़ल में दबाये, नौकरानी-जैसी एक अध-बूढ़ी औरत!

सुशीला और शंकर के बीच, शान्तिजी की नज़र बचाकर, एक अत्यन्त अस्वस्तिकर दृष्टि-विनियम हुआ—जिसके बाद, सुशीला को उसी के हालों पर छोड़

घुटने में लाकर वहाँ से निकल आया, और उस अप्रत्याशित झमेले को पूरा करने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करना रहा।

बीस-पच्चीस मिनट वाला वह बाकी काम कोई घंटे डेढ़ घंटे में किसी तरह पूरा कर शंकर ने उसके बाद भी कितना वक्त बाहर ही गुज़ार दिया : अन्दर जाकर सुशीला का मुकाबला करने की उसकी हिम्मत ही नहीं हो पा रही थी।...और, जब आखिर उसे अन्दर जाना ही पड़ गया था तो यह देख वह अवाक रह गया था कि उन लोगों के रहने के उस एकमात्र कमरे में पड़ी दो खाटों में से एक पर शान्ति जी का होल्डाल खुल चुका था ..

सुशीला रसोई कर रही थी : कमरे में शंकर के पहुँचने की आहट पाते ही तेज़ कदम रखती वह उसके पास आ उबल पड़ी थी :

"यह क्या बला मेरे सिर पर ला पटकी है तुमने ?"

फिर शंकर के पीछे-पीछे उसके दफ्तर वाले कमरे में आकर उसने जो कुछ बताया, उससे तो शंकर और भी हैरत में रह गया।...शान्तिजी बीमार थीं, नौकरानी उनकी सेवा के लिए उनके साथ थी, घण्टे भर उससे वह बदन की मालिश कराती रही थीं और अब स्नानगृह में थीं...

सुशीला के यह दर्याफ्त करने पर कि खाने-पीने में क्या कोई परहेज़ है, शान्तिजी ने बिना किसी मुरौअत के कह डाला था कि मूंग की पतली दाल, नेनुआ या लौकी की तरकारी और रोटियाँ उनके लिए बनेंगी, और नौकरानी की तरफ इशारा कर कह डाला था : "इसके लिए पतीली में भात चढ़ा दीजियेगा, मूंग की दाल तो यह खा नहीं पायेगी...चाहे अरहर की दाल बना दीजियेगा, नहीं तो सिर्फ आलू का भरता।"

फिर, थोड़ा क्रोध शान्त हो चुकने पर, सुशीला बोली : "मैं तो उनके साथ एक कमरे में सो नहीं सकूंगी रात को...सारा कमरा तेल की गंध से भर गया है!..."

"ठीक है—तो फिर हम लोग बाहर बरामदे में सो जायेंगे," शंकर ने फौरन ही तसदीक कर दी थी, "नौकरानी को लेकर वही सोयें न कमरे में।"

पूरे दो दिन इसी तरह गुज़रे, लेकिन शोभाराम का कोई पता नहीं था। शंकर को सिर्फ उन्हीं का लिहाज़ था, और इन्तज़ार भी, उसने तय कर लिया था कि उनके आते ही वह बिना झिझक सारी स्थिति उनके सामने रख देगा : जगह की तंगी की बात, सुशीला से परिचित न रहने पर भी उनकी बहन का, इस तरह, एक नौकरानी को लेकर और खुद बीमार रहते, उनके यहाँ ठहरने के लिए आने का अनौचित्य; पढ़ी-लिखी सुशीला के लिए इस प्रकार की स्थिति की असह्यता... आदि...आदि...

लेकिन शोभाराम के आ पहुँचने पर—तीन या चार दिन बाद जाकर कहीं

वह आये थे—काफ़ी देर शंकर घोर अन्तर्द्वन्द्व में पड़ा रहा : किस तरह उनके सामने पूरी तरह उगल ही डाले वे सारी वातें जो उनकी वहन के ख़िलाफ़ उसके अन्दर जमा होती चली गयी थीं। आख़िर तो उनकी अपनी सगी वहन थीं।

लेकिन कड़ा जी करके, सारी हया-शर्म छोड़, जव उन सारी वातों को आख़िर उसने रख ही दिया उनके सामने, तो उसे भारी राहत मिली जव उनके चेहरे पर ऐसी कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाई दी जिससे लगता कि उन्होंने कुछ भी वुरा माना होगा।

सिर्फ़ एक ही वाक्य उन्होंने कहा, उसकी सारी वातें चुपचाप सुनते चले जाने के वाद : "यहाँ ठहरने का तो कोई सवाल ही नहीं था शान्ति का—"

शंकर के दफ़्तर वाले कमरे में ही उसके वाद भाई-वहन की मुलाक़ात हुई थी, और शंकर तव दूर ही दूर रहा था।...लेकिन घण्टे डेढ़ घण्टे वाद ही उसने वाहर कम्पाउंड में चहल-क़दमी करते हुए देखा कि एक साइकिल-रिक्शे पर अपना सामान लिये-दिये शान्तिजी और उनकी नौकरानी वहाँ से रवाना हो गयी हैं। और तव एकाएक ही लज्जा-ग्लानि के एक नये वोझ ने उसके दिल को भारी कर दिया।...शोभाराम उसके वाद भी दो या तीन दिन रहे थे उनके यहाँ, लेकिन उस वार उनके प्रति अन्त तक भी वह पूरी तरह सहज-स्वाभाविक नहीं हो पाया था।

...ख़ास तौर से इसी घटना की वदौलत अभ्यागतों और अतिथियों को एक 'अपर्च्युनिटी' या 'मौक़े' के वतौर देखने का वह सिलसिला शुरू हुआ था—जव-कि अगली वार आश्रम पहुँचने पर शंकर ने अपने उस घोर अन्तर्द्वन्द्व की और शोभाराम जैसे अन्तरंग मित्र के प्रति उत्पन्न उस लज्जा-ग्लानि की वात स्वामीजी के सामने रखी थी।

यह शब्द ख़ुद शंकर द्वारा ही पहले-पहल प्रयोग किया गया था इस सन्दर्भ में—जव स्वामीजी ने उस घटना को सुनने के वाद यह दिखाया था कि अपने क्षुद्र, संकीर्ण स्वार्थ का वंधन ही वस्तुस्थिति को, उस परिस्थिति के सत्य को, देखने नहीं देता; अपना प्रियत्व इतना वड़ा हो जाता है कि दूसरे के प्रिय-अप्रिय की ओर ध्यान जा ही नहीं पाता।...अन्तरंग मित्र के प्रति लज्जा-ग्लानि का वोझ इसीलिए दिल में जमा हो गया न, कि उनके दिल की ओर नज़र गयी ही नहीं। उन्होंने वुरा नहीं माना—इससे तुम्हें राहत मिल गयी, और अपने को देखने के अवसर को गँवा दिया। "तुमने कैसे जाना, कि उन्हें वुरा लगा, या नहीं ?... वुरा लगना ही तो स्वाभाविक था। अगर उन्होंने अपना भाव प्रकट नहीं किया तो इसमें गौरव उनका है।...तुमको तो यही देखना था न, कि तुम्हारा गौरव किसमें था !"

मेहमानों—यानी प्रिय न लगने वाले अतिथियों—की ओर तब से शंकर और सुशीला दोनों का ही रुख बदलने लग गया था और जब-जब कोई वैसा मेहमान आ पहुँचता था वे दोनों ही उसे प्रियत्व के अपने बंधन से छुटकारा दिलाने के लिए आये हुए 'मौके' के रूप में देखने की कोशिश करते आ रहे थे। लेकिन प्रियत्व को बंधन के रूप में देख सकना भी क्या हमेशा मुमकिन हो पाता था—खास तौर से तब, जब कोई ऐसा अतिथि आ पहुँचता था जो उनके दिल के हर तार को बुरी तरह झनझना देता...या अपने मेज़बानों की सुख-सुविधाओं का ज़रा भी ख़याल न कर अपना बोझ उन पर लादता ही चला जाता?

अजनीकुमार की बेटी नन्दिनी की शादी की ख़बर पाकर उसमें शामिल होने के लिए दिल्ली जाने की पूरी तैयारी कर चुके थे शंकर और सुशीला, कि ऐन वक्त पर बिहार के एक मंत्री द्वारा 'जागृति' के सम्पादकों पर मानहानि का मुकदमा दायर कर दिया गया, जिसकी वजह से उन लोगों का जाना हो ही नहीं पाया था। इसलिए, विवाह के कुछ ही महीने बाद जब एक दिन नन्दिनी अपने पति के साथ-साथ, बिना पहले से कोई ख़बर दिये, उनके यहाँ आ पहुँची, तो शंकर का दिल ख़ुशी से उछल पड़ा। एक ज़माना था जब कि नन्ही-सी नन्दिनी ही रेगिस्तान बन गयी उसकी ज़िन्दगी में मीठे पानी का एक छोटा-सा चश्मा बनकर आयी थी और साल-दो साल शंकर उसी को लेकर रमा रहा था...

"अब तो कल तुम आश्रम जा नहीं सकोगी," नव-विवाहित उस जोड़े को अन्दर लाकर शंकर ने सुशीला से कहा: "स्वामीजी को तार दे देता हूँ...अभी तुम नहीं आ पाओगी।"

लेकिन सुशीला के चेहरे पर उसने किसी अनुकूल प्रतिक्रिया के चिह्न नहीं देखे।

"क्यों?...इन लोगों के आ जाने के बाद भी क्या,...तुम्हारा आश्रम जाना हो सकेगा कल?" किसी हद तक झुंझलाहट के साथ ही शंकर कह उठा।

सुशीला को रुक जाना ज़रूर पड़ा, लेकिन ख़ुशी से नहीं। स्वामीजी के लिए शंकर ने जब तार लिखा, तब सुशीला इस बात पर अड़ गयी कि अपना जाना वह एक दिन से ज़्यादा के लिए नहीं टालेगी...

और, सुशीला के प्रति शंकर के दिल में क्षोभ ही क्षोभ भर गया, इस बात को लेकर।

...एक साल से ज़्यादा कलकत्ते में सुशीला से बिलकुल अलग रहा था वह सिर्फ़ इसीलिए तो, कि स्वामीजी के पास रहकर वह भी अपने अचेतन की ग्रन्थियों की पूरी सफ़ाई कर डाले।...फिर, स्वामीजी का ही आदेश पाकर, अन्त में जब

उसे पटने में फिर से गृहस्थी बसाने के इरादे से अपने साथ लाया था, तब से जब-जब भी सुशीला के अन्दर की कोई भाव-ग्रन्थि धीरे-धीरे उसके लिए एक समस्या बन गयी थी, दो-दो, तीन-तीन, चार-चार महीने तक के लिए उसे लगातार आश्रम में रह आने के लिए भेजता आया था—जिसके फलस्वरूप, कलकत्ते से पटना आने के बाद के भी इन चार-पाँच वर्षों में, अपनी गृहस्थी की नाव शंकर को कितनी बार अकेले ही खेनी पड़ी थी।...जब-जब सुशीला की ज़रूरत दिखाई दी थी, उसने अपनी सुख-सुविधा को गौण कर दिया था।

क्या सुशीला के दिल में उसके प्रति ज़रा भी कृतज्ञता नहीं है इस बात को लेकर?...क्या उससे यह छिपा है कि नन्दिनी के लिए उसके दिल में कितना गहरा स्नेह है, और यह कि उसके विवाह में न जा सकने का एक दर्द उसके दिल में बना ही रह गया था...और यह भी, कि उसे इस तरह अचानक आया देख शंकर को कितनी ज़बर्दस्त खुशी हुई है?...क्या एक हफ़्ते के लिए भी सुशीला आश्रम जाने का अपना प्रोग्राम नहीं टाल सकती थी?...

"ताईजी का जाना जब इतना ज़रूरी था ताऊजी," तब नन्दिनी ने ही उसके क्रोध पर ठंडे पानी के छींटे डाले, "तो ऐसी क्या बात है...हमीं लोग कुछ दिन यहाँ रहकर आपको खिलायें-पिलायें—"

"ओ...यह तो मैंने सोचा ही नहीं था," शंकर का मुरझाया दिल उसी दम फिर से हरा हो गया; "फिर क्या बात है—रहो तुम लोग यहाँ, जब तक भी चाहो...और संभालो अपनी ताईजी वाली इस गृहस्थी को—"

फिर भी, कुछ-न-कुछ शिकायत तो उसके अन्दर बनी ही रही थी सुशीला के प्रति और—नन्दिनी और उसके पति चन्द्रनाथ के चले जाने के कुछ हफ़्ते बाद वह ख़ुद भी जब दस-बारह दिन की छुट्टी लेकर आश्रम गया तो शुरू के दो-तीन दिन तक जान-बूझकर उसने सुशीला से कुछ अलगाव रखा...उसकी सहज-स्वाभाविक बातों का भी सहज-स्वाभाविक ढंग से जवाब नहीं दिया...

लेकिन दो-तीन दिन से ज़्यादा नहीं चलने पाया बेरुख़ी वाला उसका वह बरताव। सुशीला में इस बार उसने जो परिवर्तन देखा वह अद्भुत था, और सर्वथा अकल्पित।

कलकत्ते से समय-समय पर आश्रम जाने पर उसने जिस क़दर उसे बदला हुआ पाया था उसके बावजूद उसे डर था कि आश्रम और स्वामीजी से दूर होते ही उसका वह उत्साह ढीला पड़ जायेगा...और इसलिए, पटने आने पर जब उसने उसे अपनी इच्छाओं और ज़रूरतों के प्रति पहले के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा सजग और तत्पर पाया था तो उसे सचमुच सन्तोष हुआ था। लेकिन तभी से उसकी अपनी चाह, अपनी आशा-आकांक्षा और माँग भी, उसी अनुपात में बढ़ती चली गयी थीं, जिसका एक कारण यह भी था कि एक नया ही मानदण्ड अब अलक्षित

रूप में उसके सामने आ गया था : जैसी आत्मीयता और गहरी लगन के साथ उसने उसे आश्रम में स्वामीजी की सेवा करते देखा था, मानो वैसी ही आत्मीयता और लगन वह उसमें अपने लिए भी देखना चाहता था।...यही कारण था कि उससे बहुत-कुछ पाकर भी वह उसके खिलाफ़ कितनी ही शिकायतें जमा करता चला जाता था अन्दर-ही-अन्दर।...

इसी बार पहले-पहल उसने अपनी डायरी लिखनी शुरू की थी आश्रम आने पर, और दो-चार दिन बाद जब धीरे-धीरे सुशीला के प्रति उसका वह क्षोभ ढीला पड़ गया जो नन्दिनी के सदर्भ में उसके अन्दर जमा था, तो एक दिन उसने लिखा :

"सुशीला में इस बार जो परिवर्तन देख रहा हूँ वह अद्भुत और अकल्पित है। यहाँ आने से पहले पटने में उसकी इस बार जैसी मानसिक स्थिति थी, उसके दिल के अन्दर जैसा हाहाकार था, उसके बाद उसके इस रूप की तो मैं कल्पना तक नहीं कर सकता था। उसने लिखा अवश्य था और कुछ इंगित भी किया था, किन्तु यहाँ आने पर जो देख रहा हूँ वह मेरे लिए बिलकुल ही नयी चीज़ है। पहले दिन ही, अपने सारे क्षोभ के बावजूद, उससे मिलने के कुछ समय बाद, रवीन्द्रनाथ की वह पंक्ति याद पड़ गयी :

पथेर पथिक सेओ देखे जाबे
तोमार वारता मोर मुख भावे[1]

हृदय का असीम आनन्द उसके पूरे चेहरे से फूटा पड रहा था—एक अनिर्वचनीय आनन्द, मानो वह अपने में है ही नहीं, किन्तु फिर भी जैसे पूरी तरह अपने में ही है, और बाहर जो कुछ हो रहा है उस पर उसकी पूरी दृष्टि है, और बड़ी ही स्निग्ध दृष्टि। जैसे वह सारे जगत को प्यार कर रही है—किसी प्रेमिका के प्रथम प्रेम का उच्छ्वास लिए। किन्तु उच्छ्वास भी उसे कैसे कहा जाय, क्योंकि इस प्यार में एक अद्भुत प्रकार की शीतलता और स्निग्धता है।

"और—इसी दिन नहीं, कई दिन तक मैं सुशीला को देखकर मन-ही-मन सिहाता और उस पर मुग्ध होता रहा और रवीन्द्रनाथ की वह पंक्ति गुनगुनाता रहा। सचमुच उसके 'मुख-भाव' में वह सब था जिसे रवीन्द्रनाथ ने 'तोमार वारता' कहा है।...

"सुशीला रस में डूबी हुई है। थकान, या अपनी इच्छा नाम की कोई चीज़ मानो उसके पास रह ही नहीं गयी है इन दिनों। आत्म-समर्पण की एक अनोखी झलक मिल रही है मुझे उसमें..."

धीरे-धीरे पिछला सारा क्षोभ उसके दिल से दूर होता चला गया, और वह

---

1. मेरे चेहरे पर जो भाव है वह तुम्हारी ही बातें कह रहा है—पथ का कोई राह-चलता भी देख जायेगा।

भूल ही गया कि नन्दिनी के पटने आ जाने पर सुशीला ने उसके दिल को कितनी बड़ी चोट पहुँचायी थी।

... ...

यह पहला मौक़ा था कि स्वामीजी के पास आकर भी शंकर का अचेतन वाला काम नहीं किया गया था : स्वामीजी ने इस बार ही पहले-पहल उसे वह चेतावनी दी थी, कि अब बुद्धि द्वारा अपने को देखने के काम में ही उसे पूरी तरह लगना है। अचेतन में दबी पड़ी जो भीषण स्मृतियाँ जीवन को सुगम बनाने में बाधक बनी हुई थीं वे पिछले छः-सात साल के बीच प्रायः जड़-मूल तक उद्घाटित की जा चुकी थीं; उनमें से किसी स्मृति का कोई स्तर अगर बाक़ी रह भी गया होगा तो उसका रेचन तो शंकर अब ख़ुद ही करता रह सकेगा समय-समय पर—स्वामीजी ने कहा था...

"स्वामीजी ने आज मुझसे पूछा," फिर एक दिन उसने अपनी डायरी में लिखा, "कि इस बार अब एक नयी ही दृष्टि पाकर मैंने आश्रम और उसके आसपास के समूचे परिवेश को जिस तरह देखना शुरू किया है : सन्थालों के ग्राम को, खेतों और उनमें काम करने वालों को, और आश्रम के उन पेड़-पौधों तक को जिनके अस्तित्व तक से मैं पहले बेख़बर-सा रहता था—और उनमें मुझे जिस प्रकार रस मिलने लगा है...सिर्फ़ वहीं तक मेरी दृष्टि सीमित है, या मनुष्यों को भी देख रहा हूँ ? उनका संकेत सुशीला की ही ओर था, यह समझते मुझे देर नहीं लगी।

"सुशीला को देख तो ख़ूब रहा हूँ, पर मुशकिल यही है कि मेरा राग-द्वेष का सम्बन्ध भी तो सबसे अधिक उसी के साथ है। सुशीला आज मेरी बन्धु बन रही है...हम दोनों एक ही रास्ते पर बढ़ रहे हैं, किन्तु फिर भी उसे साथी मानने को, बराबरी का दरजा देने को, मेरा क्षुद्र अहंकार कभी तैयार नहीं हुआ—हालाँकि विवाह करने से पहले मैंने स्वामीजी से यही कहा था कि मुझे एक ऐसी लड़की चाहिए जिसके अन्दर पूरा स्वाभिमान हो, जिसका अपना पृथक और स्वतन्त्र व्यक्तित्व हो, जिस पर पतित्व का मेरा रोब ग़ालिब न होने पाये, जो सचमुच सहधर्मिणी अथवा बन्धु के रूप में हो।...किन्तु आज भी, जब कि स्वामीजी से इतना पा चुका हूँ, तभी तक मैं उसे साथी के रूप में देख पाता हूँ जब तक कि मेरे इस क्षुद्र अहंकार पर उसकी ओर से कोई चोट नहीं पड़ती!...और जहाँ इस तरह की कोई चोट पड़ी, कि उसे देखने के लिए मेरे पास सिर्फ़ राग-द्वेष की ही आँखें रह जाती हैं।

"यह ज़रूर ठीक है कि सुशीला और मैं दोनों, एक-दूसरे पर अपने भावों का घात-प्रतिघात करके ही, एक-दूसरे के राग-द्वेष को स्वीकार और ग्रहण करके ही, उसका अतिक्रमण करने में एक-दूसरे के सहायक हो पायेंगे। जैसा कि स्वामीजी

लिया चुके हैं, पति-पत्नी इसी अर्थ में एक-दूसरे के सहधर्मी और सहधर्मिणी हैं।... किन्तु यहाँ, आश्रम में, हम आश्रमवासी हैं, न कि पति-पत्नी। यहाँ रहते हुए मैंने सुशीला से जो चोटें खायी हैं, केवल इसी वस्तुस्थिति को भुला देने के कारण तो! इस बार यहाँ आने पर ऐसी पहली चोट पड़ते ही मैंने यह विश्लेषण कर लिया था और देख लिया था कि यहाँ हम अपनी सुख-सुविधाओं का ख़याल रखकर नहीं चल सकते। यहाँ तो यही साधना हमें शोभा देती है कि हममें से प्रत्येक स्वामीजी की सेवा के लिए जो कुछ कर सके करे, अपनी सुख-सुविधा की बात ही भूल जाये। सुशीला यहाँ मेरे लिए नहीं है, बल्कि हम दोनों ही स्वामीजी की सेवा के लिए हैं। और इस बात को बराबर सामने रखने पर ही मैं सुशीला के प्रति न्याय कर सकता हूँ, क्योंकि वह भी तो हृदय से यही चाहती है कि जिस तरह वह स्वामीजी की सेवा कर रही है उसी तरह मैं भी करूँ!...तभी तो मैं उसे अपनी आश्रम-बन्धु के रूप में भी देख पाऊँगा।"

पाँच-छः दिन हो चुके थे शंकर को आश्रम आये। सुशीला की ओर से अपने दिल के सारे क्षोभ को दूर करके, इस बीच, उसके दिल में उसके प्रति सहानुभूति ही नहीं, किसी हद तक कृतज्ञता तक का भाव आ चला था, कि स्वामीजी की एक ही बात से उसके अन्दर थोड़ी देर के लिए तो कड़वाहट ही कड़वाहट भर गयी।

"सुशीला को आश्रम आने से तुमने किस लिए रोकना चाहा था इस बार?" —वह बोले, जब कि उस रोज़ की बात ख़त्म करने के बाद वह उनके पास से उठ ही रहा था।

शंकर बिलकुल ही तैयार नहीं था उस प्रश्न के लिए, और न उस स्वर के ही लिए जिसमें वह प्रश्न किया गया था।

संक्षेप में उसने नन्दिनी के अचानक आ पहुँचने वाली बात उनके सामने रखी जो, वह जानता था, स्वामीजी को फिर से या विस्तार से बताने की ज़रूरत नहीं थी।

"यह तो मालूम ही है," उसके स्पष्टीकरण को सुनने के बाद वह बोले। "कारण तो था ही, इसमें कोई सन्देह नहीं...लेकिन क्या वह पर्याप्त कारण था?"

शंकर विस्मित ही नहीं, किसी हद तक क्षुब्ध भी हो उठा—स्वामीजी को इस तरह सुशीला का पक्ष लेते देखकर।

अपने समर्थन में तब उसने फिर कुछ सफ़ाई दी . नन्दिनी के प्रति अपने पुराने आकर्षण की बात...उसके विवाह में न जा सकने की विवशता वाली बात।... और फिर यह शिकायत-सी भी, कि अगर यह उन लोगों की अपनी ही बेटी होती, तब भी क्या सुशीला उस तरह उसकी उपेक्षा करके, और सिर्फ़ एक दिन ही और रहकर, चली आ सकती थी?

"तुमको पता है—एक दिन भी जो वह रुक गयी उसके लिए स्वामीजी ने उससे सफ़ाई माँगी थी—सारी बात जान लेने के बाद भी ?" स्वामीजी ने उसकी सारी सफ़ाई पर जैसे स्याही पोत दी।

शंकर का वह विस्मय और क्षोभ क्षण-भर में ही जैसे घबड़ाहट में बदल गया।

वह कोई जवाब नहीं दे पाया।

"स्वामीजी को जो असुविधा हुई...स्टेशन पर गाड़ी भेजने की जो व्यवस्था एक बार की जा चुकी थी उसे बदलकर दोबारा जो वह सब किया गया," धीरे-धीरे तब उन्होंने ही कहना शुरू किया, "उसकी बात स्वामीजी के कहने की नहीं है, तुम्हारे ख़ुद समझने की है। लेकिन जो बात हमेशा के लिए भविष्य में अब तुम्हें अपने सामने रखनी है वह यह...कि स्वामीजी के और दूसरे किसी के बीच में तीसरे किसी व्यक्ति को नहीं आना है।...पति के अधिकार से, बिलकुल शुरू में ही तुम सुशीला को स्वामीजी के पास आने से रोकना चाहते, तो शौक़ से वैसा कर सकते थे न ?...लेकिन जब वह स्वामीजी के पास आयी, और तुम्हारी मर्ज़ी से ही आयी, तो आश्रम आने की उसकी ज़रूरत कब और कितनी है, इसमें दख़ल देने का तुम्हें अधिकार नहीं है..."

शंकर ने पूरा ज़ोर देकर प्रतिवाद करना चाहा : दख़ल देने की जगह वह तो ख़ुद ही हमेशा सुशीला को उनके पास भेजता रहा है; अपनी सारी सुख-सुविधा को तिलांजलि देकर।

लेकिन वह कुछ भी नहीं कह सका।...निरुद्ध क्षोभ के साथ-साथ एक सीमा तक अपराधी-भावना को भी अन्दर ही अन्दर पोसता, आँखें नीची किये, बस बैठा ही रह गया स्वामीजी के सामने।

"...स्वामीजी के पास अपनी जिस गहरी ज़रूरत को लेकर तुम लोग आते हो...और स्वामीजी भी जब तुम लोगों का यह बोझ अपने ऊपर ले लेते हैं," उन्होंने आगे कहना शुरू कर दिया था, "उसके बाद तो स्वामीजी और तुममें से किसी के बीच कोई तीसरा नहीं पड़ सकता न ? कोई तीसरा कैसे समझ पायेगा कि यहाँ आने की कब, किसकी, कितनी बड़ी ज़रूरत है ?...जो हो गया सो हो गया। उसके लिए अपने को व्यर्थ कोसो नहीं, लेकिन आगे के लिए सावधान हो जाओ...ऐसी ग़लती फिर कभी न होने पाये—"

स्वामीजी पर तो प्रत्यक्ष रूप से नहीं, लेकिन सुशीला के प्रति अप्रत्यक्ष रूप से शंकर का क्षोभ उसके बाद फिर बढ़ गया। उसके लिए अब तक जो कुछ करता आया था वह, उसके बदले में क्या अपने दिल का कोई छोटा-सा दावा भी पेश करने का हक उसे नहीं था ?

पर सुशीला सचमुच ही इतनी सहज और स्निग्ध बनी रही इस बार, कि

उसके प्रति यह अप्रत्यक्ष क्षोभ भी धीरे-धीरे कब आप-से-आप ख़त्म हो गया, यह जान ही नहीं पाया।

... ...

इसी बीच स्वामीजी एक दिन शंकर से सहसा पूछ उठे, जब कि सुशीला और वह दोनों ही उनके पास थे :

"तुम लोगों का...तुम्हारा...घर कहाँ है शंकर ?"

शंकर को अजीब-सा लगा यह प्रश्न !...घर तो उसका कहीं नहीं है, और स्वामीजी भी जानते ही हैं यह बात। जब जहाँ काम करता है वहीं उसका घर हो जाता है, जैसा कि अब पटने में है।...पुश्तैनी घर उसका कोई रहा ही नहीं; एक बार नानाजी वाले बनारस के मकान में उसे कुछ हिस्सा मिलने की बात उठी थी, जायदाद के बँटवारे के सिलसिले में, लेकिन पानी में उठने वाले किसी बबूले की तरह वह फिर उसी की तरह ख़त्म हो गयी थी। इसके अलावा, ख़ुद उसके मन में भी तो यह बात कभी उठी ही नहीं कि उसका कोई घर होना चाहिए था, या अब होना चाहिए...

क्या इशारा है स्वामीजी का...क्या मतलब है उनका ?

"घर किसे कहा जाता है ?" उसकी परेशानी समझ स्वामीजी ने दूसरा प्रश्न किया।

"घर माने...घर वही, जहाँ कोई रहता है..." शंकर ने घर की परिभाषा गढ़ने की लड़खड़ाती-सी एक कोशिश की...

"कोई किसी से पूछता है : तुम्हारा घर कहाँ है ?" स्वामीजी ने ख़ुद ही स्पष्टीकरण शुरू किया, "...जैसे कि—कलकत्ते में हज़ारों-लाखों लोग रहते हैं। उनसे पूछो : तुम्हारा घर कहाँ है ?...कोई वर्दवान ज़िले के किसी गाँव का नाम लेगा, कोई किसी दूसरे ज़िले का ..बहुतेरे यू०पी०-बिहार के किसी न किसी ज़िले का नाम लेंगे।...कलकत्ते को वे अपना घर नहीं, डेरा कहेंगे।...घर होता है वह, जहाँ उसका खूँटा गड़ा होता है...जहाँ से रोज़गार के लिए वह बाहर जाता है—लेकिन उसका ध्यान लगा रहता है अपने गाँव के किसी घर की ओर।...जो कुछ कमाता-धमाता है वहीं के लिए।...कमा-धमाकर अन्त में वहीं आता है।...छुट्टी लेकर भी वहीं !...उसे न कहते हैं घर ?"

"ऐसा घर तो मेरा कोई नहीं है स्वामीजी !"

"नहीं है ?"

और, शंकर के चेहरे पर स्वामीजी ने अपनी सीधी दृष्टि गड़ा दी—अपनी सहज-स्निग्ध सीधी दृष्टि...

शंकर के अन्दर हलकी-सी एक हलचल उठ खड़ी हुई...क्या संकेत है स्वामी जी का ?

"कौन-सा स्थान है तुम दोनों के लिए—" स्वामीजी ने उस सीधी स्निग्ध दृष्टि को उसके चेहरे पर से हटाये बिना ही आगे और कहना शुरू किया, "जहाँ हमेशा आ सकते हो...आते ही हो...और जिसे छोड़ जहाँ भी कहीं जाते हो, वह डेरा ही बना रहता है...?"

शंकर के सारे बदन में आनन्द की एक लहर दौड़ गयी।

"आश्रम—" तभी सुशीला ने जैसे एक साथ दोनों की ओर से जवाब दे डाला। उसके स्वर में एक सहज उच्छ्वास था।

"आश्रम माने ?" स्वामीजी ने तब ख़ुद ही एक और प्रश्न किया, और ख़ुद ही उसका स्पष्टीकरण :

किस उद्देश्य से, कौन-सा लक्ष्य सामने रखकर वे लोग आये हैं आश्रम में, स्वामीजी के पास ?...क्या लक्ष्य है अब उनके जीवन का : अल्प में बँधे रहना, या उससे धीरे-धीरे छुटकारा पाकर भूमा में जाना ?...अपनी पृथक खण्ड सत्ता में सीमित रहना, या पूर्ण में मिलकर एक हो जाना ?...जो लोग स्वामीजी के पास केवल लौकिक-भौतिक अथवा अल्प या खण्ड के किसी सीमित उद्देश्य को सामने रखकर आते हैं उनकी मानसिक चिकित्सा करना वैसा ही है जैसा अंधे को दृष्टि-दान करके भी उसे असीम अंधकार में डूबने के लिए छोड़ देना।... स्वामीजी का सारा समय और श्रम सिर्फ़ उनके लिए है जो अज्ञान के अंधकार को भेद कर सत्य का दर्शन करने के लिए व्याकुल हैं, जो अपने सत्य को, स्वयं अपने को देखकर अपनी खण्ड सत्ता से छुटकारा पाने के लिए बेचैन हैं। इस प्रकार के लोगों के लिए मिट्टी और लकड़ी का बना मकान घर नहीं कहला सकता। ...पटने में वह काम करता है ज़रूर, लेकिन भौतिक-लौकिक बन्धन से धीरे-धीरे छुटकारा पाकर अपने असली घर में आ पहुँचने के लिए ही तो ?... इसी लिए न काम-काज से छुट्टी पाते ही यहाँ आने के लिए वह बेचैन रहता है ?

"तब ?...असली घर कहाँ हुआ ?" स्वामीजी के स्वर और दृष्टि में कुछ बिलकुल ही नया प्रतीत हुआ शंकर को।

"जी—यहाँ...आपके चरणों में !" श्रद्धा-गद्गद स्वर में उसने जवाब दिया।

और एक नये ही प्रकार के भावावेश से विह्वल हुआ, काफ़ी देर तक निश्चल बैठा रह गया स्वामीजी के सामने।

जब उसका ध्यान टूटा, तब देखा—सुशीला भी उसी तरह निश्चल बैठी हुई थी उसके एक ओर, और उसकी भी भाव-विह्वल अपलक दृष्टि स्वामीजी के शान्त, स्थिर चेहरे पर टिकी हुई थी...

जीवन में पहले-पहल सुशीला के प्रति, हलकी-सी ही सही, एक ईर्ष्या-सी हुई

उसे: क्यों नहीं अपने अन्दर भी आत्म-समर्पण का वैसा भाव ला सका वह अभी तक ? कितनी आसानी से अपनी सारी सुविधा की बात भूल जाती थी वह स्वामीजी के पास पहुँचते ही, जब कि ख़ुद उसका अपनी छोटी से छोटी सुविधा पर इतना ज्यादा ध्यान रहता था और स्वामीजी की सेवा वाले काम भी अभी तक उसके लिए सहज नहीं हो पाये थे।

"अपनी सुविधा-असुविधा इसलिए प्रधान हो जाती है, कि दृष्टि अपने खण्ड-रूप में ही आबद्ध रहती है," शंकर ने अगले एक दिन की अपनी डायरी में लिखा। "अपने खण्ड-रूप से बाहर यदि दृष्टि जाय तो जहाँ-जहाँ से मुझे मिल रहा है, जहाँ-जहाँ से मैं भर रहा हूँ, जिस-जिस के साथ मेरा सम्बन्ध स्थापित होता चल रहा है, जिस-जिसका साथ मेरे खण्ड-रूप को काटता चल रहा है...जहाँ-जहाँ से मेरी सत्ता में शृंखला-बद्धता, एक-सूत्रता आती जा रही है, उस-उसके प्रति यदि मेरी दृष्टि रहे तो अपनी क्षुद्र सुविधा-असुविधा हलकी पड़ जाय। प्रेम, भक्ति, वात्सल्य वाले सम्बन्धों में यही बात तो चरितार्थ होती दिखाई देती है। जिसके साथ मेरी एकात्मता स्थापित हो जाती है उसके लिए कुछ करते समय अपनी सुविधा-असुविधा की बात तो मन में उठती ही नहीं, केवल उसी में मन रमा रहता है और अपनी असुविधा, अपना कष्ट प्रिय बन जाता है।

"इसलिए, जब भी कुछ करने का अवसर उपस्थित हो, दृष्टि अपने ऊपर नहीं बल्कि 'दूसरे' के ऊपर ही रहे। तभी करना 'करना' है, नहीं तो बेगार। और—बेगार मैं क्यों करता रहूँ ?"

बात एक प्रसंग की चर्चा से स्पष्ट हुई थी। उसके पटना-स्थित मित्र सूर्यवंशी सिंह की माँ की मृत्यु हुई थी कुछ महीने पहले, और श्मशान-यात्रा पर सबके साथ निकलने के बाद भी, एक मौका निकाल, शंकर ने एक जगह जाकर चुपके-से कुछ खा लिया था—क्योंकि देर तक भूखे रहने से सारे दिन सिर में दर्द बने रहने का डर था, जो उसे स्पष्ट ही निरर्थक लगा था।...लेकिन इस बार आश्रम आने पर स्वामीजी के साथ जो बातें हुई उनके बाद उसे लगा कि कष्ट-सहन का अभ्यास डालना भी जरूरी है क्योंकि दूसरे कितने ही लोग जब ऐसे अवसरों पर आसानी से भूखे रह जा सकते हैं तब अकेले उसका इस कष्ट-सहन से घबड़ा जाना अपने अन्दर ही उसे अज्ञात रूप से छोटा बना डालता है।

स्वामीजी को जब यह घटना उसने इसी सिलसिले में सुना डाली तो उन्होंने इसका एक नया पहलू उसके सामने रखा था। उन्होंने दिखाया कि इस विचार-धारा में एक बड़ी त्रुटि यह रह जाती है कि इसमें दृष्टि बराबर अपनी ही ओर है, दूसरे की ओर नहीं। अगर दृष्टि अपने मित्र की ओर रहती तो उनकी तक-

लीफ़ की, उनके शोक की अनुभूति होती और उनके साथ भूखे रहना न केवल प्रिय हो जाता, बल्कि साथ ही मित्रता का गौरव भी बढ़ता।

"तो, इस तरह, बात यह निकली," उस रोज़ वाली डायरी में उसने आगे चलकर लिखा, "कि दूसरों के साथ मेरे कितने भी सम्बन्ध क्यों न स्थापित होते गये हों, अपने खण्ड रूप को मैंने कभी नहीं छोड़ना चाहा और जिन्हें अत्यन्त घनिष्ठ मानता रहा उन्हें भी अपने से पृथक ही देखा।...प्रश्न यह है कि सूर्यवंशी सिंह के साथ मेरी सच्ची हमदर्दी अगर नहीं थी तो श्मशान-यात्रा में साथ देने की ज़रूरत ही क्या थी? क्या सिर्फ़ सामाजिक दिखावे के लिए, और दूसरों और अपने को भी धोखा देने के लिए?

"देखता हूँ कि जगत से लेता ही लेता चला जा रहा हूँ, देना उस अनुपात में नहीं चाहता। इसी कारण, लेने से दिल भरता नहीं, क्योंकि उसका मूल्य नहीं दिया गया और ऋण के रूप में वह मेरे दिल पर एक बोझ बनकर कायम रह गया। अपनी असुविधाओं की ही बात सोचते रहने का अर्थ यह है कि मैंने जो कुछ भी पाया है उसे ऋण के ही रूप में माना है और हर वक़्त डर बना रहता है कि महाजन कब अपना कर्ज़ वापस माँग बैठे। क्या अजीब बात है कि मैंने ऋण भी ले रखा है और उसे लौटाना भी नहीं चाहता!"

आश्रम से पटना लौटने के दो-एक दिन पहले की बात है। फ़रवरी का महीना ख़त्म हो रहा था, और दिन में काफ़ी गरमी पड़ने लग गयी थी। उस रोज़ शाम को, दिन-भर की उस गरमी के बाद अचानक जो ठण्डी हवा बहने लगी, तो शंकर का ध्यान अनायास इस बात की ओर चला गया कि गरमी लगते वक़्त वह उसके कष्ट को जहाँ ख़ुशी-ख़ुशी स्वीकार करने की कोशिश कर रहा था, वहाँ मन में यह बात तो बार-बार आ ही जाती थी कि अगर पटने में होता तो बिजली के पंखे में यह कष्ट न हो पाता।...और शाम को ठण्डी हवा से जो राहत महसूस हुई उससे यह भी पता चल ही गया कि दिन में गरमी के कष्ट को उसने ख़ुशी-ख़ुशी स्वीकार कर लेने का जो विश्वास अपने को दिलाया था वह दरअसल धोखा था। अन्दर ही अन्दर वह बराबर यह चाह रहा था कि यह गरमी दूर हो और ठण्डक का सुख वह पाये...

स्वामीजी के सामने जब यह बात उसने रखी अगले दिन, तो उन्होंने कहा।

जिस समय उसे गरमी से कष्ट हो रहा था उस समय उसके मन में ठण्डक का चित्र था। ठण्डक के अपने जिस पूर्व-अनुभव को उसने 'प्रिय' के रूप में संचित कर रखा था, उसी के साथ गरमी के 'अप्रिय' अनुभव के समय तुलना हो रही थी अन्दर ही अन्दर। "सारा बंधन और सारा कष्ट इस तुलना के ही कारण है," स्वामीजी ने बताया, "किन्तु यह तुलना निरर्थक और मिथ्या है।" जिस समय ठण्डक है नहीं, जिस समय गरमी ही एक ठोस यथार्थ है, उस समय

दायर कर दिया गया था।

जागृति में इस बार फिर से आये शंकर को चार साल से ऊपर हो चुके थे, और अपने आख़िरी वादे के मुताबिक़ विद्याभूषण ने एक साल पूरा होते ही सम्पादक के रूप में अपने साथ-साथ शंकर का नाम देना शुरू कर दिया था। इस तरह, मुक़दमा दायर होने पर, विद्याभूषण और शंकर दोनों को ही अभियुक्तों के कठघरे में खड़ा होना पड़ा।

इन कुछ वर्षों के बीच जागृति को उत्तरोत्तर जो लोकप्रियता प्राप्त होती गयी थी उसके बल शंकर को पूरा विश्वास था कि इस मुक़दमे से उसकी प्रतिष्ठा कई गुना बढ़ जायेगी; इस मुक़दमे को उसने एक वरदान के रूप में ही देखा था।

लेकिन, विद्याभूषण भी क्या उसे उसी रूप में देख पायेंगे ?—मुक़दमा दायर होने पर सबसे बड़ा डर शंकर को यही हुआ।

नन्दिनी के विवाह के सिलसिले में दिल्ली जाने की उसकी तैयारी हो चुकी थी; लेकिन रुक गया।...विद्याभूषण को दो-चार दिन के लिए भी अकेला छोड़ देना उसे ख़तरे से ख़ाली नहीं लगा; उन मंत्री महोदय के साथ किसी ज़माने में विद्याभूषण की अच्छी-ख़ासी दोस्ती थी; उसकी गैरहाज़िरी में कहीं कोई समझौता कर लिया, तो सारा किया-कराया चौपट हो जायगा।

पिछले चार साढ़े चार साल के दौरान विद्याभूषण के मनोबल को ऊँचा रखने की समस्या उसके सामने और भी कितनी ही बार आती रही थी—जबकि उनकी राजनीतिक उच्चाकांक्षा बीच-बीच में ज़ोर मारती थी और सत्ता-राजनीति में खुलकर न खेल पाना उन्हें बुरी तरह खल उठता था। निर्भीक और स्वतंत्र पत्रकारिता का जो नशा इस बीच शंकर पर चढ़ता गया था उसके साथ विद्याभूषण की उस आकांक्षा का कोई भी मेल नहीं था, और शंकर को ऐसे अवसरों पर बड़े ही संयम और कौशल से काम लेना पड़ता था।

...हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में बिहार प्रान्त में सबसे अधिक नाम और यश अर्जन करके भी विद्याभूषण की उच्चाकांक्षा तृप्त नहीं हुई थी। सत्ता-राजनीति की उनकी लालसा का शंकर को पहले पहल तब आभास मिला था जबकि बारह-तेरह साल पहले, 1937 में, 'प्रान्तीय स्वराज्य' के अन्तर्गत बिहार में प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बना था। जागृति ही तब बिहार का एकमात्र हिन्दी दैनिक पत्र था, और चनावों में कांग्रेस को विजय दिलाने में उसकी भूमिका कुछ मामूली नहीं रही थी। उस काल में विद्याभूषण प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के एक सहायक मंत्री भी थे, और भावी मुख्यमंत्री बाबू श्रीकृष्ण सिंह के काफ़ी विश्वासपात्र। अगर अपनी उस लालसा का उन्हें तभी पता चल गया होता तो उन चुनावों के लिए कांग्रेस का टिकट पा जाना शायद तब कुछ ज्यादा मुशकिल भी न होता।

अनुकूल वातावरण तैयार करने की, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'साम्राज्यवादी' गुट के ख़िलाफ़ सोवियत रूस और कम्युनिस्ट चीन के 'जनवादी' मोरचों का समर्थन कर सकने की स्वतंत्रता। पिछले कुछ वर्षों के दौरान, अपने इन विचारों की ओर विद्याभूषण को खींचने के लिए वह हर मौक़े से, उनकी हर छोटी से छोटी कमज़ोरी से, फ़ायदा उठाता आया था। और, जहाँ तक कि समाजवादी पार्टी का सवाल था, धीरे-धीरे कुछ ऐसी स्थिति आप-से-आप उभरती आयी थी कि कांग्रेस के अन्दर के दोनों ही गुटों से विमुख होने के लिए विवश हो जाने पर जब-जब विद्याभूषण उसकी ओर आकृष्ट होते तभी तब कोई बाधा आ खड़ी होती और शंकर को उन्हें 'निर्दलीय राजनीति' की ओर खींच ले चलने का फिर एक स्वर्ण-अवसर मिल जाता...

...जागृति की प्रतिष्ठा के इतनी तेज़ी के साथ बढ़ने का सबसे बड़ा कारण यह था कि बिहार की कांग्रेसी सरकार पर भ्रष्टाचार के कई बड़े-बड़े आरोप लगभग शुरू से ही लगने लगे थे, और शंकर ने अपने सम्पादकीय लेखों द्वारा खुलकर उनका भण्डाफोड़ करना शुरू कर दिया था। और—प्रान्तीय कांग्रेस के दोनों ही गुटों द्वारा ठुकराये जाने के कारण विद्याभूषण भी, स्वभावतः, शंकर को पूरी छूट देते चले गये थे—निर्भीक, स्वतंत्र, निर्दलीय पत्रकारिता की सम्पादकीय नीति का अनुसरण करने की...

इस दिशा में सबसे पहला अवसर शंकर को तब मिला था जब बिहार विधान सभा में किसी प्रसंग पर बोलते हुए एक वरिष्ठ कांग्रेसी नेता श्री चन्द्रमोहन सिंह ने 'पोलिटिकल सफ़रर्स'—यानी राजनीतिक पीड़ितों—की क्षतिपूर्ति करने और उन्हें तथा उनके परिवारों को पुनः-प्रतिष्ठित करने के नाम पर उन्हें हर तरह की सरकारी सहायता दिलाये जाने का ज़ोरदार शब्दों में समर्थन किया।

"देश की स्वाधीनता के लिए जिन देशभक्तों ने नाना प्रकार के कष्ट-सहन किए थे उन्होंने अपनी त्याग-तपस्या की कोई क़ीमत नहीं लगायी थी," विधान-सभा में दिये जाने वाले उस भाषण का हवाला देते हुए शंकर ने अगले दिन की जागृति में तब लिखा था। "इस तरह की क़ीमत की बात वे तब सोच भी नहीं सकते थे, क्योंकि देश की स्वाधीनता ही उनकी दृष्टि में उनका सबसे बड़ा पुरस्कार था—उनकी सबसे बड़ी क्षति-पूर्ति। देश की आज़ादी के लिए अपनी जान हथेली पर लेकर और सिर पर कफ़न बांध रणभूमि में कूद पड़ने वाले बहादुरों का इससे बड़ा अपमान और कुछ नहीं हो सकता कि उनके उन बलिदानों की क्षतिपूर्ति की बात तक कोई अपनी ज़बान पर लाये—ख़ास तौर से कोई ऐसा शख़्स जिसने किसी ज़माने में ख़ुद ही वैसी क़ुर्बानियां की थीं और हँसते-हँसते ही..."

श्री चन्द्रमोहन सिंह से शंकर की काफ़ी पुरानी दोस्ती थी—तभी की, जबकि पहले पहल वह 'जागृति' में आया था। द्वितीय महायुद्ध के दौरान, 1941 में, जब तक वह जागृति छोड़ चला नहीं गया था तब तक उत्तर बिहार के अपने गाँव से पटने आने पर वह उन्हीं के घर पर ठहरते थे, क्योंकि अधिक सम्पन्न कांग्रेसजनों के साथ बराबरी के सम्बन्ध का दावा करने जैसी हैसियत तब उनकी नहीं थी। लेकिन इस बार, 1947 के मार्च में जब शंकर फिर से जागृति में आया, तब तक चन्द्रमोहन बाबू न सिर्फ़ एम. एल. ए. हो चुके थे, बल्कि, एक मंत्री विशेष के कृपाभाजन होने के नाते, और शायद मंत्रिमण्डल में कोई छोटे से छोटा पद भी न दिये जाने की 'क्षति-पूर्ति'-स्वरूप और सौदे के तौर पर, उन्हें एक ऐसी सम्पत्ति और आय के स्रोत का भी अधिकारी बना दिया गया था जिसकी बदौलत, कुछ ही सप्ताह पहले, एक ख़ासी बड़ी और शानदार मोटर-गाड़ी तक उन्होंने ख़रीद ली थी।

उस अग्रलेख में इन बातों की ओर कुछ प्रच्छन्न संकेत कर देने के अपने लोभ पर शायद उस मित्रता का ख़याल करके ही शंकर को अंकुश लगा लेना पड़ा था, और इसलिए, अग्रलेख के छपने के कुछ घंटे बाद, जब चन्द्रमोहन बाबू ने फ़ोन पर उसे उस अग्रलेख के लिए बुरी तरह फटकारना शुरू कर दिया तो पहले तो वह हैरत में ही आ गया उनकी उस बेशर्मी पर, लेकिन फिर उसे भी ताव आ गया और उसने भी कोई कसर नहीं उठा रखी कड़ी से कड़ी बातें कह डालने में...

उस दिन से चन्द्रमोहन बाबू ने उससे मिलना ही नहीं, कहीं मिल जाने पर बात तक करना छोड़ दिया...

फिर—उसके कुछ काल बाद तो बिहार की कांग्रेसी सरकार के दामन पर दो बहुत ही बड़े स्याह धब्बे दिन की पूरी रोशनी में उभरकर सामने आ गये थे, 'छोआ-काण्ड' और 'लाठी-काण्ड' के नाम से जिनकी शोहरत बिहार प्रान्त की सीमाओं को पार कर सारे देश में छा गयी और जिनकी कड़ी दुर्गन्ध को दबाने के लिए बिहार मन्त्रिमंडल ने जो कुछ भी करना चाहा और किया, सब बेकार साबित हुआ।

...बिहार में चीनी की बहुत-सी मिलें थीं। ऊख पेरकर चीनी बनाने के सिलसिले में उसके रस की जो आख़िरी तलछट या गन्दगी नालियों के रास्ते बहा दी जाती थी वह कुण्डों में इकट्ठा होती रहती थी और बाद को शराब, तम्बाकू, आदि बनाने वालों के इस्तेमाल के लिए उन्हें बेच दी जाती थी। सरकार के आबकारी विभाग का, इसीलिए, उसकी बिक्री पर नियंत्रण था, और उसके 'परमिट' की पुर्ज़ी के बिना वह माल मिल वाले किसी को भी नहीं दे सकते थे। आबकारी विभाग ही उसका दाम भी तय करता था।

शंकर भला यह गुमान तक कैसे कर सकता था कि भ्रष्टाचार, पद-लिप्सा और अर्थ-लोलुपता के जो आरोप सत्ताधारी कांग्रेसजनों के खिलाफ इतनी निर्भीकता के साथ लगाकर जागृति दिन पर दिन लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचती जाती थी उसका अगर पूरा पर्दाफ़ाश हो जाता तो उलटे उसी के माथे पर कलंक का काला टीका लग जाता। उसे कहाँ पता था कि जिस 'कोटा-काण्ड' को लेकर जागृति में उसने 'अर्थ-लोलुप कांग्रेसजनों' की कुछ समय पहले धज्जियाँ उड़ानी शुरू की थीं, उसके काले धब्बे जागृति के सफ़ेद दामन पर भी दिन की उतनी ही तेज़ रोशनी में उजागर हो उठेंगे—अगर लोगों को यह पता चल गया कि उसके सम्पादक और प्रधान सम्पादक विद्याभूषण के भी हाथों ने कोटा के परमिट और लाठी की ज़मीन के लिए दरख्वास्तें लिखी थीं।

गनीमत यही थी कि विद्याभूषण ने ये दरख्वास्तें अपने नाम से नहीं दी थीं, और न उनके नीचे उनके अपने दस्तख़त ही थे। दरख्वास्तें उनके बड़े भाई के नाम से दी गयी थीं जिन्हें कोई जानता तक नहीं था, और शंकर को भी सिर्फ़ इसलिए इस बात का पता चल पाया था कि विद्याभूषण के गाँव और उनके बड़े भाई के नाम उसे मालूम थे।

एकान्त में जब विद्याभूषण से शंकर एक तरह से इसकी कैफ़ियत ही तलब कर बैठा तब वह सिर्फ़ बुरी तरह खिसिया गये थे; कोई भी ऐसी सफ़ाई वह नहीं दे सके जो शंकर की सीधी जिरह के सामने ठहर सकती। और, शंकर को बहुत बड़ा धक्का लगा यह जानकर कि विद्याभूषण के अन्दर दबी पड़ी अर्थ-लिप्सा घटने के बजाय बढ़ती ही जा रही है...

बड़ी ही दीनता के साथ विद्याभूषण ने तब उसके सामने अपनी 'कमज़ोरी' स्वीकार कर ली थी, और तरह-तरह के वादे करके उसे आश्वस्त किया था कि भविष्य में वह कभी भी ऐसी कोई हरकत नहीं करेंगे जिसका भण्डाफोड़ हो जाने पर जागृति बदनाम हो पाये।...उसके बाद से शंकर पहले की भी अपेक्षा कहीं अधिक उत्साह और मनोयोगपूर्वक यह प्रयत्न करने लगा था कि विद्याभूषण की राजनीतिक उच्चाकांक्षा को किसी सीमा तक पूरा करने का कोई ऐसा रास्ता निकाला जाय जो जागृति की प्रतिष्ठा के अनुरूप हो और जिसकी बदौलत वह अपने को इस सीमा तक तृप्त महसूस कर सकें कि किसी अप्रतिष्ठित ढंग से धन संचित करने का लोभ उन पर समय-समय पर सवार न होता रहे।

इसी दृष्टि से, एक बार वह कांग्रेस के ही दूसरे गुट के नेता अनुग्रह बाबू को फिर से विद्याभूषण के कुछ अधिक निकट लाने की दिशा में वह स्वयं ही काफ़ी दूर तक आगे बढ़ गया था—ताकि सम्भव हो तो वहाँ उनको कुछ विशेष सम्मान मिल सके और अगले चुनावों में उनकी ओर से कांग्रेस का टिकट दिलाया जा सके। अनुग्रह बाबू शंकर के प्रति इधर विशेष रूप से आकर्षित हुए थे—जब से साथियों की

मृत्यु के वाद जागृति में उनके संस्मरणों वाली उसकी लेखमाला निकली थी, और शायद इसलिए भी कि उनके काफ़ी निकट पहुँचकर भी उनसे न कभी कोई फ़ायदा उठाया था, न कभी कुछ चाहा।...उसका वह प्रयत्न सफल अवश्य नहीं हो पाया था, क्योंकि विद्याभूषण को अपना समर्थन देने की जो क़ीमत उन्होंने माँगी वह वहुत ही वड़ी थी : जागृति का उन्हीं के गुट का मुखपत्र वन जाना। विद्याभूषण का दिल टटोलने की ग़रज़ से शंकर ने तव यह प्रस्ताव भी उनके सामने रख ही देखा था कि उस अवस्था में वह ख़ुशी से जागृति को छोड़ देने के लिए तैयार था—वशर्ते कि वह ख़ुद यह क़ीमत देने को तैयार हों और निर्भीक स्वतंत्र पत्रकारिता की नीति छोड़ जागृति को कांग्रेस के ही एक गुट का पत्र वना देना उन्हें स्वीकार हो।

लेकिन विद्याभूषण इसके लिए तैयार नहीं हो पाये : चाहे इसलिए कि शंकर के सम्पादन में जागृति ने जो यश और प्रतिष्ठा अर्जित की थी वह उन्हें अधिक मूल्यवान लगी; या शायद इसीलिए कि उसके वाद भी उन्हें पूरा भरोसा नहीं हो पाया कि अनुग्रह वावू उन्हें कांग्रेस का टिकट दिला ही देंगे।...पर अपने उस प्रयत्न द्वारा विद्याभूषण को कम से कम यह विश्वास दिलाने में तो शंकर को सफलता मिल ही गयी थी कि वह उनकी राजनीतिक उच्चाकांक्षा में वाधा न डाल, उलटे उनका सहायक ही है...

और—जागृति पर मानहानि का वह मुक़दमा दायर हो जाने के वाद से तो ख़ुद विद्याभूषण कांग्रेसी शासन के विरोध की दिशा में वढ़ने के लिए दिन पर दिन और भी मजवूर होते गये, जिसके कारण शंकर का रास्ता और भी सुगम हो चला।

जागृति के ख़िलाफ़ मुकदमा दायर होने पर जव शंकर नन्दिनी के विवाह में जाने का अपना प्रोग्राम रद्द कर विद्याभूषण को यही दिखाने और समझाने में लगा हुआ था कि जागृति की लोकप्रियता को वढ़ाने की दिशा में वह मुक़दमा एक वरदान सिद्ध होगा, क्योंकि मुक़दमा उन मंत्री विशेष के कुछ काले कारनामों का पर्दा फाश करने वाले एक समाचार छापने की वजह से ही चलाया गया था, तव, सव कुछ सुन लेने के वाद, विद्याभूषण ने सवसे वड़ी चिन्ता मुक़दमे के ख़र्च को लेकर ही व्यक्त की थी। सम्पादकीय विभाग के कुछ दूसरे लोग भी इस चर्चा के समय विद्याभूषण के कमरे में मौजूद थे, और अचानक ही एक सहायक सम्पादक कह वैठे कि जहाँ तक वकील का सवाल है, वह एक वहुत ही क़ाविल वकील को विना फ़ीस लिये यह मुक़दमा लड़ने के लिए तैयार कर ले सकते हैं क्योंकि वह जागृति की सम्पादकीय नीति के भारी प्रशंसक हैं और उसके अग्रलेखों

और टिप्पणियों को न सिर्फ़ खुद बड़े चाव से पढ़ते हैं बल्कि अपने कुछ मुलाक़ातियों को भी कभी-कभी जोश में आकर पढ़कर सुनाने लग जाते हैं।...मुकदमे के खर्च की सबसे बड़ी मद तो यही थी : वकील की फ़ीस, और इस ओर से निश्चिन्त होने का आश्वासन पा जाने पर, बाकी खर्च के लिए तो फिर विद्याभूषण को भी कोई खास चिन्ता नहीं रह गयी—जब शंकर ने यह सुझाव रखा कि अगले दिन से ही जागृति में इस मद के लिए जनता से, जागृति के पाठकों से, प्रान्त के सभी 'प्रगतिशील' लोगों से धन भेजने की अपील छापी जाय...

अगले दिन ही उन महोदय सम्पादक ने उन वकील से बात कर ली, और विद्याभूषण और शंकर उनसे मिलकर पूरी तरह सन्तुष्ट हो गये। "मेरी एक ही शर्त है...बिना फ़ीस लिए इस मुकदमे को आप लोगों की ओर से लड़ने के लिए," प्रखर व्यक्तित्व-सम्पन्न उन वकील साहब ने उन लोगों से कहा, "कि आप लोग यह वादा करें...कि आख़ीर तक डटे रहेंगे।...किसी वक़्त भी समझौता करने के लिए तैयार नहीं होंगे।"

विद्याभूषण तब वकील साहब की—बाबू रामशरण सिंह था उनका नाम—इस शर्त से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके थे उस दिन, हालांकि तब तक यह पता चल चुका था कि वह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के एक बहुत बड़े समर्थक थे और पिछले वर्षों, जबकि तेलंगाना के कृषक-आन्दोलन के सिलसिले में पार्टी के सदस्य 'अंडरग्राउन्ड' चले गये थे, अपनी आमदनी का खासा बड़ा हिस्सा छिपे-छिपे उस आन्दोलन की मदद के लिए भेजते रहे थे।

...शंकर भी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा तेलंगाना में चलाये जाने वाले किसान-विद्रोह के लिए हर महीने एक छोटी-सी रकम सहायता-स्वरूप देता रहा था—जब से जागृति के उप-सम्पादक विनायक शर्मा ने, जिनके कम्युनिस्ट होने का उसे बहुत पहले से ही शक था, 'पार्टी' के सदस्यों के 'अंडरग्राउन्ड' चले जाने के बाद एक दिन एकान्त में उसे पाकर ख़ुद ही यह क़बूल किया था कि वह पार्टी के सदस्य हैं, और उसे यह भी बताया था कि पटने में कुछ और भी पार्टी-सदस्य छिपकर काम कर रहे हैं। तेलंगाना के उस किसान-विद्रोह को संगठित करने के अत्यन्त दुस्साहसपूर्ण कार्य के लिए तब तक शंकर के दिल में भारतीय कम्युनिस्टों के लिए पहलेपहल श्रद्धा उत्पन्न होनी शुरू हो चुकी थी, और विनायक शर्मा को जब यह इतमीनान हो गया था कि शंकर से उन्हें कोई ख़तरा नहीं है, तब से वह तेलंगाना की उस लड़ाई की बाबत उसे बहुत-सी ऐसी बातें बताने लग गये थे जो अख़बारों में नहीं आती थीं।...और—कुछ समय बाद तब शंकर ने ही उन लोगों की उस लड़ाई के फ़ण्ड के लिए अपने वेतन की एक छोटी-सी रकम हर महीने उन्हीं के मार्फ़त भिजवानी शुरू कर दी थी।

तब से अब तक, लेकिन, पटना के घाटों पर से गंगा का पानी न जाने कितना

वह गया था, और भारत की राजनीति काफ़ी वदल चुकी थी।...महात्मा गांधी की हत्या के वाद हिन्दू सम्प्रदायवाद की वढ़ती हुई लहर को नेहरू सरकार ने आनन-फ़ानन दवा डाला था; जो वात किसी समय असंभव दिखाई देती थी, वही एक सम्प्रदायवादी हिन्दू नवयुवक द्वारा गांधी की हत्या के फलस्वरूप नेहरू के लिये वाएँ हाथ का खेल वन गयी थी। और—उसी आकस्मिक संयोग की वदौलत जवाहरलाल नेहरू एक निशाने से एक साथ दो चिड़ियों का शिकार कर डालने में भी सफल हो गये थे : हिन्दू सम्प्रदायवाद की जड़ पर कुठाराघात करने में, और कांग्रेस के अन्दर 'पूंजीवादी-प्रतिक्रियावादी' तत्त्वों के समर्थक समझे जाने वाले तथाकथित दक्षिणपक्षीय नेतृत्व को भी शक्तिहीन कर डालने में, जिसके नेता सरदार पटेल के खिलाफ़ समाजवादी नेता जयप्रकाश नारायण तक ने खुल्लमखुल्ला यह आरोप लगाया था कि गांधी की हत्या उन्हीं की असावधानी के कारण हो पायी : कि भारत के गृहमंत्री रहते हुए भी उन्होंने वापू की हिफ़ाजत की उचित व्यवस्था नहीं की, कुछ दिन पहले की उनकी प्रार्थना सभा में हुए वम-विस्फोट के वाद भी सतर्क नहीं हुए...

यों, कांग्रेस संगठन पर शुरू से ही सरदार पटेल का प्रभाव अधिक था जिसके कारण गांधीजी की मृत्यु के वाद होने वाले कांग्रेस संगठन के चुनावों में (1950) नेहरू और पटेल के वीच एक तरह से खुला संघर्ष हो जाने पर अध्यक्ष-पद के लिए पटेल-समर्थित उम्मीदवार पुरुषोत्तमदास टण्डन की ही जीत हुई और नेहरू-समर्थित उम्मीदवार आचार्य कृपलानी हार गये। किन्तु टण्डन के अध्यक्ष वनने के वहुत ही थोड़े समय वाद सरदार पटेल की भी मृत्यु हो गयी, और कांग्रेस के दक्षिणपक्षीय नेतृत्व की कमर ही टूट गयी। कुछ महीने तो 'एकता' की गाड़ी किसी तरह खिचती चली, लेकिन 1951 के उत्तरार्ध में दोनों पक्षों के वीच खुलकर संघर्ष छिड़ गया। नेहरू ने कांग्रेस कार्यसमिति से इस्तीफ़ा देने की इच्छा प्रकट की, जिसे स्वीकार करने की जगह टंडन ने खुद ही कांग्रेस-अध्यक्ष पद से हट जाना पसन्द किया, क्योंकि नेहरू के नेतृत्व के विना, कुछ ही महीने वाद आने वाले आम चुनावों में, कांग्रेस को जिताना उनके वस का नहीं था। प्रधानमंत्री नेहरू ही तव कांग्रेस के अध्यक्ष भी हो गये...

देश और कांग्रेस की राजनीति के इन उलटफेरों के वीच शंकर के अपने विचारों में भी काफ़ी उलटफेर होता आया था।...देश-विभाजन को लेकर जहाँ वह गांधी और नेहरू के विरुद्ध रहा था और पटेल के वहुत-कुछ नज़दीक, वहाँ देश की भावी अर्थव्यवस्था के मामले में वह पटेल के विरुद्ध नेहरू के ही ज़्यादा नज़दीक था। साम्प्रदायिक मामले में भी स्थिति अव वदल चुकी थी। गांधीजी की हत्या के वाद सारे देश में पश्चात्ताप की जो लहर आप-से-आप और तेज़ी के साथ फैली उसने हिन्दू सम्प्रदायवाद की जड़ें ही हिला दीं; गांधीजी की हत्या के

भारतीय संविधान वन गया और उसने भारत को एक धर्म-निरपेक्ष असाम्प्रदायिक लोकतंत्रात्मक राज्य घोषित किया—जिसके अनुसार सम्पूर्ण देश में पहली वार वालिग मताधिकार के आधार पर, स्त्री-पुरुषों को समान मताधिकार देते हुए, आम चुनाव होने को थे। शंकर ने जागृति में इस संविधान का स्वागत करते हुए यह विश्वास प्रकट किया कि "जनता के हितों को अपने सामने रखने वाली हर राजनीतिक पार्टी के लिए इस संविधान ने सफलता के द्वार खोल दिये हैं," और यह आशा व्यक्त की कि "हिंसा का रास्ता छोड़ हर राजनीतिक पार्टी अब सीधे जनता के दरवाज़े पर जा सकेगी और अपने कार्यकर्ताओं की सेवा-परायणता और ईमानदारी के वल उन्हें अपने पक्ष में वोट देने के लिए प्रेरित करने का अवसर पायेगी।"

इस आधार पर शंकर को पूरा भरोसा था कि इस वार के चुनावों में कई प्रान्तों में कांग्रेस की हार होगी, ख़ास तौर से विहार में, जहाँ की सरकार, उसकी दृष्टि में, भ्रष्टाचार के आरोपों से जर्जर हो चली थी, और कांग्रेस 'हाई कमाण्ड' या केन्द्रीय कांग्रेसी सरकार भी जिसके 'कुकर्मों' के लिए उसे सज़ा देने में असमर्थ रह गयी थी।

"भारत के स्वाधीन होने के कुछ ही समय पहले जवाहरलाल नेहरू ने घोषणा की थी," उसने अपने एक अग्रलेख में लिखा, "कि प्रधान मंत्री होने पर वह हर भ्रष्ट चोरवाज़ारी को सवसे नज़दीक के 'लैम्प-पोस्ट' पर फाँसी चढ़ा देंगे। उस वक़्त ज़रूर वह नहीं जानते थे कि स्वाधीनता से पहले वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में ही जो कालावाज़ारी और चोरवाज़ारी ज़ोरों पर थी वह देश के स्वाधीन हो चुकने पर राजनीतिक क्षेत्र में भी धड़ल्ले के साथ चालू हो जायगी। किन्तु भारत की जनता का धीरज यह देख तेज़ी से छुटता जा रहा है कि 'समाजवादी' और 'प्रगतिशील' नेहरू सरकार की नाक के नीचे, ख़ुद उनकी ही छत्रछाया में, जो भ्रष्टाचार पनप रहा है उसे नज़रन्दाज़ करते-करते वाणिज्य और व्यवसाय के क्षेत्र के चोरवाज़ारियों को भी वह भूल गये हैं: वल्कि सच तो यह है कि अपने राजनीतिक पृष्ठपोषकों की चिकनी-चुपड़ी वातों में आकर वह यह भी नज़रन्दाज़ करते दिखाई दे रहे हैं कि यह राजनीतिक भ्रष्टाचार व्यावसायिक चोरवाज़ारी की नींव पर ही अपनी ऊँची इमारत खड़ी करता जा रहा है।..."

मानहानि वाले उस मुक़दमे के वाद विद्याभूषण को 1952 के आम चुनावों के लिए कांग्रेस का टिकट मिलने की आशा वैसे भी नहीं थी, और न ही तव तक ख़ुद उन्हीं के अन्दर उसके लिए कोई आकर्षण रह गया था।

शंकर के सामने अव समस्या यह आयी—कि चुनावों में वह उन्हें किसी दूसरी पार्टी का टिकट लेने के लिए तैयार करे या निर्दलीय स्वतंत्र उम्मीदवार

के रूप में चुनाव लड़ने के लिए ?

पहले उसकी इच्छा उन्हें स्वतंत्र रूप से ही चुनाव लड़ने के लिए तैयार करने की थी, और एक तरह से इसके लिए वह राजी भी हो गये थे। लेकिन चुनावों से कुछ पहले, पटने में ही हुए एक अखिल भारतीय सम्मेलन में, किसान-मजदूर प्रजा पार्टी नामक एक नयी पार्टी की स्थापना हुई जिसे कांग्रेस का परित्याग करने वाले कुछ ऐसे नेताओं का समर्थन प्राप्त था जो ठीक दक्षिणपन्थी तो नहीं कहे जा सकते थे लेकिन जो नेहरू के नेतृत्व से सन्तुष्ट नहीं थे और कांग्रेसी शासन के भ्रष्टाचार का अन्त करना ही जिनका प्रमुख ध्येय था। इस पार्टी के सबसे प्रमुख नेता थे आचार्य कृपलानी जिन्होंने महात्मा गांधी की मृत्यु से कुछ काल पहले कांग्रेस अध्यक्ष पद से मुख्यतः इसलिए इस्तीफ़ा दे दिया था कि प्रधानमंत्री और उनके मन्त्रि-मण्डल के कार्यों में कांग्रेस अध्यक्ष और कांग्रेस कार्यसमिति का कोई भी हस्तक्षेप सरकार के नेताओं को बरदाश्त नहीं था।

बिहार में इस पार्टी का संगठन करने में विद्याभूषण ने काफ़ी उत्साह दिखाया, और अन्त में उसी के टिकट पर वह अपने ज़िले से चुनाव लड़े। जागृति ने अवश्य अपनी निर्दलीय नीति तब भी जारी रखी, और कांग्रेस के सिवा बाकी सभी पार्टियों के अपेक्षाकृत अधिक योग्य और ईमानदार समझे जाने वाले उम्मीद-वारों का समर्थन किया, और कहीं-कहीं निर्दलीय उम्मीदवारों का भी।

वर्ष पहले तैलंगाना के कम्युनिस्ट किसान-आन्दोलन का मुक़ाबला करने के लिए छेड़ा गया था और जिसने तब तक अखिल भारतीय-सा रूप ले लिया था।

विद्याभूषण को सान्त्वना देने के लिए, उनकी गहरी मायूसी और उदासी से उन्हें उबारने के लिए क्या किया जा सकता है—इस पर शंकर अपना सिर खपा ही रहा था—कि एक दिन, ख़ुद विद्याभूषण की ओर से उलटे उसी पर एक भारी चोट पड़ी।

शंकर किसी काम से उनके दफ़्तर वाले कमरे में गया हुआ था, और उस सिलसिले में जितनी ही बातें उनसे कहता गया था वे मानो उनके कानों से टकराकर ही रह गयी थीं। अपनी मेज़ के किनारे खड़े चुपचाप वह जहाँ-तहाँ फैले काग़ज़ों को कभी एक ओर के ड्राअर में, कभी दूसरी ओर के ड्राअर में रखते जा रहे थे—सिर्फ़ सरसरी तौर पर उन पर एक नज़र डाल लेने के बाद—और यह सारा काम इस तरह कर रहे थे मानो कोई बेगार कर रहे हों।

शंकर ने आख़िर अपनी बातें बन्द कर दीं, और वह भी चुपचाप उनकी उन यंत्रचालित-सी हरकतों को, और फिर उनको, देखने लग गया।

देखा—इन कुछ हफ़्तों में ही उनका भारी-भरकम चेहरा काफ़ी हलका पड़ गया है।...चुनावों में ज़रूर काफ़ी मेहनत पड़ी थी—जिसका भी असर था ही; लेकिन जब तक चुनाव-फल नहीं आया था तब तक भी उस चेहरे पर एक रौनक़ थी।...मगर अब उसकी जगह एक सपाट उदासी थी वहाँ...एक अस्वस्तिकर शिथिलता...एक अजीब-सी निर्जीविता, जो शंकर के लिए लगभग अपरिचित ही थी उनमें।

"तबीयत कुछ ख़राब है ?" हमदर्दी के स्वर में उसने पूछा।

कुछ क्षण फिर भी विद्याभूषण का मुँह उसी तरह लटका-सा रहा...उसी तरह, अन्यमनस्कतापूर्वक, उन काग़ज़ों को, यंत्रचालित की नाईं, इधर-उधर करते रहे। फिर—धीरे से शंकर के चेहरे की ओर अपनी निगाह उठा, एक बड़ी ही पस्त आवाज़ में बोले : "नहीं तो—"

जिसके बाद उनकी वह निगाह उसके चेहरे पर टिकी रह गयी, और शंकर को लगा, कि वह अभी रो पड़ेंगे।

"इतने उदास क्यों होते हैं भाई—?" शंकर ने तब नज़दीक जा, उनके कंधे पर हाथ रखते हुए कहा। "...पहली बार आप चुनाव लड़े।...हार या जीत तो होनी ही थी। इस बार नहीं जीते...तो अगली बार फिर खड़े होंगे।...और—अगले पाँच वर्षों में...आप देख लीजियेगा...देश की राजनीति कहाँ से कहाँ जा पहुँचेगी—"

विद्याभूषण तब तक फिर उन काग़ज़ों को छाँटने की क्रिया में लग गये थे। कुछ देर और वह कुछ नहीं बोले।

फिर अचानक ही, बिना उसके चेहरे की ओर नजर उठाये, कह उठे :

"सोचता हूँ...दैनिक बन्द करके अब जागृति को साप्ताहिक कर दूँ—"

"क्यों ?"—शंकर के सिर पर जैसे हथौड़े की चोट पड़ी। "क्यों ?—" अब जैसे उनके वही आर्तनाद कर उठा।

इस 'क्यों' के जवाब में विद्याभूषण ने जो-कुछ बताया, वह क्या खुद शंकर से पूरी तरह छिपा था ?...जागृति का सबसे पुराना प्रतिद्वन्द्वी 'आर्यबंधु' जिस सामन्तवादी अर्थ-व्यवस्था का समर्थक था उसके कारण प्रान्त के प्रतिक्रियावादी कुछ बहुत ही सम्पत्तिशाली लोग उसके पीछे थे, और जागृति की प्रगतिशील नीति उनके लिए ज़हर से कम नहीं थी। डेढ़-दो साल पहले ही 'आर्यबंधु' के सम्पादकीय और प्रबंध विभागों की पुनर्व्यवस्था कर 'स्टाफ़' काफ़ी बढ़ा दिया गया था; प्रान्त के छोटे से छोटे नगर में स्थानीय संवाददाता नियुक्त कर दिये गये थे;...फिर उसके कर्मचारियों को प्रान्त के अन्य सभी दैनिक पत्रों के मुक़ाबले ज्यादा वेतन दिया जाने लगा था। जागृति की ग्राहक-संख्या और पाठक-संख्या पर इन सारी बातों का साफ़ असर दिखाई देने लगा था तब से।

लेकिन चुनावों के बाद अब तो 'आर्यबंधु' की पृष्ठ-संख्या भी छ: से बढ़ाकर आठ कर दी गई थी—जबकि मूल्य वही चार पैसे रहा आया, जो कि पटने के सभी दैनिक पत्रों का था।

इतना सब तो शंकर को मालूम था। लेकिन विद्याभूषण ने अब यह एक बात और बतायी—कि न सिर्फ अख़बार की बिक्री करने वालों का कमीशन भी इस महीने से उन लोगों ने बढ़ा दिया है, बल्कि बिना-बिकी प्रतियों को वापस लेने के बारे में भी उन्हें पहले से कहीं ज्यादा रियायतें देनी शुरू कर दी हैं।

"ऐसी हालत में जागृति किस तरह आर्यबन्धु का मुकाबला कर सकेगी अब, उदयजी ?" सब-कुछ सुनाकर विद्याभूषण बोले, और एक सूनी-सी दृष्टि शंकर के चेहरे पर टिका दी।

काफी देर तक फिर वे दोनों एक दूसरे के सामने—मेज के आर-पार—चुप बैठे रहे, जिसके बाद धीरे-धीरे शंकर वहाँ से उठकर चला आया, और बिलकुल ही खोया-खोया बाहर के मैदान में चक्कर काटने लगा...

क्या सचमुच जागृति बन्द हो जायगी ?—उसके दिल से रह-रहकर एक दर्द-भरी पुकार उठती, और उसके अन्दर की छटपटाहट थोड़ी और बढ़ जाती।

किस तरह वह बिल्कुल एक हो गया था जागृति के साथ—पिछले चार-पाँच वर्षों में ! उसकी अलग हस्ती जैसे रह ही नहीं गयी थी।...आम चुनावों के दौरान तो उसने इस तरह दिन-रात एक कर डाले थे—जागृति द्वारा समर्थित उम्मीदवारों के पक्ष में प्रचार करने की धुन में—कि उन्हीं दिनों जब एक सप्ताह

के लिए स्वामीजी उनके घर आकर रहे थे, तो उनकी सेवा और उनकी ज़रूरतों की ओर नज़र रखने की सारी ज़िम्मेदारी सुशीला पर ही छोड़ निश्चिन्त रहा था; एक बार भी उसके मन में नहीं आया था कि किसी तरह कुछ वक़्त निकाल स्वयं भी स्वामीजी की यत्किंचित सेवा करे, उनकी ज़रूरतों की बाबत सुशीला से कुछ पूछताछ करे, उसकी मदद करे। दो-एक बार जब सुशीला ने ही उसके सामने यह पहलू रखने की कोशिश की थी, तब भी कहाँ वह उसे कुछ वज़न दे सका था अपने मन में ?..."जिस काम की ज़िम्मेदारी ले ली है," उसने बिना झिझक सुशीला को जवाब दे दिया था, "उसे छोड़ कोई दूसरी बात इस वक़्त मैं अपने दिमाग़ में नहीं आने दे सकता..."

और—जैसे-जैसे जागृति द्वारा—या, दूसरे शब्दों में, स्वयं शंकर द्वारा—समर्थित एक-एक उम्मीदवार की पराजय के समाचार आते गए थे, उसका दिल बैठता गया था—जिसकी चरम परिणति के रूप में था विद्याभूषण की हार का समाचार।

फिर भी अपने मन को उसने ढाढस बँधाया था...कि अनुभवहीनता के कारण इस बार भले ही कांग्रेस-विरोधी उम्मीदवारों की हार हुई हो, मगर यही अनुभव भविष्य में उनके लिए क़ीमती साबित होगा...कि पाँच साल बाद, अगले चुनावों में, कहीं ज्यादा ज़ोरदार तरीक़े से वे चुनाव के मैदान में उतरेंगे...और कांग्रेस को पराजित करके ही रहेंगे...

लेकिन अब ?

अगर दैनिक जागृति ही न रही—तो ?

बाईस

"नहीं उदयजी, जागृति को बन्द नहीं होने दिया जा सकता...किसी तरह भी नहीं—" मानहानि वाले मुक़दमे में उनके प्रमुख वकील रामशरण बाबू बोले—जब शंकर ने, प्रसंगवश, वह बात उनके सामने रखी। "हम लोग उसकी ज़िम्मेदारी लेंगे...हम लोग चलायेंगे उसे !...प्रान्त के सभी प्रगतिशील लोगों का अपना अख़बार है...वे सभी इसे ज़िन्दा रखने के लिए अपनी सारी ताक़त लगा

देंगे—"

पिछले कुछ महीनों के दौरान रामशरण बाबू के साथ शकर की घनिष्ठ राजनीतिक मित्रता स्थापित हो चुकी थी। उस मुक़दमे में समय-समय पर अपनी बहस में उन्होंने जो जौहर दिखाये थे उनके कारण वह ख़ुद उनकी ओर जितना आकृष्ट हुआ था, लगभग उतनी ही दिलचस्पी रामशरण बाबू भी शंकर के लिये सम्पादकीय लेखों में लेते आये थे—यहाँ तक कि कभी-कभी तो उसके किसी अगले लेख के लिए ठोस और काफ़ी वजनी सुझाव भी देते रहे थे, और उसके लिए आवश्यक सामग्री इकट्ठी करने मे मदद भी।

रामशरण बाबू की ही बदौलत शंकर का सम्पर्क पटने के कुछ ऐसे विशिष्ट बुद्धिजीवियों के साथ भी हुआ था जो या तो प्रच्छन्न रूप मे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य ही थे, अथवा उसके ज़बर्दस्त हिमायती।...और इसी सम्पर्क के फल-स्वरूप वह सोवियत रूस की छत्रछाया मे शुरू किये गये अखिल विश्व शान्ति आन्दोलन में, और भारत-चीन मैत्री संघ के कार्यों में भी, सक्रिय भाग लेने लगा था। बल्कि, दो-एक महीने पहले, इन लोगों के दबाव मे पड़कर, ख़ास तौर से रामशरण बाबू के एकान्त आग्रह पर, बिहार पीस कौंसिल का उपाध्यक्ष चुन लिया गया था, और भारत-चीन मैत्री संघ की बिहार शाखा की भी कार्य-कारिणी का सदस्य...

इन्हीं बुद्धिजीवियों मे, जो प्रान्त में प्रगतिशील संयुक्त मोरचे के रूप मे एक निर्दलीय राजनीतिक मंच तैयार करने में लगे हुए थे, चार-पाँच ऐसे नवयुवक वकील भी थे जो जागृति वाले उस मुक़दमे में रामशरण बाबू की मदद कर रहे थे; बल्कि, उस तरह के छोटे-मोटे अदालती काम रामशरण बाबू उन्ही के जरिये कराते आ रहे थे।

एक दिन रामशरण बाबू ने इन सभी वकीलों की एक सभा अपने घर पर बुलाई जिसमें जागृति की ओर से शकर को निमंत्रित किया गया। इस सभा के सामने एकमात्र एजेंडा था: जागृति को स्वावलम्बी बनाने के लिए क्या किया जा सकता है? और—जागृति को जीवित रखने की आवश्यकता को, अपने प्रारंभिक भाषण में, रामशरण बाबू ने जिस रूप में रखा, उससे ख़ुद शकर भी चमत्कृत रह गया।

"हमारे प्रान्त के प्रगतिशील सयुक्त मोरचे को एक हिन्दी दैनिक की [illegible] जरूरत है—इसमें कोई इनकार नही कर सकता," शुरुआत ही उन्होंने इन [illegible] मे की; फिर अगला वाक्य यह जोड़ा: "और इसमे भी कोई शक [illegible] कि [illegible] इसी उद्देश्य की पूर्ति कर रही है—बिना किसी भी राजनीतिक [illegible] के [illegible] लिए।"

एक नौजवान वकील ने हलकी आवाज़ में कुछ [illegible] करते हुए [illegible]

की थी—कम्युनिस्ट पार्टी के पत्र द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति और भी ज़ोरदार ढंग से किये जाने की बात कहकर—कि विपुल-कलेवर रामशरण बाबू की मोटी गरदन उस नवयुवक वकील की ओर थोड़ी-सी घूमी, और प्रायः सदा ही हलकी-सी एक लाली लिये रहने वाली अपनी आँखों की तीखी नज़र उसके चेहरे पर गड़ा बोले :

"जानता हूँ...कम्युनिस्ट पार्टी की पाँच अच्छाइयों के साथ-साथ उसकी दस बुराइयों को भी हज़म करके...कुछ लोगों को डकार तक लेने की ज़रूरत नहीं पड़ती जनाब !...उन लोगों के रजिस्टर में अपना नाम दर्ज कराने का इरादा अगर न हो...तभी मेरी अगली बात सुनने की तकलीफ़ गवारा करें—" और फिर, उस नवयुवक की ओर से गरदन फेर, एक तरह से उसकी उपेक्षा ही कर, आगे बढ़ चले।

सबसे पहले उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का एक मार्मिक विश्लेषण पेश किया, जो जागृति के सम्पादकीय विश्लेषणों से मिलता-जुलता-सा ही था : सोवियत रूस और नवीन चीन की संयुक्त शक्ति के सामने पूंजीवादी पश्चिमी राष्ट्रों के गुट की निरन्तर घटती शक्ति; दूसरी ओर—ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चंगुल से छूट जाने के बाद, भारत के सामने, आर्थिक शोषण से अपने को मुक्त करने के लिए जनतंत्रात्मक पद्धति का ही अनुसरण करने की लाचारी—क्योंकि शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार को आज की स्थिति में हिंसात्मक क्रान्ति के ज़रिये चुनौती देना मूर्खता की ही बात सिद्ध होगी, जैसा कि तैलंगाना के किसान आन्दोलन की विफलता ने दिखा दिया था।...और, इसलिए—देश में एक ऐसे प्रगतिशील संयुक्त मोरचे की ज़बर्दस्त ज़रूरत, जो जनतांत्रिक पद्धति में अपना विश्वास प्रकट करते हुए भी एक ऐसी क्रान्तिकारी अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए कृत-संकल्प हो जिसमें किसी भी वर्ग द्वारा किसी दूसरे वर्ग का शोषण नहीं होगा...

"मैं देख रहा हूँ," रामशरण बाबू ने आगे चलकर कहा, "कि जागृति इन सभी दृष्टियों से बड़ी ही होशियारी के साथ अपने क़दम बढ़ाती आ रही है। कम्युनिस्ट पार्टी की ग़लतियों की तीखी से तीखी टीका करने से भी वह बाज़ नहीं आती, लेकिन वह टीका दोस्त की टीका होती है, दुश्मन की नहीं। इसी तरह, हमारे देश के तथाकथित सोशलिस्टों के अंध सोवियत-द्वेष के लिए उनकी कसकर ख़बर लेने से भी वह नहीं चूकती।...और, जहाँ तक सत्तारूढ़ कांग्रेस का सवाल है, उसके नेता जवाहरलाल नेहरू की समाजवाद-समर्थक उक्तियों का हवाला दे-देकर—और उनका समर्थन करते हुये भी—कांग्रेसी सरकारों के भ्रष्टाचार का, प्रगतिशील आर्थिक नीतियों को लागू करने के मामले में उनकी ढिलाई का पर्दाफ़ाश करने में भी वह इस प्रान्त के अख़बारों में सबसे आगे है।...और—एक बात की बाबत तो मैं, यहाँ मौजूद, जागृति के सम्पादक उदयशंकरजी

की राजनीतिक और सम्पादकीय चतुरता का खास तौर से कायल हूँ—" उन्होंने तब शंकर की ओर मुसकराते हुए ताक भी लिया, "कि गांधीजी और उनकी अहिंसा को वह ठीक मौके पर एक ऐसे राजनीतिक कवच के तौर पर इस्तेमाल कर बैठते हैं, कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में अंध भक्ति रखने वाले चाहे कितने भी क्यों न भड़क जायें···गैर-कम्युनिस्ट प्रगतिशील पाठकों को वह जागृति का पूरा समर्थक बनाये रखते हैं...और, इस तरह, हमारे इस प्रगतिशील संयुक्त मोरचे के लिए एक व्यापक मंच तैयार करते जा रहे हैं जो कम्युनिस्ट पार्टी की सिर्फ ज़बान पर ही है अभी तक..."

... ...

कुछ ही दिन बाद रामशरण बाबू की ओर से जो प्रस्ताव आया उसके अनुसार जागृति की मदद में उन लोगों के सक्रिय रूप से जुट जाने की अनिवार्य शर्त यह थी—कि उसके बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स की जगह एक प्रबन्ध समिति ले ले, जिसमें कुछ नये लोगों को स्थान दिया जाय; साथ ही, मैनेजिंग डाइरेक्टर का पद हटा दिया जाय जिस पर तब विद्याभूषण ख़ुद थे।

शंकर को भरोसा तो नहीं था कि विद्याभूषण यह शर्त मंज़ूर करेंगे, लेकिन जब उन्होंने कुछ भी आपत्ति नहीं प्रकट की, तो रामशरण बाबू की उस योजना को सफल बनाने के लिए वह उनकी मदद में पूरी लगन और उत्साह से जुट गया।

बिहार कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बद्ध ज़िम्मेदार लोगों से रामशरण बाबू को इस बात का आश्वासन मिल चुका था कि अगर जागृति के संचालन और प्रबन्ध पर 'प्रगतिशील' तत्वों का पूर्ण नियंत्रण हो जाय तो कम्युनिस्ट पार्टी उसके प्रचार में, 'सर्कुलेशन' बढ़ाने में, अनौपचारिक तौर पर पूरी सहायता करेगी। यह एक काफी कीमती आश्वासन था—न केवल शंकर के लिए, बल्कि विद्याभूषण के लिए भी —क्योंकि वे देख रहे थे कि कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता जिले-जिले में ही नहीं गाँव-गाँव तक फैलते जा रहे थे; अगर अपनी पार्टी के पत्र के साथ-साथ उन्होंने जागृति का भी प्रचार अपने हाथों में ले लिया तो सिर्फ स्थानीय एजेंटों पर ही उसे निर्भर नहीं करना पड़ेगा...

कम्युनिस्ट पार्टी को छोड़, दूसरी पार्टियों में से भी कुछ के नेताओं से शंकर ख़ुद इस सिलसिले में मिला—रामशरण बाबू के साथ, या अकेला ही। लेकिन दो-एक छोटी-मोटी पार्टियों को छोड़ किसी के भी नेता ने जागृति की मदद करने में उत्साह नहीं दिखाया। जहाँ तक सोशलिस्ट पार्टी का सवाल था, उसके नेताओं की सोवियत-विरोधी नीति के साथ तो शंकर का ख़ुद ही मेल नहीं बैठ सकता था, और प्रजा पार्टी अब सोशलिस्ट पार्टी के साथ ख़ुद ही गठबन्धन करने जा रही थी।

इसी सिलसिले में रामशरण वावू ने उसकी मुलाक़ात, उत्तर विहार के एक ऐसे दिग्गज व्यक्ति के साथ करायी जिनका नाम पिछले कुछ वर्षों के अन्दर कई वार और कई तरीक़ों से अख़वारों में आ चुका था। यह थे एक वहुत ही वड़े ज़मींदार और रईस वावू सर्वेश्वर प्रसाद सिंह। ज़मींदारी प्रथा का अन्त किये जाने के विल के विहार विधान सभा में पेश किये जाते ही वह अपनी ज़मींदारी का वहुत वड़ा हिस्सा किसानों के बीच वाँट समाचारपत्रों में तरह-तरह की और परस्पर-विरोधी आलोचनाओं के केन्द्र वन चुके थे; फिर, कुछ ही वक़्त वाद सोशलिस्ट पार्टी में शामिल होकर दोवारा उसी तरह के विवादों को जन्म दे चुके थे। किन्तु अव तक उनके सिर पर से सोशलिस्ट पार्टी की प्रतीक वनी लाल टोपी उतर चुकी थी, और पिछले चुनावों के दौरान उन्हें कुछ कम्युनिस्टों के साथ मिलते-जुलते देखा गया था...

स्वभावत:, शंकर को उनसे मिलने का कोई आग्रह नहीं था : ख़ास तौर से इसलिए भी, कि ब्रिटिश शासन काल में एक वड़े ही सख़्त और ज़ालिम ज़मींदार के रूप में वह वदनाम रहे थे। कितनी ही अफ़वाहें थीं उनकी वावत : ज़रा-सी भी किसी वात पर किसी किसान का अगर वह घर फुँकवा दे सकते थे, तो किसी दूसरे किसान को खंभे से वँधवा अपने सामने वेंतों से वेरहमी के साथ पिटवा सकते थे; इसके अलावा—जिसे चाहा उसी का क़त्ल करा उसकी लाश इस तरह ग़ायव करा दी कि किसी को कानोंकान भी ख़वर न लग पाय...

रामशरण वावू एक दिन ज़ोर देकर उन्हीं से मिलाने उसे ले गये, जव कि पटने की अपनी शानदार कोठी में आकर वह ठहरे हुए थे। "मिलने में क्या हर्ज है? ...ज़रा उनका भी रंग-ढंग ख़ुद अपनी आँखों देख लीजिये," रामशरण वावू ने उसकी झिझक देखकर कहा। "ख़ान्दानी रईस हैं...लेकिन वाघ को अव ख़ून से नफ़रत हो गयी है...शुद्ध शाकाहारी हो गया है !..." और अपने पूरे वदन के थुलथुले मांस की परतों में हलचल पैदा करते हुए एक अट्टहास कर उठे।

क्या उस दिन शंकर यह कल्पना तक कर सकता था कि उन लोगों की वह मुलाक़ात सचमुच ही रंग लायेगी, और एक दिन आयेगा, जव कि जागृति की नयी प्रवंध समिति के चेयरमैन वही वावू सर्वेश्वर प्रसाद सिंह होंगे ?

कई दिनों की मेहनत और तोड़-जोड़ के वाद प्रस्तावित प्रवंध समिति के सदस्यों की एक सूची रामशरण वावू और शंकर ने मिलकर आख़िर तैयार कर डाली, जिसके वाद शंकर ने उसे विद्याभूषण के सामने उनकी स्वीकृति के लिए पेश कर दिया।

प्रस्तावित समिति में ग्यारह सदस्य रहने को थे, और सारी तोड़-जोड़ यही लेकर हुई थी कि दोनों ही प्रमुख पक्षों—एक ओर उसके वर्तमान स्वामियों और दूसरी ओर कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधियों और प्रगतिशील मोरचे के अन्य

लोगों—को उसमें अपना-अपना बहुमत दिखाई दे। और—विद्याभूषण को यह यक़ीन दिलाने की ज़िम्मेदारी जहाँ शंकर ने ली थी, वहाँ दूसरे पक्ष को यह इतमीनान दिलाने का काम रामशरण बाबू ने अपने हाथ में लिया।

सच पूछा जाय तो इस दृष्टि से पहली और वास्तविक रस्साकशी ख़ुद शंकर और रामशरण बाबू के बीच ही हो चुकी थी, और काफ़ी बहस के बाद उन दोनों के बीच यह तय पाया था कि ग्यारह में से तीन-तीन सदस्य तो विद्याभूषण के और कम्युनिस्टों वाले पक्ष के होंगे, लेकिन बाकी पाँच सदस्य ऐसे होंगे जो दोनों ही पक्षों को स्वीकार हों। विद्याभूषण के पक्ष के तीनों नामों का निर्धारण जहाँ उन्हीं पर छोड़ दिया जाने को था, वहाँ दूसरे पक्ष का मुख्य प्रतिनिधि रामशरण बाबू को ही मान उन तीन नामों का निर्धारण उन पर छोड़ दिया गया। और शंकर जहाँ इस बात पर अड़ गया था कि रामशरण बाबू को भी प्रबंध समिति में रहना ही होगा, वहाँ इस बात के लिए भी वह राज़ी नहीं हुआ कि उनका नाम कम्युनिस्ट पक्ष के प्रतिनिधियों में शामिल न किये जाकर बाकी पाँच में स्थान पाये। ..रामशरण बाबू ने पहले तो किसी तरह भी कम्युनिस्ट पक्ष की संख्या में अपना नाम शामिल किया जाना पसन्द नहीं किया, लेकिन जब शंकर ने यह दलील दी कि दो से अधिक संख्या में जाने-हुए कम्युनिस्टों के समिति में रखे जाने से कुछ निर्दलीय लोग भड़क जा सकते हैं, तब वह इस बात पर राज़ी हो गये।

इसके बाद रामशरण बाबू और शंकर के बीच बाकी पाँच नामों की समस्या रह गयी थी, जो भी कम जटिल नहीं साबित हुई। सर्वेश्वर प्रसाद सिंह चूँकि रामशरण बाबू और कुछ कम्युनिस्टों के उन दिनों ज्यादा नज़दीक थे इसलिए उन्हें आसानी से उन्होंने उस पक्ष का समर्थक प्रतिनिधि मान लिया, और इसी तरह श्री वंशीधर मिश्र को भी, जो कि फ़ारवर्ड ब्लॉक के बिहार के एक प्रमुख नेता थे और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सोवियत रूस और कम्युनिस्ट चीन के समर्थक होने के नाते इन दिनों पीस कौंसिल और भारत-चीन मैत्री संघ में काफ़ी जोश के साथ काम कर रहे थे।

"इस तरह, ग्यारह में से पाँच सदस्य तो आपके या कम्युनिस्टों के पक्ष के ही हो गये रामशरण बाबू," इस समस्या का भी समाधान हो जाने के बाद शंकर ने तब उनसे कहा, "अब रह गया छठा नाम, जिससे आप लोगों को यह इतमीनान रहे ...कि जागृति की मदद करके आप लोगों को अपनी मेहनत के बेकार जाने का कभी कोई ख़तरा नहीं रहेगा।...आपने शुरू में यह शर्त रखी थी कि आप तभी इसमें रहेंगे जब कि मैं भी रहूँ।...तो वह छठा नाम मेरा ही समझ लीजिये। मुझसे तो आप लोगों को कोई ख़तरा नहीं न?"

ठठाकर हँस पड़े रामशरण बाबू, और फिर, हँसी रुकने पर, बोले. "आप की पत्रकारिता का तो कायल हमेशा से था उदयशंकरजी...अब आपकी वकालत

का भी क़ायल हो गया..."

विद्याभूषण के सामने भी शंकर ने क़रीब-क़रीब इसी तरकीब से काम लिया। "मैं यह कभी नहीं चाहूँगा भूषण जी," उनसे उसने कहा, "कि बाहर वालों का इस प्रबन्ध समिति में बहुमत हो जाय।...यों तो रामशरण बाबू ख़ुद भी पूरे कम्युनिस्ट नहीं हैं...कम से कम भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के तो कितने ही तौर-तरीक़ों के वे कड़े आलोचक हैं...लेकिन उन्हें भी अगर उन्हीं लोगों के साथ मान लिया जाय, तो भी, ग्यारह में से तीन से ज्यादा नाम चुनने का अधिकार उन्हें देने को मैं किसी तरह भी राज़ी नहीं हुआ हूँ।" फिर उसने बताया कि : "बाबू सर्वेश्वर प्रसाद सिंह अगर राज़ी हो जा सकें...तो उन्हें रखने से हमें शायद जागृति के शेयरों को और भी ज्यादा बेचने में मदद मिल जाय।...और, मेरे ही सुझाने पर, एक और नाम पर भी वे लोग शायद राज़ी हो जायेंगे...वंशीधर मिश्र के—जो आपके भी यों काफी नज़दीक रहे हैं।"

और—आशा-भरी दृष्टि से उसने विद्याभूषण के चेहरे की ओर ताका।

विद्याभूषण अपने दफ़्तर में कोई चिट्ठी लिख रहे थे—जब शंकर उस कमरे में पहुँचा था। वह उनकी मेज़ के इस ओर कुरसी पर बैठ गया था, और जब विद्याभूषण ने कुछ देर बाद अपनी अध-लिखी चिट्ठी पर से नज़र हटाकर उसकी ओर ताका था और थोड़ी देर के लिए क़लम को मेज़ पर रख दिया था, तभी वह सारी बात धीरे-धीरे उसने कह डाली थी।

"यह तो ठीक ही हुआ," उतनी बातें सुन चुकने पर कुछ क्षण तक चुप रहे आने के बाद विद्याभूषण बोले। उनकी आवाज़ में शंकर को कोई उत्साह नहीं दिखाई दिया, और न उनकी उस स्थिर दृष्टि में कोई चमक ही।

"यह तो ठीक ही हुआ," वह बोले, और फिर रुक गये।

शंकर ने ही तब बात फिर आगे बढ़ायी।

"अब रहे बाक़ी नाम," उसने कहा।..."वर्त्तमान डाइरेक्टरों में से कम-से-कम तीन को तो प्रबन्ध समिति में लिया ही जायेगा...आप रहेंगे, और बाक़ी दो...जिन्हें आप चाहें!...इस तरह—पाँच और तीन—आठ नाम हो गये।...अब रह जाते हैं तीन नाम।...तो एक नाम, जो आपको भी ज़रूर पसन्द होगा...सूर्यवंशी सिंह का मेरे दिमाग़ में कुछ दिन पहले ही आया था।...सूर्यवंशी सिंह से एक दिन मैं इसका ज़िक्र भी कर बैठा था...और वह राज़ी ही दिखाई दिये थे। अगर एक बार आप भी उनसे बात कर लें...तो उन्हें प्रबंध समिति में रखना हर तरह से अच्छा होगा। कुछ उद्योगपतियों के बीच जागृति के शेयर बिकवाने में पहले से ही वह आपकी मदद करते आ रहे हैं...इसीलिए मुझे लगा था...कि उनसे बात कर देखूँ—"

यहाँ शंकर ने दरअसल विद्याभूषण की एक कमज़ोर नस पकड़कर ही यह

दाँव खेला था। जागृति के लिए उन्होंने सूर्यवंशी सिंह से कुछ हजार रुपये कर्ज ले रखे थे जिसकी बात उन्होंने तो शंकर को कभी नहीं बतायी थी, लेकिन सूर्यवंशी सिंह ही खुद एक बार बता चुके थे जब उन्हें डर हुआ था कि उनकी रक़म डूब तो नहीं जायेगी। सूर्यवंशी सिंह को प्रबन्ध समिति में रखकर दरअसल शंकर एक तीसरा 'ब्लाक' तैयार कर रखना चाहता था जो विद्याभूषण और रामशरण बाबू वाले उन दोनों पक्षों या 'ब्लाकों' के बीच बैलेंस कायम रखे—एक सन्तुलन! ...सूर्यवंशी सिंह दोस्त उसके अपने थे, लेकिन विद्याभूषण क्या अब इस तरह फंस जाने के बाद उनके नाम पर आपत्ति कर सकते थे?

"हाँ...वह तो हम लोगों के साथ रहेंगे—" विद्याभूषण ने नीमराज़ी-सी आवाज़ में अपनी स्वीकृति जता दी।

इस तीसरे 'ब्लाक' के लिए एक दूसरा नाम शंकर के दिमाग में बाबू रामवृक्ष सिंह का था जो सूर्यवंशी सिंह के ही दूर के एक रिश्तेदार होते थे और उनसे कभी अलग नहीं जा सकते थे। वह पुराने कांग्रेसी थे और बिहार कांग्रेस में अनुग्रह बाबू के नजदीक। विद्याभूषण के साथ तब से उनका अच्छा सम्बन्ध कायम हो गया था जब से वह कांग्रेसी राजनीति में अनुग्रह बाबू की छत्रछाया खोजने लगे थे। भविष्य में कभी रामशरण बाबू और उनके समर्थकों ने अगर विद्याभूषण और शंकर दोनों के ही ख़िलाफ़ कोई मोरचेबन्दी करनी चाही, तो सूर्यवंशी सिंह के साथ-साथ रामवृक्ष बाबू शंकर का ही साथ देंगे—इसमें उसे ज़रा भी शक नहीं था।

और अन्त में रामवृक्ष बाबू को भी प्रबन्ध समिति में रखने के कुछ फ़ायदे विद्याभूषण को समझाने में वह सफल हो गया; खास तौर से यह दिखाकर कि कांग्रेसी सरकार के दूसरे गुट के नेता अनुग्रह बाबू के विश्वास का एक आदमी समिति में रहने से उनकी भी सीधी नहीं तो परोक्ष मदद समय-समय पर वे लोग पा ही सकेंगे...

"तीन और दो पाँच—" शंकर ने अब निष्कर्ष पेश किया। "पाँच उधर और पाँच इधर!...और अगर मुझ पर आपको यह भरोसा हो...कि उन लोगों के साथ मिलकर आपका कोई नुकसान मैं कभी नहीं होने दूँगा...तो ग्यारहवाँ नाम मेरा रह सकता है!" काफ़ी निर्लज्ज बन जाना पड़ा उसे यह आख़िरी बात कहते।

"आपको तो हर हालत में रहना ही है," पहली बार विद्याभूषण के स्वर में उत्साह का एक हलका-सा पुट दिखाई दिया। "आप अगर खुद यह बात न कहते ...तो मैं ही अभी कहने वाला था : कि अगर आप इस प्रबन्ध समिति में नहीं रहेंगे...अगर आपकी ओर से इस बात का पूरा भरोसा मुझे नहीं मिलेगा, कि जागृति मेरे हितों के ख़िलाफ़ कभी नहीं जायेगी...तो मैं इस दिशा में कोई भी

क़दम बढ़ाने को तैयार नहीं...भले ही दैनिक को बन्द करके साप्ताहिक जागृति ही निकालने का फ़ैसला करना पड़े।"

काफ़ी देर हो चुकी थी 'बोर्ड आफ़ डाइरेक्टर्स' की बैठक शुरू हुए—जिसमें रामशरण बाबू द्वारा 'ड्राफ़्ट' किया गया वह प्रस्ताव स्वीकृत होने को था जिसके अनुसार मैनेजिंग डाइरेक्टर का पद रद करके एक प्रबन्ध समिति की नियुक्ति की जाय और फिर, बोर्ड आफ़ डाइरेक्टर्स भी भंग हो जाय।

जुलाई महीने के किसी बरसाती दिन का तीसरा पहर था, और अधीरतापूर्वक शंकर अपने दफ़्तर वाले कमरे में ही उसके एक छोर से दूसरे छोर तक कितने चक्कर लगा, बीच-बीच में कई बार, मेज़ के पास रखी कुरसी पर आ आकर उद्विग्न मुद्रा में बैठ गया था : क्या बात है?...अभी तक बैठक ख़त्म क्यों नहीं हुई?...सिर्फ़ एक ही तो बात थी मीटिंग के एजेण्डा पर...

सात डाइरेक्टरों में से एक भी ऐसा नहीं था जो विद्याभूषण की किसी इच्छा का विरोध करता—शंकर ने रामशरण बाबू को बताया था, जब उन्होंने उस प्रस्ताव का ड्राफ़्ट तैयार करते वक़्त उससे जानना चाहा था कि बोर्ड से वह प्रस्ताव पास करा लेने में विद्याभूषण के सामने कोई अड़चन तो नहीं आ सकती!

क्या बात हुई?...मीटिंग ख़त्म क्यों नहीं हुई अभी तक?—शंकर ने फिर एक बार अपने से ही सवाल किया, और बग़ल के बरामदे में होकर सम्पादकीय विभाग में आया जहाँ कम्युनिस्ट उप-सम्पादक विनायक शर्मा भी कुछ कम अधीरतापूर्वक उस प्रस्ताव के पास होने की प्रतीक्षा नहीं कर रहे थे।

दोनों के बीच चुपचाप एक दृष्टि-विनिमय हुआ, और विनायक शर्मा की आँखों के उस व्यग्रतापूर्ण संकेत से इस बात की पुष्टि हो गयी कि मीटिंग तब तक भी ख़त्म नहीं हुई थी।

कुछ देर बाद विनायक शर्मा उसके कमरे में तेज़ी के साथ आये, और सबसे ताज़ी ख़बर दी।...जागृति का एक चपरासी उनके खुफ़िया के तौर पर बीच-बीच में बोर्ड की बैठक में हो रही चर्चा की बाबत उन्हें चुपके-चुपके बताता आया था, और उससे अब आख़िरी ख़बर यह मिली थी कि बैठक ख़त्म हो गयी...जो पेश था वह पास नहीं हुआ...मिश्रजी और शुक्लजी उसके ख़िलाफ़ थे...

मिश्रजी और शुक्लजी थे—क्रमशः विनोद मिश्र और राधारमण शुक्ल, जिन्हें ही, विद्याभूषण के साथ-साथ, नयी प्रबन्ध समिति में भी रखने की बात तय हो चुकी थी। विद्याभूषण के सबसे ज्यादा नज़दीकी यही दो डाइरेक्टर थे; बोर्ड की बैठकों में कोई और डाइरेक्टर आये या न आये, वे दोनों हमेशा

आये थे।

"क्या होगा अब ?" उदास स्वर में विनायक शर्मा बोले।

शकर ने उसी दम कोई जवाब नहीं दिया।

फिर वह तेज़ी के साथ कुरसी पर से उठा, और सम्पादकीय विभाग का कमरा और उसके बाद का बरामदा पार कर धड़धड़ाता हुआ विद्याभूषण के कमरे में जा पहुँचा।

लेकिन देखा—वह कमरा तब तक खाली हो चुका था।

तभी किसी ने बताया, शुक्लजी के साथ विद्याभूषण कहीं बाहर जा रहे हैं; सड़क पर साइकिल-रिक्शा इन्तज़ार कर रहा है।

बाहर अब भी जोरों का पानी बरस रहा था। और शकर अधीरतापूर्वक प्रतीक्षा करता रहा : कब विद्याभूषण अन्दर वाले कमरे से बाहर आयें, और वह उन्हें बीच में ही रोक ले...

कुछ देर बाद सामने सड़क पर जो उसकी नज़र गयी तो देखा कि साइकिल-रिक्शा वाला जल्दी-जल्दी उतरकर भीगता हुआ उससे बाहर आ खड़ा हुआ है। और तब उसे ख़याल आया कि विद्याभूषण अपने अन्तःपुर से दफ़्तर वाले कमरे में न लौट सीधे उधर से ही रिक्शे की ओर बढ़ जा सकते हैं।...ऐन मौक़े पर ही फिर उसने उन्हें उधर की सीढ़ी से उतरते देख भी लिया, और पानी में भीगता हुआ भी तेज़ी के साथ उनके पास जा पहुँचा।

एक ही छाते में दोनों मित्र—विद्याभूषण और शुक्लजी—सीढ़ियाँ उतर रहे थे।

शुक्लजी के साथ शकर की ख़ुद की भी पुरानी मित्रता थी। लेकिन उनकी उपेक्षा ही कर उसने विद्याभूषण के कन्धे पर हाथ रख दिया, और बोला :

"एक मिनट के लिए ज़रा इधर आइये तो—"

एकदम ही सकपका उठे विद्याभूषण। फिर, कुण्ठित-से स्वर में बोले :"थोड़ी देर में ही लौट रहा हूँ।...शुक्लजी के साथ एक ज़रूरी काम से जाना है एक जगह !...आध घण्टा रुक नहीं सकेंगे आप ?"

"नहीं—" शकर ने अन्दर उठते प्रचण्ड क्रोध को रोक भरसक हलकी आवाज़ में कहा। "सिर्फ़ एक मिनट के लिए...ज़रा इधर तो आइये !"

लाचार विद्याभूषण को अपने कदम मोड़ देने पड़े; उस छाते को शुक्लजी के हाथ में थमा बोले : "अभी आया शुक्लजी...आप रिक्शे पर बैठिये—"

विद्याभूषण के ही दफ़्तर में एक तरह से उन्हें खींच ही लाया शकर, फिर, बिलकुल ही रूखी और सर्द आवाज़ में पूछ उठा : "प्रस्ताव पास हो गया ?"

"कहाँ ?" बेबसी का द्योतक एक हलका जवाब निकला उनके मुँह से। "कहाँ

पास हो पाया !...वाक़ी लोग तैयार ही नहीं हुए..."

"ओ...यह वात है ?" शंकर ने एक तीखे व्यंग्यपूर्ण लहजे में पलटकर कहा। और फिर—"ठीक है...जाइये अपने काम पर—" कहता, तेजी के साथ उस कमरे से वाहर निकल गया।

"सुनिये तो—" तभी उसे पीछे से विद्याभूषण की कुछ व्यग्र-सी आवाज सुनाई दी। उसने उनकी ओर मुँह मोड़कर देखा जरूर, पर वोला कुछ नहीं।

"ज्यादा से ज्यादा...एक घण्टे में हम लोग लौट रहे हैं।...आप भी ज़रा ...शुक्लजी से वात कर देखियेगा—"

लेकिन शंकर ने कोई जवाव नहीं दिया।

•

रामशरण वावू की जो प्रचण्ड मूर्ति शंकर के सामने उस दिन प्रकट हुई उसकी न कभी पहले वह कल्पना कर पाया था, न वाद को ज़िन्दगी-भर भूल सका।

विद्याभूषण और शुक्लजी का रिक्शा चले जाने के वाद कुछ देर तो अन्दर एक ज्वालामुखी-सा ही लिये वह अपने कमरे के एक छोर से दूसरे छोर तक के चक्कर लगाता रहा था, जिसके वाद अचानक ही सम्पादकीय वड़े कमरे में जाकर टेलीफ़ोन पर रामशरण वावू को सांकेतिक-सी भाषा में इस वात की ख़वर दे डाली थी कि वोर्ड की वैठक ने उस प्रस्ताव को नामंज़ूर कर दिया।

"मैं जानता था...यही होगा," सर्वथा अविचलित स्वर में उधर से जवाव मिला, जिससे शंकर को ज़रा भी सन्तोष नहीं हुआ। लेकिन दूसरे ही क्षण उधर से फिर आवाज़ आयी :

"अपने दोस्त को लेकर सीधे यहीं चले आइये..."

"वह तो शुक्लजी के साथ वाहर निकल गये हैं...घण्टे आध घण्टे में लौटने की वात कहकर—"

"ठीक है...जव आ जायें तभी सही !...आते ही उन्हें ले आइये—"

"और—अगर...?"

"देखिये तो !...वह वहानेवाजी करें, तो आप ही चले आइये...फिर देखिये, क्या गुल खिलता है..." और टेलीफ़ोन कट गया।

शंकर हैरत में पड़ गया था, रामशरण वावू के आख़िरी शव्दों से।

थोड़ी देर वाद ही विद्याभूषण लौट आये थे, और कुछ मिनटों वाद ख़ुद ही उसके कमरे में आ पहुँचे थे।

"मैंने तो...काफ़ी जोर लगाया मीटिंग में—" शंकर के सामने वाली कुरसी पर वैठने के कुछ क्षण वाद आख़िर उन्होंने ही शुरुआत की—जव शंकर ने,

अपना क्षोभ प्रकट करने के लिए एक तरह से उनकी उपस्थिति की उपेक्षा ही कर दी।

"मैंने तो काफ़ी ज़ोर लगाया," वह दोबारा बोले, "लेकिन न मिश्रजी राज़ी हुए, न शुक्लजी ही।"

"क्यों ?"

"...उनका कहना है...कि धीरे-धीरे...जागृति तब हम लोगों के हाथ से निकल जायेगी—"

"लेकिन आप तो अभी ही बन्द करने की सोच रहे थे न ?" शंकर ने व्यंग्य-सा कसा।

"वे लोग कहते हैं...कि एक बार फिर से ज़ोर लगाकर इसे चलाने की ही कोशिश की जानी चाहिए—"

"ख़ैर—वह सब आपके और उनके सोचने की बात है," शंकर ने सहसा ही अत्यन्त उत्तेजित होकर कह डाला, "लेकिन रामशरण बाबू के सामने...और दूसरे भी बहुतों के सामने आप जब वचनबद्ध हो चुके थे...और इस मामले में जब मुझे भी इतनी दूर तक घसीटा था...तो...कम से कम रामरण बाबू को तो अब मुझे यह सूचना दे ही देनी थी।...मैंने उन्हें फ़ोन पर बताया, और उन्होंने मुझसे कहा है, कि आपके लौटते ही आपको लेकर उनके यहाँ पहुँचूँ..."

और, एक उड़ती-सी नज़र उधर डाल, देखा—विद्याभूषण के चेहरे पर किसी क़दर घबड़ाहट फैल गयी है।

"एक बार आप भी...ज़रा शुक्लजी से बात करके देखिये न—" फिर, थोड़ा सँभलने पर; वह उससे बोले।

"मुझे अब किसी से बात नहीं करनी है भूषणजी," झुँझलाहट के साथ शंकर ने जवाब दिया, और उसी दम कुरसी पर से उठ खड़ा हुआ। "रामशरण बाबू ने बुलाया है, और मैं जा रहा हूँ।...आपको साथ चलना हो तो चलिये, नहीं तो—आप जानें और आपका काम।"

"अभी तो मैं नहीं चल सकूँगा—" ठिठकते स्वर में, ख़ुद भी कुरसी पर से उठकर खड़े होते हुए, विद्याभूषण ने जवाब दिया। "आप चलिये...मैं कुछ देर बाद आता हूँ—हालांकि..."

... ...

पानी तब भी बरस रहा था, लेकिन अब बूँदाबाँदी-सी ही रह गयी थी। छाता लेकर, पैदल ही वह चलता चला गया जब तक कि, काफ़ी दूर जाने पर, साइकिल-रिक्शा नहीं मिला। शाम हो चुकी थी और दफ़्तरों से छुट्टी होने का वक़्त था, जिसकी वजह से सड़कों पर रिक्शों की कमी थी...

सारी बातें सुन लेने पर, और आधे घण्टे से कुछ ज़्यादा ही वक़्त तक इन्त-

ज़ार कर लेने के बाद, रामशरण बाबू ने विद्याभूषण के लिए फ़ोन मिलाने को कहा।

"रामशरण बाबू पूछ रहे हैं—कि आप आ रहे हैं या नहीं, और अगर आ रहे हैं, तो कितनी देर में !...सब मुअक्किलों से, वक़्त से इतने पहले ही छुट्टी लेकर, वह सिर्फ़ आपके इन्तज़ार में बैठे हैं..."

"कह दीजिये...बस, आता ही हूँ...थोड़ी देर तो...मगर आऊँगा ज़रूर—" काफ़ी असमंजस में पड़े दिखाई दिये वह।

कोई आधा घण्टा और गपशप में बीता, जिस बीच मिठाइयाँ और चाय चली, और तब रामशरण बाबू ने ख़ुद ही विद्याभूषण के साथ फ़ोन पर सीधे बात की।

"कहिये—किस काम में इस क़दर मशगूल हैं हुज़ूर ?" टेलीफ़ोन लगते ही रामशरण बाबू ने कहना शुरू किया, और शंकर सिर्फ़ इधर की ही बातें सुन पाया।

"देखिये...बहाने छोड़िये।...नहीं-नहीं...मुझे सब मालूम है किस काम में इतने मशगूल हैं आप...और आपके एकाउंट विभाग के मुलाज़िम !...जी हाँ ! ...अपने गहरे दोस्त शुक्लजी के साथ कहाँ गये थे रिक्शे में भीगते-भीगते... इतनी ज़ोरदार बरसात में भी ?...जी नहीं।...मैं बताऊँ, कहाँ गये थे ?...तब फिर ? अपने आडीटर बनर्जी बाबू के पास चार-पाँच दिन के अन्दर इतनी बार आपके जाने की क्या ज़रूरत पड़ी थी इधर ?...क्या क़हा ?" कड़कती आवाज़ में गरज से उठे अब रामशरण बाबू : "मुझे सब पता है...एक-एक बात की जानकारी है—क्या-क्या चल रहा है वहाँ...चार-पाँच दिन से।...अपनी ख़ैरियत समझते हों तो पन्द्रह मिनट के अन्दर यहाँ पहुँच जाइये—नहीं तो याद रखिये, आपकी कम्पनी पब्लिक लिमिटेड कम्पनी है, और उसके शेयरहोल्डरों में से एक से नहीं, कई से, इसी दम कम्पनी रजिस्ट्रार और मजिस्ट्रेट के यहाँ स्पेशल दरख़ास्त दिलाकर आपके सारे कागज़ात पर सील-मोहर लगवा दी जायगी—ताकि पुराने एकाउंटों में जो रद्दोबदल जारी है...जो काग़ज़ फाड़े गये हैं और इस वक़्त भी फाड़े जा रहे हैं...उनकी सारी कलई खुल जाये—"

शंकर ख़ुद ही थर्रा-सा उठा, रामशरण बाबू के इस बिलकुल ही नये और प्रचण्ड रूप से।

लेकिन दूसरे ही क्षण, एक शरारत-भरी मुसकराहट उसकी ओर बखेरते हुए, अपनी छोटी-छोटी आँखों में चुलबुलाहट भर, वह कह उठे :

"अब देखियेगा रंग !...पन्द्रह मिनट का वक़्त दिया है मैंने।...वहाँ से यहाँ का रास्ता रिक्शे से सात-आठ मिनट से ज्यादा का नहीं है, और—बारह मिनट के अन्दर, देख लीजियेगा, वह यहाँ मौजूद होंगे—" और इस तरह शंकर की ओर ताक उठे मानो उनकी इस कारगुजारी के लिए उससे दाद पाने की उम्मीद

कर रहे हैं।

मगर शंकर के अन्दर एक दूसरे ही किस्म की उधेड़बुन शुरू हो चुकी...

"एकाउंट बुक्स के बदले जाने की क्या बात कह रहे थे उनने ..." अब उन्हीं से सवाल किया। "क्या सचमुच ही कुछ वैसा हो रहा है ... और, अगर हो रहा है, तो आपको कैसे पता चला?...इन्हें ... रजिस्टर तो वैसे भी कुछ अरसे से दो तरह के तैयार किये जाते रहे हैं... विज्ञापनदाताओं से अच्छा रेट मंजूर कराने की गरज से सर्कुलेशन ... कर दिखाने के लिए, और उन्हें उसका यकीन दिलाने के लिए... के 'फिगर्स' को बढ़ाना जरूरी हो गया है..."

"जी हाँ...जी हाँ," रामशरण बाबू के चेहरे पर ... तृप्ति वाली वह मुसकान अब भी कायम रही; "जी हाँ...देखिए अभी क्या-क्या गुल खिलते हैं..."

और शंकर ने देखा, उसकी इतनी सारी ... असर नहीं पड़ा।

"दाल में कुछ बहुत बड़ा काला है हुजूर," स्थूल गरदन पर अपने भारी सिर को धीरे-धीरे हिलाते हुए रामशरण बाबू अपनी बातों में ख़ुद ही पूरा रस लेते हुए बोले। "आपने जो सफ़ाई दी उनकी तरफ़ से...उसके अलावा भी बहुत-कुछ है इसके पीछे जनाब !...ज़रा सब्र कीजिये, थोड़ी ही देर में सब-कुछ साफ हो जायेगा !...देखिये—अभी क्या-क्या गुल खिलते हैं...इस गुशलन में—"

और तभी, सामने के दरवाज़े से—आगे-आगे विद्याभूषण और उनके पीछे-पीछे शुक्लजी उस कमरे में दाख़िल हुए। और रामशरण बाबू ने अपनी हाथ-घड़ी पर नजर डाल शंकर के, जो उन्हीं की बग़ल में उन्हीं के सोफ़े पर बैठा था, कान में कहा : देख लीजिये—ग्यारह मिनट पैंतीस सेकंड में आ पहुँचे...

•

रात के साढ़े आठ बज रहे थे शंकर की घड़ी में, लेकिन विद्याभूषण तब तक भी—पिछले घण्टे, डेढ़ घण्टे से—रामशरण बाबू की बैठक में उनके साथ अकेले बन्द थे।

...विद्याभूषण और शुक्लजी के आने के बाद तीन-चार मिनट बीत जाने पर भी रामशरण बाबू एक शब्द तक नहीं बोले थे; देर करके आने की बाबत विद्याभूषण की परस्पर-विरोधी कई तरह की सफ़ाइयों को चुपचाप सिर्फ़ सुनते चले गये थे।

फिर उन्होंने शंकर की ओर मुख़ातिब होकर कहा था :

"अगर आपको एतराज़ न हो...तो मैं अकेले में ही बात करना चाहूँगा विद्याभूषण बाबू से—"

शंकर उसी दम उठ खड़ा हुआ था।

"मगर आप जायें नहीं," तभी रामशरण बाबू ने गरदन ऊपर उठा उसकी ओर देखते हुए कहा। "उस दूसरे कमरे में आराम से बैठिये कुछ देर—" और उसी दम अपने नौकर को आवाज़ दी, उस दूसरे कमरे में चाय-वाय लेकर आने के लिए।

"यह मेरे मित्र शुक्लजी हैं," विद्याभूषण ने कुछ सकपकाते हुए तब उनसे कहा, "जागृति के एक डाइरेक्टर भी हैं।...बातचीत के वक़्त इनके रहने में तो कोई एतराज़ नहीं है आपको ?"

"माफ़ कीजियेगा शुक्लजी महाराज," बड़ी ही नम्र अदा में रामशरण बाबू शुक्लजी की ओर मुख़ातिब हो बोले, "...मुझे सख़्त अफ़सोस है कि आज से पहले आपके दर्शन करने का सौभाग्य नहीं पा सका।...आपसे भी फिर कभी ज़रा इतमीनान से बात होगी, लेकिन अभी तो मैं आपके दोस्त से बिलकुल अकेले में ही बात करना चाहता हूँ..."

आखिर शुक्लजी को भी उठकर शंकर के पीछे-पीछे इस दूसरे कमरे में चले आना पड़ा था, और इधर आते ही उसने देखा था कि विद्याभूषण बुरी तरह बेसहारा हो उठे थे।

और तब से, वह और शुक्लजी, दुनिया-भर के, एक-दूसरे के परिवार के, एक-दूसरे के जीवन के तमाम पहलुओं पर तरह-तरह से कितनी ही बातें करते रहे—लेकिन जागृति की वर्तमान समस्या को लेकर दोनों में से एक ने भी अपनी जबान नहीं खोली।...कई बार चाय आयी थी इस बीच, पर दो या तीन प्याले पीने के बाद ही शुक्लजी ने उससे भी इनकार कर दिया था।...कितनी ही बार वे दोनों बिलकुल चुप बैठे रह गये थे लगातार काफी देर तक।...शुक्लजी सामने की मेज पर पड़े दो-तीन अंग्रेज़ी साप्ताहिकों या मासिकों में से हर एक को उठाकर, कितनी ही बार उन्हें फिर मेज़ पर ही रख दे चुके थे—अन्यमनस्क भाव से सिर्फ उनके पन्नों को पलट-पलटकर; और शंकर उस बीच सिर्फ सिगरेट पर सिगरेट फूंकता चला गया था...

आखिर उस कमरे से रामशरण बाबू की ज़ोरदार आवाज़ आई: आ जाइये...आप लोग भी!

"अब आप ही अपने इन मित्रों को बता दीजिये, कि आपने क्या फैसला किया है," उन दोनों के अपनी-अपनी जगह बैठ जाने के बाद रामशरण बाबू ने विद्याभूषण से कहा—जबकि कुछ लम्बे क्षण पूरी चुप्पी के बीच बीत चुके।

"कल सुबह नौ बजे बोर्ड की मीटिंग फिर करनी है शुक्लजी," एक कृत्रिम रूप में सहज स्वर में तब विद्याभूषण केवल एक वाक्य बोले, "आज रात को गाड़ी आपको छोड़नी होगी—"

"और—यह भी बता दीजिये," अपनी सहज-प्रसन्न मुसकराहट उन सब पर बिखेरते हुए रामशरण बाबू ने कहा, "कि आप सब लोगों ने आज रात को इस गरीबखाने में भोजन करना स्वीकार कर लिया है।"

तेईस

नयी प्रबन्ध समिति की पहली बैठक में सर्वेश्वर बाबू समिति के चेयरमैन चुने गये थे और शंकर सेक्रेटरी। उस बैठक में सर्वेश्वर बाबू किसी कारणवश

स्वयं तो नहीं आ सके थे, लेकिन रामशरण बाबू इसके लिए उनकी स्वीकृति ले चुके थे—इस शर्त पर कि वह सर्व सम्मति से उस पद पर चुने जायें। और ऐसा ही हुआ भी था।

इसलिए सभी को ताज्जुब हुआ जब समिति की अगली बैठक में, जो एक महीना बाद हुई, उसमें उपस्थित होकर भी वह, रामशरण बाबू के आह्वान पर, बैठक की अध्यक्षता करने की जगह अपना इस्तीफ़ा पेश कर बैठे। फिर, इसका कारण बताने के लिए प्राय: सभी के द्वारा जब उन-पर हर तरह से दबाव डाला गया, और उन्होंने बोलना शुरू किया, तो शंकर के सामने कुछ ही देर में यह साफ़ हो चला कि उनके रूठने का कारण ख़ुद वही है।

पहले तो सर्वेश्वर बाबू असल वजह बताने को तैयार ही नहीं हो रहे थे, लेकिन जब रामशरण बाबू ने बहुत ज़ोर डाला तो झुक गये :

"बात यह है रामशरण बाबू," किसी हद तक दर्द के साथ उन्होंने कहना शुरू किया, "कि मेरे साथ मेरी पिछली हिस्टरी इस तरह चिपकी हुई है...कि लोगों को यह भरोसा ही नहीं हो पाता कि मेरे दिल में भी तबदीली आ सकती है...मैं भी बदल सकता हूँ...मेरे दिल के अन्दर भी देश के पीड़ित, दुखी, आम लोगों के लिए सचमुच ही दर्द जग सकता है..."

और, सुनने वालों को लगा, जैसे सर्वेश्वर बाबू का गला काँप-सा उठा है।

इस बार की बैठक में समिति के ग्यारहों सदस्य मौजूद थे, और सभी की नज़र उनके चेहरे पर टिकी हुई थी; किसी भी ओर से हलकी से हलकी भी कोई दूसरी आवाज़ नहीं आ रही थी।

अगले कुछ वाक्यों में सर्वेश्वर बाबू ने अपने दिल का दर्द उन सबके सामने फिर कुछ और भी विस्तार से, कुछ और भी गहराई के साथ रखा, और ज़रा तफ़सील के साथ वह सब बताया जो उन्होंने देश के स्वाधीन हो जाने के बाद, अपनी विशाल ज़मींदारी में, ग़रीब किसानों के हित में करना चाहा था; और फिर, जमींदारी चली जाने के बाद से भी, अपने इलाक़े के भूमिहीन खेतिहरों की हालत सुधारने के लिए क्या-क्या काम वह करते आ रहे हैं। "लेकिन, सबसे ज्यादा तकलीफ़ मुझे तब होती है," उन्होंने कहा, "जब मेरे हर ऐसे काम के पीछे भी मेरा कोई स्वार्थ बताया जाता है.. मेरी नेकनीयती पर यक़ीन ही नहीं किया जाता—जबकि दूसरी ओर रूलिंग पार्टी के कुछ ऐसे लोग भी आज त्यागी और तपस्वी समझे जाकर वाहवाही लूट रहे हैं जिनका पिछला इतिहास मेरे इतिहास के मुक़ाबले कुछ कम स्याह नहीं था!...सच पूछा जाय तो मैं अपने को उनसे लाख गुना ऊँचा और अच्छा समझता हूँ...क्योंकि मैं उनकी तरह ढोंगी नहीं हूँ।...मैंने जो कुछ किया था, खुल्लमखुल्ला किया था...उसे छिपाने की कोशिश नहीं की थी, और न आज़ादी की लड़ाई में जेल जाकर उनकी तरह गले में

मालाएँ डलवायी थी...उँगली में खून लगाकर शहीद बनना चाहा था।"

कुछ देर के लिए रुके सर्वेश्वर बाबू। और तब रामशरण बाबू ने उनके साथ हमदर्दी जताने के बाद यह सीधा सवाल कर डाला, कि यहाँ भी क्या उनकी नेकनीयती पर शक किया गया है?...इस समिति के चेयरमैन बने रहने में उन्हें क्यों एतराज है?

और—यहीं से शंकर के दिल के अन्दर धुकधुकी-सी शुरू हो चली।...क्या बाबू रामवृक्ष सिंह ने सर्वेश्वर बाबू से वह सब कह डाला था जो शंकर ने एक बिलकुल अन्तरंग बातचीत के दौरान उनसे कहा था?

...रामवृक्ष बाबू से शंकर का परिचय बहुत पुराना था, लेकिन उनके नजदीक वह पिछले डेढ़ दो साल में ही ज्यादा आया था जब से वह सूर्यवंशी सिंह के यहाँ अक्सर उसे दिखाई दे जाते थे। उनके कुछ दूर के रिश्ते के भाई होते थे, और 1'21 में ही असहयोग आन्दोलन में स्कूल छोड़ चरखा-प्रचार के काम में लग गये थे। फिर पूर्वी बिहार में उन्होंने एक आश्रम खोल लिया था जहाँ चरखा और ग्राम उद्योग सम्बन्धी काम होता था, बाद को वह विनोबा भावे के भूदान और सर्वोदय आन्दोलन में शामिल हो गये थे। किन्तु उस आश्रम पर उनका अधिकार इधर कुछ समय से शिथिल हो चला था और अपने काफी बड़े परिवार की आर्थिक चिन्ता उन्हें सताने लग गयी थी। तब से वह कभी तो बिहार कांग्रेस के अल्पसंख्यक गुट के नेता अनुग्रह बाबू के यहाँ दरबार करते दिखाई देते, कभी सूर्यवंशी सिंह के सूत्र से बिहार के छोटे-बड़े उद्योगपतियों के यहाँ आते-जाते। किन्तु, इस तरह की सारी दरबारदारी के बावजूद, अभी तक अपनी आर्थिक समस्या को सन्तोषजनक रूप में नहीं सुलझा पाये थे।

सूर्यवंशी सिंह की रज़ामन्दी से जब शंकर ने रामवृक्ष बाबू को जागृति की इस प्रबन्ध समिति में लेने की बात उठायी थी तब उसका खयाल यही था कि एक ओर तो वह विद्याभूषण को भी स्वीकार होंगे और दूसरी ओर जागृति के मामले में हमेशा सूर्यवंशी सिंह का ही आँख मूँदकर साथ देंगे, या, दूसरे शब्दों में शंकर का ही।

योजना में थी जिसकी बदौलत कमीशन के रूप में उन्हें भी कुछ आमदनी होती चले। और जब इस तरह की किसी योजना में शंकर ने कुछ ज्यादा दिलचस्पी नहीं ली तो रामवृक्ष बाबू ने एकबारगी ही उसके पास आना छोड़ दिया।

लेकिन यह तो कुछ बाद की बात थी। उससे पहले, सर्वेश्वर बाबू से मिलकर आने के बाद जब उनके साथ हुई अपनी बातचीत की रिपोर्ट उन्होंने उसे दी थी तब—उसी सिलसिले में एक प्रसंगवश—सर्वेश्वर बाबू को लेकर बहुत-सी बातें हो गयी थीं रामवृक्ष बाबू और शंकर के बीच। रामवृक्ष बाबू ने जब सर्वेश्वर बाबू के जागृति की प्रबंध समिति के चेयरमैन बनाये जाने का कारण जानना चाहा था तब सर्वेश्वर बाबू के पिछले इतिहास की पृष्ठभूमि में शंकर ने उनकी बाबत कुछ ऐसी बातें भी कह डाली थीं जो किसी से अन्तरंग रूप में ही कही जा सकती थीं—इस विश्वास के साथ ही, कि सर्वेश्वर बाबू तक तो वे किसी भी हालत में नहीं पहुँचेंगी...

और अब सर्वेश्वर प्रबंध समिति के चेयरमैन पद से इस्तीफ़ा ही देने जा रहे थे, और रामशरण बाबू ने उनसे यह सीधा प्रश्न कर डाला था कि—यहाँ भी क्या उनकी नेकनीयती पर शक किया जा रहा था?

क्या सर्वेश्वर बाबू से रामवृक्ष बाबू ने उसीका हवाला देकर तो कुछ नहीं कह डाला?—शंकर के दिल में धुकधुकी-सी शुरू हुई।

सर्वेश्वर बाबू कुछ क्षण पसोपेश में पड़े दिखाई दिये, जिसके बाद बोले:

"कहना तो मैं नहीं चाहता था...लेकिन जब आप ज़ोर दे रहे हैं तो कह डालता हूँ। इस प्रबंध समिति के ही सदस्यों में से किसी-किसी के मन में मेरी नीयत के बारे में सन्देह प्रकट किया गया है...कि जागृति में मैं अपना कोई निजी स्वार्थ साधने के लिए आया हूँ...मेरे पिछले इतिहास की वजह से मुझ पर छींटे कसे जा रहे हैं..."

एक बड़ा ही अस्वस्तिकर सन्नाटा छा गया उपस्थित मण्डली में।

और, शंकर को लगा—जैसे उन सबके सामने वह अचानक नंगा कर दिया गया हो।

कुछ देर के लिए तो वह बुरी तरह घबड़ा गया...

लेकिन—जब देखा, कि बचाव का कोई भी रास्ता सामने नहीं है तो साहस करके उसने सीधे ही उस चुनौती का सामना करने का अचानक फ़ैसला कर डाला।

"सर्वेश्वर बाबू मुझे माफ़ करेंगे..." निस्तब्ध सभा में सहसा गूंज उठी अपनी आवाज़ जैसे उसे अपने ही कानों सुनाई दी... "जब उन्होंने इस तरह अपना दिल खोलकर साफ़-साफ़ बात कह डाली है...तो मुझे भी इजाज़त दें, कि मैं भी दिल खोलकर ही सारी बात साफ़ कर दूं..."

कई निगाहें एक साथ अब शंकर के चेहरे पर आ टिकीं, जिनमें सबसे अधिक तीक्ष्ण थी रामशरण बाबू की निगाह। लेकिन उन निगाहों की ओर से अपनी नज़र हटा, सीधे सर्वेश्वर बाबू की ही ओर ताकते हुए, जिनकी भी गमगीन-सी आँखें अब शंकर की ओर बरबस खिंच गयी थीं, उसने आगे कहना शुरू किया : "क्योंकि इशारा मेरी ही ओर था।...अगर सर्वेश्वर बाबू ने अपना इस्तीफ़ा पेश करने और प्रबंध समिति में यह बात लाने से पहले सीधे मुझसे बात कर ली होती...क्योंकि गुनहगार मैं ही हूँ...तो शायद...तो शायद बात यहाँ तक न बढ़ पाती..."

सर्वेश्वर बाबू अपनी कुरसी पर कुछ सीधे से हो उठे—जैसे कुछ बोलना चाहते हों। लेकिन शंकर ने उन्हें रोकते हुए कहा : "अब जब बात उठ ही गयी है, तो पहले मुझे पूरा कह डालने दें, सर्वेश्वर बाबू !...उसके बाद यह विचार पीछे होगा कि इस्तीफ़ा आप देंगे या मैं—" और रामशरण बाबू की ओर कन-खियों से ताक उसने देख लिया; अब उनके चेहरे पर भी परेशानी की एक झलक थी।

"बात यह है..." वह फिर आगे बढ़ा। "बात यह है कि इस प्रबंध समिति के एक सदस्य ने—नाम मैं भी उनका नहीं लूँगा—एक दिन मुझसे यह जानना चाहा था कि सर्वेश्वर बाबू को बोर्ड का चेयरमैन बनाने की बात कहाँ से उठी थी; और यह भी...कि जागृति के कितने रुपयों के शेयर उन्होंने खुद खरीदने का या अपने क्षेत्र में बिकवा देने का भरोसा दिया है।...जब मैंने उन्हें बताया कि न तो इस तरह की कोई सौदेबाज़ी हुई है और न किसी शर्त पर ही उन्हें चेयर-मैन बनाने का प्रस्ताव कहीं से कभी आया था...तब उन सदस्य ने जैसे इस बात पर यकीन ही नहीं करना चाहा।...फिर एक दिन उन्होंने ही आकर यह प्रस्ताव रखा कि वह उनसे जाकर बात करेंगे, और साफ़-साफ़ जानना चाहेंगे कि... आर्थिक दृष्टि से जागृति की वह कहाँ तक मदद करने को तैयार हैं...क्योंकि, उनका ख़याल था, अगर वह कोई ठोस मदद नहीं करते तो...किसी और को चेयरमैन बनाने से शायद जागृति का ज्यादा फ़ायदा हो जा सकता है।...बल्कि, इसी सिलसिले में, राजा रामगढ़ का नाम भी उन्होंने लिया, जिनकी कांग्रेस के सत्तारूढ़ दल के साथ कट्टर दुश्मनी है।"

इतना कहकर शंकर जैसे दम लेने के लिए रुका, उसने लक्ष्य किया कि समिति के कई सदस्य अपनी-अपनी कुरसी पर आगे को झुक-से आये हैं...

"जब मैंने उन मित्र सदस्य को इन बातों के जवाब में उनसे कहा कि राजा रामगढ़ जैसे प्रतिक्रियावादी लोगों के साथ जागृति का कोई मेल नहीं हो सकता, तभी...उसी प्रसंग में सर्वेश्वर बाबू की प्रगतिशीलता को लेकर भी हम दोनों के बीच स्वभावतः कुछ बातें हुईं।...मेरे उन मित्र ने उनकी बाबत जो कुछ कहा

उसे तो यहाँ प्रकट करना उनके प्रति विश्वासघात करना होगा...हालांकि वह स्वयं उन अन्तरंग बातों को सही या ग़लत ढंग से सर्वेश्वर बाबू के सामने, न जाने किस उद्देश्य से, पेश करके ख़ुद ही मेरे साथ विश्वासघात कर चुके हैं... लेकिन जो बातें मैंने उनसे कही थीं उन्हें मैं साफ़-साफ़ क़बूल कर लेना चाहता हूँ...और सर्वेश्वर बाबू से मेरा यही अनुरोध है कि उन्हें वह एक तटस्थ श्रोता के रूप में सुनकर ही यह फ़ैसला करें...कि वर्ग-युद्ध में विश्वास करने वाले किसी मार्क्सवादी के दिल में सामन्तवादी व्यवस्था के स्तंभ रूप समझे जाने वालों के बारे में जो विचार पैदा हो सकते हैं...उन्हें देखते हुए अगर अभी भी हममें से कोई उनकी प्रगतिशीलता को शुरू से ही फ़ेस वैलू पर नहीं ले बैठता...तो यह स्वाभाविक है, या नहीं।...सर्वेश्वर बाबू का इस प्रबंध समिति में हमने यही समझकर स्वागत किया है कि दुनिया में, और इस देश में भी, जितनी तेज़ी के साथ हम जन-क्रान्ति की ओर बढ़ने जा रहे हैं उसे देख सचमुच ही उन्हें अपने पिछले इतिहास से नफ़रत हो गयी है...और शोषक तथा शोषित वर्गों के बीच छिड़ी लड़ाई में वह हम लोगों के साथ रहना चाहते हैं...भले ही इसका कारण उनका दूरदर्शितापूर्ण स्वार्थ ही हो।...लेकिन, अगर वह यह समझते हों...कि उनके पिछले इतिहास को लेकर कोई उँगली भी नहीं उठायेगा...उनकी नेकनीयती पर केवल उनकी घोषणाओं के आधार पर ही पूरा यक़ीन कर लिया जायगा...तो, मेरा ख़याल है, वह बहुत बड़े भ्रम में रहेंगे।... सोवियत रूस की कम्युनिस्ट पार्टी में तो शोषित वर्ग से आने वालों की भी समय-समय पर कड़ी से कड़ी परीक्षा होती है। और शोषक वर्ग से अपना पुराना नाता तोड़कर आने वालों को वहाँ की पार्टी में अगर कभी-कभी जगह मिलती है तो उन पर औरों के मुक़ाबले कहीं कड़ी नज़र रखी जाती है। कारण स्पष्ट है। जिस शेर को ख़ून का स्वाद मिल चुकता है..."

लेकिन उसे अपना वाक्य पूरा करने की ज़रूरत नहीं पड़ी। सर्वेश्वर बाबू अचानक ही कुरसी से उठ खड़े हुए, और शंकर को बीच में ही रोक, एक उच्छ्वासपूर्ण स्वर में बोले :

"तहेदिल से आपका शुक्रगुज़ार हूँ मैं, भाई उदयशंकर जी...कि आपने एक ऐसा माकूल और बेलाग जवाब दिया, जिसकी मैंने क़तई उम्मीद नहीं की थी।... और, आपने जो नेक नसीहत दी है उसके लिए भी उतना ही शुक्रगुज़ार हूँ... क्योंकि यह नसीहत मुझे अब तक किसी ने नहीं दी थी, लेकिन इसकी मुझे सख़्त ज़रूरत थी।"

फिर उन्होंने बाक़ी लोगों की ओर अपनी नज़र घुमायी, और मेज़ के पीछे रखी चेयरमैन वाली कुरसी पर, जो तब तक ख़ाली पड़ी थी, बैठते हुए गंभीर स्वर में बोले :

"आज की प्रोसीडिंग्स शुरू की जाती हैं..."

बाबू रामवृक्ष सिंह जरूर उस दिन के बाद से बराबर ही शंकर से कतराते रहे, लेकिन सर्वेश्वर बाबू के साथ उसकी जो मित्रता तब से शुरू हुई वह उनके जीवन-काल तक कायम रही। शंकर की जिन्दगी में यह पहला मौक़ा था कि किसी बहुत बड़े रईस ने उसे अपना दोस्त माना, और जिनके साथ उसका शुरू का भी बराबरी के स्तर पर मिलना-जुलना शुरू हुआ...

लेकिन वह तो केवल 'प्रथमग्रासे मक्षिकापात:' था, जिसमें उधर चुकने पर भी एक-के-बाद-एक कितनी ही मक्खियाँ गिरती चली गयीं उसके दूध के प्याले में...

नयी प्रबंध समिति की स्थापना के लिए वचनबद्ध हो जाने के बाद भी जब विद्याभूषण को शंकर ने ऐन वक्त पर पीछे हटते देखा था तब जरूर उसका सारा चित्त उनके ख़िलाफ़ विद्रोह कर उठा था, लेकिन रामशरण बाबू के घर पर उस दिन उन्हें जिस तरह और जिस हद तक मजबूर कर दिया गया था उससे उनके प्रति वह बहुत-कुछ पिघल चुका था। फिर, अगले दिन की बोर्ड की बैठक में प्रबंध समिति की स्थापना वाला प्रस्ताव पास हो चुकने पर, शुक्लजी ने भी पटने से कलकत्ते लौटने के पूर्व विद्याभूषण की ओर से उसके साथ देर तक बातचीत करके यह वादा ले लिया था कि जागृति के हित में वह चाहे जो भी क्यों न करे, लेकिन व्यक्तिगत रूप से विद्याभूषण के ख़िलाफ़ कोई भी कदम नहीं उठाएगा।

वैसे भी, नयी प्रबंध समिति की स्थापना का उद्देश्य प्रान्त के 'प्रगतिशील' बुद्धिजीवी वर्ग का सक्रिय समर्थन प्राप्त करना और, खास तौर से, सर्कुलेशन को बढ़वाने में बिहार कम्युनिस्ट पार्टी का अनौपचारिक सहयोग पाना था, न कि विद्याभूषण के हाथों से जागृति को छीन लेना। प्रबंध समिति के सेक्रेटरी के नाते सत्ता जरूर शंकर के ही हाथों में आ गयी थी, और प्रबंध समिति के एक कम्यु-निस्ट सदस्य चन्द्रिका प्रसाद सिंह के मैनेजर नियुक्त किये जाने के कारण भी विद्याभूषण एक प्रकार से बिलकुल ही निष्क्रिय बना दिए गये थे। किन्तु इसके प्रयोग के लिए यह तो अनिवार्य ही हो गया था, और विद्याभूषण स्वयं भी इस बात को समझ गये। फिर भी, पिछली घटनाओं के कारण उन दोनों की मित्रता के बीच एक दीवाल-सी आ ही खड़ी हुई थी जिसकी अस्वस्ति शंकर के दिल में खटकती रहती थी। और, बराबर ही वह ऐसे मौक़ों की तलाश में रहने लगा जिनसे विद्याभूषण को कम से कम इतना भरोसा तो दिला ही दे कि उन दोनों की मित्रता में कोई कमी नहीं आ पायी है।

कुछ समय वाद, सौभाग्यवश, एक ऐसा मौक़ा उसे आता भी दिखाई दिया जब कि विहार परिषद (कौंसिल) के लिए विधान सभा से होने वाले चुनावों में कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से खड़े होने के लिए उसे निमंत्रण मिला। जब उसने इस वात की अपनी दिलजमई कर ली कि जितने विधान सभा सदस्यों के वोट उस सीट के लिए ज़रूरी थे वे सुरक्षित हैं तव उसने वावू कामाख्या प्रसाद सिंह को, जो कि विहार कम्युनिस्ट पार्टी के एक प्रभावशाली सदस्य समझे जाते थे और जागृति की प्रवंध समिति में भी चन्द्रिका वावू के साथ-साथ कम्युनिस्ट प्रतिनिधि के रूप में थे, यही समझाने की कोशिश की कि वह सीट वे लोग विद्याभूपण को दे दें। इस प्रस्ताव के पक्ष में उसने अपने जानते तो काफ़ी जोरदार ही दलील दी : कि पिछले चुनावों में हार जाने, और फिर जागृति से भी अधिकार-च्युत हो जाने के फलस्वरूप उनके मनोवल का जो ह्रास हुआ है उसे ऊँचा करना न सिर्फ़ प्रगतिशील मोरचे की सफलता के लिए आवश्यक है वल्कि जागृति के नये प्रवंध के सुचारु रूप से चलने के लिए भी, लेकिन उन पर उसका कोई असर नहीं हुआ। और तव शंकर ने ख़ुद भी उस सीट से खड़े होने से इनकार कर दिया।

"मुझे यह सीट वे लोग नहीं देते तो नहीं देते, आपने क्यों नाहक़ मिली-मिलायी सीट छोड़ दी—?" उसके इनकार की ख़वर पाकर विद्याभूपण ने उसके कमरे में आकर उससे कहा ज़रूर, लेकिन शंकर जानता था कि उसके उस क़दम से उनके चुटीले दिल पर कुछ मलहम ज़रुर लगा था...

कुछ ही समय वाद एक दूसरा मौक़ा शंकर के सामने आया, जिसका भी उपयोग उसने विद्याभूपण के लिए ही करना चाहा।

चीन की कम्युनिस्ट सरकार के साथ भारत सरकार का सम्वंध इधर काफ़ी मैत्रीपूर्ण हो उठा था और देश में भारत-चीन मैत्री संघ की स्थापना हो चुकी थी जिस पर एक तरह से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का ही नियंत्रण था—हालांकि इस वात की साफ़ कोशिश दिखाई दे रही थी कि ग़ैर-कम्युनिस्ट वुद्धिजीवियों में से अधिक से अधिक लोगों का सहयोग उसे प्राप्त हो। इस संघ की विहार शाखा की कार्यकारिणी में कुछ ही समय पहले शंकर को लिया जा चुका था।

कुछ काल वाद चीन सरकार की ओर से भारत-चीन मैत्री संघ को निमंत्रण मिला कि अपना एक प्रतिनिधि-मण्डल वह चीन की यात्रा पर भेजे। यात्रा का कुल ख़र्च चीन सरकार के ही जिम्मे था। इस प्रतिनिधि-मण्डल में जव विहार से शंकर को सम्मिलित करने की वात उठायी गयी तव फिर उसने ज़ोर लगाया, कि उसकी जगह विद्याभूपण को ही उसमें सम्मिलित किया जाय। विद्याभूपण से वात करके वह देख चुका था कि इस सम्मान को प्राप्त करने पर उन्हें कम ख़ुशी हासिल न होती।

यह मामला विचाराधीन ही था, कि कुछ दिन की छुट्टी लेकर शंकर स्वामीजी के पास रांची चला गया। पिछले आम चुनावों और फिर जागृति सम्बन्धी इन रस्साकशियों के बाद वह शरीर और मन दोनों से ही काफ़ी थक चुका था, और कुछ दिन बिलकुल शान्ति के साथ वहाँ बिताना चाहता था।

लेकिन, स्वामीजी के पास आये उसे चार ही पाँच दिन हुए थे कि पटने से तार मिला: अगले दिन ही विद्याभूषण पेकिंग की यात्रा पर पटने से कलकत्ते जा रहे हैं।

शंकर भारी पसोपेश में पड़ा। एक ओर स्वामीजी के पास कुछ दिन और रहने की प्रबल इच्छा थी; दूसरी ओर विद्याभूषण को विदा करने के लिए, उनके इस नये हर्षोच्छ्वास में उनका साथ देने के लिए, वहाँ जा पहुँचना भी ज़रूरी।

किन्तु उसे ज्यादा सोचना-विचारना नहीं पड़ा; तार की बात सुनते ही स्वयं स्वामीजी ने फ़ैसला सुना दिया कि उसी रात उसे पटने के लिए रवाना हो जाना है।

...स्वामीजी के पास रांची आने से पहले विद्याभूषण के साथ शंकर की एक हल्की-सी झड़प हो चुकी थी। नये कम्युनिस्ट मैनेजर चन्द्रिका बाबू का, जिनके साथ पिछले कई वर्षों के निकट सम्पर्क के फलस्वरूप शंकर की अच्छी-खासी मित्रता हो गयी थी, विद्याभूषण के प्रति रंच मात्र भी सद्भाव नहीं दिखाई देता था, वे दोनों ही इस बीच शंकर के सामने एक-दूसरे के विरुद्ध अभियोग पेश करते आये थे। कुछ समय तक तो शंकर चन्द्रिका बाबू को ही संयम से काम लेने की सलाह देता रहा, लेकिन एक दिन किसी प्रसंग में उन दोनों के बीच मध्यस्थता करते समय उसे विद्याभूषण को उनका एक दोष दिखाना पड़ गया, जिससे वह शंकर से काफ़ी वक्त तक रूठे रहे। अन्त में शंकर ने खुलकर उनसे बात करनी चाही, लेकिन वह उसके लिए भी तैयार नहीं जान पड़े। शंकर ने तब ख़ुद ही उनके कमरे में जाकर कुछ कड़ी-कड़ी बातें सुना उन्हें यह सलाह दे डाली कि कुछ महीने वह नये प्रबन्ध को पूरा सहयोग दें, और अगर ऐसा नहीं कर सकते तो फिर चुप्पी ही लगा जायें—बात-बात पर चन्द्रिका बाबू की शिकायत लेकर उसके पास न आयें।

स्वामीजी के पास आने पर शंकर ने जागृति की सारी बातें उन्हें बताकर उस झड़प वाली बात भी बता डाली थी, जिसके बाद उन्होंने उसे विद्याभूषण को एक सौहार्दपूर्ण पत्र लिखने के लिए कहा· अपनी उन कटूक्तियों के लिए क्षमा माँगने और अपनी मित्रता का एक बार फिर उन्हें विश्वास दिलाने के लिए। लेकिन वह पत्र अभी वह लिख भी नहीं पाया था कि यह तार आ गया।

स्वामीजी को अन्तिम प्रणाम करके उनसे विदा हो ऊपर से नीचे आने पर उसे विद्याभूषण का एक पत्र मिला—चीन जाने के निर्णय से पहले का लिखा। "...मैं देखूँगा कि अगर जागृति से मेरा सम्बन्ध नये प्रबन्ध को पसन्द नहीं है और मैं नये प्रबन्ध का, ख़ासकर आपका विश्वास-भाजन नहीं हूँ," उन्होंने लिखा था, "तो, अपनी कमजोरी की वजह से चाहे जितने दिन मैं जागृति से और चिपटा रहूँ, पर मेरी आत्मा इस स्थिति को क़बूल नहीं करेगी और अनवरत चेष्टा करूँगा कि अपनी इस कमजोरी पर विजय पाकर जागृति से जल्द से जल्द अलग हो जाऊँ।"

उस वक़्त तो शंकर स्वामीजी को वह पत्र नहीं दिखा पाया। लेकिन पटने पहुँचकर विद्याभूषण को विदा करने के कुछ काल बाद स्वामीजी को सारा विवरण देते समय उसने विद्याभूषण के उस पत्र का यह अंश उद्धृत करते हुए उन्हें लिखा कि राँची में चार-पाँच दिन ही रहने पर अपने को देखने की जो नयी दृष्टि इस बार उसे मिली थी उसके कारण ही वह पटने लौटने पर विद्याभूषण को ठीक-ठीक देख सका और पूरी सहानुभूति के साथ उनसे मिलने और उन्हें विदा करने के लिए तैयार हो पाया—दिल में यही भाव लाकर कि उन पर बहुत-सी चोटें पड़ी हैं, और विदेश जाते समय तो वह हम सबका स्नेह ही लेकर जायें ताकि विदेश में उनका हृदय हलका रहे।

"यहाँ आने पर और उनकी विदाई के सिलसिले में ही, दरअसल, मैं पूरी तरह यह महसूस कर सका," उसने आगे चलकर लिखा, "कि उनकी यह यात्रा उनके लिए कितनी बड़ी चीज़ साबित हुई है। प्रेस में भी और बाहर भी, और फिर स्टेशन पर, जिस हार्दिक स्नेह और विराट समारोह के साथ उन्हें विदाई दी गयी उससे वह विभोर थे, और मुझे लगा कि जीवन में निश्चय ही यह उनकी एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इतना सम्मान उन्हें पहले कहाँ मिला था कभी? हमारे प्रान्त के तो किसी भी कांग्रेसी नेता को आज इतना हार्दिक सम्मान नहीं मिल सकता। सारा स्टेशन गूँज उठा था : 'बाबू विद्याभूषण ज़िन्दाबाद' के नारों से, और कांग्रेसियों को छोड़ सभी वर्गों के प्रतिष्ठित लोग उन्हें विदा करने आये थे। और उन सभी ने मालाएँ पहनाई थीं; तीस-चालीस मालाओं से उनकी गरदन भरी हुई थी।

"विद्याभूषण विभोर थे, गद्गद थे।

"और तब मैंने देखा कि 'बड़े' बनने की जिसकी उच्चाकांक्षा की सीमा नहीं है और जिसने अब तक बहुत कम पाया है—ख़ास तौर से आज, पराजय पर पराजय पाकर, जिसका दिल बहुत ज़ख़्मी हो रहा है—उसे, इस यात्रा के प्रारंभ में ही, बहुत-कुछ मिल गया।

"यों, प्रतिनिधि के रूप में चुन लिया जाना भी आसान नहीं था—ख़ास तौर

में जबकि प्रतिनिधियों के चुनाव की कारंवाई पूरी हो चुकी थी और वैकल्पिक प्रतिनिधियों के लिए बीसों नाम वेटिंग लिस्ट पर थे, जिनमें से कुछ तो बड़े प्रतिष्ठित लोगों के थे। फिर भी विद्याभूषण के लिए इन लोगों ने बड़ी कोशिश की और अन्त में सफलता मिल गयी, जो विद्याभूषण को भी कम महत्वपूर्ण नहीं लगी—क्योंकि वह पूरी तरह निराश हो चुके थे, और अन्त में तो वायुयान का भाड़ा ख़ुद देकर भी जाने के लिए तैयार।

"अवश्य उन्हें अपने ही ख़र्च से जाना था, पर उनका जीप बिक गया था, जो चुनावों के लिए ख़रीदा गया था। भाभीजी का विरोध था, क्योंकि वह चाहती थी कि वह रकम उन कर्जों को निपटाने पर ख़र्च की जाये, जो चुनाव के सिलसिले में लिये गये थे। पर विद्याभूषण के दिल में एक ही बात थी—कि रुपया तो बहुत खोया और बिगाड़ा, अब इतना और सही!

"फिर—वायुयान से इतनी लम्बी यात्रा करने का उल्लास, पचास-साठ लोगों वाले अखिल भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल में से एक होने का गौरव, और फिर चीन में भी जो ख़ातिरदारी होगी और जो सम्मान मिलेगा—यह सब निश्चय ही उनके दिल को बहुत दूर तक भर दे सकता है।

"और, जहाँ तक मेरे अधिकार में था, मैंने भी उनका दिल भर दिया है।

"मैं जब राँची से लौटा तब वह बाजार गये हुए थे। जब आये, तब मैं बाहर ही खड़ा था। उनके चेहरे पर, मुझे देखते ही, कुछ अपराधी भाव जैसा जरूर पैदा हुआ, पर दिल के अन्दर से निकलने वाले मेरे उल्लास और खुली मुसकराहट ने उन्हें आश्वस्त किया। उनको अवश्य डर था कि रुपया खर्च करके उनके चीन जाने का मैं विरोध करूँगा।

"मुझे जो तार दिया गया था उसमें विद्याभूषण ने यह जुड़वा देना चाहा था कि मैं आऊँ नहीं। लेकिन चन्द्रिका बाबू ने वह अंश नहीं जोड़ा। विद्याभूषण को स्पष्ट ही मेरा सामना करने में कुछ घबड़ाहट थी।

"उसे मैंने दूर कर दिया, उनके रास्ते की तैयारी का सब सामान देखा, पूरी दिलचस्पी लेकर सलाह-मशविरा दिया। तीसरे पहर, प्रेस की ओर से एक सभा करायी—ग्रुप फ़ोटो, जलपान और भाषण। पाँच बजे तक स्टेशन पहुँच जाना था। ज्यादा बातचीत का मौका तो नहीं था, लेकिन मैंने शुरू में ही उनसे कह दिया था कि ज्यादा तो नहीं, लेकिन दस-पन्द्रह मिनट की बातचीत के लिए उन्हें वक़्त निकालना ही होगा। वह ख़ुशी-ख़ुशी राजी हो गये थे, और भाषणों के बाद ही मैं उन्हें अपने कमरे में ले आया। मैंने उन्हें बताया कि उनके पत्र से मुझे कितनी तकलीफ़ हुई, और यह भी स्वीकार कर लिया कि राँची जाने से पहले उनके साथ मेरी जो बातचीत हुई थी उसमें सचमुच ही मेरे अन्दर उनके प्रति सहानुभूति की कमी थी, जिसकी वजह से ही उन पर यह असर पड़ा होगा कि

जागृति के लिए उन्होंने तब तक जो क्षति उठायी थी उसे मैं कुछ भी महत्त्व नहीं देता। मैंने अब यह बिलकुल साफ़ कर दिया कि जागृति के लिए उन्होंने जो-कुछ किया है उसकी कोई भी उपेक्षा नहीं कर सकता, ख़ास तौर से मैं तो कभी भी नहीं। मैंने ज़ोर देकर कहा कि जागृति आज जो कुछ भी है उसके लिए अगर किसी एक आदमी को श्रेय मिल सकता है तो सिर्फ़ उन्हें। साथ ही मैंने उन्हें यह विश्वास दिलाया कि मेरा ख़ुद का तो प्रश्न ही नहीं उठता, लेकिन अगर दूसरों के कारण भी कभी ऐसी नौबत आयी जिसके फलस्वरूप विद्याभूषण जागृति से हट जाना चाहें, तो उसके बाद मैं एक दिन भी जागृति में नहीं रहूँगा। जब तक मैं रहूँगा वह दिन नहीं आने दूंगा, और अगर वह दिन आया तो उनके साथ-साथ मैं भी जागृति से अलग हो जाऊँगा।

"इससे वह काफ़ी प्रभावित हुए, और लगा कि उनका दिल हलका हो गया।

"और—अन्त में मैंने यह कहा, कि जिस मित्रता के नाते मैं उन्हें यह विश्वास दिला रहा हूँ, उसी मित्रता के नाते इस बात की भी बराबर पूरी कोशिश करूँगा कि विद्याभूषण अपनी ऐसी किसी कमजोरी के शिकार न हो पायें जिसके कारण जागृति को चोट पहुँच सकती हो या जिसके कारण वह ख़ुद ही बदनाम हो जा सकते हों। मैंने ज़ोर देकर कहा कि मित्र के नाते मैं अधिकारपूर्वक ऐसा करूँगा और उन्हें अपनी ही क्षति करने से हर तरह से रोकूँगा। हम दोनों को साथ-साथ आगे बढ़ना है।

"स्टेशन पर विदा देते समय कसकर मैंने उनका आलिंगन किया, और देखा, उनके गले से आवाज़ नहीं निकल पा रही है।

"कलकत्ता, फिर हांगकांग, और फिर पेकिंग से उनके तार आते गये हैं, और हांगकांग से लिखा पत्र भी आया है जिसमें उन्होंने अपना हर्षोद्गार प्रकट किया है।

"पेकिंग पत्र भेजा है। आपका सन्देश भी भेज दिया है।"

लेकिन विद्याभूषण के चीन से लौट आने के बाद भी कोई साल-भर बीत गया, और नये प्रबन्ध और उनके बीच की कशमकश को दूर करने की दिशा में शंकर की सारी कोशिशें बेकार हुयीं। दरअसल, वे उलटे बढ़ती ही गई।

यों, विद्याभूषण चीन की अपनी उस यात्रा से बहुत ही प्रभावित और तृप्त होकर लौटे थे। उनकी उस मनःस्थिति से लाभ उठाकर शंकर ने एक तरह से इस बात के लिए भी उन्हें राज़ी कर लिया था कि अगर जागृति, सारी प्रतियोगिताओं और संकटों के बावजूद, अपने पाँवों पर दृढ़तापूर्वक खड़ी हो जा सकी

तो उसे उसके कर्मचारियों की ही एक सहकारिता-संस्था का रूप दे दिया जाये और धीरे-धीरे उसके अधिकांश शेयरों पर भी उन्हीं लोगों का अधिकार हो जाये।

पर जैसे-जैसे वक्त बीतता गया, विद्याभूषण का उत्साह ढीला पड़ने लगा : मैनेजर चन्द्रिका बाबू की ओर से इस बीच पिछले प्रबन्ध से सम्बद्ध कितने ही ऐसे प्रसंग उठाये जाते रहे जो विद्याभूषण के लिए अत्यन्त अप्रिय थे। और—विवश होकर, मध्यस्थता करने की दृष्टि से, जब शंकर उनसे बात करता तो मामला और भी उलझ जाता। चन्द्रिका बाबू उनके सिर्फ़ यह कह देने से सन्तुष्ट नहीं होते थे कि अमुक काम 'गलती से' हो गया था, अमुक निर्णय लेने में 'असावधानी' हो गयी थी, अथवा अमुक कदम उठाते वक़्त उन्हें यह ख़याल ही नहीं रहा था कि वह 'नियम-विरुद्ध' था। विद्याभूषण के मुँह पर ज़रूर चन्द्रिका बाबू उन्हें बेईमान नहीं कहते थे, लेकिन शंकर के सामने यह कहते उन्हें ज़रा भी हिचक नहीं थी।

विद्याभूषण के बढ़ते हुए असन्तोष का सबसे बड़ा कारण अब यह था कि जब से नया प्रबन्ध शुरू हुआ था तब से जागृति के क़र्ज़दारों को उनके कर्ज़ का सूद देना बिलकुल ही बन्द था। नया प्रबन्ध लागू होने के महीने डेढ़ महीने बाद ही विद्याभूषण ने एक सूची शंकर के सामने पेश की थी जिसमें हर क़र्ज़दार को दी जाने वाली तिमाही, छमाही या सालाना सूद की रकम का ब्यौरा था। उस वक्त तो शंकर ने उनसे कुछ महीनों की मोहलत माँग ली थी, लेकिन चीन से लौटने के बाद भी जब कुछ महीने गुज़र गये और शंकर ने उस मसले को लटका ही रखा तो एक दिन उन्होंने उस मामले को फिर उठाया।

नये प्रबन्ध के सामने आय-व्यय को सन्तुलित करने की समस्या शुरू से ही थी और शंकर का सारा ध्यान इसी बात पर केन्द्रित था कि अख़बार को चलाने के लिए अनिवार्य मदों पर ही एक-एक पैसा ख़र्च हो, और कर्मचारियों को ठीक समय पर वेतन देने पर। लेकिन शुरू से ही उसने देखा कि आमदनी के मुक़ाबले ख़र्चा इतना ज़्यादा है कि ठीक वक्त पर वेतन देना भी मुश्किल हो जायेगा। एक साल से ज़्यादा गुज़र चुका था अब...इसी तरह गाड़ी को किसी तरह खींच-कर आगे की ओर ठेलते; क़र्ज़ों के सूद को और ज़्यादा रोक रखने के पक्ष में विद्याभूषण को समझा सकना अब उसके लिए असम्भव हो गया।

आख़िर उसने तय किया कि कर्ज़ों और उनके सूद वाले मामले को प्रबन्ध समिति में रख दे और साफ़ कह दे कि अगर समिति के सभी लोग कंधा नहीं लगायेंगे और आमदनी बढ़ाने की कोशिश नहीं करेंगे—ख़ास तौर से सर्कुलेशन बढ़वाने में मदद देकर—तो इन पेचीदा समस्याओं को सुलझाना उसके बस का नहीं।

अन्त में, चन्द्रिका बाबू को साथ लेकर एक दिन वह रामशरण बाबू के पास

जा पहुँचा; लेकिन उन्होंने, सब कुछ सुनकर, यह सलाह दी कि रजिस्टरों की पूरी जाँच-पड़ताल करके हर क़र्ज़ की सचाई का और उसके बाज़ाब्ता होने का पता लगाकर वह एक नोट तैयार करे।

इस तरह की जाँच-पड़ताल का नतीजा, लेकिन, यह सामने आया कि एक भी क़र्ज़ा ऐसा नहीं था जो बोर्ड ऑफ़ डाइरेक्टर्स की मंज़ूरी से लिया गया था—जबकि नियमानुसार वह आवश्यक थी। सूद की ऊँची दर भी इस तरह, स्पष्ट ही, अकेले मैनेजिंग डाइरेक्टर, यानी विद्याभूषण, द्वारा तय की गयी होगी।... यही नहीं, दो-चार को छोड़ उनमें से किसी भी क़र्ज़ की रक़म की बाबत कोई पक्की काग़ज़ी कार्रवाई तक नहीं की गयी थी।

"आपको क्या अब भी कोई शक रह गया है कि फ़ालतू कागज़ का 'ब्लैक' करके इतने बरसों से जो मुनाफ़ा हुआ है...वही इन बेनामी क़र्ज़ों के तौर पर दिखाया गया है?"—चन्द्रिका बाबू को जैसे विद्याभूषण की बदनीयती को साबित कर दिखाने का एक और नया मौक़ा मिल गया।

...यह बात तो शंकर को जागृति का प्रबन्ध अपने हाथ में आते ही मालूम हो चुकी थी कि जितने अख़बारी काग़ज़ का सरकारी कोटा दूसरे महायुद्ध के दौरान उनके अख़बार को मिलना शुरू हुआ था उसे बढ़ा हुआ सर्कुलेशन दिखाकर बाद को और भी बढ़वाया जा चुका था, हालांकि जागृति के लिए उन्हें उस कोटा का एक-तिहाई या एक-चौथाई काग़ज़ ही ख़रीदने की ज़रूरत थी। यह भी शंकर जानता ही था कि यह काग़ज़ ब्लैक में बेच देने पर काफ़ी मुनाफ़ा है। विद्याभूषण से इस सम्बन्ध में बात करने पर उन्होंने भी इतना तो स्वीकार कर ही लिया था कि कभी-कभी कुछ फ़ालतू काग़ज़ 'ब्लैक' किया गया था, हालांकि चन्द्रिका बाबू के इस आरोप को उन्होंने 'सरासर ग़लत' बताया था कि वह कोटे का कुल काग़ज़ ख़रीदते रहे थे या मुनाफ़े की रक़म उन्होंने ख़ुद हड़प ली थी।

उस वक़्त शंकर ने उस बात को विद्याभूषण के साथ आगे बढ़ाना ज़रूरी नहीं समझा था। दरअसल वह प्रसंग उसके और चन्द्रिका बाबू के बीच इसी सन्दर्भ में उठा था कि फ़ालतू काग़ज़ का 'ब्लैक' करके जागृति के घाटे को वे लोग भी पूरा कर सकते हैं या नहीं, और शंकर इसलिए इस बात पर राज़ी नहीं हुआ था कि चोरबाज़ारी के ख़िलाफ़ जागृति में शुरू से ही एक जिहाद चलाने के बाद वह ऐसा कोई काम नहीं करना चाहता था जिसकी कलई अगर खुल गयी तो जागृति के सफ़ेद दामन पर ऐसा स्याह दाग़ पड़ जायेगा जिसे पोंछने के लिए कोई भी सफ़ाई नहीं दी जा सकेगी...

जो भी हो, क़र्ज़ों की जाँच-पड़ताल का जो नतीजा अब सामने आया था उससे जहाँ तक ख़ुद शंकर का सवाल था उसे बहुत बड़ी राहत ही मिली थी : कोई भी क़र्ज़दार क़ानूनन उन लोगों को क़र्ज़ लौटाने, या सूद अदा करने के लिए

भी नहीं—जब कि उसका सभी कुछ तुम लोगों ने ले लिया है, लेकिन नये लोगों को जो कुछ करना था वह बाक़ी ही पड़ा है।

वह रुका, और विद्याभूपण के कन्धे पर हाथ रखकर बोला: "मुझे थोड़ी मोहलत और दीजिये भाई भूपण जी...किसी भी क़र्ज़ की बाबत पक्का प्रमाण पाये बिना—कि यह दिखावटी है—मैं उसे अस्वीकार नहीं करूँगा।"

... ...

लेकिन क़र्ज़ों के असल और सूद दोनों की ही अदायगी को कुछ वक़्त के लिए रोक देने के बावजूद शंकर के लिए गाड़ी को खींचकर आगे ले चलना कठिन होता गया, और कर्मचारियों का वेतन देने में भी मुशकिल पेश होने लगी। कम्युनिस्ट मैनेजर चन्द्रिका बाबू पर जब शंकर ने ज़ोर डालना शुरू किया कि अपनी पार्टी वालों से अब तो सर्कुलेशन को बढ़वाने में मदद लें, जो कि इस बीच और भी तेज़ी से घटा था, तो उस ओर से भी सिवा शाब्दिक तसल्ली के, कोई ठोस क़दम उठता नहीं दिखाई दिया। नतीजा यह हुआ कि शंकर की सारी शक्ति प्रबन्ध सम्बन्धी समस्याओं से ही उलझने में लगती चली गयी जिसकी वजह से उसके सम्पादकीय काम में भी काफ़ी बाधा पड़ने लगी।

और यह स्थिति उसके लिए दिन-पर-दिन असह्य होती चली गयी।

नये मैनेजर चन्द्रिका बाबू एक प्रकार से अवैतनिक रूप में काम करने को तैयार हुए थे – कम-से-कम तब तक के लिए जब तक कि जागृति को वे लोग दलदल से बाहर नहीं निकाल लाते। एक कम्युनिस्ट मित्र के रूप में शंकर को वह जितने पसन्द थे, मैनेजर के रूप में उतने कारगर वह नहीं साबित हुए। चार-पाँच घण्टे हर रोज दफ़्तर के लिए देने का वादा करके भी वह भागते दौड़ते-से ही आते थे, और मुशकिल से दो-तीन घण्टे दफ़्तर में बिता किसी न किसी काम के चलते फिर बाहर हो जाते थे। और—कर्मचारियों को वेतन देने का वक़्त आने पर रुपये की कमी की समस्या शंकर के ही सिर मढ़ अपनी ज़िम्मेदारी से मानो छुट्टी पा जाते थे।

एक ऐसी ही विकट आर्थिक समस्या के समय, एक दिन, कोई और उपाय तत्काल न सूझने पर शंकर उनसे पूछ बैठा: "अखबार की बिक्री करने वाले हमारे एजेंटों से रुपया ठीक वक़्त पर वसूल हो रहा है न?"

"हाँ...वसूल ही हो रहा है—" उन्होंने जवाब दिया, लेकिन एक ठिठकते-से स्वर में।

शंकर को शंका हो गयी।

उसने तब सभी एजेंटों के हिसाब का एक 'स्टेटमेंट' तैयार करने के लिए कहा।

दो-चार दिन बाद, जब वह स्टेटमेंट सामने आया तो पता चला कि कितने

ही एजेंटों पर दो-दो, तीन-तीन महीने का रुपया बाकी निकलता था, और कुछ छोटे-छोटे कसबों के कम-से-कम आठ-दस एजेंट तो ऐसे भी थे जिन्होंने न कभी कोई जमानत की रकम जमा की थी और न साल डेढ़ साल से रुपया ही दिया था—और फिर भी अख़बार उनके पास बराबर जा रहा था।

चन्द्रिका बाबू ने जब अपनी गफ़लत को छिपाने की गरज से पुराने प्रबंध की ही गलतियाँ दिखानी शुरू कीं, और कुछ और छानबीन करने के बाद यह साबित करने की कोशिश की कि जिन एजेंटों को जमानत लिये बिना ही अख़बार भेजा जाने लगा था, और जिनके पास साल डेढ़ साल से बकाया पड़ा हुआ है, वे या तो विद्याभूषण के दूर या नज़दीक के रिश्तेदार हैं...या...उनके साथ उनका किसी और किस्म का कोई आर्थिक सम्बन्ध है—तो विद्याभूषण के प्रति धीरे-धीरे जो सन्देह उसके अन्दर बढ़ने लग गया था उससे उत्पन्न क्षोभ को अन्दर ही अन्दर दबाने की कोशिश करता शंकर उलटे उन्हीं पर बरस पड़ा: "दूसरों पर दोष मढ़ने की जगह अगर आप ख़ुद दफ़्तर को कुछ ज्यादा वक़्त दिया करें, और बकाया रकमों को वसूल करने के काम में जरा ज्यादा मेहनत से जुट जायें..."

और वाक्य को पूरा किये बिना ही कुरसी छोड़ उठ खड़ा हुआ और तेज़ी के साथ कमरे से बाहर हो गया।

चौबीस

"जागृति के लिए मुझे जो कुछ करना था, अपनी शक्ति से अधिक [illegible] कर चुका," नयी प्रबन्ध समिति की स्थापना के कोई डेढ़ वर्ष बाद [illegible] को अपने एक पत्र में शंकर ने लिखा। "अब मुझे देखना है कि दूसरे अपना उत्तर-दायित्व निभाते हैं या नहीं। अगर दूसरे अपना उत्तरदायित्व नहीं निभाते, और जो बाधाएँ दूर की जा चुकी हैं उनसे लाभ नहीं उठाते, तो [illegible] कि जागृति के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं। अब तक मेरे करने के [illegible] अवश्य बहुत-कुछ था जिसे मैंने कर भी देखा। लेकिन अब तो जो कुछ करना है, वह दूसरों के ही करने का है।

"कुछ बातें दिमाग़ में आ रही हैं, और कुछ क़दम, उम्मीद है, जल्द ही उठा सकूँगा—जिससे कि, या तो जागृति ठीक से चले, नहीं तो मैं ही अब इस मोह को छोड़ूँ। जागृति को मेरे जीवन के लिए भी एक नया अध्याय बनना है। बहुत-कुछ सीखा और पाया है उससे, लेकिन उसके साथ के मेरे सम्बन्ध में अब गुणात्मक परिवर्तन होने का समय आ गया जान पड़ता है।"

यह पत्र शंकर ने तब लिखा था जब कि सब-कुछ कर-कराके कर्मचारियों का वेतन भी ठीक समय पर देना असम्भव होता चला गया था, और पिछले छः-सात महीने से उसका सारा ध्यान एक इसी समस्या पर केन्द्रित रह गया था। कर्मचारियों की बार-बार मीटिंग की गयी थीं...सहकारिता के आधार पर जागृति को अपना मानते हुए धीरज रखने की अपीलें की गयी थीं...मगर कोई लाभ नहीं हुआ था। फलस्वरूप, इन छः-सात महीनों से, एक सौ रुपये मासिक से ऊपर वेतन पाने वाले को थोड़ी ही थोड़ी रक़म एक-एक बार में दी गयी थी और अब तक, इस तरह, कितने ही लोगों का वेतन दो-दो, तीन-तीन महीने तक पिछड़ गया था। शंकर का ख़याल था कि पाँच सौ रुपये महीने के अपने वेतन का सिर्फ़ एक-चतुर्थांश—सवा सौ रुपये महीने—ही लेकर उसने जो नमूना उच्च-पदस्थ बाक़ी सभी कर्मचारियों के सामने रखा था उसका भी कुछ तो असर होगा ही बाक़ी सब कर्मचारियों पर। लेकिन, कुछ नहीं हुआ। बक़ाया वेतन के तकाज़ों का सामना करने में ही उसकी अधिकांश शक्ति ख़र्च होने लगी थी।

स्वामीजी को वह पत्र लिखते समय शंकर के दिमाग़ में जो क़दम मौजूद थे उनमें पहला और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था कम्युनिस्टों के रुख़ और उनकी नीयत के मामले में पूरी सफ़ाई कर डालना। प्रबन्ध समिति में जिन दो कम्युनिस्ट सदस्यों को रखा गया था उनमें से चन्द्रिका बाबू मैनेजर के रूप में भले ही कुछ ज्यादा चुस्त और होशियार न साबित हुए हों, लेकिन देश में एक प्रगतिशील मोरचे की आवश्यकता और उसके रूप के सम्बन्ध में जो नक़्शा शंकर के, और रामशरण बाबू के भी, दिमाग़ में था उससे वह पूरी तरह सहमत थे और जागृति की सम्पादकीय नीति के पूरे हिमायती। प्रबन्ध समिति के दूसरे कम्युनिस्ट सदस्य कामाख्या बाबू भी इस बीच शंकर के अधिक निकट आ चुकने पर—धीरे-धीरे उसकी सम्पादकीय नीति के हामी होते चले गये थे। पर इधर शंकर को अब यह शक हो चला था कि बिहार कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख लोग उसकी सम्पादकीय नीति से कुछ अधिक सन्तुष्ट नहीं हैं।

"क्या वे लोग जागृति को पूरी तरह कम्युनिस्ट विचारों और नीतियों के प्रचारक के रूप में देखना चाहते हैं?"—चन्द्रिका बाबू और कामाख्या बाबू दोनों से ही बीच-बीच में उसने सीधे प्रश्न किये थे; लेकिन वे लोग हर बार ही उसकी शंका को निराधार बता उसे आश्वस्त करते आये थे। फिर भी शंकर के

करने में उन्हें कामयावी नहीं मिली तो उन्होंने उसे सलाह दी कि एक दिन के लिए वह उस टिप्पणी को रोक रखे। शंकर बुरी तरह झुंझला उठा था उनकी उस गुस्ताख़ी पर, और सख़्ती के साथ ही उन्हें हिदायत दी थी कि प्रूफ़ देखकर उसे ज्यों का त्यों आगे वढ़ा दें...

लेकिन, अगले दिन ही, विहार कम्युनिस्ट पार्टी के एक प्रमुख नेता विश्वनाथ प्रसाद उससे वहस करने उसके दफ़्तर में आ धमके थे और कोई आधे घण्टे तक गरम-गरम लावा उगलने के वाद जव अन्त में विदा हुए थे तव तक भी उनके तेवर चढ़े ही रहे थे।

...स्वाधीन भारत की नेहरू सरकार ने जव से कम्युनिस्ट चीन की नयी सरकार को मान्यता देकर उसके साथ सौहार्द स्थापित करने की कोशिश शुरू की थी तव से सोवियत रूस के साथ भी उसके सम्वन्धों में एक नया मोड़ आया था, ख़ास तौर से जव कि कोरिया-युद्ध के मामले में भारत सरकार ने तटस्थता की नीति अपना कर वैदेशिक मामलों में गुट-निरपेक्ष नीति का परिचय देना शुरू किया था। सोवियत रूस ने भी इधर कुछ समय से भारत की स्वाधीनता का सम्मान करके भारत सरकार की ओर मित्रता का हाथ वढ़ाया था।

और, उसी अनुपात में, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का भी रुख़ वदलता दिखाई पड़ा था, ओर तैलंगाना के किसान विद्रोह की विफलता के वाद तो उसके नेतृत्व और नीतियों में काफ़ी वड़े-वड़े परिवर्त्तन हुए थे, जिनके फलस्वरूप ही उसे जनतन्त्रात्मक पद्धति द्वारा कम्युनिज़म की ओर वढ़ने का रास्ता खुलता दिखाई दिया था और 1952 के आम चुनावों में भाग लेना उसके लिए संभव हो पाया था।

लेकिन भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को आम चुनावों में वहुत ही कम सीटें मिलीं, जिसका प्रमुख कारण, शंकर की राय में, यही था कि वार-वार अपनी नीतियों का परिवर्त्तन करके वह अपनी विश्वसनीयता गँवा चुकी थी; अव भी भारतीय कम्युनिस्टों ने तभी लोकतन्त्रात्मक चुनावों में भाग लिया था जव कि सोवियत रूस ने भारत सरकार के प्रति कुछ मित्रतापूर्ण रवैया अख़्तियार करना शुरू कर दिया था।

रामशरण वावू तक के घर पर होने वाले वाद-विवादों में, जिनमें अक्सर कम्युनिस्ट पार्टी में नये-नये शामिल कुछ वकील भी मौजूद रहते थे, भारतीय कम्युनिस्टों पर अक्सर इस वात को लेकर छींटाकशी होने लगी थी कि वे अपनी हर वदली हुई नीति को वेद-वाक्य की तरह सही मनवाना चाहते थे और उसके विरुद्ध छोटी से छोटी और मित्रतापूर्ण आलोचना तक को वरदाश्त नहीं कर सकते थे। "अभी भी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व नावालिग़ ही वना हुआ है," रामशरण वावू उन गोष्ठियों में उपस्थित कम्युनिस्टों की चुटकी लेते हुए अक्सर

कह दिया करते थे।

कुछ समय पहले कम्युनिस्ट क्षेत्रों में प्रायः ही एक चर्चा चल पड़ी थी जो अत्यन्त 'विश्वस्त और गोपनीय रूप में' ग़ैर-कम्युनिस्ट प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के भी कानों तक पहुँचायी जा चुकी थी। उस चर्चा का सम्बन्ध उस बातचीत से था जो भारतीय कम्युनिस्ट नेताओं ने सोवियत रूस पहुँचने पर स्तालिन के साथ की थी! भारतीय कम्युनिस्टों के बीच भावी नीति सम्बन्धी जो मतभेद उन दिनों चल रहे थे उन्हें जब स्तालिन के सामने रखा गया और उस सिलसिले में किसी ने जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी की 'लाइन' का हवाला देकर अपनी नीति के पक्ष में स्तालिन का समर्थन चाहा—किसी ने फ्रेंच कम्युनिस्ट पार्टी की 'लाइन' का अपने पक्ष में हवाला दिया और किसी ने वैसे ही किसी दूसरी पार्टी की 'लाइन' का—तो कुछ देर तो स्तालिन चुप रहे; फिर उन्होंने पूछा : "और—मेरे दोस्तो, इंडियन लाइन क्या है?"

"इंडियन लाइन है—" इस क़िस्से को अपनी बैठक में सुनाकर रामशरण बाबू अपने सहकारी कम्युनिस्ट वकीलों में से दो-एक की ओर एक व्यंग्यपूर्ण मुसकराहट उछाल कहते, "इंडियन लाइन है—हर दूसरे मुल्क की कम्युनिस्ट पार्टी की आँख मूँद कर नक़ल करना...और जब वह लाइन फ़ेल हो जाये, तो मास्को के दरबार में हाज़िर होकर दस्तबस्ता खड़े हो जाना..."

... ...

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद से ही सोवियत अर्थशास्त्रियों की ओर से यह भविष्यवाणी होती आयी थी कि पूंजीवादी आर्थिक चक्र वाले नियम के अनुसार अमरीका और पश्चिमी यूरोप में शीघ्र ही मन्दी का ज़ोर शुरू होगा जिसके फलस्वरूप 1929 से भी बड़ा आर्थिक संकट उन्हें धर दबोचेगा। किन्तु महायुद्ध की समाप्ति के बाद अमरीका ने पश्चिमी यूरोप तथा संसार के पिछड़े हुए राष्ट्रों की आर्थिक मदद करने की अपनी जिस योजना को धड़ल्ले से कार्यान्वित करना शुरू किया उसके कारण ही, अनेक अर्थशास्त्रियों के अनुसार मन्दी और बेकारी से पूंजीवादी देश बचा लिये गये। कारण जो भी रहा हो इन देशों में शीघ्र ही कम्युनिस्ट क्रान्ति होने के सोवियत रूस के स्वप्न धीरे-धीरे टूटने लग गये थे। फिर, यूरोप के मामलों में हाथ खींच लेने की जो नीति अमरीका ने प्रथम महायुद्ध के बाद अपनायी थी उसकी जगह इस बार उसने यूरोप के ही नहीं पूरी दुनिया के मामलों में सक्रिय दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी और सोवियत रूस तथा कम्युनिस्ट चीन की संयुक्त शक्ति को सम्पूर्ण संसार के लिए ख़तरा मान अपनी युद्ध शक्ति को और भी तेज़ी से बढ़ाना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कम्युनिस्ट गुट के नेता सोवियत रूस को कुल स्थिति पर फिर से विचार करने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा।

तेलंगाना के कम्युनिस्ट किसान-विद्रोह के विफल होने के बाद से धीरे-धीरे शंकर का यह विश्वास दृढ़ होता गया था कि देश की वर्त्तमान स्थिति में हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा समाजवाद की ओर नहीं बढ़ा जा सकता, और यह भी कि वालिग़ मताधिकार के आधार पर होने वाले देशव्यापी चुनावों में भाग लेकर संवैधानिक तरीक़े से आर्थिक क्रान्ति भी लायी जा सकती है। और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी भी जब अन्त में चुनावों में भाग लेकर लगभग उसी नीति का अनुसरण करती जान पड़ी थी तो उसे भारी सन्तोष हुआ था। मार्क्सवाद को अपने देश और काल के अनुरूप गढ़ने की उसके अन्दर ज़बर्दस्त व्याकुलता थी, और सोवियत रूस द्वारा विश्व-शान्ति आन्दोलन छेड़े जाने के बाद से जब भारतीय कम्युनिस्टों ने एक जनतांत्रिक संयुक्त प्रगतिशील मोरचे की आवाज़ उठायी थी तो शंकर ने जागृति में उसका हार्दिक स्वागत किया था।

लेकिन कुछ ही समय बाद उसने यह महसूस करना शुरू किया कि कम्युनिस्टों के वे सारे प्रयत्न एक तरह से सतही और ऊपरी हैं; उनके पीछे न उनका दिल ही है, न एकान्त आस्था ही। संयुक्त प्रगतिशील मोरचे के कार्यक्रम में शंकर की दृष्टि से सत्याग्रह का एक महत्वपूर्ण स्थान था; वह देखता था कि हिंसा को छोड़ देने पर केवल संवैधानिक मार्ग के भरोसे आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करना एक स्वप्न ही बना रह जा सकता है। उसकी राय में सत्याग्रह का मार्क्सवाद के साथ बुनियादी विरोध नहीं था; बल्कि, एक तरह से, वही मार्क्सवाद का भारतीयकरण था। लेकिन कम्युनिस्टों के लिए 'गांधी' और 'सत्याग्रह' अब भी प्रतिक्रियावाद के द्योतक बने हुए थे, और इस बात पर उन लोगों के साथ शंकर का गहरा मतभेद जब-तब तेज़ी के साथ उभड़ आता था।

इस तरह के मतभेदों का एक दूसरा प्रसंग था : नेहरू और कांग्रेस। जागृति में शंकर अपने पाठकों के सामने संयुक्त प्रगतिशील मोरचे की जो तस्वीर पेश करता था उसमें नेहरू के समर्थक कांग्रेसजनों के लिए भी स्थान था—बशर्ते कि वे उसमें शामिल होना चाहें। सरदार पटेल की मृत्यु के बाद जिस तेज़ी के साथ कांग्रेस के अन्दर से उसके दक्षिणपक्षीय नेतृत्व की शक्ति घटती जा रही थी उससे शंकर का उत्साह इस दिशा में और भी बढ़ने लगा था।

"इन चुनावों में कांग्रेस की जो ज़बर्दस्त जीत हुई है उससे देश के प्रगतिशील तत्वों को घबड़ाने की ज़रूरत नहीं है," उसने अपने एक अग्रलेख में उन दिनों लिखा था, "क्योंकि कांग्रेस की इस जीत का सबसे बड़ा कारण था जवाहरलाल नेहरू का व्यक्तित्व और समाजवादी विचारधारा के पक्ष में उनका प्रचार। जिन लोगों ने जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में विश्वास करके कांग्रेस को वोट दिया है उन्होंने, जान कर या अनजाने, सही या ग़लत, समाजवाद को ही वोट दिया है।"

किन्तु कम्युनिस्ट क्षेत्रों में जागृति के इस लेख का, और शंकर का भी, काफ़ी

दिनों तक मज़ाक ही बनाया जाता रहा, सिवा—रामशरण बाबू की बैठक में होने वाली साध्य गोष्ठियों के, जहाँ शंकर को उस तरह के अध्ययनों के लिए उनसे दाद ही दाद मिलती आयी थी, और उनमें उपस्थित जूनियर कम्युनिस्ट वकीलों में से कोई भी उनकी दलीलों का मुकाबला नहीं कर पाता था। "अक्ल का तो आप साहबान के साथ कोई वास्ता ही नहीं है," उस छोटे-से कमरे में, सिगरेट के धुएँ और चाय के प्यालों के बीच उनकी आवाज़ तब कड़क उठती। "दावा तो आप लोगों का यह है कि पीस काउंसिल के प्लेटफ़ार्म पर सारी दुनिया के इंटेलेक्चुअल्स को लाकर कैपिटलिस्ट इम्पीरियलिस्ट ब्लॉक का मुकाबला करेंगे... लेकिन जिन्हें उस प्लेटफ़ार्म पर ला रहे हैं वे किस तरह सोचते हैं—इसकी ओर नज़र ही नहीं!" थोड़ी देर के लिए रुक जाते रामशरण बाबू, कमरे में सन्नाटा छा जाता, जिसके बाद, सिगरेट के कुछ कश और खींच अचानक वह फिर कह उठते, "गांधी आज भी हौआ बना हुआ है तुम लोगों के लिए, जब कि एक उसी शख़्स ने, उस ज़माने में जब कि तुम लोग तो कहीं थे भी नहीं, बिना दुनिया के लोगों की मदद के, दुनिया की सबसे बड़ी पूंजीवादी-साम्राज्यवादी ताकत से लोहा लिया था..." वह फिर रुके; सिगरेट का एक और लम्बा कश खींचा, फिर उसका सारा धुआँ धीरे-धीरे बाहर निकाल देने के बाद और आगे बढ़े : "अरे भाई...आज तो गांधी तुम्हारा कुछ बिगाड़ भी नहीं सकता!...तुम लोगों के मुकाबले तो इन कांग्रेसियों में...और इस जवाहरलाल नेहरू की खोपड़ी में ही...कहीं ज़्यादा अक्ल है—कि काम सारे गांधी की बुनियादी नीतियों के ख़िलाफ़ करेंगे...लेकिन ज़बान से एक उसी का नाम लेते चले जायेंगे!...अरे अक्ल के अंधो, गांधी को अपना ईसामसीह...नहीं-नहीं, अपना लेनिन-स्तालिन ...बनाने से, तुम्हारी इस पीस कौंसिल के प्लेटफ़ार्म की ताकत घटने के बजाय बढ़ेगी ही—इतना भी नहीं दिखाई देता?"

और, इसी सिलसिले में, उस घटना का भी ज़िक्र कर बैठते जो शंकर ने ही एक दिन आकर उन्हें सुनाई थी!

पीस कौंसिल की बिहार शाखा के दफ़्तर के लिए एक नया कमरा तभी-तय लिया गया था, और कार्यकारिणी की अगली बैठक उसी में हुई थी। उस कमरे की एक दीवाल पर स्तालिन की एक बड़ी फ़ोटो थी। स्तालिन के अलावा किसी भारतीय का चित्र वहाँ न होने की बात शंकर को खटकी, और उस दिन की कार्यवाही समाप्त हो जाने के बाद, अनौपचारिक चर्चा के वक्त, यह बात वह कह भी बैठा।

कुछ देर तक दो-चार सदस्यों ने इस सवाल पर सिर भी खपाया—कि ऐसा चित्र किसका वहाँ टांगा जा सकता है।

"कम-से-कम गांधीजी का चित्र लगाने से तो किसी को एतराज़ नहीं होना

चाहिए—पीस कौंसिल के इस दफ़्तर में," आख़िर शंकर ने ही तब सुझाव पेश कर दिया।

लेकिन गांधीजी का नाम उसके मुँह से निकलना था कि एक साथ तीन-चार नौजवान कम्युनिस्ट उसकी ओर इस तरह ताक उठे—शंकर ने रामशरण बाबू से कहा था—"मानो नास्तिकों की बैठक में किसी ने ईश्वर का नाम ले लिया हो..."

"क्या खूब कहा आपने," रामशरण बाबू उसकी यह टिप्पणी सुन जोर से हँस पड़े थे—"नास्तिकों की बैठक में ईश्वर का नाम!"

स्वामीजी को शंकर ने जब यह लिखा था कि—"कुछ कदम, उम्मीद है, जल्द ही उठा सकूंगा—जिससे कि, या तो जागृति ठीक से चले, नहीं तो मैं ही अब इस मोह को छोड़ूं"—तब क्या एक क्षण के लिए भी उसके दिमाग़ में यह बात आ सकी थी कि वह 'मोह' कितना गहरा था और ख़ुद-ब-ख़ुद उसे छोड़ सकना असंभव? किस तरह मोह के दलदल में फिर एक बार वह गरदन तक धँस गया है—यह क्या समय रहते वह देख पाया था? स्वामीजी को वह पत्र लिखते समय जिन कुछ क़दमों को उठाने का उसने संकेत दिया था वे कुल के कुल क़दम उठा लिए जाने पर भी जब जागृति को अपने ढंग से चलाने में वह असमर्थ ही रह गया तब भी क्या उसका मोह छोड़ वह स्वयं उससे अलग हो पाया था? अगले हर क़दम पर उसे आघात पर आघात ही तो लगते चले गये थे; लेकिन, मोह-भंग की ओर बढ़ने के बजाय, उस दलदल में और भी धंसता चला गया था वह, और ऐसे-ऐसे काम तक कर बैठा था जिन्हें पहले वह स्वस्थ चित्त से कभी दिमाग़ में ला तक नहीं सकता था।

पहला आघात, स्वभावतः, कम्युनिस्टों से ही लगना था। मोह के उस दलदल में उस हद तक अगर वह शुरू से ही न फंस चुका होता तो काफ़ी पहले ही यह बात उसे सूझ जानी चाहिए थी कि वे सिर्फ़ उसका इस्तेमाल करना चाहते थे—जागृति को कम्युनिस्ट पार्टी का ही अख़बार बना डालने के लिए! और सो भी बिना कुछ किये-धरे।

...ठीक उन्हीं दिनों, जबकि वह कम्युनिस्ट पार्टी से जागृति का सर्कुलेशन बढ़वाने में मदद पाने की कोशिशों में लगा हुआ था, एकबार, अवश्य अनौपचारिक रूप में, उसके दिल को टटोलने की कोशिश की गयी थी: क्या वह कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य बनना पसन्द करेगा? उस अवस्था में शुरू से ही उसे पूरी सदस्यता भी मिल जाने को थी, और उसे छिपाकर भी रखा जाता।...उस 'ऑफ़र' को अगर उसने स्वीकार नहीं किया था तो केवल इसलिए कि वह अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को हर तरह से क़ायम रखना चाहता था—हालांकि इस बात से उसने अपने को कम सम्मानित भी नहीं महसूस किया था कि उसे शुरू से ही पूरी

सदस्यता मिल सकती थी।

क्या उसके दिल में एक बार भी तब यह ख़याल आया था कि यह ऑफ़र भी एक चाल के रूप में ही था—उसके सम्पादकीय लेखों पर अंकुश लगाने के लिए ?

उस वक़्त तो अनजाने ही वह उस चाल में फँसने से बच गया था : वह एक चाल ही थी इसका तो दरअसल उसे कभी पता भी न चल पाता अगर कम्युनिस्टों से जागृति की बाबत साफ़-साफ़ बात कर डालने का आख़िर उसने फ़ैसला न कर लिया होता—अपने अगले क़दम के रूप में।

एक दिन आख़िर साफ़-साफ़ बात हुई—उसी के घर आयोजित एक छोटी-सी चाय-गोष्ठी में। बिहार की कम्युनिस्ट पार्टी के दो अन्य प्रमुख सदस्यों—मार्कण्डेय सिंह और विश्वनाथ प्रसाद—के अलावा उस गोष्ठी में निमन्त्रित थे जागृति की प्रबंध समिति के भी दोनों कम्युनिस्ट सदस्य, कामाख्या बाबू और चन्द्रिका बाबू; प्रधान समाचार सम्पादक श्रीकान्त बाबू; जागृति के कम्युनिस्ट उप-सम्पादक विनायक शर्मा; और, स्वभावतः, विद्याभूषण भी। रामशरण बाबू को भी आमन्त्रित किया गया था, लेकिन अचानक बीमार पड़ जाने की वजह से वह नहीं आ सके थे।

रामशरण बाबू के न रहने से शंकर की मुश्किल ज़रूर बढ़ गयी, लेकिन धीरे-धीरे जब बात चल निकली तब विद्याभूषण ख़ुद ही यह सीधा और साफ़ प्रश्न कर बैठे कि सर्कुलेशन बढ़वाने में उन लोगों को पार्टी के कार्यकर्त्ता कब और कितना सहयोग देने जा रहे हैं। शंकर ने देखा कि मार्कण्डेय सिंह और विश्वनाथ प्रसाद दोनों ही फिर भी गोलमोल-से ही जवाब दिये जा रहे हैं; और तब वह भी अपने ऊपर और अधिक नियन्त्रण नहीं रख सका और उन दोनों कम्युनिस्ट नेताओं की ओर अपनी नज़र उठा, साफ़-साफ़ शब्दों में ही पूछ उठा, कि जागृति की सम्पादकीय नीति के बारे में उनके क्या विचार हैं ?...वे लोग उसे संयुक्त प्रगतिशील मोरचे के अनुरूप मानते हैं या नहीं ?...

उसने देखा कि उसके उस सीधे सवाल से जहाँ मार्कण्डेय सिंह कुछ सहमे से दिखाई दिये, वहाँ विश्वनाथ प्रसाद के चेहरे पर उसी दम एक तनाव आ गया।

लेकिन तब तक शंकर ख़ुद भी सम्हल चुका था, जो प्रश्न उसने ज़रा जल्दबाज़ी में और उत्तेजना से आकर कर डाला था उसका सही और पूरा जवाब उन कम्युनिस्ट नेताओं की ज़बान से निकलवा लेने के लिए जिस संयम और होशियारी की ज़रूरत थी उसके लिए अब उसने अपने को तैयार कर लिया। अब वह ख़ुद ज़्यादातर चुप ही रहेगा—उसने मन ही मन तय कर डाला, उनके दिल की बात बाहर निकलवा लेने के लिए क्या-कुछ करना ज़रूरी है, इसी पर उसने अपना

चित्त एकाग्र कर दिया...

उसकी इस प्रच्छन्न योजना में फिर मदद मिल गयी प्रधान समाचार-सम्पादक श्रीकान्त बाबू से—जिनसे कभी-कभी वह सम्पादकीय लेख और टिप्पणियाँ भी लिखाता आया था।

शंकर के उस सीधे साफ़ प्रश्न के बाद थोड़ी देर तक जब कोई भी कुछ नहीं बोला था, तो श्रीकान्त बाबू से शायद रहा नहीं गया। "जागृति के सर्कुलेशन के घटने की और चाहे जो भी वजहें हों," वह भी उन्हीं दोनों कम्युनिस्ट नेताओं की ओर ताकते हुए कह उठे, "लेकिन सम्पादकीय नीति की तो हर जगह तारीफ़ ही तारीफ़ है!...पटने के इंटेलिजेंशिया में तो एक जागृति के ही सम्पादकीय लेखों की चर्चा होती है और इसे एक ऐसा अख़बार माना जाता है जो सचमुच स्वतंत्र है...जो किसी भी लकीर पर चलना नहीं पसन्द करता..."

द्वितीय कम्युनिस्ट नेता विश्वनाथ प्रसाद को शंकर ने कुरसी पर दो-एक बार जगह बदलते देखा; और, शायद वह कुछ बोलने ही जा रहे थे, कि उप-सम्पादक विनायक शर्मा, जिनके भी नथुने इधर फड़कने लग गये थे, श्रीकान्त बाबू पर जैसे टूट ही पड़े:

"आप जिसे इंटेलिजेंशिया कहते हैं श्रीकान्त बाबू, वे लोग न मार्क्सवाद की बाबत कुछ जानते हैं...न उनमें प्रगतिशीलता और प्रतिक्रियावाद के बीच के अन्तर को कुछ गहराई के साथ समझने की तमीज है..."

कुछ देर तक तो फिर न शंकर को ही कुछ कहने की ज़रूरत पड़ी और न उन कम्युनिस्ट नेताओं को ही; विनायक शर्मा और श्रीकान्त बाबू के बीच ही एक छोटा-मोटा युद्ध छिड़ा रहा कुछ देर तक।

फिर, दोनों ओर से ही जब काफ़ी-कुछ कह डाला गया, और विनायक शर्मा के हर वार को अपने ही ऊपर हुआ वार मानते हुए भी शंकर, अपनी ओर से कुछ भी न कहने की अपनी योजना के अनुसार, चुपचाप ही जब उन्हें सहता चला गया, तब जाकर ही शायद मार्कण्डेय सिंह के लिए अपना मुँह खोलना ज़रूरी हो उठा। गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे; बिहार के कम्युनिस्टों में सबसे अधिक अध्ययनशील और मननशील माने जाते थे।

"आप दोनों के बीच हुई इस बहस को मैं बड़ी दिलचस्पी लेकर सुन रहा था," अपने सहज गंभीर स्वर किन्तु मन्दी आवाज़ में वह धीरे-धीरे बोले। "सवाल तो यहाँ सिर्फ़ इतना है कि हमारी पार्टी के वर्कर्स अगर जागृति का प्रचार करने के लिए मैदान में आते हैं तो...जागृति के किसी-किसी अग्रलेख या टिप्पणी की बाबत चर्चा छिड़ने पर...वे उसे डिफ़ेंड कर पाते हैं या नहीं...माकूल जवाब दे पाते हैं या नहीं।...यही वजह है..."

लेकिन इस वाक्य को पूरा करने की ज़िम्मेदारी अचानक, और बीच में ही,

ने ली उनके सहयोगी विश्वनाथ प्रसाद ने, जिन्हें उनकी पार्टी में भी एक प्रकार से उद्धत और मुँहफट ही समझा जाता था।

"...यही वजह है कि अभी तक हम लोग वह क़दम नहीं उठा सके हैं," अपनी आवाज़ में एक हद तक सख्ती लाकर वह बोले, "जिसकी रामशरण बाबू ने हमसे उम्मीद की थी...और जिसके लिए हमने—"

लेकिन उन्होंने वह वाक्य पूरा नहीं किया, क्योंकि मार्कण्डेय सिंह का हलका-सा हाथ तभी उनकी पीठ पर जा पड़ा था—किसी इशारे के तौर पर।

और अब जाकर ही शंकर ने भी अपना मुँह खोलना ज़रूरी समझा।

"हम लोग भी तो आज...इसीलिए न यहाँ इकट्ठे हुए हैं...मार्कण्डेय बाबू," विश्वनाथ प्रसाद की उपेक्षा ही करते हुए वह बोला, "कि वह मदद किस तरह मिल सकती है।...हमारी ओर से ही अगर कोई कमी है...तो उसे जानकर हम भी उसे कैसे दूर कर सकते हैं...प्रगतिशील मोरचे और पार्टी की लाइन के बीच के अन्तर को किस हद तक और किस तरीक़े से कम किया जा सकता है...इन सभी बातों पर अगर दिल खोलकर हम लोग आज बात कर सकें—तो हमें भी अपना रास्ता साफ़ दिखाई देने लगेगा...और आप लोगों के रास्ते से भी कठिनाई दूर हो जायेगी..."

वह चुप हो गया।

उसने देखा, विश्वनाथ प्रसाद उसी दम कुछ कह डालने के लिए फिर उतावले हो रहे थे, लेकिन शायद मार्कण्डेय सिंह की ओर से किसी इशारे के इंतज़ार में थे।

कि तभी कम्युनिस्ट उप-सम्पादक विनायक शर्मा बोल उठे.

"मेरी राय में तो सोवियत पोलितब्यूरो जैसी कोई कमेटी होनी चाहिए—सम्पादकीय नीति पर अन्तिम निर्णय देने के लिए।...कुछ लोगों की एक समिति..."

यह सुनना था, कि शंकर का पारा उसके सिर तक जा चढ़ा। लेकिन, अपने भाव-प्रदर्शन पर उसने कसकर लगाम लगायी।

आखिर मार्कण्डेय सिंह को ही फिर बोलने के लिए विवश होना पड़ा.

"कोई कम्युनिस्ट पार्टी का दफ्तर तो है नहीं यह...कि यहाँ भी उसके तरीक़े से काम होगा...कि कोई पोलितब्यूरो बनेगा..."

"नहीं, आपका यह जवाब माकूल नहीं है मार्कण्डेय बाबू," शंकर ने तब बीच में ही उन्हें रोक दिया। "सवाल यह है...कि क्या इस तरह की कोई समिति कायम की जा सकती है?...क्या यह सुझाव सचमुच व्यावहारिक हो सकता है?...अगर हो सकता है तो...तो उस पर विचार तो ज़रूर हो जाना चाहिए!"

"इसमें क्या मुशकिल है?" द्वितीय कम्युनिस्ट नेता विश्वनाथ प्रसाद उसी दम जैसे उछल पड़े! "तीन-चार इंटेलेक्चुअल्स की एक कमेटी इस काम के लिए आसानी से क़ायम की जा सकती है जिसमें...दो-तीन सदस्य आपके सम्पादकीय विभाग के ही रहें...और...और—क्यों मार्कण्डेय बाबू, अपने यहाँ से किसी को घंटे दो घंटे के लिए रोज़ यहाँ नहीं भेज दिया जा सकता...इस काम में मदद करने के लिए?" और मार्कण्डेय सिंह की ओर पूरे उत्साह के साथ ताक उठे।

"हो सभी सकता है, लेकिन—" मार्कण्डेय सिंह ने एक बार विद्याभूषण की ओर देखा, और एक बार शंकर की ओर; फिर आगे बढ़े: "लेकिन—सम्पादक और प्रधान सम्पादक की राय से ही तो वह समिति चुनी जा सकती है।...अगर आप लोग चाहें—तो कल-परसों किसी दिन हम लोग...आपस में मिलकर, ज़रा और विस्तार से सारी बातें कर लेंगे।...तब तक आप लोग भी और विचार कर लीजिये...कि कोई दूसरा—ज्यादा आसान रास्ता भी...निकल सकता है या नहीं!"

उसके बाद भी दस-पन्द्रह मिनट तक और चली वह गोष्ठी, पर शंकर को कुछ पता नहीं कि कौन-कौन क्या बोलते गये उसके बाद। जहाँ तक उसका सवाल था, उसे उन लोगों के दिल की बात उगलवा लेने में पूरी सफलता मिल गयी थी—जिसके बाद की बातचीत में न उसकी दिलचस्पी रह गयी थी, न उसे सुनने लायक़ मन की स्थिति ही।

आख़िर सभी लोग उठकर खड़े हो गये और गोष्ठी ख़तम हुई। और, अपने अन्दर की दुनिया से अचानक ही उस कमरे में लौटते हुए शंकर ने देखा—कि विनायक शर्मा और विश्वनाथ प्रसाद के चेहरों पर जहाँ उत्साह ही उत्साह था, वहाँ श्रीकान्त बाबू का चेहरा बिलकुल ही लटक गया था; और, विद्याभूषण के चेहरे पर जहाँ किसी हद तक खिन्नता थी वहाँ साथ ही एक अचरज का-सा भी भाव। शंकर ने लक्ष्य किया था कि उस बातचीत के आख़िरी दौर में उनकी आँखें एक प्रश्न-सूचक मुद्रा में बार-बार उसकी ओर उठ गयी थीं और उसके चेहरे में कोई सन्तोषजनक जवाब न खोज पा फिर वापस लौट गयी थीं...

शाम हो चुकी थी और बाहर आने पर एक-एक करके सभी लोग विदा हो गये।...शंकर अकेला ही कुछ देर खड़ा रह गया बाहर मैदान में, कि तभी उसने देखा, अपने अन्य कम्युनिस्ट साथियों के साथ-साथ सड़क की ओर बढ़ जाने के बाद भी कामाख्या बाबू, उनका साथ छोड़, उसीकी ओर लपके चले आ रहे हैं।

"आप अभी यहीं रहेंगे न, उदयजी?" आते ही वह जल्दी-जल्दी उससे बोले। "मैं अभी आ रहा हूँ...अकेले में आपसे बात करनी है।"

कमरे के अन्दर उस बातचीत ने जब आख़िरी मोड़ लिया था तब—शंकर को

अब अचानक ख़याल आया—एक वही थे जिन्होंने [illegible] के अन्दर के दबे हुए ज्वालामुखी की कोई झलक पा ली थी; [illegible] नज़र कई बार उसकी ओर उठ-उठ गयी थी...

दस-बारह मिनट से ज़्यादा नहीं बीते होंगे [illegible] चहल-क़दमी करते, कि कामाख्या बाबू को फिर [illegible] देखा।

"आप यह ज़रा भी न ख़याल करें शंकरजी," [illegible] कंधे पर एक दोस्ताना हाथ रखते हुए वह बोले, "कि...[illegible] यानी...जागृति की सम्पादकीय आज़ादी पर...[illegible] कंट्रोल लगाना चाहते हैं!...आपका यह [illegible] है...और हमारा यह विश्वनाथ प्रसाद भी एक ही [illegible] है..."

लेकिन शंकर ने उन्हें और आगे बोलने नहीं दिया। "[illegible]," उन्हें बीच में ही रोक वह कह उठा, "जो बात इन [illegible] तौर पर सामने आ गयी...वही दरअसल आपकी पार्टी का [illegible] और असली रूप है!...मार्कण्डेय बाबू के अन्दर अभी ख़ानदानी [illegible] है जिसकी वजह से वह उसी बात को थोड़ा [illegible]...और आप भी अब उसी को 'शुगर कोटेड पिल' के तौर पर मेरे सामने रख रहे हैं।...नहीं, नहीं, किसी बुरी नीयत से नहीं, बल्कि मेरे दर्द को [illegible] लगाने के लिए—"

"मेरी बात तो सुनिये पूरी...इतनी जल्द कोई फ़ैसला मत कर डालिये," भावावेश में आकर कामाख्या बाबू ने शंकर को अपनी दोनों बाँहों में जकड़ लेना चाहा।

लेकिन शंकर ने भी धीरे-धीरे उनकी बाँहों से अपने को अलग करके अपना वह फ़ैसला उन्हें आख़िर सुना ही डाला जिसके लिए, [illegible], वह भी किसी ठीक मौक़े की तलाश में था।

"मेरे लिए जागृति का क़ायम रहना कहीं ज़्यादा ज़रूरी है कामाख्या बाबू," न चाहने पर भी उसका गला भर्रा-सा उठा, "और इस क़ीमत पर भी अगर उसका सर्कुलेशन बढ़ाने में आपकी पार्टी की मदद निर्भर है तो मैं उसमें किसी हालत में भी बाधक नहीं बनने जा रहा हूँ।...लेकिन उसके साथ ही साथ पत्रकार के नाते मेरा यह जीवन भी अगर ख़त्म होता है, तो यह मेरी लाचारी है..."

"नहीं-नहीं...यह क्या कह रहे हैं आप शंकरजी!" कामाख्या बाबू सचमुच ही शायद व्याकुल हो उठे। "आपकी ही वजह से तो हम लोगों की जागृति में दिलचस्पी है...आप ही नहीं रहेंगे तो हमें इसमें क्या लेना-देना है?...इतना बड़ा फ़ैसला आप न करें...एक बार सिर्फ़ एक्सपेरिमेंट करके देखें। मैं आपको

यक़ीन दिलाता हूँ...कि हमारी पार्टी के दफ़्तर से जिसे यहाँ भेजा जायेगा वह प्रगतिशील मोरचे की ही लाइन लेगा, पार्टी की लाइन नहीं...और जिन मामलों में आप दोनों के बीच...बहस के बावजूद...कोई मतभेद रह जायेगा, उस पर हम लोग फिर विचार करेंगे।...सिर्फ़ तब तक के लिए वैसी किसी टिप्पणी को रोक रखियेगा—" और इस तरह उसकी ओर ताक उठे मानो इसके बाद तो शंकर के लिए शिकायत की कोई गुंजाइश रह ही नहीं सकती।

"शुक्रिया आपकी मेहरबानी के लिए, कामाख्या बाबू," शंकर ने और ज्यादा बात करना फ़ज़ूल समझ कुछ रूखी ही आवाज़ में उनसे कहा। "विद्याभूषणजी से मैं बात कर लेता हूँ...अगर इस नयी व्यवस्था के लिए वह राज़ी होंगे तो जागृति कल से उनकी और आप लोगों की होगी, और मैं..."

"नहीं-नहीं...यह क्या कह रहे हैं—" कहते ही रह गये कामाख्या बाबू, लेकिन शंकर उन्हें वहीं मैदान में खड़ा छोड़ बरामदे की ओर बढ़ गया।

... ...

पहले शंकर ने विद्याभूषण से बात की—कम्युनिस्टों के उस प्रस्ताव की बाबत। और, यह देख उसे सन्तोष हुआ कि उन लोगों की वह शर्त उन्हें भी मंज़ूर नहीं थी। फिर रामशरण बाबू के सामने उस दिन का पूरा विवरण पेश किया, और साथ ही कामाख्या बाबू से हुई अपनी उस आख़िरी बातचीत का भी।...उसने देखा, बीमारी की उस हालत में भी रामशरण बाबू, वह सब सुन-कर, बुरी तरह उत्तेजित हो उठे। "हफ़्ता दस दिन ठहरिये आप," बिस्तर पर से तकिये के सहारे उठकर बैठने की कोशिश करते हुए वह बोले : "मुझे ज़रा अच्छा हो जाने दीजिये—"

शंकर ने उन्हें आगे कुछ भी नहीं कहने दिया; ज़ोर देकर फिर लिटा दिया—क्योंकि डाक्टर ने इसकी सख़्त मुमानियत कर रखी थी...

लेकिन—कम्युनिस्टों की नीयत का साफ़ पता लग जाने मात्र से शंकर की समस्या तो हल होती नहीं थी। रामशरण बाबू के अच्छे होने तक के अगले आठ-दस दिन उसने बड़ी ही बेचैनी में गुज़ारे—जिसके बाद, रामशरण बाबू के सामने अपनी वह योजना रखी जो पहले भी कई बार उसके दिमाग़ में आ चुकी थी, लेकिन जिसे उसने आख़िरी और अनिवार्य क़दम के तौर पर ही रख छोड़ा था।

कुछ महीने पहले, जागृति के कम्पनी वाले रजिस्टरों के पन्नों को किसी दूसरे सिलसिले में उलटने-पलटने पर अचानक उसे यह दिखाई दिया था कि दस-दस रुपये वाले उसके सभी आर्डिनरी शेयरों की सिर्फ़ आधी ही रक़म वसूल

हुई है; वाकी आधी, यानी पाँच रुपया प्रति शेयर, वसूल ही नहीं की गयी है। कम्पनी के नियमों का अध्ययन करने पर उसने पाया कि शेयर बेचते समय शुरू में उसकी आधी रकम ही पहली क़िस्त के रूप में वसूल की जाने को थी; बाकी आधी रकम एक वर्ष बाद कभी भी एक या दो किस्तों में माँगी जा सकती थी—जिसके बाद अगर छ. सप्ताह के अन्दर वह नहीं जमा कर दी गयी तो कम्पनी को अधिकार था कि उन शेयरों को जब्त कर ले, या जिन लोगों को भी चाहे, बक़ाया रकम लेकर, ट्रांसफ़र कर दे।

शंकर को ताज्जुब जरूर हुआ था कि कई हज़ार रुपयों की वह रकम विद्याभूषण तब तक छोड़े क्यों रहे थे—कई साल बीत चुकने पर भी। पर वजह चाहे जो भी रही हो—यह बकाया रकम उसे एक वरदान के रूप में ही लगी।

रामशरण बाबू ने जब यह सारा मामला देखा और समझा, तो बोले :

"मान लीजिये, सभी शेयर-होल्डरों से आपने हर शेयर पर पाँच रुपये की बकाया रकम माँगी, लेकिन अदा किसी ने भी नहीं की...तब क्या होगा?...आप उनके शेयर जब्त कर लेंगे—यही न? मगर आपको क्या मिलेगा? यानी, जागृति को?"

शंकर को जबर्दस्त धक्का लगा। क्या उसका इतना बड़ा आविष्कार बेकार ही चला जायगा?

लेकर फिर रामशरण बाबू ने ही उसे सर्वेश्वर बाबू के सामने ये सारी बातें रख देने की सलाह दी, और सर्वेश्वर बाबू ने सब-कुछ सुनकर कहा कि वह जरा विद्याभूषण से इसकी चर्चा करके देखे, और फिर उनकी पूरी प्रतिक्रिया उन्हें बताये।

शंकर के आश्चर्य की सीमा नहीं रही जब उसकी यह बात सुनते ही विद्याभूषण बुरी तरह घबड़ा गये और यह क़दम उठाने से उसे हर तरह से रोकना चाहा।

"लेकिन क्यों?...इसमें आपको आपत्ति क्या है?" शंकर ने खीझकर पूछा।

"नहीं उदयजी, ऐसा मत कीजिये," वह सिर्फ़ यही दोहराते चले गये, "मैं कहीं का नहीं रह जाऊँगा..."

"मगर बात क्या है?" शंकर का अचरज और भी बढ़ता गया।

"...रुपया तो कोई भी नहीं देगा, उलटे मुझी को दोष देगा," बड़े ही दीन स्वर में उन्होंने कहना जारी रखा। "जिन्होंने रुपया दिया था, मदद के तौर पर ही दिया था...एक तरह से दान के ही तौर पर। कभी उनसे और रकम भी माँगी जायेगी—यह बात न तो उनसे कही गयी थी, न मेरा ही कोई ऐसा इरादा था।...मगर आप बाकी रकम की अदायगी का नोटिस हर्गिज़ न भेजें उदयजी...इतनी बात आप मेरी ही ख़ातिर मान जाइये—"

भारी उलझन में पड़ा शंकर, लेकिन विद्याभूषण से इस मामले में और कुछ भी नहीं जान पाया।

"बिज़िनेस की इन सारी चालों को आप नहीं समझेंगे भाई उदयशंकर जी," सारी बात सुनकर सर्वेश्वर बाबू उससे बोले : "ख़ुद अपना रुपया पूंजी के तौर पर लगाये बिना शेयर बेचकर कम्पनी पर किस तरह कब्जा किया जाता है इसके तरह-तरह के हथकण्डे हैं...और उन्हीं में से एक यह है।...आप दीजिये नोटिस, और फिर इन सारे शेयरों को जिन लोगों को चाहे ट्रांसफ़र करके आप...यानी हम लोग ही, अब कम्पनी के मालिक बन जा सकते हैं।...विद्याभूषण जी और उनके बेनामियों की तब शेयर-होल्डरों में मेजारिटी ही नहीं रहने पायेगी... और धीरे-धीरे जागृति के कर्मचारियों को ही मैजारिटी शेयर ट्रांसफ़र कर देने पर उसे एक सहकारी कम्पनी बना डालने का आपका...और हम लोगों का... वह सपना भी कोरा सपना नहीं रह जायेगा..."

... ...

लेकिन इस बीच एक नया ही गुल खिला।

कम्पनी के शेयर-होल्डरों को दिये जाने वाले नोटिस तैयार होने शुरू ही हुए थे, कि जागृति की प्रबन्ध समिति के तीन सदस्यों की ओर से समिति की एक 'रिक्वीज़ीशंड' मीटिंग बुलाये जाने की नोटिस उसे मिली। नोटिस वाली इस चिट्ठी पर दस्तख़त करने वाले थे—सूर्यवंशी सिंह, रामवृक्ष सिंह और विनोद मिश्र। विनोद मिश्र तो ख़ैर थे ही विशुद्ध रूप से विद्याभूषण के पक्ष के प्रतिनिधि; लेकिन बाक़ी दोनों ही सदस्य केवल शंकर की इच्छा से समिति में रखे गये थे और उन्हें वह अपना ही समर्थक मानता था। और, समिति की 'बुलाई गयी' बैठक के लिए प्रस्तावित एजेंडा था : प्रबन्ध समिति की विफलता पर विचार।

जो पहली बात शंकर के दिमाग़ में इस चिट्ठी को पढ़ते ही कौंध गयी वह यह कि निश्चय ही प्रबन्ध समिति में बहुमत उसके ख़िलाफ़ हो गया है, और विद्याभूषण के पक्ष में। विनोद मिश्र का हस्ताक्षर तो बिना विद्याभूषण की प्रेरणा के हो ही नहीं सकता था; लेकिन रामवृक्ष सिंह और सूर्यवंशी सिंह भी कब और कैसे विद्याभूषण के साथ मिल गये—इस आघात के प्रथम क्षण में तो यह बात वह नहीं समझ पाया, लेकिन कुछ देर के विचार के बाद इसे समझने में भी कोई मुशकिल नहीं हुई।

बाबू रामवृक्ष सिंह ने तो उसी दिन के बाद से जागृति में दिलचस्पी लेना छोड़ दिया था जिस दिन प्रबन्ध समिति में सर्वेश्वर बाबू के सामने उनकी पोल खुल गयी थी। तब से न एक बार भी वह शंकर से मिले थे, न प्रबन्ध समिति की किसी बैठक में शामिल हुए थे।

सदस्यता खारिज कर दी गयी जिन्होंने प्रबन्ध समिति में दिलचस्पी लेना छोड़ दिया।"

लेकिन शुक्लजी के चले जाने के बाद जब विद्याभूषण ने उस पर एक रोज सीधा ही वार कर दिया, यह कहकर कि—"वह बैठक हुई ही नहीं थी उदय-जी...सारी कार्यवाही बनावटी लिखी गयी है...जाल किया गया है," और यह भी, कि "आपसे इस तरह के काम की मैं सपने मे भी उम्मीद नहीं कर सकता था—" तो शंकर ने भी वह बात, अब अकेले में, उनसे छिपाकर रखने की कोई जरूरत नहीं समझी।

"देखिये भूषणजी," पूरे सहज स्वर में ही वह बोला, "लड़ाई आपने छेड़ी है...और आप जानते ही हैं कि लड़ाई का जवाब लड़ाई ही होता है।...आप भी, फिर, सभी कुछ के लिए अब तैयार रहिये..."

और उसी दम वहां से चला गया।

शंकर और चन्द्रिका बाबू दोनों ने मिलकर तब, किसी गहरे षड्यन्त्र की योजना बनाने वालों की ही तरह, कुछ देर तक अपने-अपने दिमाग़ को पूरी छूट दे डाली, और आख़िर जो फ़ार्मूला तैयार किया वह यह था :

(1) प्रबन्ध समिति की कार्यवाही वाले रजिस्टर में कुछ दिन पहले हुई बैठक की झूठी कार्यवाही लिख ली जाय—जिसमें उक्त नियम के अनुसार, उन तीनों सदस्यों की सदस्यता को, जो कि लगातार पिछली तीन बैठकों में बिना सूचना दिये अनुपस्थित रहे थे, ख़ारिज कर दिया जाय; (2) वह बैठक एक ऐसी तारीख़ को हुयी दिखायी जाय जब कि विद्याभूषण शहर से बाहर थे; (3) उस बैठक की सूचना वाले पत्र सभी सदस्यों को समय रहते भेज दिये गये थे—यह बात प्रमाणित करने के लिए चन्द्रिका बाबू जागृति पोस्ट आफ़िस से 'सर्टिफ़िकेट आफ़ पोस्टिंग' वाले फ़ार्मों पर पिछली तारीख़ की मोहर लगवाकर रख लें।

शंकर के दिमाग़ में जैसे एक इंजन चल रहा था...उसका सारा अस्तित्व जैसे अपने ही एक दूसरे अस्तित्व से बेख़बर था...क्रोध, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध की भट्टी उसके अन्दर जैसे दिन के चौबीसों घण्टे जलती रही थी...

अगले ही दिन इस फ़ार्मूला पर रामशरण बाबू, सर्वेश्वर बाबू और कामाख्या बाबू की स्वीकृति ली गयी—जिसके बाद 'प्रोसीडिंग्स बुक' में उस बैठक की कार्यवाही लिखकर उस पर चेयरमैन सर्वेश्वर बाबू के दस्तख़त करा लिये गये।

सारी कार्रवाई जब पूरी हो गयी तब सेक्रेटरी के नाते शंकर ने मीटिंग रिक्वीज़ीशन करने वालों को इस बात की ख़बर दी कि अमुक तारीख़ की बैठक में उन लोगों की सदस्यता ख़ारिज की जा चुकी थी।

फिर, एक नयी मीटिंग की सूचना जारी कर दी।

और शंकर पूरे एक नशे में ही रहा—इस कार्रवाई के दौरान।

अगली बैठक होने पर विद्याभूषण और उनके मित्र शुक्लजी ने उस पिछली बैठक की कोई सूचना न मिलने की शिकायत की। चेयरमैन सर्वेश्वर बाबू ने बड़ी ही गम्भीरता और शिष्टता के साथ उन दोनों की ओर तब वह प्रोसीडिंग्स बुक बढ़ा दी। और इस बीच मानो शंकर के अन्दर बैठा कोई शरारती लड़का ऊपर-ऊपर से संजीदगी ज़ाहिर करता अन्दर ही अन्दर अपनी उस करतूत का मजा लेता रहा। एक बार भी तो—क्षण-भर के लिए भी—उसका अन्तः-करण काँप नहीं उठा, कि उसने यह क्या कर डाला!

परम गम्भीरता के वातावरण में जब बैठक ख़त्म हो गयी, और उसके बाद शुक्लजी और विद्याभूषण ने उसे अकेले में पाकर सच-सच जानना चाहा कि बात क्या थी, तब भी उसने बहुत ही आसानी से कह दिया : "बात क्या होगी ?...आप लोग आये ही नहीं थे उस बैठक में।...सब लोगों की राय से उन सदस्यों की

सदस्यता खारिज कर दी गयी जिन्होंने प्रबन्ध समिति में दिलचस्पी लेना छोड़ दिया।"

लेकिन शुक्लजी के चले जाने के बाद जब विद्याभूषण ने उस पर एक रोज सीधा ही वार कर दिया, यह कहकर कि—"वह बैठक हुई ही नहीं थी उदयजी...सारी कार्यवाही बनावटी लिखी गयी है...जाल किया गया है," और यह भी, कि "आपसे इस तरह के काम की मैं सपने में भी उम्मीद नहीं कर सकता था—" तो शंकर ने भी वह बात, अब अकेले में, उनसे छिपाकर रखने की कोई जरूरत नहीं समझी।

"देखिये भूषणजी," पूरे सहज स्वर में ही वह बोला, "लड़ाई आपने छेड़ी है...और आप जानते ही हैं कि लड़ाई का जवाब लड़ाई ही होता है।...आप भी, फिर, सभी कुछ के लिए अब तैयार रहिये..."

और उसी दम वहाँ से चला गया।

... ...

कितनी तेजी के साथ चल पड़ा था उसके बाद वाला घटनाचक्र। विद्याभूषण से पिछली बात उसने जिस गर्व के साथ कही थी वह कितना थोथा और बेबुनियाद था, इसकी क्या कल्पना तक कर पाया था शंकर उस दिन? उसका ख़याल था कि लड़ाई की चुनौती को स्वीकार करके ही उसने आखिरी मोरचा फ़तह कर लिया था। लेकिन विद्याभूषण के, या उन दिनों उनके सबसे अधिक विश्वस्त सलाहकार बन-उठे सूर्यवंशी सिंह के, तरकश में कैसे-कैसे जबर्दस्त तीर भरे पड़े थे, यह बात वह या उसके दूसरे साथी कहाँ भाँप पाये थे!

चार-पाँच दिन भी नहीं बीते, कि तीन दिन बाद से शुरू होने वाली हड़ताल की एक बाकायदा नोटिस मिली शंकर को—जागृति के कम्पोजिटरों और मशीन विभाग के कर्मचारियों की ओर से। वेतन-वृद्धि के अलावा और भी कितनी ही सम्भव-असम्भव माँगों से भरा हुआ था हड़ताल वाला उनका अलटीमेटम।

सारी कोशिशें बेकार हुईं—हड़ताल की नोटिस देने वालों के प्रतिनिधियों को समझाने-बुझाने की, और सबसे ज्यादा ताज्जुब तो शंकर को तब हुआ जब कि जागृति को उसके कर्मचारियों की ही एक सहकारी संस्था में परिणत कर देने और उन्हें ही सामूहिक रूप से उसका स्वत्वाधिकारी बना देने की उसकी योजना सुनकर वे लोग उससे न तो प्रभावित ही हुए, न उसमें उन्होंने कोई दिलचस्पी दिखलायी।

आखिर हड़ताल जब शुरू हो गयी और हड़तालियों ने उसके सामने काले झंडों का प्रदर्शन करते हुए 'उदयशंकर मुर्दाबाद' के नारे लगाने शुरू कर दिये, उसे यह समझते जरा भी देर नहीं लगी कि वह अपनी पूरी बाजी हार गया है। उसके सारे सपने एक क्षण में ही धूल में मिल गये: उसे लगा कि महाभारत के

अन्त में जिस तरह कृष्ण को अपनी ही आँखों अपने यादव कुल का विनाश देखना पड़ा था और उसकी रक्षा करने में अपने को उन्होंने सहसा ही सर्वथा असमर्थ पाया था, बहुत कुछ वैसी ही दशा आज उसकी थी...

उस एक क्षण में ही, उस क्षण के भी शतांश में ही, शंकर के अन्दर कुछ टूट गया था...उसके अन्दर एक फ़ैसला हो चुका था, जिसके वाद फिर जो-कुछ हुआ कुछ दिन और, उसमें उसकी कोई दिलचस्पी नहीं रही।...चन्द्रिका वावू के आग्रह पर और रामशरण वावू का भी टेलीफ़ोन पाकर उनके यहाँ गया वह ज़रूर, लेकिन जो कुछ वातें वहाँ हुई उनमें क़रीव-क़रीव वरावर एक तटस्थ श्रोता जैसा ही वना रहा...

रामशरण वावू की बैठक में घंटों तक सलाह-मशविरा चला। उन्होंने और चन्द्रिका वावू ने शंकर के सामने अव भी एक काफ़ी आशाजनक तस्वीर खींचने की कोशिश की : हड़ताल की उपेक्षा की जायेगी, जिस वीच, शेयरहोल्डरों को शेयर के वक़ाये का आधा—ढाई रुपया प्रति शेयर—अदा करने की नोटिस दे दी जायेगी...साथ ही, कोटे का अख़वारी काग़ज़ ख़रीद उसे 'ब्लैक' में वेचकर मुनाफ़े की रक़म से जागृति का घाटा पूरा कर डाला जायेगा—जिस ओर कुछ दिनों से ख़ुद शंकर का दिमाग़ तेजी के साथ खिंचने लग गया था।

लेकिन ये सारी वातें विलकुल सारहीन हो उठी थीं अव उसके लिए—वल्कि एक ऐसे स्वप्न-सी, जो कव का टूट चुका था...

"जागृति को चलाने की जो भी चाहे योजनाएँ वनायें आप लोग," आख़िर उसने धीरे-धीरे जवाब दिया, "लेकिन यह वात सामने रखकर...कि मैं अव न जागृति में ही रहूँगा...और न किसी दूसरे ही अख़वार में—कहीं पर भी।...मेरी पत्रकारिता का 'मुर्दावाद' हो चुका रामशरण वावू...और यह वात मैं कोरी भावुकता में नहीं कह रहा हूँ।...स्वतन्त्र पत्रकारिता का युग इस देश में ख़त्म हो गया, कम से कम दस-वीस साल के लिए।...थैलीशाहों के...या राजनीतिक पार्टियों और उनके गुटों के अख़वारों के मुक़ावले...स्वतन्त्र विचारों को व्यक्त करने वाले सम्पादकों का युग चला गया..."

कुछ देर के लिए कोई कुछ नहीं वोला उसके वाद। फिर, कुछ सहमते-सहमते ही चन्द्रिका वावू धीरे से कह उठे : "इस क़दर मायूस न हों उदयजी...मेजारिटी तो अभी तक हम लोगों की ही है—"

"हम लोगों से आपका मतलव ?" शंकर एकवारगी ही भड़क उठा। "कम्युनिस्टों की...या प्रगतिशील मोरचे की ?...इस मोरचे को आपकी पार्टी दफ़ना चुकी चन्द्रिका वावू..."

उसके इस विस्फोट के वाद, न फिर चन्द्रिका वावू ही कुछ वोल पाये, और न रामशरण वावू ही।

"जहाँ तक मेरा अपना सवाल है रामशरण बाबू," कुछ देर बाद वह ख़ुद ही फिर बोला, "अगर दो पक्षों में से एक को चुनना है...तो जागृति को मैं विद्याभूपणजी को ही लौटा देना ज्यादा पसन्द करूँगा—न कि उन लोगों को जो बिना कुछ किये-धरे ही इसे हड़प लेने की सोचते हों..."

... ...

फिर भी, एक छोटा-सा मोरचा और भी लेना पड़ गया शंकर को—जागृति छोड़ते-छोड़ते। अपेक्षाकृत अधिक वेतन पाने वाले उन कर्मचारियों ने, जो उसी के कहने से अपने वेतन में साल डेढ़ साल से काफी कटौती कराते आये थे, यह पता चलने पर कि वह जा रहा है, उसे उसके वादों की याद दिलायी और उसके प्रति अपनी निष्ठा की। विद्याभूषण के हाथ में फिर से प्रबन्ध चले जाने पर, जो कि हड़तालियों की माँग थी, उनमें से बहुतों को न सिर्फ हटा दिये जाने का डर था, बल्कि वेतन की अपनी बक़ाया रक़म को खोने का भी।

अपनी तत्कालीन मन:स्थिति में भी तब आख़िर शंकर को एक बार फिर भिड़ जाना पड़ा—विद्याभूषण के साथ यह आख़िरी मोरचा लेने के लिए।

प्रबन्ध समिति में अब भी एक तरह से शंकर के समर्थकों का ही ज़ोर था। विद्याभूपण को जागृति वापस लौटा देने के बजाय उसे बन्द कर देने का रास्ता उनके सामने खुला ही था। हड़ताल शुरू होते ही शंकर रामशरण बाबू के कहने पर, कम्पनी के सारे ज़रूरी रजिस्टर और कागजात, जिनमें सभी शेयर-होल्डरों के नाम-पते भी थे, एक बड़े ट्रंक में बन्द करके सर्वेश्वर बाबू के यहाँ भिजवा चुका था—इस डर से कि कहीं विद्याभूपण अपने समर्थक हड़तालियों की मदद से उन रजिस्टरों पर कब्ज़ा करने की कोशिश न करें। सर्वेश्वर बाबू अपनी मोटर में दो-तीन कुश्तीबाज लठियल लोगों को लेकर शंकर से मिलने के बहाने आये थे और उस ट्रंक को ख़ुद ही अपने साथ लेते गये थे; फिर, शंकर की हिफ़ाज़त के लिए, उसके बार-बार मना करने पर भी, जागृति कार्यालय के आस-पास कुछ विश्वासपात्र लठियलों को तैनात करते गये थे...

कम्पोज़िटरों और मशीन विभाग के कर्मचारियों में कुल मिलाकर आठ-दस आदमी विद्याभूपण के ही गाँव के थे—कोई-कोई तो उनके नजदीक या दूर के रिश्तेदार ही। एक जमाने में उनमें से किसी-किसी ने शंकर के प्रोत्साहन पर ही काफी तरक़्क़ी की थी, और हमेशा उसके प्रति कृतज्ञता का बरताव करते आये थे। लेकिन ये ही लोग थे जो हड़ताल के वक़्त उसके खिलाफ़ सबसे ज्यादा ज़हर उगल रहे थे, उसे सुना-सुनाकर भद्दी से भद्दी गालियाँ बकने लग जाते थे, और उनमें से अधिक उद्दंड किस्म के दो-एक नौजवानों ने तो उसके पास यह संदेसा तक भिजवाया था कि अगर सारा प्रबन्ध विद्याभूपण को नहीं लौटाया गया तो वे शंकर की टाँग तोड़कर रख देंगे...ज़िन्दगी-भर के लिए उसे अपाहिज बना

देंगे...

सुशीला ज़रूर काफ़ी डर गयी थी इस तरह की धमकियों से, लेकिन शंकर के अंदर कहीं पर कुछ और भी सख़्त होता चला गया यह सब देख-सुनकर।... सर्वेश्वर बाबू ने जब उसकी हिफ़ाज़त का वह इन्तज़ाम किया था तब उसने कहना ज़रूर चाहा था: मेरी टाँग टूटने में क्या कोई कसर रह गयी है सर्वेश्वर बाबू? ...अपाहिज क्या मुझे बना नहीं दिया गया ज़िन्दगी-भर के लिए?—लेकिन भावुकता के इस प्रदर्शन में भी उसे शर्म मालूम हुई थी।

अन्त में, कामाख्या बाबू की मध्यस्थता से—जिन्हें कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से ही शायद ऐसा करने को कहा गया था, ताकि विद्याभूषण के हाथ में प्रबन्ध लौट जाने पर वह उन लोगों के प्रति आभारी रहें—एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार विद्याभूषण हर कर्मचारी का बक़ाया वेतन वापस कर देने को तैयार हुए, और नयी प्रबन्ध समिति इस्तीफ़ा देकर हट जाने को।

दस-पन्द्रह दिन और लग गये उसके बाद, क्योंकि बक़ाया वेतन की कुल रक़म नौ-दस हज़ार के क़रीब निकलती थी, और उतना रुपया इकट्ठा करने के लिए विद्याभूषण को शायद सचमुच ही एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ गया।

उसी बीच—कई हफ़्तों बाद पहली बार—विद्याभूषण की शंकर से बात हुई। इतना सब कुछ हो जाने के बावजूद, उसी के कमरे में ख़ुद आकर, "व्यक्तिगत रूप में" उन्होंने उससे "अनुरोध" किया कि अपने बक़ाया वेतन की रक़म के लिए वह अभी उन पर ज़ोर न डाले; वह उसे विश्वास दिलाते हैं कि थोड़ी-थोड़ी करके उसकी भी सारी रकम साल-दो साल में वापस कर देंगे...

अपनी उस निजी बेबसी और दर्द के बीच भी शंकर के अन्दर कुछ हिल उठा और विद्याभूषण के उस अनुरोध पर जैसे वह ख़ुद ही लज्जित हो उठा। सच पूछा जाय तो उस काल की अपनी उस तपस्या को इस तरह नक़दी में भुनाने वाली वह बात जैसे यों भी उसे अन्दर ही अन्दर कहीं छोटा किये दे रही थी।

अन्त में, लेकिन, विद्याभूषण के उस अनुरोध की रक्षा करने में वह असमर्थ ही रह गया। रामशरण बाबू उस पर बेहद बिगड़े यह सब सुनने पर। उन्होंने सर्वेश्वर बाबू को ख़बर दी। और सर्वेश्वर बाबू ने कामाख्या बाबू की मार्फ़त विद्याभूषण को यह शर्त मानने के लिए मजबूर कर दिया कि सभी कर्मचारियों के बक़ाया वेतन की रक़म एक निश्चित दिन के निश्चित समय पर दोनों पक्षों द्वारा मान्य एक प्रतिष्ठित वकील के घर पर जमा कर दी जायगी, जिनका मुंशी ही हर कर्मचारी को उस रक़म का नक़द भुगतान करेगा...

... ...

विद्याभूषण एक बार भी फिर शंकर के सामने नहीं पड़े—जागृति छोड़

उसके जाते वक़्त भी नहीं।

जागृति कार्यालय के किसी ने भी उसे विदाई नहीं दी : कोई भी सामने आकर खड़ा नहीं हुआ जब शंकर और सुशीला सदा के लिए उस इमारत और उस अहाते से विदा हुए—एक बाहरी मित्र के साथ, जो ही एक ट्रक लाकर उनका सारा सामान पैक करा उस पर लदाकर अपने घर ले गये।

लेकिन नहीं—एक आदमी फिर भी ऐसा निकल ही आया जिसने हड़ताल में भाग लेकर भी, शंकर को काले झण्डे दिखाकर भी, उन लोगों के विदा होते वक़्त आँखों से आँसू बहाये, ट्रक में उन लोगों का सामान रखाने में मदद की, और अपने बाकी साथियों की टिटकारियों की उपेक्षा कर डाली।

सर्वदेव ! मशीन विभाग का एक निम्नतम कर्मचारी, जो ख़ाली वक्त में उनके यहाँ बरतन माँज देता था, बाजार से जब-तब सौदा ला देता था, और सुशीला के न रहने पर कभी-कभी शंकर का खाना बना दिया करता था।

...हड़ताल में भाग लेकर भी, और जोश में आकर औरों के साथ-साथ उस दिन शंकर को काले झंडे दिखाकर भी—अगले दिन वह बरतन माँजने आया था। सुशीला के पूछने पर कि वह कैसे आया—जबकि वह हड़तालियों के साथ था—बोला था : "अख़बार वाली बात अलग है मलकिन...उस काम की मजूरी तो मुझे आपसे अलग मिलती है न।" और फिर, दो-चार दिन बाद एक बार ख़ुद ही उसने सुशीला को यह भी बताया था कि उसके संगी-साथियों ने उसे बहुत बुरा-भला कहा यह काम करते रहने के लिए, लेकिन उसने उन्हें जवाब दिया : 'तेज जाड़ों में एक साल उन्होंने मुझे अपनी पुरानी रज़ाई दे डाली थी...और एक बार अपना एक कोट !...उनके घर का काम छोड़ूँगा तो भगवान के घर जाके *क्या जवाब दूँगा ?'*

और अब भी, जब चलने से पहले सुशीला ने अपनी गृहस्थी समेटने के बाद बची-खुची बहुत सारी चीजें उसी के हवाले कर दी, वह बुरी तरह रो पड़ा...

और सुशीला भी रोई उसके साथ-साथ...

लेकिन शंकर मानो निर्विकार था।

वह जैसे अपना सभी-कुछ छोड़कर चला जा रहा था पीछे, वह सभी-कुछ जो कभी बेहद कीमती लगा था—लेकिन एक क्षण में ही जो किसी फेल हुए बैंक में जमा धन-राशि की चैक-बुक की तरह अर्थहीन हो उठा था।

मगर हाँ, एक पक्के बैंक में तभी-तब खोले गये खाते की एक नयी और कोरी चैक-बुक ज़रूर थी अब उसके साथ, जिसे पिछले दिन ही सर्वेश्वर बाबू ने अपनी गाड़ी में उसे ले जाकर खुलवाया था और जिसमें कोई पाँच हजार रुपये की रक़म उसने अपने हाथों जमा की थी—जितनी बड़ी रकम पहले कभी सपने में

भी उसे अपनी सम्पत्ति के रूप में नसीब नहीं हुई थी।...उसे पता था, जागृति के उसके सहयोगियों में से कितनों को उस पर ईर्ष्या हुई थी उस दिन, उस उतनी बड़ी रक़म के लिए, और, सच पूछा जाय तो ख़ुद उसे भी लगा था जैसे सड़क पर पड़ी-मिली कोई ऐसी नाजायज़ चीज़ है वह—जिसे हर किसी की निगाह से छिपाना ज़रूरी है, और शायद उसका इस्तेमाल करना भी...

उस दिन अवश्य वह चाहकर भी सर्वेश्वर बाबू का कृतज्ञ नहीं हो पाया था उस चैक-बुक के लिए, लेकिन उस दर्द का और उस भावुकता का नशा जब धीरे-धीरे ढीला पड़ गया था, तब कितना अनुगृहीत हुआ था उनका और उनकी उस अयाचित मैत्री का। उसी पूँजी के बल तो साल दो साल के लिए जीविकोपार्जन की चिन्ता से निवृत्त हो वह फिर से स्वामीजी के पास रह सकने की योजना बना सका था!

पच्चीस

जागृति पर मानहानि वाला मुक़दमा अब भी चल रहा था, लेकिन रामशरण बाबू उससे अपना हाथ खींच चुके थे। शंकर की भी अब उसमें कोई दिलचस्पी नहीं रह गयी थी, लेकिन एक अभियुक्त के बतौर वह उससे छुटकारा तो पा नहीं सकता था। कामाख्या बाबू की मार्फ़त उसने विद्याभूषण को इस बात की पूरी आज़ादी दे दी थी कि अगर वह मुक़दमे में किसी भी शर्त पर कोई समझौता करना चाहेंगे तो उनके साथ वह भी उस पर दस्तख़त कर देगा। लेकिन विद्याभूषण उस समय कोई समझौता करने को तैयार नहीं दिखाई दिये, और तब सर्वेश्वर बाबू ने ही विद्याभूषण के साथ होने वाले प्रबन्ध समिति के समझौते में एक शर्त यह भी रखवायी कि शंकर को जब-जब मुकदमे की पेशी में पटने आना पड़ेगा, उस स्थान से पटने तक का सेकण्ड क्लास[1] का आने-जाने का किराया जागृति की ओर से उसी दिन मिल जाया करेगा।

1. उन दिनों रेलों में चार क्लास होते थे : फ़र्स्ट, सेकंड, इण्टर और थर्ड।

स्वामीजी के पास रांची चले जाने के बाद इन पिछले चार-पांच महीनों के बीच तीन-चार पेशियां हो चुकी थीं जिनमें से दो-तीन में वह जा चुका था : बीच वाली एक पेशी में उसने, विद्याभूषण के आग्रह पर, बीमारी का एक झूठा मेडिकल सर्टिफिकेट रांची स्थित एक मित्र के जरिये एक डाक्टर से लेकर भेज दिया था, और इस तरह एक बार पटने आने-जाने के जागृति पर पड़ने वाले उस ख़र्च को बचा दिया था...

अब उसे फिर विद्याभूषण का एक पत्र मिला था—कि इस बार की पेशी में भी उसका पटने पहुँचना जरूरी नहीं है। इशारा साफ़ था : किराये की रकम वह इस बार भी बचा लेना चाहते थे।

शंकर शहर जा ही रहा था—फिर से डाक्टरी सर्टिफिकेट हासिल करने; पर यह जानने के लिए, कि उधर का स्वामीजी का भी कोई काम हो तो उसे भी साथ-साथ करता आये, उनके पास ऊपर गया।

प्रसंगवश उसे यह भी बताना पड़ा कि वह किस उद्देश्य से शहर जा रहा है।

स्वामीजी छत पर टहल रहे थे। अपने चलते कदम रोक उन्होंने शंकर के चेहरे पर एक सीधी दृष्टि टिका दी। फिर बोले. "अब यह मिथ्याचार किस लिए ?"

शंकर को अचरज हुआ। अगर यह मिथ्याचार था, तो वैसा तो वह पहले भी करता रहा था। शुरू-शुरू में जब वह मुक़दमा पटने में नहीं, वहां से काफी दूर उत्तर बिहार के एक शहर की अदालत में था, तब भी वह या विद्याभूषण कभी-कभी झूठे मेडिकल सर्टिफिकेट भेज दिया करते थे। और स्वामीजी यह बात जानते भी थे।

शंकर ने जब इस बात की याद दिलायी तो वह बोले : "तब जो किया था... वह क्या अब भी करते चले जाना है ?...तब जो स्थिति थी, जो उद्देश्य तुम्हारे सामने था, वही क्या अब भी है ? तब तुम्हारा और जागृति का हित एक था... तुम उसके साथ पूरी तरह घुले-मिले थे। लेकिन आज ?"

शुरू-शुरू में जब शंकर को स्वामीजी से नयी दृष्टि प्राप्त हुई थी तब तक जिसे वह मिथ्या या झूठ मानता आया था—पर जिसके लिए अन्दर ही अन्दर बराबर आकर्षण बना रहा था—उसे अपनाने में उसे कम झिझक नहीं होती थी। समयानुसार झूठ भी बोला जा सकता है और वह कोई पाप नहीं है—यह बात दिल के अन्दर एक भारी उथल-पुथल मचा देती थी, और वह देख पाता था कि उसके पीछे भय का ही जोर था। सत्य के प्रति सहज निष्ठा उसे सत्य की ओर नहीं ले जाती थी, बल्कि कोई बद्धमूल भय ही उसे झूठ से रोकता था। और, स्वामीजी के दिखाये मार्ग पर चलना शुरू करने के बाद इस तरह का पहला अनु-

भव उसे तव हुआ था जव एक वार कुछ साथियों के साथ वह रेल से कहीं जा रहा था और लक्ष्यस्थान पर पहुँचने पर ही यह पता लगा कि उसने ग़लती से एक टिकट कम ख़रीदा था। ज्यों ही यह ग़लती उसकी पकड़ में आयी वह बुरी तरह घवड़ा गया, उसका दिल ज़ोरों से धड़कने लगा—मानो कोई चोरी करते पकड़ा गया हो। फिर, सोच-विचार के वाद जव उसने देखा कि दो ही विकल्प उसके सामने थे : या तो एक टिकट की कमी साफ़-साफ़ स्वीकार करके जुर्माने की रक़म के साथ भाड़ा अदा कर दे, या टिकट कलक्टर जव गेट पर टिकट मांगे तव कुल टिकट उसे थमा भीड़भाड़ में निकल भागने की कोशिश करे—और उसके वाद भी अगर पकड़ जाये, तो जैसी स्थिति आये वैसा करे...

उस दिन, पहलेपहल, अपने उस अहैतुक भय को इस तरह पकड़कर, सिर्फ़ उसका सामना करने की ही ग़रज़ से, उसने वह दूसरा ही रास्ता अख़्तियार कर डाला था, और टिकट कलेक्टर की आँखों में धूल झोंक जब वेधड़क फाटक पार कर गया था तो विजय-गर्व में फूला नहीं समाया था।

इस तरह का वद्धमूल भय जीवन में सदा ही उसने अपने अन्दर पाया था—इस प्रकार की स्थितियों में...जव वह जेल में अंडरट्रायल क़ैदी की हैसियत से था एक वार, और अपनी गंजी धोते समय अचानक जेव में उसे एक दुअन्नी पड़ी मिल गयी थी, डर के मारे उसकी बुरी हालत हो गयी थी। जेल के नियमों के अनुसार सभी रुपया-पैसा वह पहले ही दिन फाटक पर जमा कर दे चुका था, लेकिन उस ज़माने की चाँदी की वह नन्ही-सी दुअन्नी जेव में दुवकी पड़ी रह गयी थी। बुरी तरह उसका दिल धड़कता रहा था अव इस वात का पता चलने पर : जेल वाले यही तो समझेंगे कि उसने चोरी से यह दुअन्नी वाहर से मँगायी है, जो एक जुर्म है, हालांकि उस नन्ही-सी दुअन्नी की वावत तभी किसीको पता लग सकता था जव कि वह ख़ुद बताता। ...कितनी भारी उथल-पुथल मची रही थी उसके अन्दर, जव तक कि वह फूलों की एक क्यारी में मिट्टी के काफ़ी नीचे चुपके से उसे दवा नहीं आया था। लेकिन उसके वाद भी क्या वह निश्चिन्त हो पाया था ?...कहीं किसी को पता चल गया तो ?...डर के उस भूत से आख़िर वह तभी जाकर छुटकारा पा सका था जव उस दुअन्नी को फिर से उस मिट्टी में से निकाल सीधे जेलर के पास जा उसने पूरी असलियत उगल डाली थी।

जेलर ही नहीं, दफ़्तर के सभी कर्मचारी आँखें फाड़े इस तरह उसकी ओर देखने लग गये थे जैसे किसी दूसरे जगत का कोई प्राणी हो...

"ठीक है...ठीक है...छोड़ जाओ इसे यहीं पर—" जेलर ने लापरवाही के साथ उससे कहा था; लेकिन शंकर फिर भी कुछ देर तक अड़ा रह गया था कि उस दुअन्नी को वाक़ायदा वे लोग रजिस्टर में दर्ज कर लें, और अगर इसके लिए उसे कोई सजा मिलनी है तो दे डालें।

"तुम जाओ...जो कुछ करना होगा, किया जायेगा," नायब जेलर ने तब एक ऐसे लहजे में कहकर उसे विदा किया था मानो किसी पागल या बच्चे को बहलाया जा रहा हो...

और, इस तरह के डर के ख़िलाफ़ लम्बी और महत्वपूर्ण लड़ाई में अब जब शंकर ने एक तरह से विजय ही पा ली थी, तो स्वामीजी ही आज उसके उस तरह के कदम को गलत बता रहे थे।

'तब' तब था, 'अब' अब है—स्वामीजी अब उसे दिखा रहे थे। 'तब' जिस उद्देश्य से किया था, वह क्या 'अब' भी सामने रह गया है?...वह भय क्या अब भी बाकी है, और अगर कुछ बाकी भी है तो क्या हमेशा के लिए उससे छुटकारा लेने का वक़्त नहीं आया अभी तक—इतना-कुछ कर चुकने पर...भय को जीतने के इतने अवसर पाने के बाद...अतीत के 'छोटेपन' वाले भाव को काटने के लिए वर्तमान में 'बड़े' होने के एक-के-बाद-एक इतने मौक़े पाते चले जाने पर भी?

"जागृति में इतनी बड़ी लड़ाई लड़ी तुमने," स्वामीजी कहते जा रहे थे, "इतना कुछ हासिल किया : इतना गौरव...पद-मर्यादा...क्या नहीं? फिर भी क्या छोटापन बना ही रहेगा? कब तक और, अब, अकारण, बिना प्रयोजन झूठ बोलोगे...मिथ्याचरण का सहारा लोगे...झूठा डाक्टरी सर्टिफ़िकेट दोगे?... आखिर किस लिए?...आसक्ति और मोह के बन्धन में कब तक और जकड़े रहना चाहते हो—जब कि इस नयी आसक्ति और मोह की जकड़ से इस तरह छुटकारा पाकर निकल आ सके हो?"

न सिर्फ़ यह नया बोध उस दिन प्राप्त हुआ शंकर को स्वामीजी से—कि आसक्तियों से ऊपर उठ, भय का साहसपूर्वक सामना कर, अब उसे सत्य में प्रतिष्ठित होना है और मिथ्याचरण से छुटकारा पाना है, बल्कि यह भी कि जिसे वह जागृति के उस संघर्ष में अपनी बहुत बड़ी हार माने बैठा था, वह दरअसल हार नहीं उसकी जीत थी।

...पिछले चार-पाँच महीने के बीच अपने उस अन्तिम संघर्ष और उसमें हुई अपनी हार की बाबत एक बार भी स्वामीजी के साथ खुलकर बात नहीं हुई थी उसकी...और एक बार फिर बाहरी दुनिया में दिलचस्पी छोड़ वह अपने अन्तर की ही गाठों को सुलझाने में लग गया था—अवश्य इस बार अचेतन की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में बुद्धि द्वारा मन के बन्धनों को ढीला करने की दिशा में। जागृति में हुई उस गहरी पराजय के बाद ही दरअसल वह पूरी तरह यह समझ पाया था कि इस बार भी आसक्ति और मोह के पाश में वह बहुत-कुछ उसी तरह फँस गया था जिस तरह ज़िन्दगी में दो बार पहले भी फँस चुका था : एक बार पूनम को लेकर और दूसरी बार अपने बच्चे को...

पिछले चार-पाँच महीनों में, इसीलिए, स्वामीजी के चरणों में बैठ वह इसी

साधना में लगा रहा था कि कैसे वह सदा के लिए आसक्ति और मोह की उस जड़ से छुटकारा पाये जिसे, उसने समझा था, उसने उखाड़ फेंका था...

लेकिन यह क्या कह डाला अब स्वामीजी ने : जागृति की उस लड़ाई से इतना-कुछ हासिल किया ?...उस नयी आसक्ति और मोह की जकड़ से छुटकारा पाया ?...

इतना-कुछ हासिल किया—या सारा-कुछ ही गँवा आया ?...गौरव और प्रतिष्ठा मिली, या सारी ही प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी ?

"कैसे ?"—स्वामीजी ने उससे प्रतिप्रश्न किया। "इतनी बड़ी जो जीत हुई तुम्हारी...उसे हार माने बैठे हो ?"

अचानक जैसे बिजली का तार छू गया उसको।...उसकी जीत हुई है ?... स्वामीजी कह रहे हैं यह ?...किस तरह अन्दर ही अन्दर तड़प रहा था ख़ुद उसका भी दिल, उस हार को जीत मान सकने के लिए !

क्या सचमुच वह जीत थी उसकी ?

जीत नहीं थी ?—स्वामीजी ने फिर उलटे उसी से पूछा। उन लोगों ने जब वादे कर-करके भी उन्हें पूरा नहीं किया और जागृति में तुम्हारी जो मोह-आसक्ति थी उससे फ़ायदा उठाकर तुम्हें अपने जाल में फँसाना चाहा...तब क्या किया तुमने ? उनके जाल में फँसे, या उसे तोड़कर उलटे उन्हीं का परदा उतार डाला ?...फिर—जब किसी ने कोई मदद नहीं की, तो जिसने जागृति को बनाया था उसी को उसकी चीज़ लौटा दी ..किसी के भी प्रभाव में नहीं आये !...

"लेकिन मैं तो जागृति को चलाना चाहता था स्वामीजी," शंकर ने शंका प्रकट की, "उसे चला तो नहीं पाया।...उलटे, हमेशा के लिए पत्रकारिता को छोड़ना पड़ा !...यह क्या हार नहीं है मेरी ?"

—हार मानना चाहो तो हार है...मगर हार है कैसे?—स्वामी जी ने कहा।... जिसे तुम स्वतंत्र पत्रकारिता कहते हो, उसके लिए जो कुछ करना तुम्हारी शक्ति और सामर्थ्य में था वह सब किया न तुमने ?...और-कुछ करने को बाक़ी था, जो नहीं किया ?...ऐसा कोई भाव है मन में ?

"जी नहीं," शंकर को स्वीकार करना पड़ा। "इससे ज्यादा और मैं कर ही क्या सकता था ?"

—तो, यही तो जीत है।...जब सत्य को देख लिया, तब असत्य से अपने को अलग कर लिया।...आसक्ति और मोह में पड़कर उसके साथ कोई समझौता तो नहीं किया ?...झूठी आशा की मृग-मरीचिका के पीछे तो नहीं दौड़ते रहे ?... यही तो वीर का काम है।

वीर ?...पराजित वीर !...शंकर को किसी अंश तक अपने लिए उपहास-जनक-सा लगा यह शब्द !...किन्तु साथ ही जैसे पुलकित-सा भी हो उठा वह...

स्वामीजी ने ही तब उसकी उस उलझन को धीरे-धीरे दूर किया : जीत को हार वह इसलिए देखता आया, कि आसक्ति गहरी थी और परिस्थिति के, यथार्थता के सत्य को देख लेने पर भी अन्दर मे दिल उसे स्वीकार नहीं करना चाह रहा है—अभ्यासगत जड़त्व के कारण। बचपन में छोटा कर दिये जाने के दर्द से अभी तक बुद्धि द्वारा, सत्य दृष्टि द्वारा, अपने को छुटकारा नहीं दिला पाए हो! ...इतना-कुछ जो मिला उससे जी भरा नही, और-भी चाहता है, और-भी चाहता है!...अभी ही नहीं—पहले भी, जीवन में कितना-कुछ तो मिला है। लेकिन उसे ले नही पाये। 'मिला' से 'नही मिला' वाला भाव ही, बचपन के जड़ अभ्यास के कारण, बड़ा और प्रधान बना रह गया है। उसे अब देख कर काटना है।...नही तो, कितना भी बाहर से पाने पर अभाव का बोध बना रहेगा, कितना भी गौरव मिलने पर छोटेपन का भाव कायम रहेगा, जीत होने पर भी उसे हार मान बैठोगे और आगे बढ़ने की जगह निराश हो बैठ रहने की प्रवृत्ति काबू कर लेगी...

"कुछ दिन से बंगला की एक किताब 'जहानारा की आत्मकहानी' पढ़ रहा था," शकर ने एक दिन अपनी डायरी में लिखा। "आज सुबह वह खत्म हुई। दिन भर बार-बार उसी का खयाल आता रहा और दिल मे एक बेचैनी-सी। इतनी संवेदनशील, इतनी भली, इतनी विलक्षण जहानारा को क्योंकर अन्त में इस तरह पराजित और हताश होना पड़ा और कुटिल औरंगजेब को उसके मुकाबले विजय क्यों मिली? छत्रसाल और जहानारा के बीच जो इतना गहरा प्यार था उसकी इस प्रकार ट्रैजेडी मे क्यों परिणति हुई?

"ट्रैजेडियों की ओर ध्यान गया। फिर देखा, ट्रैजेडी ही ट्रैजेडी तो हैं सब तरफ; अन्तर इतना ही है कि जो अधिक संवेदनशील हैं वे ही उसे अधिक गहराई से महसूस करते हैं और व्यथा पाते है—क्या इसीलिए नहीं, कि उन्हे स्थूल से सूक्ष्म की ओर निरन्तर बढ़ते जाना है?

"मगर 'अच्छे' की पराजय क्यो, और 'बुरे' की विजय?

"पर यह भी क्या स्थान-काल-पात्र की दृष्टि से सीमित ही दृष्टिकोण नहीं है?

"खैर, यह सब तो बौद्धिक स्तर पर ही अधिक हुआ, और तब इस बिन्दु को छोड़ दूसरा भाव लिया।...नारी के प्रति मेरे आकर्षण को भी जहानारा की इस प्रेम-कहानी ने कुछ अधिक जगा दिया।...धीरे-धीरे, अपने जीवन मे आये कई नारी-चित्र आँखों के सामने से गुज़र गये, और अन्त में जाकर ध्यान जा टिका बचपन मे अपनी माँ पर। और इन सबको एक-एक करके जब देख पाया तो पता

लगा कि इन सब चित्रों के पीछे मेरी एक ही भूख छिपी है, कि मुझे प्यार चाहिए। ...प्यार चाहता हूँ—छाती से लगना, बाँहों में कसा जाना, गोद, दूध, और चेहरे पर प्यार-भरी मुसकान; माँ मुझे मीठी नज़र से देखती निहाल हुई जा रही है, छाती से चिपटा रही है, दूध पिला रही है। मैं भी वही स्नेह चाह रहा हूँ, खोज रहा हूँ—पर वह छिन गया है। रोना आया : क्यों छिन गया यह सब ?

"क्यों छिन्न गयी माँ—क्यों वह इतनी कठोर हो उठी ? क्यों छिन गयी पूनम —क्यों वह इतनी सख़्त हो गयी ? आत्म-करुणा में रो पड़ा : मेरा कोई नहीं रहा।

"कुछ देर रो लेने पर दिल हलका हुआ, तो देखना शुरू किया : मिला भी तो कम नहीं। और, ताज्जुब के साथ पाया, कि छिने हुए के लिए तो रो रहा हूँ, पर छिन-छिनकर भी जो बराबर मिलता ही आया, सो ?

"फिर देखना शुरू किया। माँ मुझे बार-बार चूम रही है, मुसकराहट बखेर रही है, छाती से चिपटा रही है, बार-बार दूध पिला रही है। सारा दूध मेरा ही है...पूरी छाती मेरी ही है। मुझी को मिल रहा है—कुल का कुल ! बार-बार ! दूध, लड्डू, मिठाई—बराबर मुझी को तो, और-सबों से ज्यादा ! मैंने ही तो सबसे ज्यादा पाया, बराबर पाया, खो-खो कर भी पाया !...दिल भर चला; दिल भर जाने की रुलाई फूट निकली...

"इसी तरह—पूनम ने कितना दिया था, किस तरह मुझे भर दिया था !... कब, किसको इससे ज्यादा प्यार मिला होगा—माँ का, प्रेमिका का, मित्रों का : मनोहरलाल, शोभाराम, अंजनी—और अब, सुशीला ?...बार-बार, तरह-तरह के, ये सारे चित्र आते गये। दिल भरता गया...रोता गया : आनन्द का रोना ! ...मुझे तो बहुत मिला है—बहुत !

"और अब—स्वामीजी ! उनका भी इतना प्यार मिला है मुझे...मुझको भी ! और, एकबारगी रोने की एक बाढ़ ही आ गयी अब...फूट-फूटकर रोया —मानो स्वामीजी के चरणों में सिर रखकर, उनकी गोद में मुँह छिपा कर।... दम घुटा जा रहा था, साँस रुक रही थी, हिचकियाँ बँध गयी थीं।...रो-रोकर तकिया भिगो दिया, और देर तक बहता चला गया आनन्द के इस ज्वार में। बेहद हलका हो गया दिल : कृतज्ञता के, अपनी धन्यता के भाव से। मैं हूँ। मैंने इतना पाया...मुझे कोई अभाव नहीं है...मैं भरा हुआ हूँ..."

फिर—अगले दिन की डायरी थी :

"आज स्वामीजी से इसी समस्या पर बात हुई थी कि इतना पाने पर भी अभाव की ही बात मन के लिए क्यों प्रधान होती आयी। कल रात, पाने और मिलने के चित्रों और भावों ने जिस तरह दिल भर दिया था उसका असर तो दिन भर था ही, स्वामीजी से जो बातें हुईं उनके कारण भी यह भाव पुष्ट हुआ

था। और अन्त में यही भाव धीरे-धीरे घनीभूत होकर अब दिन के अन्दर फूट पड़ा। मुझे इतना मिला है, इतना मिला है...

"और अचानक देखा: मिलकर जो छिन गया, वह क्या मेरी सीमाओं को और विस्तृत नहीं कर गया, मुझे और ज्यादा भर नहीं गया, मेरे 'मैं' को बड़ा और व्यापक नहीं बना गया? माँ आयी और गयी, पूनम आयी और गयी, रंजन आया और गया, जागृति आयी और अब चली गयी। लेकिन मेरी माँ मुझे एक *बिन्दु से एक सीमा तक ले गयी;* उसके बाद पूनम ने उस सीमा से दूसरी सीमा तक लाकर पहुँचाया, जिसके बाद कहीं कोई गति नहीं दिखाई देती थी। फिर आयी सुशीला और हमारा रंजन। इन्होंने मुझे नयी सीमाओं का बोध कराया... और रंजन भी अगर चला न जाता तो मैं इन तक कदापि न पहुँच पाता। फिर आयी जागृति, जिसको अपनाकर मैं कितनी ही नयी-नयी सीमाओं तक आ पहुँचा। जागृति भी तभी तो गयी...जब मेरे लिए छोटी साबित होने लगी और आगे के मेरे विकास में बाधक; निश्चय ही वह इसलिए गयी है कि मैं उतनी ही सीमाओं के अन्दर नहीं रह जा सकता था...

"और ये विचार, विचार से अधिक गहरी अनुभूतियाँ, अब चित्रों के रूप में आते चले गये, और मैं रोता चला गया, और—मानो आँसुओं में—उन सीमाओं को बहाता गया जिन्हें तोड़कर भी मैं छोड़ना नहीं चाहता था...जिनके लिए रह-रहकर दिल हाहाकार कर उठता था—क्योंकि उन्हें, इस तरह, अपने छोटेपन की सीमाओं के रूप में मैंने नहीं देखा था।...खूब रोया, और हलका होकर दिल फिर कृतज्ञता से भर उठा, माँ, पूनम, रंजन, जागृति के लिए—कि वे मुझे आगे ले जाने के *लिए आये थे और अपना काम पूरा कर चले गये : कोई छूटा नहीं मुझसे; मैंने ही* तो उनसे अपनी छुट्टी कर ली, क्योंकि उन उन सीमाओं में घिर कर मेरा ही दम घुटने लग गया था। और, अब मैं क्या हूँ—यह मेरे सामने जैसे मूर्त्तिमान हो उठा : मेरा चलता हुआ, बढ़ता हुआ, व्यापक और विस्तृत होता हुआ रूप!

"पर अभी शायद और भी रुलाई भरी पड़ी है—यह अनुभूति अभी और भी गहराइयों में दबी पड़ी दिखाई दे रही है जो बाहर आने के लिए छटपटा-सी रही है..."

... ...

"आः...! अपनी सीमाओं का विस्तार!...अपना व्यापक और विस्तृत होता हुआ रूप!...सुन्दर कहा।" स्वामीजी बोले, जब शंकर ने अगले दिन वह डायरी उन्हें सुनायी।

"लेकिन—क्या मतलब इसका?" फिर वह उससे पूछ उठे।...और शंकर जब इस प्रश्न का ठीक-ठीक जवाब नहीं दे पाया तो दिखाना शुरू किया :

सारी आसक्तियों को, और फिर उसके कारण लगने वाली चोटों को,

की...जड़ में है—अपने छोटे से 'मैं' का, एक क्षुद्र खण्ड सत्ता का वन्धन !
में कहा है : नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्। अल्प में, थोड़े में, छोटे में
है; भूमा में, अधिक में, वड़े में ही सुख है। जव तक इस छोटे 'मैं,'
ल्प की संकीर्ण सीमा में मनुष्य वँधा रहता है तव तक भूमा के लिए,
लिए दिल वेचैन रहता है—उस 'सव' में, भूमा में मिल जाने के लिए,
किसी कारणवश वह छूट गया है, पृथक हो गया है, विच्छिन्न हो गया है।
सक्ति या मोह है उसी विच्छिन्नता की प्रतिक्रिया—फिर से एक हो जाने
ए !...उस संकीर्ण, छोटी-सी सीमा से जो भी कुछ वाहर है उस सवसे मिल-
वह उसके साथ एक हो जाना चाहता है—लेकिन जानता नहीं, कैसे एक हो।
ानवश, या कहो—उस छोटे 'मैं' के वन्धन के ही कारण—वाहर जो भी कुछ
लग दिखाई देता है उसे अपनी उस संकीर्ण सीमा में ही लाकर मान लेना चाहता
कि उसे पा गया, उसके साथ एक हो गया।...लेकिन जव वह भ्रम टूटता है,
विराट या भूमा या 'सव' जव उसकी उस संकीर्ण सीमा में नहीं समा पाता, तव
सिर पटकता है, रोता-चिल्लाता है, उसे ट्रैजेडी मान उसी को दोषी ठहराना
चाहता है...

किन्तु अल्प से भूमा की ओर, खण्ड से सम्पूर्ण की ओर, छोटे 'मैं' के विस्तार
की ओर वढ़ने का रास्ता यह तो है नहीं। सच्चा रास्ता है अपने 'मैं' की संकीर्णता
को जान लेना...और फिर उसी को 'सव' में, भूमा में, विराट में मिलाकर एक
कर देना।...वस, उलट देना है आत्म-विस्तार की इस क्रिया को। दूसरे
को अपने माफ़िक नहीं वनाया जा सकता...दूसरे को, जैसा वह है, वैसा
ही देख उसके साथ एक हो जाना है—उसकी शर्तों पर, न कि अपने मन
के मुताविक !...यही है अपनी सीमाओं का विस्तार करते जाने का सीधा
और एकमात्र मार्ग...यही है अपना व्यापक और विस्तृत होता रूप...यही है प्रेम !
...यह है प्रेम, और वह था मोह, या आसक्ति !...उसमें वन्धन था; इसमें है
छुटकारा—या कहो, मुक्ति !

जितना ही आकर्षक लगा था यह-सव, व्यवहार में उतना ही कठिन—
हालांकि दूसरों को अपनाने की, अपनी सुख-सुविधा के साथ-साथ दूसरों की भी
सुख-सुविधा को महत्त्व देने की दिशा में ही तो पिछले कई वरसों से प्रयोग करत
आ रहा था वह...

□ □

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित अन्य उपन्यास

कहाँ पाऊँ उसे]	समरेस बसु	75.00
अमृता	रघुवीर चौधरी	35.00
शब्दों के पींजरे में	असीम रॉय	20.00
सुवर्णलता (तृ. सं.)	आशापूर्णा देवी	45.00
बकुल-कथा (तृ. सं.)	,,	45.00
छिन्न पत्र	सुरेश जोशी	12.00
स्वामी (द्वि. सं.)	रणजित देसाई	35.00
मूकज्जी (पुरस्कृत) (द्वि. सं.)	शिवराम कारन्त	27.00
अवतार वरिष्ठाय	विवेकरंजन भट्टाचार्य	10 00
भ्रमभंग	देवेश ठाकुर	13.00
बारूद और चिनगारी	सुमंगल प्रकाश	20.00
जय पराजय	,,	26.00
आधा पुल (द्वि. सं.)	*जगदीशचन्द्र*	*14.00*
मुट्ठी भर कांकर	,,	15.00
छाया मत छूना मन (द्वि. सं.)	हिमांशु जोशी	12.00
कगार की आग (द्वि. सं.)	,,	14.00
पुरुष पुराण	विवेकीराय	8.00
माटी मटाल भाग 1 (पुर., द्वि. सं.)	गोपीनाथ महान्ती	20 00
माटी मटाल भाग 2 (पुर., द्वि. सं.)	,,	20.00
देवेश : एक जीवनी	सत्यपाल विद्यालंकार	15.00
धूप और दरिया	जगजीत बराड़	6.50
समुद्र संगम	भोलाशंकर व्यास	17.00
पूर्णावतार (द्वि. सं.)	प्रमथनाथ विशी	25.00
दायरे आस्थाओं के	स. लि. भैरप्पा	9.00
नमक का पुतला सागर में (द्वि. सं.)	धनंजय वैरागी	18.00
कथा एक प्रान्तर की (पुरस्कृत)	एस. के. पोट्टेक्काट	50.00
मृत्युंजय (पुरस्कृत, द्वि. सं.)	वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य	30.00
मृत्युंजय (तृ. सं.)	शिवाजी सावंत	60 00

गोमटेश गाथा	नीरज जैन	25.00
तीसरा प्रसंग	लक्ष्मीकान्त वर्मा	प्रेस में
टेराकोटा (द्वि. सं.)	"	प्रेस में
आइने अकेले हैं	कृश्नचन्दर	5.00
कहीं कुछ और	गंगाप्रसाद विमल	7.00
मेरी आँखों में प्यास	वाणी राय	10.00
विपात्र (च. सं.)	ग० मा० मुक्तिबोध	5.00
सहस्रफण (द्वि. सं.)	वी० सत्यनारायण	16.00
रणांगण	विश्राम वेडेकर	3.50
कृष्णकली (सातवाँ सं.)	शिवानी : पेपर बैक	20.00
	लायब्रेरी सं०	27.00
हँसली बाँक की उपकथा (द्वि. सं.)	ताराशंकर वन्द्योपाध्याय	25.00
गणदेवता (पुर., छठा सं.)	"	42.00
अस्तंगता (द्वि. सं.)	'भिक्खु'	9.00
महाश्रमण सुनें ! (द्वि. सं.)	"	4.00
अठारह सूरज के पौधे (द्वि. सं.)	रमेश बक्षी	12.00
जुलूस (पं. सं.)	फणीश्वरनाथ 'रेणु' : पेपर बैक	8.00
	लाइब्रेरी	12.00
जो (द्वि. सं.)	प्रभाकर माचवे	4.00
गुनाहों का देवता (अठारहवाँ सं.)	धर्मवीर भारती	20.00
सूरज का सातवाँ घोड़ा (दसवाँ सं.) :	पेपर बैक	6.50
	लाइब्रेरी	10.50
पीले गुलाब की आत्मा (द्वि. सं)	विश्वम्भर 'मानव'	6.00
अपने-अपने अजनबी (छठा सं.)	'अज्ञेय' : पेपर बैक	5.50
	लाइब्रेरी	8.50
पलासी का युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	5.50
ग्यारह सपनों का देश (द्वि. सं.)	सम्पा. : लक्ष्मीचन्द्र जैन	7.00
राजसी	देवेशदास आई. सी. एस.	5.00
रक्त-राग (द्वि. सं.)	"	5.00
शतरंज के मोहरे (पुर., चौथा सं.)	अमृतलाल नागर	12.00
तीसरा नेत्र (द्वि. सं.)	आनन्दप्रकाश जैन	4.50
मुक्तिदूत (पुर., च. सं.)	वीरेन्द्रकुमार जैन	13.00